UDAYANĀCĀRYA

ĀTMATATTVAVIVEKA

(WITH CRITICAL TRANSLATION)

By

ĀCĀRYA KEDARNATH TRIPATHI

Ex-Head of the Dept. of Darshan, B. H. U. &
Ex-Senior Scholer, 'Shastra-Chudamani',
Ministry of Education,
Govt of India.

Publisher.
K. N. TRIPATHI
1983.

कर्तृपरिचयः

सारण्य (सारन) मण्डले पुण्ये ग्रामे विष्णुपुराभिधे ।
जनिंस्त्रिपाठिनो लब्ध्वा रामादेर्यो विहारिणः ॥
न्यायवैशेषिके शुक्लात् सूर्यनारायणाद् गुरोः ।
वेदान्तान् श्रीहरिहरात् कृपालोश्च द्विवेदिनः ॥
श्रुत्वा, वादविदग्रणीः स विदितः केदारनाथः कृती,
शून्याब्ध्यभ्रदृगङ्किते (२०४०) शुभतमे संवत्सरे वैक्रमे ।
मार्गाख्ये शुभमासि वै सितदले पूर्णत्वमाप्ते विधौ,
ग्रन्थं ह्येनमचीकशत् सुखमनूद्याचार्यवर्योदयम् ॥

कर्तुरन्याः कृतयः

१. तर्कसंग्रहन्यायबोधिन्याः संस्कृत 'कला' व्याख्या (प्रकाशिता)
२. „ पदकृत्यस्य हिन्दी 'कला' व्याख्या „
३. „ दीपिकायाः हिन्दी 'कला' व्याख्या „
४. सांख्ययोगकोशः (संस्कृते मौलिको ग्रन्थः) (प्रकाशितः)
५. ब्रह्मसूत्रविज्ञानामृतभाष्यम् (सटिप्पणं सम्पादनम्) (प्रकाशितम्)
६. जन्मान्तरवादः (संस्कृते) (अप्रकाशितः)

शुभाशीर्वादाः

परमहंसपरिव्राजकाचार्याभिनवशङ्कराचार्याणां ब्रह्मलीनानन्त-श्रीकरपात्रस्वामिचरणानाम्—

अनन्तश्रीविभूषित १००८ श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज,
निगमबोधघाट, दिल्ली–६

वर्तमान सञ्चारस्थान, भागलपुर दिनाङ्क ५–४–१९६५

आत्मतत्त्वविवेक, परमभगवद्भक्त महापण्डित श्रीमदुदयनाचार्यका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह संस्कृतभाषामें है तथा उसकी टीका भी संस्कृत-भाषामें है। अतः संस्कृतभाषा न जाननेवाले मनीषियोंके लिये इस ग्रन्थसे लाभ नहीं हो सकता था, यह बात खटकनेवाली थी। इस कमीको दूर करनेके लिये राजकीय-संस्कृत-महाविद्यालय, भागलपुरके दर्शनविभागके प्राध्यापक पं० केदारनाथत्रिपाठीने हिन्दीमें इस ग्रन्थकी टीका लिखकर बहुत उपयुक्त कार्य किया है। टीका सरल और सुबोध होनेके साथ-साथ श्लिष्ट भी है। इससे जिज्ञासुओंको बहुत लाभ होगा। इति शिवम्।

करपात्र स्वामी

प्राक्कथनम्

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य न्यायवैशेषिक-विभागाध्यक्षपदं पुनस्तत्रैव कुलपतिपदं चालङ्कृतवतां नैयायिक-शिरोमणीनां पण्डितराज श्रीबदरीनाथशुक्ल-महाभागानाम्—

भारतवर्ष दार्शनिकज्ञानके प्रादुर्भावकी प्रथम भूमि है। भारतीय ज्ञान मानव-जीवनके उन्नयन और संस्कार-परिष्कारका एकमात्र अनिवार्य साधन है। दार्शनिकज्ञान ही वह परम औषध है, जिससे मनुष्यके सब प्रकारके तापोंकी निवृत्ति हो सकती है। यह वह प्रकाश है, जिससे मनुष्यके घोर आन्तर तमका निरास होकर उसके वास्तव स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अनादिकालसे सञ्चित संकीर्णताओंसे मुक्ति पाता है। और अपने आपके सम्बन्धमें उसकी चिरप्ररूढ़ बहुविध भ्रान्तियोंका उन्मूलन होता है।

भारतका दार्शनिकज्ञान अनुसन्धाता विद्वानोंद्वारा कई शाखाओंमें विभाजित हुआ है। इस विभाजनको आस्तिक और नास्तिक दो श्रेणियोंमें प्रधानरूपसे समझा जाता है। आस्तिक, दार्शनिकज्ञानकी वह शाखा है, जिसमें आत्माके अभयत्वकी पूरी प्रतिष्ठा की गयी है। इस शाखामें आत्माको नितान्त नित्य बताकर उसको सभी प्रकारकी भीतियोंसे मुक्त किया गया है। जैसे, न्याय और वैशेषिक दर्शनमें आत्मा नितान्त नित्य माना गया है। इसे कर्ता और भोक्ता माननेपर भी उसके नित्यत्वकी रक्षा इस मान्यताके आधारपर की गयी है कि कार्य और कारण, धर्म और धर्मीमें अत्यन्त भेद है। इसीलिये आत्मा सुख-दुःख आदिका कारण और आधार होनेपर भी सुख-दुःख आदिके अनित्य होनेसे अनित्य नहीं हो पाता है।

सांख्य और योगदर्शनमें कार्य-कारणमें तथा धर्म-धर्मीमें अभेद माना गया है। अतः उस मान्यताके अनुसार आत्मामें कार्य और अनित्य-धर्मके सम्बन्धसे अनित्यत्वकी आपत्तिका भय था। किन्तु उसके परिहारके लिए उन दर्शनोंने प्रकृतिको ही सभी कार्योंका कारण

और आगन्तुक धर्मोंका आधार मानकर आत्माको अकारण और अनाश्रय स्वीकार किया है। मीमांसादर्शनमें भी आत्माके नित्यत्वकी सुरक्षाके लिए पूरी व्यवस्था है। शाङ्करवेदान्तदर्शनमें आत्माको कूटस्थ ब्रह्मसे अभिन्न मानकर उसकी नित्यतापर किसी प्रकारकी आँच न आने देनेका पूरा प्रबन्ध किया गया है। वेदान्तकी अन्य शाखाओंमें भी आत्माको पूर्ण नित्य बनाये रखनेकी पूरी सावधानी बरती गयी है। इस प्रकार आत्माको अभय घोषित करने और उस घोषणाकी पूरी रक्षा करनेके कारण ही दार्शनिकज्ञानकी ये सभी शाखायें "न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, मीमांसा-वेदान्त" आस्तिकदर्शनके रूपमें परिगणित होती हैं।

वेदोंने आत्माको समग्ररूपसे नित्य बताकर उसके अभयत्वका प्रतिपादन किया है। वेदकी इस मान्यताका परिपोषक होनेके कारण ही सभी आस्तिकदर्शनोंको वैदिक-दर्शनके रूपमें व्यवहृत किया जाता है। और इन दर्शनोंकी श्रेष्ठता तथा सर्वमान्यता केवल इसी कारण है कि ये आत्माको अभय बता इसे सभी प्रकारके कठिनसे कठिन कार्योंमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा देकर मनुष्यको सर्वतोमुख विकासका अवसर प्रदान करते हैं।

यह विशेषता अर्थात् आत्माके अभयत्वकी सुरक्षा दार्शनिकज्ञानकी जिन शाखाओंमें नहीं हो पाती, उन्हें नास्तिक या अवैदिक-दर्शनशब्दसे अभिहित किया जाता है। जैसे, जैनशंनमें आत्माको द्रव्य-पर्याय उभयात्मक माना गया है। द्रव्यदृष्टिसे उसमें शाश्वतता संभव होनेपर भी अनित्य पर्यायोंकी अभिन्नताके कारण पर्यायरूपसे वह विनाशका प्रतियोगी होनेसे मुक्त न होनेके नाते सर्वात्मना अभय नहीं हो पाता है। बौद्धदर्शनमें स्थैर्यको ही कोई मान्यता नहीं है, फिर उसमें आत्माकी नित्यता और निर्भयताकी संभावना ही कैसे हो सकती है? इसके 'सर्वं क्षणिकम्' इस दुन्दुभिनादके समक्ष आत्माकी नित्यता और अभयताकी ध्वनि मन्द पड़ जाती है।

जब बौद्धदर्शनके चतुरस्र प्रसरी आत्मविरोधी झञ्झावातसे आत्माके नित्य और निर्भय होनेकी धारणा डगमगाने लगी और मनुष्य प्रतिपल अपनी नश्वरताकी आरोपित भावनासे भीत होकर कर्तव्यपक्षसे विमुख होने लगा, तब यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि "मनुष्यको प्रथम दैवी-

संपत् अभयसे कैसे सम्पन्न बनाया जाय। इस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही भारतवर्षके महान् नैयायिक उदयनाचार्यने अनेक महनीय ग्रन्थोंकी रचना की। जिनमें आत्मतत्त्वविवेकका प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थमें न्याय-वैशेषिकदर्शनद्वारा अनुमोदित वैदिक आत्मसिद्धान्त-के ऊपर बौद्धदार्शनिकोंके मुख्य आक्षेपोंका निष्पक्षरूपसे उपपादन करते हुए उनका युक्तिपूर्ण निराकरण किया गया है।

किन्तु यह ग्रन्थ आचार्यकी संक्षिप्त और गूढ़ तथा पुरातन शैली एवं भाषामें निबद्ध होनेके कारण दुरूह है। जिस तत्त्वका ज्ञान मानवमात्र-के लिये उपयोगी हो, उसका सर्वजनसंवेद्य भाषाके माध्यमसे प्रतिपादन होना आवश्यक है। इसी दृष्टिसे काशीहिन्दूविश्वविद्यालयके भू० पू०, दर्शनविभागके अध्यक्ष, पण्डितप्रवर श्रीकेदारनाथत्रिपाठीजीने इस कठिन ग्रन्थको हिन्दीभाषाके माध्यमसे सुलभ बनानेका संकल्प लिया और इस कार्यको बड़ी कुशलतासे सम्पन्न किया।

आत्माकी नित्यता, बाह्यवस्तुके रूपमें मान्यता, ज्ञानादिगुणोंकी आश्रयता तथा प्रत्यक्षगम्यताके बाधकरूपमें बौद्धदार्शनिकोंने जिन तर्कों-को बड़े आडम्बरसे प्रस्तुत किया था, उन सबोंके, श्रीत्रिपाठीजीने, मूल-ग्रन्थोक्त उत्तरोंको अत्यन्त विशदरूपसे निरूपित किया है। त्रिपाठीजी की व्याख्यामें पूरे मूलग्रन्थका पंक्तिशः स्पष्टीकरण हुआ है और व्याख्या में ऐसी सरणी एवं भाषाका उपयोग किया गया है, जिससे त्रिपाठीजी की यह कृति एक नूतन रचनाका स्पष्ट आभास देती है। मैंने व्याख्याके अनेक भागोंको पूरी सावधानीसे देखा है, और त्रिपाठीजीको सर्वत्र सफल एवं मूलग्रन्थका मर्मज्ञ पाया है। इस व्याख्याकी रचनाके लिये श्रीत्रिपाठीजीको मेरा हार्दिक धन्यवाद है और उनसे निवेदन भी है कि वे अभी और ऐसी रचनाओंद्वारा दर्शनके अध्येताओंको उपकृत करनेके प्रयासमें अनवरत लगे रहें।

१७।१२।८३

बदरीनाथ शुक्ल
१८, विवेकानन्दनगर,
वाराणसी

श्रीगणेशाय नमः

प्रस्तावना

दिव्यद्बालेन्दुभालं गरलगलमलङ्कारिगाङ्गाम्बुमालम् ,
व्यालालिश्लिष्टवक्षःस्थलममलवपुर्लग्नभस्मावलेपम् ।
गौरीवामार्धरूपं त्रिनयनममरैरन्तराराध्यमानम् ,
तूर्णाभीष्टप्रदं तं दुरितभरहरं शङ्करं संस्मरामः ॥

न्यायशास्त्रकी प्रशस्ति एवं इसकी परम्परा

श्रुतिसे लेकर स्मृति-पुराणपर्यन्तने न्यायविद्याकी अन्यतम विद्याके रूपमें प्रशंसा की है। मुण्डकोपनिषद्के प्रथम मुण्डकमें आया है—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्र परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। इतिहासपुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीत्यपरा" इति। अर्थात् शिक्षा-कल्प आदि अङ्गसहित उपनिषद्गर्भ चारो वेद परविद्या हैं। तथा न्यायादि-उपाङ्गसहित वेदोपबृंहणस्वरूप इतिहास-पुराण अपरविद्या हैं। उक्त श्रुतिमें न्यायशब्दका उपादान न्यायशास्त्रके लिये है। मीमांसा और धर्मशास्त्रके भी न्यायशब्दवाच्य होनेपर भी उन दोनोंका साक्षात् उल्लेख होनेसे उक्त श्रुतिमें न्यायशब्द-वाच्य न्यायशास्त्र ही है।

पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें उल्लिखित है—

"कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायः सांख्यं तु कपिलेन वै॥"

(प० पु० उ० खं० अ० २६३)

मनुने कहा है—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥"

याज्ञवल्क्यका भी वचन है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(या० स्मृ० अ० १ श्लोक ३)

विष्णुपुराणमें भी उल्लिखित है—

अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
(वि० पु० अं० ३ अ० ६)

यहाँ 'न्यायविस्तर' शब्दसे न्यायको प्रधान बनाकर वैशेषिक, सांख्य और योगशास्त्रका ग्रहण किया गया है ।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
(म० स्मृ० अ० १२ श्लो० १०६)

इस मनुवचनमें तर्कशब्दको तर्कनिरूपक न्यायशास्त्रका ग्रहण है । मनुने आन्वीक्षिकीको आत्मविद्याशब्दसे भी कहा है, जैसे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥
(म० स्मृ० अ० ७ श्लो० ४३)

तर्कका ही दूसरा नाम आन्वीक्षिकी है । अमरकोशमें कहा है—

"आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्याऽर्थशास्त्रयोः" ।
एवं "आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती"

इस वचनद्वारा प्रतिपादित चतुर्विध विद्याओंमें भी आन्वीक्षिकी न्याय-विद्या ही है, ऐसा जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरीमें कहा है । "प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा अनुमानमित्यर्थः, तद्व्युत्पादकं शास्त्रमान्वीक्षिकम् न्यायशास्त्रमित्यर्थः ।

(न्यायमञ्जरी प्रथमसूत्रावतरणिका)

इस प्रकार विद्याओंके चार भेद हों, या चतुर्दश भेद हों, या अष्टादश भेद हों, सर्वथा न्यायका सन्निवेश होनेसे इसकी महत्ता प्रकट होती है । इसीलिये गङ्गेशोपाध्यायने भी तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थके

प्रारम्भमें "अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुरष्टादशविद्यास्थाने-ष्वभ्यर्हिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनाय" ऐसा कह कर न्यायविद्याकी महत्ता बताई है। इससे स्पष्ट है कि आदिकालसे यह आन्वीक्षिकीविद्या वेदकी तरह अभ्यर्हित होती आ रही है।

यद्यपि न्यायसूत्रकारने इस शास्त्रका प्रयोजन आत्यन्तिक दुःखो-परमरूप निःश्रेयस बताया है—जैसे, "प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" (न्या० द० १।१।१)। किन्तु भाष्यकार वात्स्यायनने तो यहाँ तक कह दिया है कि बुद्धि-मानोंका ऐसा कोई भी प्रयोजन नहीं है, जिसे प्राप्त करानेमें आन्वी-क्षिकीविद्या उपयोगी न हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"सेयमान्वी-क्षिकी विद्या—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥

अर्थात् यह न्यायविद्या सभी विद्याओंका प्रदीप है। जैसे प्रदीप-द्वारा प्रकाशित वस्तुसे हम अपना व्यवहार सम्पादित करते हैं, वैसे ही न्यायविद्याद्वारा प्रतिपादित प्रमाणकी सहायतासे ही इतर विद्यायें अपने अर्थतत्त्वोंके निरूपणमें प्रवृत्त होती हैं। इस प्रकार न्यायविद्या-का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है कि मीमांसा-वेदान्तादि विद्याओंके लिए यह विद्या प्रमाणरूप साधन प्रस्तुत करती है। इसीलिये इसे प्रमाण-शास्त्र भी कहा जाता है।

एवं समस्त विद्याओंद्वारा प्रतिपाद्य अग्निहोत्रसे लेकर कृषि-पर्यन्त सभी कर्मों में आन्वीक्षिकी उपायभूत है। क्योंकि विद्याओंमें आये पदोंसे जिसरूपमें अर्थकी अवगति होती है, उतनेमात्रसे बुद्धिमानोंको परितोष नहीं होता है। कारण, "आदित्यो वै यूपः" इस श्रुतिवाक्यमें कही गयी यूपकी आदित्यरूपताको बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये संशय-परीक्षा और प्रमाणोंके विनिवेशद्वारा वास्तविक अर्थको समझ कर ही अनुष्ठान या परिहारहेतु उसमें श्रुतिका विनियोग होता है। इसी तरह दण्डनीति और वार्ता-शास्त्रमें भी प्रमाणोंके विनियोगद्वारा आन्वीक्षिकीकी उपयोगिता समझनी चाहिये। अतः "उपायः सर्वकर्मणाम्" यह कथन भी यथार्थ है।

महाभारतके मोक्षधर्मप्रकरणमें कहा गया है—

तत्रोपनिषदं तात ! परिशेषं तु पार्थिव !
मथ्नामि मनसा तात ! दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ।।

अर्थात् उपनिषदों का रहस्यार्थबोध भी उत्कृष्ट आन्वीक्षिकीके आधारपर ही सम्भव है।

आचार्य कामन्दकने भी लोकसंस्थितिके हेतुभूत चार विद्याओंमें आन्वीक्षिकीको प्रथम स्थान दिया है। जैसे—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थितिहेतवः ।।

अर्थात् आन्वीक्षिकीविद्या लोकसंस्थितिका मुख्य हेतु है।

इसी आन्वीक्षिकीको अध्यात्मविद्याके रूपमें दत्तात्रेयने अलर्क एवं प्रह्लाद आदिको बताया था।

(द्रष्टव्य—श्रीमद्भा० पु० स्क० १ अ० ३ श्लो० १०, ११)

एवं, सभी धर्मोंका आश्रयभूत भी आन्वीक्षिकी है। क्योंकि विहित कर्ममें प्रवर्तना तथा निषिद्ध कर्मों से निवर्तना विद्याओंका धर्म है। यज्ञ आदि कर्ममें साध्य-साधन और इतिकर्तव्यता इन तीनोंका विधान होता है। इनमें किस अंशमें प्रवृत्ति करनी चाहिये, इसके परिज्ञानमें आन्वीक्षिकी न्यायविद्या या तर्कविद्या सहकारी होकर उपकार करती है। जैसे, "श्येनेनाभिचरन् यजेत" यहाँपर साध्यांश हिंसामें श्रुतिका तात्पर्य है ? या साधन या इतिकर्तव्यतांशमें ? ऐसा संशय होनेपर निर्णय किया जाता है कि साध्यांश (हिंसा) में श्रुतिका तात्पर्य नहीं हो सकता है। क्योंकि वैसा होनेपर "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस श्रुतिके साथ विरोध हो जायगा। अतः साधनेतिकर्तव्यतांशमें ही उक्त श्रुतिका तात्पर्य है, यह निर्णय आन्वीक्षिकीके द्वारा ही होता है। इससे स्पष्ट है कि न्यायविद्या सभी धर्म-कर्मोंका आश्रय भी है।

इसी बातको जयन्तभट्टने भी न्यायमञ्जरीमें प्रकारान्तरसे उपपादित किया है। जैसे—

दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ।।
तदेवमुपदेष्टव्याः पदार्थाः संशयादयः ।

तन्मूलन्यायनिर्णयवेदप्रामाण्यसंविदे ॥
तेनागमप्रमाणत्वद्वाराऽखिलफलप्रदा ।
इयमान्वीक्षिकी विद्या विद्यास्थानेषु गण्यते ॥

अर्थात् वेदोंका प्रमाणत्वसाधन आन्वीक्षिकीसे ही सम्भव है। एवं आगममें प्रामाण्यका बोध होनेपर ही इतर विद्यायें वेदोक्त विषयोंमें प्रवृत्ति करा सकती हैं। अतः विद्याओंमें आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या) का विशिष्ट महत्त्व है, यह निर्विवाद है। "काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्" यह उक्ति भी एतन्मूलक ही है। यहाँ काणादपद न्यायवैशेषिक उभयपरक है।

न्यायशास्त्रकी परम्परा और उदयनाचार्य

पञ्चाध्यायी न्यायसूत्रोंके प्रणेता महर्षि अक्षपाद गौतम या गोतम थे। इनका नाम गौतम या गोतम दोनों ही मिलता है। महाकवि श्रीहर्षने 'गोतम' नामका ही उल्लेख अपने नैषधीयचरितमें किया है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥
(नै० स० १७ श्लो० ७५)

एवं, नैयायिकप्रवर विश्वनाथन्यायपञ्चाननद्वारा न्यायसूत्रवृत्तिके अन्तमें उल्लिखित—

"एषा मुनिप्रवरगोतमसूत्रवृत्तिः श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाऽल्पवर्णा ।" यह पद्य, तथा अपर वाचस्पतिके—

"श्रीवाचस्पतिमिश्रेण मिथिलेश्वरसूरिणा ।
लिख्यते मुनिमूर्धन्यश्रीगोतममतं महत् ॥"

यह श्लोक भी न्यायसूत्रकारका 'गोतम' नाम होनेमें प्रमाण हैं। इनके आधारपर 'गोतम' नाम ही प्रतीत होता है। जहाँ कहीं 'गौतमसूत्र' इत्यादि लिखा मिलता है, वहाँ "गोतमस्येदं गौतमम्" ऐसा हो सकता है। जैसे कणादके दर्शनको काणाददर्शन कहा जाता है। न्यायभाष्यके अन्तमें तथा न्यायवार्तिकके प्रारम्भमें अक्षपाद नामका भी उल्लेख हुआ है।

न्यायदर्शनकी प्रवृत्ति मुख्यतया प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान एवं शब्द-

प्रमाणोंके विवेचनद्वारा आत्मा आदि प्रमेयोंका तत्त्वज्ञान करा कर निःश्रेयसकी प्राप्ति करानेके लिये हुई है।

महर्षि गोतमका समय अतिप्राचीन है। इसमें श्रुति-स्मृति आदि प्रमाण हैं। मुण्डक उपनिषद्के प्रथममुण्डकमें द्विविध विद्याओंके प्रसङ्गमें "न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि" इस वचनद्वारा न्यायशास्त्रका उल्लेख होनेसे उसके कर्ता गोतमका भी अतिचिरकालीन होना निर्विवाद है। यद्यपि मीमांसा और धर्मशास्त्र भी न्यायशब्दवाच्य होता है, तथापि उन दोनोंका पृथक् उल्लेख होनेसे यहाँ न्यायशब्द गोतमकृत न्यायशास्त्रका ही वाचक है।

पद्मपुराणमें लिखा है—

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥
(पद्मपु० उ० खं० २६३ अ०)

स्कन्दपुराणके कालिकाखण्डमें आया है—

गोतमः स्वेन तर्केण खण्डयन् तत्र तत्र हि।
(स्क० पु० का० ख० अ० १७)

उपर्युक्त प्रमाणोंसे निर्विवाद सिद्ध है कि महर्षि गोतमका समय अतिप्राचीन है।

न्यायदर्शनके भाष्यकार वात्स्यायनका कालनिर्णय भी इदमित्थं-रूपमें करना कठिन है। न्यायवार्तिककारने उन्हें अक्षपादके तुल्य बताया है—

यदक्षपादप्रतिमो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाके प्रारम्भमें वाचस्पतिमिश्रने उन्हें "भगवता पक्षिलस्वामिना" ऐसा ससम्मान उल्लिखित किया है। जिससे वात्स्यायनका दूसरा नाम पक्षिलस्वामी भी था, यह प्रमाणित होता है। वात्स्यायन मुनिकी चर्चा पद्मपुराणके रामाश्वमेध-प्रकरणमें हुई है, जैसे—

ततः परं धराधारं पृष्टवान् भुजगेश्वरम्।
वात्स्यायनो मुनिवरः कथामेतां सुनिर्मलाम्॥
(प० पु० रा० अ० १)

इस प्रकार पुराणोंमें वात्स्यायनकी चर्चा होनेसे इनकी भी अति-प्राचीनता सिद्ध है।

एवं, उनके न्यायभाष्यमें भी कोई ऐसा चिह्न नहीं दिखाई पड़ता है, जिससे उनके अर्वाचीन होनेकी सम्भावना की जाय। यदि भाष्यमें आत्मवादी, अनात्मवादी, आस्तिक, नास्तिक, सांख्ययोग, क्षणिकवादी, भूतचैतनिकवादी तथा दशावयववादियोंके मतोंका उपन्यास होनेसे वात्स्यायनको अर्वाचीन कहा जाय तो उपनिषदादिकोंमें भी इन मतोंका उल्लेख होनेसे उपनिषदें भी अर्वाचीन हो जायेंगी।

भाष्यमें आये "दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते" इस वचनसे इनका अर्वाचीनत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि आन्वी-क्षिकीविद्याके एक होनेपर भी नैयायिक अनेक हैं। जैसा कि महाभारतमें लिखा है—

> नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च।
> पराजितो यत्र वादी विवादेन पराजितः॥

किसीका कहना है कि दशावयववादीके रूपमें बौद्ध ही भाष्यकारके विवक्षित हैं। किन्तु यदि बौद्ध विवक्षित होता तो भाष्यकार उन्हें नैयायिकनामसे न कहते, बल्कि बौद्धनामसे ही कहते।

कुछ आधुनिक विद्वान् "महाभूतसंक्षोभकः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्ति-धर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये" इस भाष्यवचन में आये 'अन्ये' पदसे बौद्धकी कल्पना करते हैं और कहते हैं कि ईसासे ४८७ वर्ष पूर्व वर्तमान बुद्धदेवके बाद ही वात्स्यायनभाष्यकी रचना हुई थी। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वेद-धर्मशास्त्र-पुराणोंमें जैसे अनेक आस्तिक-नास्तिकमतोंका उल्लेख होनेपर वे बुद्धके बाद नहीं माने जाते हैं, वैसे ही उक्त भाष्यवचनमें 'अन्ये' पदसे किसीका मत कहा गया होगा। क्योंकि बौद्धनामका वहाँ उल्लेख नहीं है। यह बात न्यायवार्तिककी भूमिकामें स्पष्ट है।

कुछ आधुनिक तार्किक हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिन्तामणिकोश-में लिखे—

> वात्स्यायने मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
> द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

इस श्लोकको देख कर कहते हैं कि न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन चाणक्य

ही थे और उनका समय ईसासे ३२१ वर्ष पूर्व था। किन्तु पुरुषोत्तम-देवकृत त्रिकाण्डशेषकोशमें चाणक्यके पाँच नाम विष्णुगुप्त-कौण्डिन्य-चाणक्य-द्रामिल एवं अंशुल बताये गये हैं। तथा वात्स्यायनके तीन नाम वात्स्यायन-मल्लिनाग और पक्षिलस्वामी बताये गये हैं। जैसे—

विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रामिलोंऽशुलः।

वात्स्यायनो मल्लिनागपक्षिलस्वामिनावपि ॥ (त्रि० को० ब्रह्मवर्ग)
यह बात इसकी बुधमनोहरा टीकामें स्पष्ट की गयी है।

एवं, न्यायग्रन्थोंमें नैयायिकके रूपमें वात्स्यायनको छोड़कर चाणक्य या कौटिल्य आदि कोई अन्य नाम नहीं कहा गया है। अतः त्रिकाण्ड-शेषकोशके टीकाकाकारका कथन ही प्रामाणिक प्रतीत होता है। ऐसी स्थितिमें हेमचन्द्राचार्यने उक्त आठों नामोंको वात्स्यायनका नाम कैसे लिख दिया? इसका कोई मूल नहीं प्रतीत होता है। विशेषरूपसे म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदीकी न्यायवार्तिकभूमिकामें स्पष्ट है।

यदि हेमचन्द्रके अनुसार चाणक्यका भी 'वात्स्यायन' नाम हो तो यह वात्स्यायन कोई और ही है, जिन्होंने राजमन्त्री होनेके कारण एक ही रीतिसे कामशास्त्र और अर्थशास्त्रका निर्माण किया और उसमें लौकिक विषयोंका संकलन कर दिया। साथ ही चाणक्य नैयायिक नहीं थे, यह सुनिश्चित है। अतः न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन चाणक्यसे भिन्न थे।

किन्तु वात्स्यायनने नागार्जुनके आक्षेपोंका निराकरण किया, इस प्रसिद्धिके अनुसार नागार्जुनके बाद वात्स्यायन सिद्ध होते हैं। वात्स्यायनके तर्कोंका प्रतिवाद वसुबन्धु एवंदिङ्नागने किया, जिसके खण्डनमें आचार्य उद्योतकरने न्यायवार्तिकका प्रणयन किया। उद्योत-करके तर्कोंका निराकरण ७ वीं सदीमें विद्यमान धर्मकीर्तिप्रभृति बौद्ध-पण्डितोंने किया। जिनका उत्तर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका लिख कर वाचस्पतिमिश्रने दिया। तदनन्तर ज्ञानश्री और रत्नकीर्तिने जो न्यायमतका खण्डन प्रस्तुत किया, उसका निराकरण श्रीउदयनाचार्यने अत्यन्त प्रौढ़ताके साथ किया। इनके बाद नव्यन्यायकी धारा तत्त्व-चिन्तामणिके कर्ता गङ्गेशोपाध्यायसे प्रारम्भ होती है।

इनमें यद्यपि वात्स्यायनका भी ठीक ठीक समय निर्धारित कर पाना संभव नहीं है, तथापि इनकी निवासभूमि मिथिला मालूम पड़ती है।

क्योंकि वाक्छलका उदाहरण देते हुए इन्होंने "नवकम्बलोऽयं माणवको नेपालादागतः" लिखा है। (न्याय भा० अ०१ आ०२ सू०१२)। एवं अपार्थकके विचारमें "दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः" इत्यादि लिखा है। (न्या० भा० अ० ५ आ० २ सू० १०)। इसके अतिरिक्त २।१।३७ सू० के भाष्यमें "नदी पूर्णा गृह्यते" कथन किया है, तथा २।१।३८ सू० के भाष्यमें "पूर्वोदकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं स्रोतसो बहुतरफेनफलपर्णकाष्ठादिवहनम्' इत्यादि लिखा है। इन कथनोंके आधारपर इनकी निवासभूमि मिथिलाका समर्थन होता है।

वात्स्यायनके बाद उद्योतकराचार्य आते हैं। ये किस देशमें या किस कालमें हुए थे, इस विचारके अन्तर्गत कोई इन्हें काश्मीरनिवासी मानते हैं। क्योंकि किसी वार्तिकग्रन्थकी पुष्पिकामें "पाशुपताचार्योद्योतकरविरचितं न्यायसूत्रवार्तिकम्" ऐसा उल्लेख है। कोई तो न्यायवार्तिककी पृष्ठसंख्या ११० में उल्लिखित "गोपालकेन मार्गेऽपदिष्टे एष पन्थाः स्रुघ्नं गच्छति" इस उदाहरणसे ये मालवप्रदेशान्तर्गत पद्मावतीमें जन्म लिये थे और थानेश्वर निवासी थे, ऐसा मानते हैं। क्योंकि पद्मावतीमें न्यायविद्याका बहुत प्रचार था। किन्तु महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदीने इसका खण्डन कर सिद्ध किया है कि वार्तिककार भी मिथिलाके ही निवासी थे। उनका कथन है कि न्यायसूत्रके रचयिता गौतममुनि, भाष्यकार वात्स्यायन, वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य, प्रकाशकार वर्धमानोपाध्याय प्रभृति जब मिथिलानिवासी थे, तो उद्योतकराचार्य भी वहींके थे, काश्मीर या मालवके नहीं हो सकते।

इनका काल वाचस्पतिमिश्रसे बहुत पूर्वका है। क्योंकि वाचस्पतिमिश्रने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाके प्रारम्भमें—

"इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥

ऐसा लिखा है। वासवदत्ताख्यायिकामें भी "न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्" ऐसा आया है। इन प्रमाणोंसे ईसाकी छठी सदी (४९० से ५६० ई० के मध्य) इनका समय हो सकता है। ऐसा द्विवेदीजी

का निर्णय है। काशीस्थ गर्वनमेन्टसंस्कृतकालेजमें न्यायशास्त्रके प्रधानाध्यापक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मेरे गुरुदेव श्रीसूर्यनारायणशुक्लजीने भी उद्योतकराचार्यका यही समय अपनी न्यायमञ्जरीभूमिकामें निर्धारित किया है।

वाचस्पतिमिश्र—

संस्कृतवाङ्मयमें अनेक वाचस्पति हुए हैं। उनमें दो दार्शनिक वाचस्पति थे। उनमें एकको आचार्यसन्मिश्र वाचस्पतिनामसे तथा दूसरेको षड्दर्शनटीकाकृत् आचार्यवाचस्पतिमिश्रनामसे प्रसिद्धि प्राप्त है। इनमें द्वितीय षड्दर्शनारण्यपञ्चानन आचार्य वाचस्पतिमिश्र ही न्यायविद्याकी महत्त्वपूर्ण परम्परामें ऋषिकल्प चतुर्थ महापुरुष थे। इन्होंने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाके अतिरिक्त न्यायसूचीनिबन्ध-न्यायकलिका या न्यायकणिका-तत्त्वबिन्दु–ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा-तत्त्ववैशारदी और ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यपर भामतीटीकाकी रचना की थी। इसीलिये 'षड्दर्शनटीकाकृत्' इस सम्मानोपाधिसे ये विभूषित हैं।

आचार्य वाचस्पतिमिश्रके मिथिलादेशमें उत्पन्न होनेके सम्बन्धमें विवाद नहीं है। यद्यपि उन्होंने न्यायसूचीनिबन्धनामक ग्रन्थमें—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसु (८९८) वत्सरे॥

ऐसा लिख कर नवम शताब्दीके अन्तिम भागमें अपनी स्थिति प्रतिपादित की है। ऐसे ही ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यकी भामतीटीकाके अन्तमें उन्होंने—

नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः॥

ऐसा उल्लेख किया है। इससे उनका नृगराजाका समकालिक होना निःसंन्दिग्ध है।

तथापि न्यायसूचीनिबन्धकी रचनाका उक्त समय ८९८ वत्सर शकवर्ष है या विक्रमवर्ष है, यह सन्दिग्ध है। साथ ही नृग राजा कौन थे और उनका काल क्या था, यह भी विचारणीय ही है।

महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, प्रभृति कुछ विद्वान् उक्त श्लोकमें वत्सरपदसे शकवर्ष लेते हैं। इसके अनुसार ८९८+

७८=९७६ ई० वर्ष न्यायसूचीनिबन्धका रचनाकाल होता है। अर्थात् ईसाकी दशम शताब्दीके अन्तमें वाचस्पतिमिश्र थे। एवं ११०० शकवर्षमें वर्तमान हम्मीरराजाके सभापण्डित श्रीदामोदरके पुत्र श्रीशार्ङ्गधरने नृगनृपतिका निर्देश शार्ङ्गधरसंहितामें किया है। इससे ११०० शकवर्षसे २०० वर्ष पूर्व ८९८ शकवर्षसे नृगराजाका और वाचस्पतिमिश्रका समय सिद्ध होता है। इसके अनुसार ७८ वर्ष जोड़नेपर ९७६ ई० वर्ष तथा १३५ वर्ष जोड़नेपर १०३३ वि० संवत् वाचस्पतिमिश्रका समय आता है।

किन्तु उपर्युक्त द्विवेदी प्रभृतिके मतका विरोध करते हुए डा० गङ्गानाथझा प्रभृति अन्य विद्वान् न्यायसूचीनिबन्धके उपसंहारमें लिखे उक्त श्लोकमें वत्सरपदसे विक्रमवत्सर मानकर वाचस्पतिमिश्रका समय (८९८—५७=) ८४१ ई० वर्ष निश्चित करते हैं। डा० कीथ एवं डा० वुडश महाशय भी डा० झा के मतका ही समर्थन करते हैं। उभयपक्षका सम्यक् विचारकर श्रीउदयवीरशास्त्री भी झामतका ही समर्थन करते हैं। तथा श्रीद्विवेदी एवं महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्रीके मतका खण्डन करते हैं।

मेरे विचारसे भी डा० झाका ही मत ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि उक्त निबन्धमें वर्षका नामोल्लेख न होनेसे सामान्यतः प्रसिद्ध वि० संवत् ही मानना उचित है। आज भी ईसाका नाम लिये बिना केवल वर्षसंख्या १८५७, १९४२, १९५७ आदि लिख दिया जाता है, किन्तु प्रसिद्धिवशात् ई० वर्ष समझा जाता है। वैसे ही वहाँ प्रसिद्धिवश विक्रमसंवत् ही मानना चाहिये।

यह इसलिये भी उचित है कि यदि ८९८ शकवर्ष होता तो ९०६ शकवर्षमें वर्तमान उदयनाचार्य वाचस्पतिमिश्रके अत्यन्त समानकालिक हो जानेसे उनकी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापर तात्पर्यपरिशुद्धि कैसे लिखते? वाचस्पतिमिश्रलिखित ८९८ को विक्रमवर्ष माननेपर उदयनाचार्यका समय (९०६ शकवर्ष + १३५ =) १०४१ विक्रमसंवत् होनेसे वाचस्पतिमिश्रसे लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद उदयनाचार्यद्वारा तात्पर्यपरिशुद्धिका लिखना सर्वथा संगत होगा। मेरे गुरुदेव श्रीसूर्यनारायणशुक्लजीने भी न्यायमञ्जरीकी भूमिकामें ९४१ ई० वर्ष ही वाचस्पतिमिश्रका समय निर्धारित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'आत्मतत्त्वविवेक' के रचयिता सुगृहीतनामधेय आस्तिकशिरोमणि श्रीमान् उदयनाचार्य दार्शनिकगगनमण्डलमें अत्यन्त तेजस्वी सूर्यके समान विराजमान थे। जिन्होंने न्याय-लोक एवं आगमोंके ऊपर छाये प्रतिपक्षियोंके व्याघातरूप घोर अन्धकारको दूर कर मुक्तिके मार्गको प्रशस्त किया। ग्रन्थके अन्तमें उनकी यह उक्ति है– 'तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां व्यतिहृतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः'।

उनकी प्रसिद्धि अनेक नामोंसे थी। उदयन, उदयनाचार्य न्यायाचार्योदयन, उदयकर या उदयाकार, उदयंकर एवं उदयनाचार्य भादुड़ी आदि। अपने 'उदयन' नामका उल्लेख उदयनाचार्यने स्वयं अपने वैशेषिकसूत्र-प्रशस्तभाष्यकी किरणावलीनामक व्याख्याग्रन्थमें किया है। "व्यातेने किरणावलीमुदयनः"। प्रस्तुत ग्रन्थके उपसंहार-श्लोकमें भी "तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानाम्" ऐसा उल्लेख किया है। कलकत्तामुद्रित "आत्मतत्त्वविवेक" के उपसंहार-वाक्यमें "इदमुदयकरेण न्यायलोकागमानाम्" ऐसा पाठ है। इसका उल्लेख महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदीने न्यायवार्तिककी भूमिकामें किया है। इस प्रकार उदयकर भी इनका नाम था। उदयनाचार्य या न्यायाचार्योदयन ऐसा विद्वानोंद्वारा व्यवहृत नाम भी इन्हीं का है। किन्तु ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्रग्रन्थमें देखा गया 'उदयाका रसुनुना' यह वाक्य किसी औरको उदयाकरनामसे अभिहित करता है, उदयनाचार्यको नहीं। "शब्देन्दुशेखरे ज्योत्स्नां प्रकरोत्युदयंकरः" श्लोकमें आया उदयंकर-नाम तो किसी अत्यन्त अर्वाचीनका है, यह सुतरां स्पष्ट है। उदयनाचार्य भादुड़ी भी प्रस्तुत उदयनाचार्यसे भिन्न थे। क्योंकि भादुर्जी बानुर्जी गाङ्गुली भादुड़ी आदि उपाधियाँ बल्लालसेनकी दी हुई हैं, जिसका समय "अद्भुतसागर आदि ग्रन्थोंके आधारपर १०८९ शकाब्द था। जबकि उदयनाचार्यने लक्षणावलीमें इसके निर्माणका काल ९०६ शकाब्द लिखा है। इस प्रकार उदयन-उदयकर-उदयनाचार्य एवं न्यायाचार्यो-दयन यही नाम इनके वस्तुतः थे। (द्रष्टव्य—म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदीकृत न्यायवार्तिकभूमिका पृष्ठ १५१-५२)

आत्मतत्त्वविवेकके रचयिता श्रीमान् उदयनाचार्य बङ्गदेशीय या 'दाक्षिणात्य नहीं थे किन्तु मैथिल थे, इसका स्पष्ट उल्लेख भविष्यपुराण-के परिशिष्टमें हुआ है। जैसे—

अथ वक्ष्ये तृतीयस्य हरेरंशस्य धीमतः ।
उदयनाचार्यनाम्नस्तु माहात्म्यं लोमहर्षणम् ॥१॥
भूत्वा स मिथिलायान्तु शास्त्राण्यध्येष्ट सर्वशः ।
विशेषतो न्यायशास्त्रे साक्षाद् वै गोतमो मुनिः ॥२॥
बौद्धसिद्धान्तमुग्धान्तःसुखाय हितकारिणीम् ।
वितेने विदुषां प्रीत्यै विमलां किरणावलीम् ॥३॥
मिथिलामाजगामाशु निजमन्दिरमुत्तमम् ।
तत्र शिष्योपशिष्यैश्च सेवितः परमादरात् ॥७९॥
अध्यापयामास मुहुः सर्वशास्त्राणि यत्नतः ।
अधीत्य तस्मादाचार्याद् वेदशास्त्राणि सर्वशः ॥८०॥
धर्मं संस्थापयामासुर्देशेदेशेऽतिपण्डिताः ।
अथापि मिथिलायान्तु तदन्वयभवा द्विजाः ॥८१॥
एवं सोदयनाचार्यो बभूव पृथिवीतले ॥८४॥ इत्यादि ।
(भवि० पु० परि० भगवद्भक्तमाहात्म्य अध्याय ३०)

इस प्रकार स्थूलरीतिसे उदयनाचार्यके देश-काल एवं स्थितिका निर्णय होता है। सूक्ष्मरीतिसे तो उनके कालका निर्णय उनकी लक्षणावलीके अन्तिम श्लोकसे होता है। वहाँ उदयनाचार्यने स्वयं उल्लेख किया है— तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥

इस श्लोकके अनुसार ९०६ शकवर्षमें उदयनाचार्यकी स्थिति थी, यह निश्चित होता है। यह समय ई० वर्षके रूपमें ९८४ वां वर्ष होता है। अर्थात् ईसाकी दसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें उदयनाचार्यकी स्थिति थी।

एवं, नैषधीयचरितकी एक टीका ९७२ शकवर्ष में लिखी गयी थी, वह बात भी—

"युग्माश्वाङ्कैर्निरुक्ते शकनृपतिसमे कान्यकुब्जेश्वरस्य ,
आदेशं प्राप्य यत्नान्नलचरितमहाकाव्यटीकां व्यधत्त ।
सूरिर्भूदेवसंज्ञो दिनमणितनयः कूर्मपूर्वोगजन्मा ,
तुष्यात् तेनान्तरात्मा त्रिभुवनजनकोमापतिश्चामहेशः ॥"

से प्रमाणित है।

इस टीकाके निर्माणकालको ध्यानमें रखते हुए यह निश्चित होता

है कि नैषधकाव्यके प्रणेता श्रीहर्ष ९७२ शकवर्षसे पूर्वमें थे। और इन्होंने खण्डनखण्डखाद्यमें उदयनाचार्यकी "शङ्का चेदनुमास्त्येव" इस कारिकाके उद्धरणके साथ न्यायमतका खण्डन किया है। इससे भी पूर्ण है कि उदयनाचार्यका ९०६ शकवर्ष काल माननेमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।

उदयनाचार्यने न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिमें लिखा है "प्रपञ्चितोऽयं न्यायकुसुमाञ्जलाविति" (न्या० द० अ० २ आ० २)। एवं, वहीं अ० ३ आ० १ में "विद्यासन्ध्योदयोद्रेकात्" इत्यादि श्लोक लिखा है, जो किरणावलीके प्रारम्भमें भी है। एवं "अपसिद्धान्तस्तु यथा विरोधाद्भिद्यते तथा तत्रैव वक्ष्यते, शेषं परिशिष्टे" यह लिखकर "न्यायपरिशिष्ट" ग्रन्थका उल्लेख किया है। किरणावलीमें "विस्तरस्तु न्यायकुसुमाञ्जलावात्मतत्त्वविवेके चानुसन्धेयः" ऐसा लिखा है। तात्पर्यपरिशुद्धि और किरणावलीमें लिखा "विद्यासन्ध्योदयोद्रेकात्" इत्यादि श्लोक लक्षणावलीमें भी है।

उपर्युक्त लेखोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि न्यायकुसुमाञ्जलि-आत्मतत्त्वविवेक-किरणावली-न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि—न्यायपरिशिष्ट और लक्षणावली ये छहों ग्रन्थ उदयनाचार्यके ही लिखे हैं। न्यायपरिशिष्टनामक न्यायसूत्रवृत्तिका ही अन्य नाम प्रबोधसिद्धि-बोधशुद्धि है, यह बात श्रीवरदराजाचार्यने तार्किकरक्षामें निरूपित की है।

उपर्युक्त ग्रन्थोंमें सबसे पहले आत्मतत्त्वविवेक लिखा ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उसके ईश्वरसिद्धिप्रसङ्गमें न्यायकुसुमाञ्जलिके प्रसङ्गोंका कुछ भी सकेत नहीं है। उसके बाद क्रमशः न्यायकुसुमाञ्जलि, परिशिष्ट, तात्पर्यपरिशुद्धि, किरणावली, अनन्तर लक्षणावली लिखी गयी, ऐसा प्रतीत होता है।

त्रिदण्डिवेदान्तियोंका कहना है कि उदयनाचार्यने आत्मतत्त्वविवेकके अन्तमें "अत एव त्रिदण्डिवेदान्तमतोपसंहारः" ऐसा लिखा है। तथा रामानुजाचार्यके बाद ही त्रिदण्डिवेदान्तियोंका मत प्रचलित होनेसे रामानुजाचार्यके बाद ही उदयनाचार्यकी स्थिति सिद्ध होती है। 'प्रपन्नामृत' ग्रन्थके आधारपर रामानुजाचार्यका स्थितिकाल १०१२ शकवर्ष था। अतः लक्षणावलीग्रन्थमें प्रतिपादित ९०६ शकाब्दमें उदयनाचार्यकी स्थिति सम्भव नहीं है।

एवं, किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि रामानुजाचार्यसे भी बहुत पहले टङ्क–द्रमिण–गुहदेव–भारुचि आदि विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। जिनके सम्बन्धमें 'एकदण्डी त्रिदण्डी वा' ऐसा मनुने स्मरण किया है। इसलिए त्रिदण्डिवेदान्तमत भी अत्यन्त प्राचीन था और उसीका उल्लेख उदयनाचार्यने किया है।

सुरेश्वराचार्यने बृहदारण्यकवार्तिकके ब्राह्मण ५ अध्याय ६ में "सत्रिदण्डवत्" ऐसा उल्लेख किया है। इससे निश्चित होता है कि शङ्कराचार्यके परवर्ती वाचस्पतिमिश्रके और उनके भी परवर्ती उदयनाचार्यकेद्वारा त्रिदण्डिमतका उपन्यास होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यदि विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायको पूर्वापेक्षया अधिकाधिक लोकविश्रुत करनेवाले अद्वितीय आचार्य श्रीरामानुजाचार्यको ही आधार मानकर उदयनाचार्यने आत्मतत्त्वविवेकमें "त्रिदण्डिमतोपसंहारः" लिखा है, ऐसा त्रिदण्डिवेदान्तियोंका आग्रह हो तो भी उदयनाचार्यकी ९०६ शकवर्षमें स्थितिका सामञ्जस्य किया जा सकता है। जैसे—१०१२ शकवर्षपर्यन्त १२० वर्षकी परमायुको प्राप्त रामानुजाचार्यका जन्मकाल (१०१२–१२० =) ८९२ शकवर्ष सिद्ध होता है। लक्षणावलीके अनुसार सर्वमान्य ९०६ शकाब्दके बाद भी उदयनाचार्यकी स्थिति हो सकती है। ऐसी स्थितिमें ९०६ शकाब्दमें और उसके बादमें भी वर्तमान उदयनाचार्य "त्रिदण्डिमतोपसंहारः" ऐसा उल्लेख कर सकते हैं। अतः उदयनाचार्यकी ९०६ शकवर्षमें स्थिति होनी सर्वथा प्रामाणिक है।

किसीके अनुसार उदयनाचार्य १०२९ शकवर्षमें अवस्थित लक्ष्मण-सेनकी सभामें थे। क्योंकि गोवर्धनाचार्यने शृङ्गारसप्तशतीके अन्तमें लिखा है—

> उदयनबलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे।
> द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य॥

यहाँपर आनन्दपण्डितने इसकी व्याख्यामें उदयनका अर्थ उदयनाचार्य किया है। तथा गोवर्धनाचार्य राजा लक्ष्मणसेनके पञ्चरत्नोंमें थे। जैसा कि "पञ्चरत्न" ग्रन्थमें कहा है—

ख्यातो गोवर्धनाचार्य उमापतिधरस्तथा ।
शरणो जयदेवश्च धोयी कविनृपः क्रमात् ॥

यहाँ लक्ष्मणसेनकी सभामें गोवर्धनाचार्यके रहनेसे उनके शिष्यका उस कालमें रहना सुतरां सिद्ध है। किन्तु १०२९ शकवर्षके निकटमें अथवा उसके बादमें ९०६ शकवर्षमें वर्तमान उदयनाचार्यका रहना असम्भव होनेसे लक्ष्मणसेनकी सभामें वर्तमान गोवर्धनाचार्यके शिष्य उदयनाचार्य कोई अन्य ही उदयनाचार्य थे। ऐसा मानना चाहिये।

एवं, १३०० शकाब्दमें वर्तमान जयदेवरचित गीतगोविन्दके टीकाकार उदयनाचार्य भी कोई अन्य ही थे। क्योंकि ९०६ शकवर्षके साथ उक्त शकाब्दका विरोध स्पष्ट है। इसलिए ९०६ शकवर्ष उदयनाचार्यका स्थितिकाल सर्वथा असंदिग्ध है।

श्रीउदयनाचार्य परमभगवद्भक्त एवं आस्तिकशिरोमणि थे। इसके सम्बन्धमें भविष्यपुराणके परिशिष्टमें निम्नलिखित वर्णन हुआ है:—

एक समय कोई बौद्धाचार्य अपने शिष्यों सहित बौद्ध सिद्धान्तोंको प्रकट करनेके उद्देश्यसे तिरहुत (मिथिला) के राजदरबारमें पहुँचा और अहङ्कारके साथ अपने एक शिष्यको दूतके रूपमें राजाके पास इस सन्देशके साथ भेजा कि जाओ और मेरे शब्दोंमें मिथिलेशको कहो कि हे राजन् ! आप वेदशास्त्रोंसे व्यर्थ ही भ्रममें पड़े हो। मेरे शास्त्रको देखो और मेरे मार्गका अनुगामी बनो। यदि इस प्रदेशमें कोई व्यक्ति वेदमतकी स्थापना कर सकनेवाला हो तो उसे बुलवाओ कि वह मेरे साथ विचार करे। राजाने बौद्धाचार्यके दूतकी उस बातको सुनकर कहा कि जाओ, अपने गुरुसे कहो कि मैं भ्रममें हूँ या वह भ्रममें हैं, यह निश्चय करना बहुत बड़ी बात है। कल प्रातः सभामें आवो, उसमें व्यक्त हो जायगा। यह सुनकर वह दूत राजाके कथनको अपने गुरुसे निवेदित किया।

राजाने तत्काल प्रदेशके बहुत पण्डितों को, जिनमें उदयनाचार्य प्रमुख थे, बुलाकर कहा। अहो, अत्यन्त विद्वान् नास्तिकका इस राज में आगमन हुआ है, इनके साथ आप लोग शास्त्रार्थ करें। यदि वह जीत जाते हैं तो मैं और आप सभी उनके मतके अनुयायी हो जायेंगे। यदि आप सबकी विजय होती है, तो मैं आप सबकी सेवा करूँगा, इसमें संशय नहीं है। यह सुन सभी विद्वान् मौन रहे किन्तु उदयना-

चार्यने राजासे कहा—ठीक कहते हो, किन्तु मेरी बात सुनो। मनुष्य की जय या पराजय तो हरिकी इच्छाके अधीन है। यथाशक्ति हम विवाद करेंगे, आप चिन्ता छोड़कर हमारे पराक्रमको देखो। दूसरे दिन राजदरबारमें उपस्थित होकर राजाने सभी विद्वानोंको और उस बौद्धाचार्यको भी बुलाकर कहा कि आप दोनों (उदयनाचार्य एवं बौद्धाचार्य) का मेरे समक्ष विचार हो। राजाके निर्देशानुसार बहुत दिनों तक उन दोनोंका भारी विवाद चलता रहा। तब बौद्ध विद्वान्ने उदयनाचार्यसे अपनी पराजयको समझते हुए आश्चर्य करानेवाली अपनी माया फैलायी और राजासे बोला—

शालग्रामकी शिलामें इनके मतमें भगवान् वस्तुतः स्थित हैं। उसे मगावें, मैं अपने मतसे उसे खण्डित कर देता हूँ। यदि वह शिला जलवत् होकर अदृश्य हो जाती है, तो मेरा कथन सत्य होगा। यदि उदयनाचार्य उसे जलवत् करके पुनः शिला को व्यक्तकर देंगे तो इनका भी मत मैं सत्य मान लूँगा। इसमें संशय नहीं है।

राजाने उदयनाचार्यकी तरफ देखा और बोले कि यह बौद्धाचार्य क्या कह रहे हैं। इसपर उदयनाचार्य अत्यन्त हर्षित हुए और बोले कि यद्यपि यह इनकी माया है, तथापि मैं इसे स्वीकार करता हूँ। मैं माया भी जानता हूँ, किन्तु एक बात मैं भी कहता हूँ कि शिलाके वैसा हो जाने पर सभासद् लोग भ्रमसे यही कहेंगे कि दोनोंका मत सत्य है। इसलिये कौन सत्य है और कौन मिथ्या है, इसके निर्णयके लिये मैं एक शर्त कहता हूँ। यदि उसे यह स्वीकार करेंगे तो मैं भी अपनी प्रतिज्ञाको पूरी करूँगा। तब राजाने बौद्धाचार्यकी ओर देखा। बौद्धाचार्यने कहा कि मैं इनकी शर्त मानूँगा।

दोनोंकी बात सुनकर एक सुदृढ़ शालग्रामकी शिलाको मँगवाया और उसे एक पवित्र सोनेकी थालीमें रखवाया। तब उक्त बौद्धने अपने मतको प्रतिपादित किया। तदनन्तर क्षणभरमें वह शिला जल बन गयी और अग्रिम क्षणमें ही वह तिरोहित हो गयी। सबके समक्ष यह अद्‌भुत कार्य हुआ। उसके बाद उदयनाचार्यने बौद्धमतका खण्डन करते हुए अपना मत कहा। तत्काल वह जल प्रकट होकर अग्रिम क्षण में ही वह जल पुनः शिला बन गया।

तदनन्तर राजा आदि सभीने साधु-साधु कहते हुए उदयनाचार्यकी प्रशंसा की। किन्तु आचार्य ने कहा—इनका भी मत अब स्थित ही है तो यह मेरी प्रशंसा कैसी ? इसलिये अब जो मैं कहता हूँ, उसे बौद्धाचार्य करें।

ऐसा कह कर बौद्धाचार्यको कहा कि—मैंने आपके कथनानुसार कर दिया। किन्तु किसका मत सत्य है और किसका मिथ्या है ? इसके निश्चयके लिये जो मैं कहता हूँ, राजाके समक्ष करें।

यह अतिविशाल तालका वृक्ष दरवाजेपर स्थित है। उसपर चढ़कर हम दोनों ऊपरसे गिरें। "वेदाः प्रमाणम्" यह कह कर मैं और "वेदाः अप्रमाणम्" यह कह कर आप ऊपरसे गिरना। हम दोनों साथ-साथ तालवृक्षसे गिरेंगे। दोनोंमें जो जीवित रहेगा, उसका मत सत्य होगा और उसे सभी लोग स्वीकृत करेंगे। उदयनाचार्यके इस वचन-को बौद्धाचार्यने भी स्वीकार कर लिया।

तब राजाने उन दोनोंसे कहा कि प्राणान्त करनेवाली यह परीक्षा ठीक नहीं है। इसलिये आप दोनों इस विचारको छोड़ दें। राजाके इस वचनको सुनकर उदयनाचार्यने कहा कि इसमें कोई दोष नहीं है। हम शास्त्रके प्रति भक्तिसे अपनी रुचिसे ऐसा करेंगे और तुम मेरे या इनके किसी एकके मर जानेपर उसके मतको छोड़कर जीवित बचे हुए के मतको स्वीकार कर लेना।

ऐसा सुन कर राजाने बौद्धाचार्यकी ओर देखा। उन्होंने भी ऐसा ही कहा। राजाने भी प्रतिज्ञा की। तब उदयनाचार्य एवं बौद्धाचार्य दोनों उस महावृक्षपर चढ़कर अपने-अपने मतको बोलकर पृथिवीपर गिरे। उदयनाचार्य "वेदाः प्रमाणम्" कह कर और बौद्धाचार्य "वेदाः अप्रमाणम्" कह कर गिरे। उदयनाचार्य वेदोंसे सुरक्षित होकर वेद और हरिका स्मरण करते हुए पृथिवीपर खड़े हो गये। किन्तु बौद्धा-चार्यका ऊपरसे गिरते ही प्राणान्त हो गया। यह महान् आश्चर्य देख कर राजा आदि सभीने आचार्यको बार-बार नमस्कार कर उनकी प्रशंसा की। उसके अनन्तर राजाने वेदशास्त्रको सत्य मानकर उसे अपने राज्यमें स्थापित किया और वैदिक आचारमें निरत हो गये तथा राज्यके सभी बौद्ध उपासक आस्तिक हो गये।

पुनः एकबार उदयनाचार्य भगवान् जगन्नाथका दर्शन करनेकी इच्छासे पुरी गये। वहाँपर मार्कण्डेय ह्रद आदि तीर्थजलसे स्नानकर मन्दिरके द्वारपर आ गये। भगवान्के दर्शनहेतु जब मन्दिरके भीतर प्रवेश करना चाहे तो अपने आप कपाट बन्द हो गया। यह देखकर उदयनाचार्य दूसरे द्वारपर गये, वहाँ भी वैसा ही हुआ। तीसरे द्वारपर जानेपर भी वैसा ही हुआ। तब आचार्य चतुर्थ द्वारपर जाकर मन्दिर में जानेको तत्पर हुए। किन्तु उस कपाटको भी बन्द देखे।

इस कौतुकको देखकर वे सभी जन खड़े रहे। किन्तु उदयनाचार्य जी मुस्कुराते हुए बोले—

जगन्नाथ ! सुरश्रेष्ठ !·······
ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥ ६८–६९ ॥

(भवि० पु० परिशिष्ट अ० ३०)

इतना कहते ही तुरन्त सभी बन्द कपाट खुल गये। जगन्नाथके सभी पुजारी चकित हो गये तथा आदरपूर्वक उदयनाचार्यको ले जाकर मन्दिरमें भगवान् जगन्नाथका दर्शन कराये। उदयनाचार्यने भगवानका दर्शन, पूजन और स्तुति करते हुए वहाँ कई रात निवास किया। तथा भगवानने स्वप्नमें पुजारियोंसे कहा कि मेरा उत्कृष्ट पीताम्बर उदयनाचार्य को दो, वह मेरा अत्यन्त प्रिय है और मेरा ही अंश है, इसमें सन्देह नहीं है। बौद्धसिद्धान्तवादियोंद्वारा तिरस्कृत होनेपर इसने ही मुझे कायम रखा है। तब प्रातः उठ कर पुजारीजन जगन्नाथकी आज्ञासे उनका पीताम्बर लाकर आचार्यको दे दिये। आचार्यने उस प्रसादको शिरोधार्य कर लिया। और प्रसाद प्राप्त कर मिथिलामें आ गये। और वहाँ सर्वशास्त्रोंको पढ़ाने लगे। बहुत समयके बाद वृद्ध हो काशी आकर कुछ दिन रहकर उन्होंने मणिकर्णिकामें ब्रह्मनालमें लीला-पूर्वक प्राणत्याग कर दिया। इस प्रकार उदयनाचार्य धर्मकी स्थापना तथा नास्तिक्यकी निवृत्तिके लिये पृथिवीपर अवतरित हुए थे।

(भवि० पु० परिशिष्ट अध्याय ३०)

प्रस्तुत पुस्तक आत्मतत्त्वविवेकका अनुवाद करने एवं इसके प्रकाशनकी प्रवृत्ति मेरे अन्दर तभी हुई थी, जब मैं मारवाड़के सिरोही

स्टेटमें एक जैनमुनिको न्याय पढ़ानेके लिए उनके आग्रहपर कुछ समयके लिये वहाँ गया था। वहाँ अनेक न्यायग्रन्थोंके अध्यापनके साथ-साथ आत्मतत्त्वविवेकके भी अध्यापनका सुअवसर प्राप्त हुआ। अनुवादकार्यकी पूर्णता मैंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, भागलपुर (बिहार) में अपने कार्यकालमें कर ली थी। किन्तु प्रकाशनकी चेष्टा काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयमें आनेके बाद ही की।

अनुवादकी पाण्डुलिपि मैंने वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयमें अनुसन्धान विभागके तत्कालीन डाइरेक्टर श्रीक्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय को दिखलाई। इस कार्यसे बहुत प्रसन्न हो उन्होंने सुझाव दिया कि आत्मतत्त्वविवेकमें आये पूर्वपक्षोंके मूलवचनोंका ससन्दर्भ उल्लेख टिप्पणीमें या स्वतन्त्ररूपमें कर देना महत्त्वपूर्ण होगा। उनके निर्देशानुसार मैंने उसे भी यथाप्राप्त बौद्धग्रन्थोंका आलोडन कर परिशिष्टके रूपमें सन्निविष्ट कर दिया। बादमें इस पाण्डुलिपिको मैंने सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयके प्रकाशनविभागको प्रकाशनकी स्वीकृतिहेतु दे दिया। पाण्डुलिपि लगभग दो वर्ष रखी रह गई और प्रकाशनके लिए पहलेसे स्वीकृत पुस्तकोंकी लम्बी परम्परामें इसके शीघ्र प्रकाशनकी आशा न देखकर मैंने अपनी पाण्डुलिपि वहाँसे वापस ले ली। अन्ततः उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी, लखनऊकी आर्थिक सहायता पाकर मैंने स्वयं प्रकाशनका निर्णय कर लिया। प्रकाशनके पूर्व विद्वानोंके प्राप्त सुझावके अनुसार इसकी भाषाको भी यथासम्भव परिमार्जित किया। फलतः बहुत कालके अन्तरालमें भी इसका प्रकाशनकार्य सम्पन्न हो सका, यह भगवान् विश्वनाथकी कृपा ही थी।

विषयकी दृष्टिसे गम्भीर एवं भाषाकी दृष्टिसे दुरूह इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका अनुवादकार्य मैंने अध्यापनके साथ-साथ लगभग दो वर्षों में पूर्ण किया था। उस समय मेरे पास महामहोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्री द्राविड द्वारा सम्पादित एसियाटिक सोसाइटी, बङ्गालसे प्रकाशित हुई शङ्कर-मिश्र, रघुनाथशिरोमणि एवं भगीरथठक्कुरकी टीकाओंसहित आत्मतत्त्व-विवेक पुस्तक प्राप्त थी। उसमें शङ्करमिश्रकी कल्पलता, भगीरथठक्कुरकी प्रकाशिका एवं रघुनाथशिरोमणिकी दीधिति टीकायें सन्निविष्ट थीं। मथुरानाथ तर्कवागीशकी भी 'रहस्य' नामक टीका प्रारम्भकी कुछ पंक्तियों तक ही होकर रह गयी मिली, यह आश्चर्य है। प्रकाशिका एवं

दीधिति टीकायें ग्रन्थके अन्ततक हैं, किन्तु बीच-बीचमें कहीं नहीं भी हैं। किन्तु शङ्करमिश्रकी कल्पलता टीका साद्यन्त अविकल है। अनुवाद करते समय मैंने उक्त सभी टीकाओंका सहारा लिया है। किन्तु जहाँपर व्याख्याओंमें भेद प्रतीत हुआ है, वहाँ मूलके अत्यन्त निकट और अक्लिष्ट व्याख्याका ही अनुगमन किया है। ग्रन्थके अस्फुट विषयको स्फुट करनेकी मेरी यथाशक्ति चेष्टा रही है। उसमें भी मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसे विद्वज्जन ही बता सकते हैं। मेरा प्रयास विषयके विवेकके साथ पंक्त्यर्थ का विवेक करनेका भी रहा है। ताकि ऐसा न हो कि विषयका ज्ञान हो जानेपर भी किसी पंक्तिका अर्थ अज्ञात रह जाय या एक भी पद का अर्थ छूट जाय। इसी मानीमें यह अनुवाद विवेचनात्मक है तथा मूल और अनुवादमें बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव जैसा है।

इस संस्करणमें दी गयी टिप्पणियाँ, जैसे "१ पु० पा०, २ पु० पा०, ३ पु० पा०" एसियाटिकसोसाइटी कलकत्ताद्वारा प्रकाशित आत्मतत्त्व-विवेकके अनुसार ही मैंने भी दी हैं। कलकत्तावाला संस्करण महा-महोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ एवं विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदीद्वारा सम्पादित होनेसे प्रामाणिक है।

वहाँ टिप्पणीमें अङ्कित १ पु० से जयनारायणतर्कपञ्चानन एवं मदनमोहन शर्मनद्वारा सम्पादित (कलकत्ता १८४७) आत्मतत्त्व-विवेक लिया गया है। तथा २ पु० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता सम्पादित (१८७३) आत्मतत्त्वविवेक लिया गया है। तथा टिप्पणीमें अङ्कित ३ पु० पा० से यदुनाथसार्वभौमकी पुस्तकका पाठ लिया गया है। यह बात रायल-एसियाटिक-सोसाइटी, बङ्गालके तत्कालीन जेनरल सेक्रेटरी जोहन-बान-मेननद्वारा लिखित भूमिकासे विदित है। इन तीन संकेतोंके अतिरिक्त सभी टिप्पणियाँ स्वयं मेरी दी हुई हैं।

प्रस्तुत पुस्तकके शुद्ध सम्पादनका भी प्रयास मैंने किया है। मूल-ग्रन्थके अनुच्छेदोंका निर्धारण प्रायः मैंने अपने ढङ्गसे किया है, ताकि पाठकोंको विषयबोधमें सुविधा हो। अत्यन्त सावधानीसे इस संस्करणको शुद्ध बनानेका प्रयास करनेपर भी मानवसुलभ मेरी अनवधानतासे या मुद्रणके दोषसे यदि त्रुटियाँ रह गई हों तो सहृदय विद्वज्जन कृपया स्वयं शुद्ध कर लेंगे, यह मेरी विनम्र प्रार्थना है।

विषयपरिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मतत्त्वविवेकमें आत्मतत्त्वका विशद विवेचन किया गया है। क्योंकि आस्तिक-नास्तिक सभी अध्यात्मवादियोंको इस बातमें समान मान्यता है कि सर्वानुभवसिद्ध दुःखके नाशका एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान ही है। और वह ज्ञेय तत्त्व आत्मा ही है। भले ही वह ज्ञेय आत्मा निरात्मवादियोंके लिये निषेध्यरूपमें ज्ञेय हो या आत्मवादियोंके लिये विधिरूपमें ज्ञेय हो। अर्थात् वह आत्मा क्या है ? जिसका नैरात्म्यवादी निषेध करते हैं और आत्मवादी अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार उभयदृष्टिसे उस आत्मतत्त्वका विवेचन करना आवश्यक होनेसे इस ग्रन्थमें उसका विवेचन किया गया है। इसीलिये इसका नाम आत्मतत्त्वविवेक रखा गया है। इसका अन्य नाम बौद्धाधिकार या बौद्धधिक्कार भी है। यद्यपि उदयनाचार्यके सभी ग्रन्थ बौद्धोंकी आलोचना करते हैं, किन्तु उन सबोंमें आत्मतत्त्वविवेक बौद्धमत-खंडनमें अकेला तत्पर है।

यह ग्रन्थ चार अधिकरणोंमें पूर्ण होता है—क्षणभङ्गवाद, बाह्यार्थभङ्गवाद, गुणगुणिभेदभङ्गवाद एवं अनुपलम्भवादके रूपमें। उक्त चारो वाद बौद्धोंके हैं, जिनका श्रीमदुदयनाचार्यने प्रबल प्रतिवाद प्रस्तुत किया है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे इन चारो अधिकरणों को क्षणभङ्गभङ्ग-बाह्यार्थभङ्गभङ्ग-गुणगुणिभेदभङ्गभङ्ग और अनुपलम्भभङ्ग-प्रकरण नामसे भी कहा जाता है।

क्षणभङ्गवाद—

इस प्रकरणमें क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है, जिससे नित्य आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाता है। बौद्धमतके अनुसार जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं, तो आस्तिकोंका नित्य आत्मा कैसे सिद्ध हो सकता है। उनका यह अनुमान है कि—"यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तश्च भावा अमी। इत्यादि। अर्थात् जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे मेघ और घटादि। विवादका विषय शब्दादि भी सत् हैं, इस लिये वे सभी क्षणिक हैं। इस अनुमानप्रमाण से जब सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध हैं, तब नित्य आत्माके अस्तित्वका प्रश्न ही कहाँ है। यह बौद्धका पूर्वपक्ष है।

यहाँ सिद्धान्तीका कहना है कि "जो सत् है वह क्षणिक है" यह व्याप्ति ही असिद्ध है। यदि कहा जाय कि क्षेत्रस्थ बीज अङ्कुर-जननमें

समर्थ है और बखारमें स्थित बीज अङ्कुर उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। अतः सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप विरुद्ध धर्मोंके होनेसे बखारमें स्थित बीजसे खेतमें पड़ा बीज भिन्न है, इसलिये बीजका क्षणिकत्व सिद्ध है, तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ बीजमें विरुद्ध धर्मका संसर्ग ही असिद्ध है। अर्थात् जैसे क्षेत्रस्थ बीज अङ्कुरमें समर्थ है, वैसे ही कुशूलस्थ बीज भी अङ्कुरमें समर्थ ही है। यदि असमर्थ होता तो वह खेतमें क्यों ले जाया जाता? यहाँ समर्थका अर्थ है—मट्टी जल आदि सहकारीको पानेपर अंकुर करना। यह सामर्थ्य कुशूलस्थ बीजमें भी है। अतः उसमें असामर्थ्य कहाँ है?

यदि कहें कि न तो सहकारिसमवधानमात्र अंकुरका कारण है और नहीं सहकारिसमवधानसे रहित बीजमात्र कारण है, किन्तु सहकारिसमवधानके बाद क्षेत्रगत बीजमें उत्पन्न कुर्वद्रूपत्व-जातिके कारण अंकुर होता है। वह कुर्वद्रूपत्व कुशूलस्थ बीजमें नहीं है। अतः कुशूलस्थ बीजसे क्षेत्रस्थ बीज भिन्न है। इस प्रकार क्षणिकत्वकी सिद्धि हो जायगी। तो ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि बीजमें कुर्वद्रूपत्व-नामक अवान्तर-जातिकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष-सिद्ध बीज होना ही अंकुरका प्रयोजक है, न कि सब प्रमाणसे असिद्ध कुर्वद्रूपत्व अंकुरका प्रयोजक है।

यदि कहें कि भले ही बीजजातिमें सहकारी पाकर अंकुर करना संभव हो और सहकारीके अभावमें न करना भी संभव हो, किन्तु एक बीज व्यक्तिमें अंकुर करना और न करना विरुद्ध होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि बीजमें अंकुर न करनामात्र असिद्ध है। हाँ, यह अवश्य संभव है कि वही बीज कभी अंकुर नहीं करता है और कालान्तर में करता है। इस प्रकार कालभेद होनेके कारण व्यक्तिगतरूपसे करण और अकरणमें कोई विरोध नहीं है। तात्पर्य यह है कि कार्य केवल पर-कालव्यापी होता है और कारण पूर्व और पर उभयकालव्यापी होता है। पूर्वकालसे सम्बन्धित होनेसे कोई कारण कहाता है और उत्तर कालमात्रसे संबन्धित होनेके कारण कोई कार्य कहाता है।

यदि कहें कि वस्तुका विनाश ध्रुवभावी है,। अतः विनाशके लिये किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं होनेसे वस्तुका क्षणिकत्व अनायास सिद्ध है, तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि विनाशको ध्रुवभावी

कहनेका क्या अभिप्राय है ? क्या विनाश प्रतियोगीरूप है ? या अलीक है ? या प्रतियोगीका कार्य है ? अथवा प्रतियोगीका व्यापक है ? अर्थात् विनाशके ध्रुवभावी होनेके उपर्युक्त कारण हो सकते हैं। किन्तु उनमें कोई भी यहाँ नहीं हो सकता है। प्रथम इसलिये नहीं हो सकता कि निषेध्य एवं उसका निषेध दोनोंका एकत्व अनुपपन्न है। क्योंकि—

> विधिरात्माऽस्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
> सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते ॥

निषेध अलीक रूप है, यह द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि विनाश यदि तुच्छ है तो उसके अहेतुकत्वमें क्या आया ? ऐसी स्थितिमें घटका विनाश क्वाचित्क या कादाचित्क न होकर सर्वत्र एवं सदा होने लगेगा।

प्रतियोगीका कार्य भी विनाश नहीं हो सकता है। क्योंकि वैसा माननेपर विरोधमें असिद्धिदोष हो जायगा। विनाश प्रतियोगीका व्यापक है, इसलिये वह ध्रुवभावी है, यह चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी और उसके विनाशका भिन्न-भिन्न समय होनेसे व्यापकत्व असंभव है।

यदि पूछो कि भाव यदि क्षणिक नहीं है तो स्थिर भी कैसे है ? तो यही उत्तर होगा कि 'स एवायम्' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होनेसे भाववस्तु स्थिर है।

इसके अतिरिक्त क्षणिकत्व अनुपपन्न भी है। क्योंकि सभी भावोंको क्षणिक माननेपर अनेक देश-कालमें अनुगत गवादि-व्यवहार नहीं बन सकेगा। यदि कहा जाय कि—अनुगत व्यवहारका कारण भावरूप गोत्वादि नहीं है किन्तु अभावरूप अगोपोह (अगोव्यावृत्ति) आदि ही है। अतः सभी भाव वस्तु क्षणिक है, इसमें कोई बाधा नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अपोहवाद अनुभवविरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है।

बाह्यार्थभङ्गवाद—

इस प्रकरणमें विज्ञानवादका खण्डन कर बाह्यार्थकी सिद्धि की गयी है, जिससे विज्ञानातिरिक्त आत्माकी सिद्धि हो जाती है। बौद्ध के मतमें आन्तर क्षणिकविज्ञान वास्तविक है, उससे अतिरिक्त सभी

बाह्यपदार्थ असत् हैं। उसीके अन्तर्गत नैयायिकोंका नित्य आत्मा भी है और वह असत् है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ग्राह्यतत्त्व बाह्यार्थ एवं ग्राहकतत्त्व आन्तरविज्ञान ये दोनों ही परामर्थतः सत् हैं और इनका अभेद विवक्षित है? अथवा ये दोनोंमें भेद होनेपर भी दोनों एक जातिके हैं? अर्थात् बाह्यार्थ भी ज्ञानजातिका ही है? अथवा ज्ञान परमार्थसत् है और बाह्यार्थ अलीक है अर्थात् असत् है?

इनमें प्रथम अभेदपक्षमें सहोपलम्भ, ग्राह्यत्व या प्रकाशमानत्व जो भी हेतु दिया जायगा, वह सभी हेतु आभास होगा। क्योंकि परामर्श-हेतु-पक्ष-साध्य और अनुमिति सभी परस्पर अभिन्न हैं तो इनमें हेतु-हेतुमद्भाव कैसे होगा? साथ ही नील-पीत आदि परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका एक विज्ञानके साथ अभेद कैसे होगा? ग्राह्यत्व या प्रकाशमानत्व भी भेदमें ही बन सकेगा, अभेद में नहीं।

यदि कहा जाय कि बाह्यार्थका विज्ञानके साथ न भेद है और न अभेद है, किन्तु उभयसे रहित चित्ररूप है, तो यह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि परस्पर-विरुद्ध भेद और अभेद जैसे एक जगह नहीं रहता है, वैसे दोनोंका निषेध भी एक जगह नहीं रह सकता है।

एवं बाह्यार्थको ज्ञानसजातीय भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञानसजातीय होनेपर उसमें ग्राह्यत्व नहीं रह सकता है। साथ ही घटपटादि सभीके ज्ञानसजातीय होनेसे घटज्ञानमें पटविषयकत्वका प्रसङ्ग हो जायगा।

यदि कहा जाय कि बाह्यार्थ न ज्ञानसे अभिन्न है और न ज्ञान-सजातीय है, किन्तु सर्वथा अलीक है। क्योंकि उसमें ग्राह्यलक्षणका सर्वथा अभाव है। जैसे शशश्रृङ्ग सर्वथा ग्राह्यलक्षणसे रहित होनेके कारण अलीक होता है, वैसे सभी बाह्यार्थोंको समझना चाहिये। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी वस्तुके लक्षणका ज्ञान न होनेसे उस वस्तुकी सत्ता नहीं समाप्त हो सकती है। कारण, लक्षण का अपरिज्ञान वस्तुकी दुरूहताके कारण भी हो सकता है।

यदि माध्यमिकमतका अवलम्बन कर बाह्यार्थके समान विज्ञान भी नहीं है, और सर्वशून्यता ही परमतत्त्व है, ऐसा कहा जाय तो यह भी

संभव नहीं है। क्योंकि शून्यतामें यदि कोई प्रमाण है, तो सर्वशून्यता कहाँ हुई ? यदि शून्यतामें प्रमाण नहीं है तो सर्वसत्ता ही सिद्ध हो गयी।

एवं, लोकव्यवहारमें बाह्यार्थकी सत्ता व्यवस्थित होनेपर भी विश्वमें अलीकत्व-शून्यत्व या विचारासहत्वको सिद्ध करनेका उपक्रम किया जाय तो बौद्धकी अपनी प्रतिज्ञा भी अव्यवस्थित हो जायगी। अर्थात् बौद्धका विज्ञान, उसका दर्शन और उसका सिद्धान्त भी अव्यवस्थित हो जायगा। इसलिये यह विश्व तथ्य है।

गुणगुणिभेदभङ्गवाद—

बौद्धमतानुसार गुण और गुणीमें भेद नहीं होता है। ज्ञानगुण है। अतः ज्ञानगुण और गुणी आत्मामें भेद नहीं है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न गुणी आत्मा नहीं है। यही उनका नैरात्म्यपक्ष है।

किन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि गुणसे गुणी भिन्न होता है। कारण, "यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि, अथवा यमस्पाक्षं तं पश्यामि" इस प्रतीतिमें दर्शन और स्पर्शनके द्वारा एक ही विषयका ग्रहण होता है। यहाँ गुण दो हैं—दर्शन और स्पर्शन। और ये दोनों ही परस्परमें भिन्न हैं। जैसे चैत्रके द्वारा गृहीत विषयका प्रतिसन्धान मैत्र नहीं कर पाता और मैत्रद्वारा दृष्ट विषयका प्रतिसन्धान चैत्रको नहीं होता है, वैसे ही नेत्र द्वारा देखी गयी वस्तुका प्रतिसन्धान त्वगिन्द्रिय नहीं कर सकती है और त्वगिन्द्रियद्वारा छूए गये पदार्थका प्रतिसन्धान आँखको नहीं हो सकता है। किन्तु उक्त प्रतीतिमें प्रतिसन्धान होता है कि जिसे मैंने देखा था, उसे ही छू रहा हूँ या जिसका स्पर्श किया था उसे ही देख रहा हूँ। यहाँ दो प्रकारके भिन्न-भिन्न ज्ञानोंमें एक ही विषयका प्रतिसन्धान होता है। इससे सिद्ध है कि उक्त दोनों ज्ञानोंसे अतिरिक्त गुणी आत्मा है, जो "दोनों भिन्न भिन्न ज्ञानोंमें एक ही विषय है" ऐसा आकलन कर लेता है। यदि दर्शन और स्पर्शन गुणोंसे भिन्न एक गुणी आत्मा नहीं होता तो उक्त प्रकारका एकार्थका प्रतिसन्धान नहीं होता।

यहाँ ज्ञानका विषय क्या है, यह विचारणीय है। क्या दोनोंका केवल रूप या केवल स्पर्श विषय है ? या दो भिन्न भिन्न विषयोंका

एक समुदाय या समुदायातिरिक्त कोई विषय गृहीत होता है ? अथवा वस्तुविहीन ज्ञानका ही आकारविशेष उल्लिखित होता है ? या वस्तु-शून्य अलीक ही भासित होता है ? जैसे रज्जुसर्पभासित होता है। इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि जो ही रूप है, वही स्पर्श नहीं है।

द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त समुदाय एकदेश-प्रयुक्त या एककालप्रयुक्त या एककार्यप्रयुक्त अथवा एककारणप्रयुक्त होगा ? प्रथम कोटिमें अन्योन्याश्रयदोष हो जायगा। क्योंकि एक आधारताका प्रतिसन्धान होनेपर समुदायका अनुसन्धान होगा और समुदायका प्रतिसन्धान होनेपर एकदेशताका प्रतिसन्धान हो सकेगा। एककालतारूप द्वितीयकोटि तब होती यदि रूप और स्पर्श एक ही इन्द्रियसे ग्राह्य होता। एककार्यतारूप तृतीय कोटि भी संभव नहीं है। क्योंकि रूप और स्पर्शका एक कार्य नहीं है। एककारणतारूप चतुर्थ कोटि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि रूप-स्पर्शादिका एक कारण होनेमें प्रमाण नहीं है।

चतुर्थ आकारपक्षमें या पञ्चम अलीकपक्षमें रूप-स्पर्शादिका विलोप-प्रसङ्ग हो जायगा। इसलिये तृतीयपक्ष हो सकता है। अर्थात् उक्त प्रतिसन्धानका विषय रूपस्पर्शादिसे अतिरिक्त एक अवयवी है। ऐसी स्थितिमें उस एक अवयवी-वस्तुका ग्रहण करनेवाला अतिरिक्त आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गुण और गुणीका सहोपलम्भ होनेसे दोनोंमें अभेद है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि 'पीतः शङ्खः' इस स्थलमें श्वैत्यगुणका अनुपलम्भ होनेपर भी शङ्खका उपलम्भ होता है।

अनुपलम्भवाद—

इस प्रकरणमें "आत्मा नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती है" इस बौद्धपक्षका खण्डन किया गया है। जैसे, सभीको आत्माकी उपलब्धि नहीं होती है, इसमें सन्देह है। यदि कहो कि एक व्यक्तिको उपलब्धि नहीं होती है, तो यह व्यभिचारदोषसे ग्रस्त है। क्योंकि किसी एक व्यक्तिको उपलब्धि न होनेपर उस वस्तुका अभाव नहीं हो जाता है।

इसके विपरीत अनुमानद्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है। वह अनुमान प्रतिसन्धान है। जैसे, "स एवायं देवदत्तः, यमहं पाटलिपुत्रेऽद्राक्षम्" इत्यादि। यहाँ पूर्वमें पाटलिपुत्रमें देवदत्तको देखनेवाला और यहाँ काशीमें उसका प्रतिसन्धान करनेवाला एक ही स्थिर आत्मा है। अर्थात् यहाँ स्मरण और प्रत्यक्षका कर्ता एक ही स्थिर आत्मा है।

उक्त प्रतिसन्धानका कर्ता देह है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि देहके प्रतिदिन परिवर्तित होनेसे वह दूसरेके द्वारा दृष्टका प्रतिसन्धान नहीं कर सकता है। "नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः यह नियम है।

न्यायाभिमत आत्माके सम्बन्धमें तर्क भी हैं। जैसे, आत्मा यदि सादि हो तो इष्टसाधनताज्ञानके अभावमें प्रथम प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थितिमें सर्वथा अप्रवृत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा। अतः आत्मा अनादि है। आत्मा यदि सान्त हो तो अनादि-सान्त होनेसे वह अभाव (प्रागभाव) बन जायगा। अतः आत्मा अनन्त भी है। यदि वह द्रव्य न हो तो निर्गुण हो जायगा। अतः आत्मा द्रव्य भी है। यदि वह व्यापक न हो तो अग्नि-पवनादिमें क्रिया नहीं हो सकेगी। अतः आत्मा व्यापक है। यदि वह मूर्त हो तो मूर्त नित्य परमाणुकी तरह अस्मदादिको प्रत्यक्ष होनेवाले सुख-दुःखादिका वह आधार नहीं हो सकेगा। अतः आत्मा अमूर्त है। यदि वह सक्रिय हो तो मूर्त होने लगेगा। अतः आत्मा निष्क्रिय है।

यहाँ यह शङ्का करना कि—आत्मा यदि कथञ्चित् सिद्ध भी हो तो वह हेय ही है। क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति उसके उपकारीके प्रति राग करेगा और उसके अपकारीके प्रति द्वेष करेगा। राग-द्वेष संसारका मूल है। अतः मुमुक्षुजन को भी नैरात्म्यकी ही भावना करनी चाहिये—ठीक नहीं है। क्योंकि अनात्मदर्शीका मुमुक्षु होना ही अनुपपन्न है। कारण, आत्माको बिना स्वीकार किये कोई न तो दुःख को छोड़ना चाहेगा और न सुखको प्राप्त करना चाहेगा। साथ ही यह नैरात्म्य-दृष्टि नास्तिक्यको बढ़ावा देगी। एवं प्रबल विषयतृष्णाको जगाती हुई अनन्त अनर्थको पैदा करेगी। इसीलिये तो "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" इत्यादि निःशङ्क प्रलाप होते हैं। यह जो कहा कि आत्म-दर्शी व्यक्ति उपकारीमें राग और अपकारीमें द्वेष करेगा—तो यह

ठीक ही हैं। क्योंकि जो मोक्षको उपकार मानता है, वह उसके हेतुके प्रति रागवान् हो और उसके बाधकके प्रति द्वेषवान् हो तो यह समुचित ही है।

ऐसे (शरीरादिसे भिन्न) आत्मामें न्याय (अनुमान) और आम्नाय दोनों ही प्रमाण हैं। न्याय प्रतिपादित ही हो चुका है। आम्नाय-प्रमाणका सार तो "अशरीरं वाव सन्तम्" इत्यादि है, जो शरीरसे भिन्न आत्माको प्रतिपादित करता है। आप्तोक्त होनेसे उक्त आम्नाय प्रमाण है। क्योंकि विश्वका कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर अनुमानसे सिद्ध है और उसीके द्वारा आम्नाय उक्त है। अतः उसमें अप्रामाण्य नहीं है। उपर्युक्त प्रमाणोंसे अवधारित ऐसे आत्माकी आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है। यह न्यायशास्त्रका सारभूत अर्थ है।

कृतज्ञताज्ञापन—

सर्वप्रथम मैं अपने शिवसायुज्यप्राप्त प्रातःस्मरणीय गुरुओं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पण्डितप्रवर श्रीसूर्यनारायणशुक्ल एवं विद्यानिधि महामहोपाध्याय पण्डितपञ्चानन श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदीका ऋणी हूँ, जिन्होंने क्रमशः मुझे न्यायवैशेषिक एवं वेदान्तका निरतिशयस्नेहपूर्वक अध्यापन कर मेरी आँखें खोल दीं। उनके लिये इतना ही कहना पर्याप्त होगा "चक्षुरुन्मीलितं याभ्याम्"। वस्तुतः जो कुछ मैं ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ, उनकी अपारकृपा एवं स्नेहका सुफल है।

उत्तरप्रदेश-संस्कृत-अकादमीके वर्तमान अध्यक्ष एवं संपूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयके भू० पू० कुलपति पण्डित श्रीकरुणापतिजी त्रिपाठी का उपकार भूल नहीं सकता, जिन्होंने अपने कुलपतित्वकालमें ही इस ग्रन्थके सानुवाद प्रकाशनको आवश्यक समझा था और इसके लिये उ० प्र० संस्कृत-अकादमीके माध्यमसे पाँच हजार रुपयोंका सरकारी साहाय्य-अनुदान स्वीकृत कर इसके प्रकाशनार्थ हमें प्रोत्साहित किया और इसका प्रकाशन संभव हो सका।

मैं उन मनीषियोंका अत्यन्त ही अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने मौखिक या लेखबद्ध अपनी अमूल्य सम्मतियाँ देकर मुझे प्रोत्साहित एवं मेरी इस कृतिको गौरवान्वित किया है। इनमें अनन्तश्रीविभूषित स्वामीकरपात्री-जी महाराज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयके वर्तमान कुलपति

पण्डितरत्न श्रीगौरीनाथजी शास्त्री एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयके भू० पू० कुलपति नैयायिकधुरन्धर पण्डितराज श्रीबदरीनाथजी शुक्ल, महानुभाव प्रमुख हैं। श्रीशुक्लजीने प्राक्कथन लिख कर मुझे अत्यन्त ही अनुगृहीत किया है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें दूसरी उल्लेखनीय सहायता हमारे भूतपूर्व शोधच्छात्र एवं वर्तमानमें महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीशिवचैतन्यपुरीजी शङ्करआश्रम, वृन्दावनकी प्राप्त हुई, जिन्होंने एक हजार एक सौ एक रुपये एतदर्थ प्रदान कर अपनी सहज उदारता एवं प्रेमको मानो मूर्तरूप दिया। उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। अन्तमें सहृदय विद्वज्जनसे पुनः निवेदन है कि मानव सुलभ त्रुटिको क्षमा करते हुए अपने अमूल्य सुझावोंसे हमें अनुगृहीत करेंगे।

इस ग्रन्थके मुद्रण-कार्यको शीघ्र एवं सुन्दर बनानेमें सतत संलग्न श्रीविद्याप्रेसको भी मैं हार्दिक आशीर्वाद एवं धन्यवाद देता हूँ जिसके सहयोगसे इसका प्रकाशन कार्य समयपर सम्पन्न हो सका है। इति शिवम्।

केदारनाथत्रिपाठी

२०।१२।८३

—※—

विषयानुक्रमणिका

विषयः—	पृष्ठसंख्या
मंगलाचरणम्	१
आत्मतत्त्वज्ञानस्यैव दुःखहानोपायत्वनिरूपणम्	२
आत्मतत्त्वविवेचने निमित्तोपपादनम्	२
आत्मनि बाधकचतुष्टयनिर्देशः	३
क्षणभङ्गवादः	४—१७७
सन्मात्रस्य क्षणिकत्वे पूर्वपक्षिणोऽनुमानम्	४
तत्र व्याप्त्यसिद्धिकथनम्	४
सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण क्षणिकत्वसाधनम् तत्र हेत्वसिद्धिकथनञ्च	४
प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां विरुद्धधर्मसंसर्गसाधनं तत्र सामर्थ्यकारित्वयोरविशिष्टत्वप्रसङ्गकथनञ्च	५
सामर्थ्यकारित्वयोः आक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यामांशिकविरोधकथनं तन्निरासश्च	७
सामर्थ्यकारित्वयोर्भेदे उपाधिनिराकरणम्	८
,, ,, ,, विकल्पभेदनिराकरणम्	९
,, ,, ,, निर्निमित्तकत्वखण्डनम्	९
अङ्कुरसामर्थ्यस्याङ्कुरयोग्यतास्वरूपत्वपक्षे विकल्पोपन्यासस्तद्दूषणञ्च	१०
प्रातिस्विकयोग्यतापक्षस्य विकल्पत्रयोपन्यासेन दूषणम्	१०
कुर्वद्रूपत्वेऽनुमानखण्डनम्	१२
बीजस्याविलम्बकारिस्वभावत्वे कार्यजन्मनो हेतुत्वखण्डनम्	१३
प्रातिस्विकयोग्यतापक्षे तृतीयविकल्पे दूषणोपन्यासः	१४
समर्थव्यवहारविषयत्वरूपसामर्थ्यनिरासः	१५
भाववस्तुन क्षेपाक्षेपस्वभावत्वविकल्पे सिद्धान्तोपपादनम्	१६
कुर्वद्रूपत्वजातौ प्रमाणाभावोपपादनम्	२४
अङ्कुरं प्रति बीजजातीयस्य प्रयोजकत्वसाधनम्	२९
अत्रान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनम्	३३

विषयः— पृ०सं०

बीजानुभवादिकमेवासाधारणं कार्यं बीजजातीयस्येति पक्षखण्डनम् ३५
कुशूलस्थबीजस्याङ्कुराकरणे प्रयोजकस्य व्यतिरेकानुमानम् ३६
कारणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात् पूर्वापरबीजयोर्भेद
इति पक्षखण्डनम् ३८
वस्तुनि कालभेदेन परिमाणभेदप्रसङ्गनिवारणम् ४०
सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्विरोधो बाधकबलादिति पक्षनिराकरणम् ४२
भिन्नदेशस्थार्थक्रियाभेदात् कारणभेदे दोषोपपादनम् ४७
एकदा कर्तुर्यावज्जन्यं करणनिराकरणम् ५०
दण्डित्वकुण्डलित्ववत् करणाकरणयोर्विरोध इति पक्षनिराकरणम् ५१
तस्यैव बीजस्य तेनैव सहकारिणा सम्बन्धासम्बन्धयोर्विरोध-
निराकरणं क्षणिकपरमाणावपि विरोधस्य दुर्वारत्वकथनं च ५२
अवस्तुनि प्रमाणाप्रवृत्तिकथनं तथात्वेऽपि स्ववचनविरोध-
परिहारनिरूपणम् ५६
असत्ख्यातिनिराकरणम् ६३
असत्ख्यातिपक्षेऽपि अवस्तुनि क्रमयौगपद्यव्यतिरेकासिद्धि-
प्रतिपादनम् ७३
भूतले घटाभावासिद्धिप्रसङ्गस्य निराकरणम् ७४
कालत्रिकरूपसम्पत्तेरनुमानाङ्गत्वनिरसनम् ७६
क्षणभङ्गसिद्धौ प्रकारान्तरखण्डनम् ७९
ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वात् क्षणिकत्वसिद्धिरितिपक्षे
विनाशस्य प्रतियोगितादात्म्यखण्डनम् ८०
विनाशस्य निरुपाख्यत्वखण्डनम् ८३
" " प्रतियोगिकार्यत्वखण्डनम् ८४
" " प्रतियोगिकव्यापकत्वखण्डनम् ८५
विनाशस्याभावरूपत्वात् अहेतुकत्वमिति पक्षस्य खण्डनम् ९६
स्थैर्यसिद्धौ प्रत्यभिज्ञाप्रमाणोपन्यासः ९९
प्रत्यभिज्ञास्थले सतो विरुद्धधर्मसंसर्गस्य दुरूहत्वमिति पूर्वपक्ष-
निराकरणम् १०१
प्रत्यभिज्ञास्थले कालभेदेऽपि वस्त्वभेद इत्यत्रानुमानोपन्यासः १०३
स्थिरत्वे बाधकस्य बाह्यार्थालोकत्वस्य निराकरणम् १०५

विषयः	पृ० सं०
ज्ञानश्रीसंमतापोहवादस्य खण्डनम्	१०९
धर्मोत्तरमताशङ्का तत्समाधानञ्च	११५
अन्यापोहसिद्धौ न्यायाभावोपपादनम्	११८
अपोहसिद्धौ विकल्पपक्षकानुमाननिराकरणम्	१२३
इन्द्रियासमानविषयत्वेन लिङ्गशब्दौ अपोहविषयकौ इति पूर्वपक्षितर्कनिराकरणम्	१२९
समानविषयत्वेऽपि प्रत्यक्षशाब्दलैङ्गज्ञानानां स्फुटत्वास्फुटत्वोपपादनम्	१३२
परोक्षापरोक्षरूपतया प्रत्यक्षलैङ्गशाब्दप्रतिभासेषु भेद इति पूर्वपक्षखण्डनम	१३६
परोक्षत्वापरोक्षत्वे जातिविशेषावित्यत्र प्रमाणोपन्यासः	१३७
अपोहकल्पनायाः प्रवृत्त्यादिनिर्वाहकत्वनिराकरणम्	१३९
सौत्रान्तिकबाह्याकारवादखण्डनम्	१५३
वैभाषिकस्य बाह्यस्वलक्षणबादखण्डनम्	१५५
धर्मकीर्तेः पिण्डैक्यवादखण्डनम्	१५७
भिन्नस्वलक्षणमतखण्डनम्	१५८
गोत्वादिनानासामान्येष्वेकसामान्यत्वव्यवहारस्य भ्रान्तत्वनिरूपणम्	१५९
जात्यादौ बाधकसत्त्वादपोहसिद्धिरिति पक्षखण्डनम्	१६१
स्वरूपतोऽनुपलब्धिर्जातिबाधिकेति पक्षखण्डनम्	१६२
निर्विकल्पकस्यापि जातिविषयकत्वसाधनम्	१६४
विरुद्धधर्माध्यासस्य जातिबाधकत्वखण्डनम्	१६६
जातिजातिमतोर्भेदेऽपि सामानाधिकरण्योपपादनम्	१६९
ज्ञानतोऽपि जातिबाधनिरसनम्	१७०
सामान्यज्ञानस्य प्रामाण्ये बाधकनिरासः	१७१
सामान्यज्ञानस्येन्द्रियजत्वसाधनम्	१७१
जातिबाधकापोहस्वीकारे प्रयोजनानुरोधनिरसनम्	१७३
शब्दवाच्यत्वसम्बन्धे ज्ञानश्रीप्रत्युक्तीनां सदोषत्वनिरूपणम्	१७६
बाह्यार्थभङ्गवादः—	१७८–३१६
ग्राह्यग्राहकभागयोरभेदसाधने सहोपलम्भादिहेतूनां कालात्ययापदिष्टत्वप्रदर्शनम्	१७८

विषयः	पृ० सं०
भासमाननीलादिभेदस्यासत्यत्वे सहोपलम्भादिहेतूनाम—नैकान्तिकत्वप्रदर्शनम्	१८८
नीलादिभेदाप्रथने हेतूनामसिद्धत्वनिरूपणम्	१८८
भेदस्य विकल्पारूढत्वे पूर्वोक्तदोषानुवृत्तिकथनम्	१८९
असतो भेदस्याध्यवसायस्वीकारे दोषोद्घाटनम्	१९०
अद्वयदर्शिविज्ञानस्य सद्भेदविषयकत्वे दोषप्रदर्शनम्	१९१
भिन्नयोर्वेद्यवेदकभावेऽनुपपत्तिनिराकरणम्	१९४
प्रकाशमानत्वहेतुना भेदनिषेधखण्डनम्	१९७
ग्राह्यग्राहकयोर्भेदाभेदविधुरचित्राकारत्वखण्डनम्	१९७
ग्राह्यग्राहकयोरभिन्नजातीयत्वखण्डनम्	२०१
ग्राह्यांशस्यालीकत्वनिराकरणम्	२०३
विश्वस्य विचारासहत्वखण्डनम्	२०६
शून्यतैव परमं निर्वाणमिति माध्यमिकपक्षखण्डनम्	२१०
विषयविषयिभावकार्यकारणभावसमर्थनेन बाह्यार्थसद्भावनिरूपणम्	२१४
विचारस्य नीलादिवत् विचारासहत्वे जगतः सत्यत्वसिद्धिः विचारसहत्वे च पक्षसाध्यादीनामेव सत्यत्वसिद्धिरिति निरूपणम्	२२१
युक्त्युपस्थापकबौद्धहेतूनां स्वव्याघातकयुक्त्युपस्थापकत्वप्रदर्शनम्	२३१
बौद्धोक्तदृष्टान्तानामप्याभासत्वप्रसङ्गनिरूपणम्	२३३
अवयविनिषेधखण्डनम्	२३४
पूर्वपक्षनिराकरणपूर्वकं भेदस्वरूपनिरूपणम्	२३८
अवयविबाधकविरुद्धधर्माध्यासानामसिद्धत्वोपपादनम्	२४७
परमाणुनिषेधखण्डनम्	२६५
"षट्केन युगपद्योगात्" इत्यादिपरमाणुबाधकयुक्तीनां निरसनम्	२७०
परमाणुवत् बुद्धावपि षट्केन युगपद्योगात् इत्यादिप्रसङ्गोपपादनम्	२७४
"अस्तु तर्हि बुद्धेरपि विलोपः" इति पक्षमुत्थापयतो मतखण्डनम्	२७५
सर्वशून्यत्ववादिमतनिराकरणम्	२७८
अवयविनि अनुपलम्भदूषणनिराकरणम्	२७९
परमाणूनामेव तेषां समूहस्यैव वा स्थूलत्वमिति पूर्वपक्षखण्डनम्	२८०
ज्ञानस्यैव धर्म एकत्वं स्थूलत्वं चेति मतखण्डनम्	२८४
सन्मात्रस्य निरवयवत्वमिति पक्षखण्डनम्	२८९

विषयः	पृ० सं०
अवयविनि अनुमानोपन्यासः	२९४
बाह्यार्थविषये सन्देहवादनिराकरणम्	२९५
ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिराकरणम्	३००
धर्मिभूतज्ञानस्यानुव्यवसायतज्जातीयज्ञानयोश्च नियतप्रामाण्ये तर्कप्रदर्शनम्	३१२
गुणगुणिभेदभङ्गवादः	३१७—३३४
गुणगुणिनोरभेदान्नैरात्म्यमिति पक्षस्य पञ्चविधविकल्पोपन्यासैर्निराकरणम्	३१७
द्वितीये विकल्पचतुष्टयोपन्यासः	३१९
तृतीयं स्वीकृत्य चतुर्थे विकल्पद्वयोपन्यासः	३२२
चाक्षुषस्पार्शनप्रत्यक्षयोरलीकविषयकत्वनिरासकथनम्	३२४
गुणगुणिभेदेऽभेदसाधनस्य बाधकत्वनिरसनम्	३२४
गुणगुणिनोर्विरोधिधर्मोपपादनम्	३२९
धर्मधर्मिणोर्भेदे युक्त्युपन्यासः	३२९
अनुपलम्भवादः	३३५—४०३
नास्त्यात्मा अनुपलब्धेरिति पक्षनिराकरणम्	३३५
आत्मसद्भावे प्रत्यक्षप्रमाणोपपादनम्	३३७
आत्मसद्भावसिद्धावनुमानप्रमाणोपपादनम्	३४२
सहकारिविशेषात् प्रतिसन्धाननियम इति पक्षखण्डनम्	३५३
आलयविज्ञानेषु भेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति पक्षखण्डनम्	३५७
आलयवैज्ञानिकविषयदृष्टयापि भेदाग्रहप्रतिसन्धानयोरुपपादनासंभव इति निरूपणम्	३६१
स्थिरात्मसाधने प्रकारान्तरोपदर्शनम्	३६३
इन्द्रियात्मवादखण्डनम्	३७४
मनआत्मवादखण्डनं परलोक्यात्मसाधनञ्च	३७४
आत्मनोऽनादित्वानन्तत्वद्रव्यत्वविभुत्वामूर्तत्वनिष्क्रियत्वसाधने हेतुतर्कोपन्यासः	३७५
आत्मनो मूर्तत्वाणुत्वयोर्दोषप्रदर्शनम्	३७७
आत्मनःसिद्धावपि तस्य हेयत्वमेवेति पूर्वपक्षे समाधानोपन्यासो नैरात्म्येऽनर्थप्रदर्शनञ्च	३७८

विषयः	पृ० सं०
आत्मनो देहातिरिक्तत्वे न्यायाम्नायप्रमाणोपन्यासपूर्वकं न्यायार्थसाराम्नायसारसंक्षेपप्रदर्शनम्	३८३
आम्नायेऽप्रामाण्यखण्डनपुरःसरं प्रामाण्यस्थापनम्	३८४
प्रसङ्गाद् वेदवक्तरि विश्वकर्तरीश्वरेऽनुमानप्रदर्शनम्	३८५
अत्र तार्किकगर्ववाद्दोक्तिनिवारणम्	३९१
प्रसङ्गादेव व्याप्तिस्वरूपनिरूपणम्	४१४
प्रतिपक्ष्युपस्थापितायाः प्रतिबन्द्याःनिवारणम्	४१६
नित्यज्ञानासंभवाक्षेपनिवारणम्	४१८
ईश्वरविषये कतिपयक्षुद्राशङ्कानां निराकरणम्	४२०
ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वम्	४२३
ईश्वरस्याशरीरत्वोपपादनम्	४२५
ईश्वरस्य वेदवक्तृत्वोपपादनम्	४२८
सौगताद्यागमेषु महाजनपरिगृहीतत्वस्य सांशयिकत्वप्रतिपादनम्	४३४
महाजनपरिगृहीतत्वेन वेदानां सर्वज्ञपूर्वकत्वोपपादनम्	४३७
वेदानां नित्यानुमेयत्वनिवारणम्	४४१
मन्वादीनां वेदपरिग्रहे उपपत्तिप्रदर्शनम्	४४५
न्यायदर्शनरीत्या वेदानां प्रवाहनित्यत्वोपपादनम्	४४८
सुगताद्यागमेषु वैदिकानामादराभावे निमित्तप्रदर्शनम्	४४९
सुगताद्यागमानां मूलविवेचनम्	४५२
मोक्षस्वरूपनिरूपणम्	४५६
नित्यसुखस्यावास्तविकत्वनिरूपणम्	४६१
आत्मनः स्वप्रकाशसुखस्वभावत्वजिज्ञासायामाचार्योत्तरम्	४६५

इति विषयानुक्रमणिका

पृ० सं०

३८३
३८४
३८५
३९१
४१४
४१६
४१८
४२०
४२३
४२५
४२८
४३४
४३७
४४१
४४५
४४८
४४९
४५२
४५६
४६१
४६५

आत्मतत्त्वविवेकः

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः

आत्मतत्त्वविवेकः

श्रीमदुदयनाचार्यविरचितः

[सानुवादः]

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सु जनितेष्वादौ, ततः पालनं,
व्युत्पत्तेः करणं, हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम् ।
भूतोक्तिः, सहजा कृपा, निरुपधिर्यत्नस्तदर्थात्मक-
स्तस्मै पूर्वगुरूत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः ॥

प्रथम, जनित इस विश्वमात्र पर सहज स्वाम्य जिसका छाया,
ततः पालना, बोध, हिताहित-विधिनिषेध जगने पाया ।
सहज सदुक्ति, अछद्म कृपा, वो उसी हेतु जिसकी माया,
गुरुश्रेष्ठ उस जगत्पिता को नमोवाक्य पहुँचे गाया ॥

सृष्टिके आदिकालसे ही अपने द्वारा रचित इस सम्पूर्ण जगत्के ऊपर जिसका स्वाभाविक स्वामित्व विराजमान है; अथवा (यहाँ "निजम्" पदके सावधारण होनेके कारण) एकमात्र जो जगत्का अधिपति है, ऐसा नहीं कि उस जगदीश्वरके अतिरिक्त किसी अन्यका भी सहाधिपत्य या आंशिक आधिपत्य हो; तथा स्वोत्पादित जगत्की रक्षा भी पिताके समान जो स्वयं करता है; एवं जिस प्रकार पिता अनेक प्रकारकी शिक्षा देकर बालकको व्युत्पन्न करता है, वैसे ही जो परमात्मा प्रयोज्य-प्रयोजक देहका आश्रय कर पद-पदार्थकी तथा घट-पटादिनिर्माणकी व्युत्पत्ति भी पुत्रस्थानीय संसारको स्वयं कराता है; जो वैदिक विधिवाक्यों द्वारा हित कार्योंमें प्रवृत्तिका तथा निषेधवाक्यों द्वारा अहित कार्योंसे निवृत्तिका करानेवाला भी स्वयं है; पुत्रतुल्य संसारके लिये श्रुतियोंके रूपमें जिसकी स्वभावतः यथार्थ उक्तियां हैं;

इह खलु निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्व एव तद्धानोपायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति, न ततोऽन्यत् । प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः । तथाहि—यदि नैरात्म्यं, यदि वात्मास्ति वस्तुभूतः, उभयथापि नैसर्गिकमात्मज्ञानमतत्त्वज्ञानमेव इत्यत्राप्येकवाक्यतैव वादिनामत आत्मतत्त्वं विविच्यते ।

जगत्पर जिसकी अकारण एवं निर्व्याज अनुकम्पा है तथा उसीके लिये जिसके सारे प्रयत्न हैं; मनु-कपिल प्रभृति पूर्वगुरुओंसे भी श्रेष्ठ उस जगत्पिता परमेश्वरको (मेरा) नमस्कार है ।

संसारमें दुःख वह वस्तु है, जो स्वभावतः प्रतिकूल लगनेवाली और सबोंके अनुभवमें भासित होनेवाली है । अर्थात् वह ऐसी वस्तु नहीं, जो किसीके अनुभवमें न आती हो या अनुकूल लगती हो । इसी कारण सब उसे छोड़ना या उससे छुटकारा पाना चाहते हैं । पर उससे छुटकारा पानेका उपाय स्वयं नहीं जानते, अतः उस उपायके अनुसंधानमें लगे हुए वे शास्त्रोंसे तत्त्वज्ञानको ही सम्पूर्ण दुःखोंसे छुटकाराका उपाय निश्चित करते हैं, किसी अन्यको नहीं । क्योंकि तत्त्वज्ञानसे ही दुःखोंका आत्यन्तिक नाश होता है—इस सिद्धान्तमें सब अध्यात्मवादियोंका ऐकमत्य है ।

एवं, जो आत्माका अभाव[1] मानते हैं, उन्हें प्रतियोगीरूपसे (यस्याभावः स प्रतियोगी), जो देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व मानते हैं, उन्हें अनुयोगीरूपसे (यस्मिन् अभावः सोऽनुयोगी) आत्माका वास्तविक स्वरूप जानना ही होगा । क्योंकि, जैसे, तत्त्वज्ञान ही दुःखोच्छेदरूप मोक्षका एकमात्र साधन है—इस बातमें सभी वादियोंका ऐकमत्य है, वैसे ही यदि आत्माका अभाव है या आत्माकी वास्तविक सत्ता है, इन दोनों ही पक्षोंमें "अहं गौरः, अहं स्थूलः इत्यादि स्वाभाविक

१. नैरात्म्यदृष्टिं मोक्षस्य हेतुं केचन मन्वते ।
आत्मतत्त्वधियं त्वन्ये न्यायतत्त्वानुसारिणः ॥

तत्र बाधकं भवदात्मनि[1] क्षणभङ्गो[2] वा बाह्यार्थभङ्गो वा गुणगुणिभेदभङ्गो[3] वा अनुपलम्भो वेति ।

आत्मज्ञान (नैरात्म्यपक्षमें देहाभिन्नरूपमें असत् आत्माका भान होनेसे और आत्मास्तित्वपक्षमें आत्माका देहादिसे अभिन्न रूपमें भान होनेसे) अतत्त्वज्ञान ही है—इस बातमें भी सभी वादियोंका ऐकमत्य ही है। यद्यपि स्वाभाविक आत्मज्ञानके अन्दर "अहं सुखी" यह ज्ञान भी है और यह तत्त्वज्ञान ही है, क्योंकि न्यायमतसे सुखादिक आत्माके ही धर्म हैं। अतः सभी स्वाभाविक आत्मज्ञानको अतत्त्वज्ञान कहना ठीक नहीं है। तथापि इसे अतत्त्वज्ञानकी कोटिमें माननेके दो कारण हैं। एक यह कि आत्माका सुखी आदि होनेका ज्ञान कादाचित्क होनेसे "स्थूलः गौरः, इत्यादि मिथ्याज्ञानोंसे सदा तिरस्कृत रहता है। दूसरा यह कि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि श्रुति-वचनके अनुसार मनन द्वारा हुआ असन्दिग्धज्ञान ही निर्बाध रूपसे तत्त्वज्ञान है। क्योंकि मननजन्य ही आत्मज्ञान मिथ्याज्ञानको निवृत्त करनेमें समर्थ है। इसलिये आत्माके वास्तविक स्वरूपका यहाँ विवेचन किया जाता है।

जिस आत्माका नास्तिक निषेध करते हैं, तथा आस्तिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उस आत्मामें चार प्रकारके बाधक हो सकते हैं। १—सब पदार्थ क्षणिक हैं; २—ज्ञानसे भिन्न बाह्यवस्तु नहीं है, ३—गुण और गुणीमें भेद नहीं है तथा ४—शरीरसे भिन्न आत्माकी उपलब्धि नहीं होती है। इनमें क्षणिकवाद नित्य आत्माके होनेमें बाधक है। दूसरा, ज्ञानसे भिन्न किन्तु ज्ञान-सुख आदिका आश्रय-भूत आत्माके होनेमें बाधक है, तीसरा भी, ज्ञानरूप गुणसे भिन्न

---

१. तत्रात्मनि बाधकं भवत्—१ पु० पा०

२. क्षणभङ्गादिपदत्रयं तत्साधकप्रमाणपरम्, अनुपलम्भे तु स्वरूपस्यैवा-सिद्धिरिति शाङ्करी।

३. भावः स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगी नवेति क्षणभङ्गे विप्रतिपत्तिः। एकदेशिमतेनास्त्ये विधिकोटिप्रसिद्धिः निषेधकोटिप्रसिद्धिस्तु अलोके सौगतानां मते।

तत्र न प्रथमः प्रमाणाभावात् । यत् सत् तत् क्षणिकं[1] यथा घटः, संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति[2] चेत् न, प्रतिबन्धासिद्धेः[3] ।

सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धिरिति चेत् न, विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः ।

आत्मारूप गुणीके होनेमें बाधक है। और चौथा, शरीरसे भिन्न आत्माके अस्तित्वमें बाधक है। अर्थात् इन बाधकोंके कारण आस्तिकोंका नित्य ज्ञान-सुखादिका आश्रयभूत तथा देहेन्द्रियादिसे भिन्न आत्मा नहीं सिद्ध हो पाता है।

पूर्वोक्त चारों बाधकोंमें प्रथमसे (क्षणिकवादसे) हमारे अभिमत आत्माका बाध नहीं हो सकता है। क्योंकि क्षणिकवादमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि "जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे बनकर तुरत ध्वस्त हुआ घड़ा; विवादके विषय शब्द-आत्मा आदि सब वस्तु भी सत् हैं, इसलिये क्षणिक हैं" इस अनुमानको क्षणिकत्वमें प्रमाण कहें, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि 'जो सत् है वह क्षणिक है' यह व्याप्ति ही असिद्ध है।

"सामर्थ्य और असामर्थ्य" रूप विरुद्धधर्मोंके सम्बन्धसे सभी सत् पदार्थोंमें भेदकी सिद्धि होगी और उसके बाद क्षणिकत्वकी सिद्धि हो जायगी। जैसे, बखारमें स्थित बीज अङ्कुरके लिये असमर्थ है और खेतमें डाला गया वह अङ्कुर करनेमें समर्थ है। इसलिये समझा

---

१. यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधाऽन्यदापि परकृन्नैव क्रिया वा भवेत्
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥
ज्ञानश्री—क्षणभङ्गाध्याये प्रथमपादे पृ० १

२. अनुमितिकारणीभूतव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानजनकौ उदाहरणोपनयात्मकौ द्वावेवावयवौ इति बौद्धो मन्यते ।

३. प्रतिबन्धो व्याप्तिः, तदसिद्धेरित्यर्थः ।

प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां[1] तत्सिद्धिरिति चेत् न, सामर्थ्यं हि करणत्वं[2] वा योग्यता वा। नाद्यः, साध्या[3]विशिष्टत्वप्रसङ्गात्।

जाता है कि बखारमें रहनेकी अवस्थामें वह बीज भिन्न था और खेतमें डाला गया वह भिन्न हो गया। इस तरह भेदकी और क्षणिकत्वकी क्रमशः सिद्धि हो गयी—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही बीजमें सामर्थ्य और असामर्थ्य-रूप विरुद्ध धर्मका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है।

"बखार का बीज यदि अङ्कुर-समर्थ होता तो अङ्कुर उत्पन्न कर देता; नहीं करता है, इसलिये वह अङ्कुर-समर्थ नहीं है। इस प्रकारके प्रसङ्ग और विपर्य्ययसे बीजमें बखारमें रहनेकी दशामें असामर्थ्य और खेतमें रहनेकी दशामें सामर्थ्यरूप विरुद्ध धर्मोंका सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है इस तरह कुशूलस्थ और क्षेत्रस्थ बीजका सुतरां भेद सिद्ध हो जाता है।" यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां सामर्थ्यका कौन सा अर्थ अभीष्ट है? फल पैदा कर देना अथवा उसकी योग्यता रखना? प्रथम अर्थ संभव नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त प्रसङ्ग और विपर्य्ययमें आपादक भी आपाद्यरूप ही हो जायगा। क्योंकि तब आपके प्रसङ्गका यह स्वरूप होगा—बखारका बीज यदि अङ्कुर करे तो अङ्कुर करे। एवं क्षेत्रस्थ बीज यदि अङ्कुर न करता तो अङ्कुर न करता—इस प्रकार दोनों प्रसङ्गोंमें जो ही साध्य है, वही साधन भी हो जाता है। इसी तरह दोनों ही विपर्ययोंमें भी साध्य साधन एक ही हो जाते हैं। उक्त प्रसङ्गोंके विपरीत विपर्ययोंका स्वरूप यह होगा—कुशूलस्थ बीज अङ्कुर नहीं करता है, इसलिये अङ्कुरासमर्थ है अर्थात् अङ्कुर नहीं करता है। एवं क्षेत्रस्थ बीज अंकुर करता है इसलिये अङ्कुर समर्थ है अर्थात् अङ्कुर करता है। यहां भी साध्य और साधन अभिन्न हो गये। किसी साध्यकी सिद्धिके लिये साधनको उससे भिन्न होना चाहिये।

---

१. प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्याम्—१ पु० पा०

२. करणं वा—१ पु० पा०

३. साध्यं व्यापकम् आपाद्यानुमेयसाधारणम्। तथा चापाद्यानुमेयाभ्यामापादकानुमापकयोरविशेषप्रसङ्गादित्यर्थः।

व्यावृत्ति[1]भेदादयमदोष इति चेत्, न, तदनुपपत्तेः। व्यावर्त्यभेदेन विरोधो हि तन्मूलम्[2]। स च न तावन्मिथोऽव्यावर्त्यप्रतिक्षेपाद् गोत्वाश्वत्ववत्, तथा सति विरोधादन्यतरापाये[3] बाधासिद्ध्योरन्यतरप्रसङ्गात्।

यदि ऐसा कहो कि—"सामर्थ्य हेतु असमर्थव्यावृत्तिरूप है और कारित्व साध्य अकारिव्यावृत्तिरूप है। दोनों व्यावृत्तियोंके भिन्न होनेसे सामर्थ्यरूप साधन और कारित्व (करना) साध्यमें भी भेद होकर साध्य-साधनमें ऐक्यापत्ति दोष नहीं आ सकता" तो वह भी असङ्गत है। क्योंकि इन दोनों व्यावृत्तियोंके परस्पर भिन्न होनेका मूल है—समर्थ और कारीरूप व्यावर्त्योंमें भेद होनेसे उक्त व्यावृत्तियोंका परस्पर विरोधी होना। किन्तु इन व्यावृत्तियोंमें आत्यन्तिक या आंशिक किसी प्रकारका विरोध सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण, जैसे गोत्व (अगोव्यावृत्ति) और अश्वत्व—(अनश्वव्यावृत्ति) रूप व्यावृत्तियोंमें आत्यन्तिक विरोध है, क्योंकि गोत्व-धर्म सभी अश्वोंका परित्यागकर गोमात्रमें ही रहता है, एवं अश्वत्व-धर्म भी सभी गौओंका परित्यागकर अश्वमात्रमें ही रहता है, वैसे ही सामर्थ्य और कारित्वरूप व्यावृत्तियोंमें भी यदि आत्यन्तिक विरोध माना जाय तो सामर्थ्य-हेतुसे कुशूलस्थ (बखारस्थित) बीजमें कारित्व-साध्यका आपादन अर्थात् पूर्वोक्त प्रसङ्ग ही नहीं बन सकता है। क्योंकि उक्त विरोधके कारण बीजरूप पक्षमें सामर्थ्य-रूप हेतु और कारित्व-रूप साध्य एक साथ रह नहीं सकते, इसलिये पक्षमें किसी एक का अभाव अवश्य रहेगा। ऐसी दशामें पक्षभूत बीजमें यदि सामर्थ्य हेतु रहा तो कारित्व-साध्य नहीं रह सकता, इस प्रकार

---

१. सामर्थ्यपदम् असमर्थव्यावृत्तिपरं, करणत्वपदञ्च अकरणव्या[illegible]रमतो व्यावृत्तिभेदान्न साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्ग इति भावः।

२. व्यावर्त्यमिह व्यावृत्तेराश्रयो विशेष्यं व्यावृत्त्युपग्राह्यमिति यावत्, तन्मूलम् व्यावृत्तिभेदमूलमित्यर्थः।

३. अन्यतरापायेन—१ पु० पा०

नापि तदाक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यां वृक्षत्व-शिंशपात्ववत्, परापरभावानभ्युपगमात्।

अभ्युपगमे वा समर्थस्याप्यकरणमसमर्थस्यापि वा करणं प्रसज्येत।

बाधदोष[1] तथा कारित्व साध्य रहा तो सामर्थ्य-हेतु नहीं रह सकता, इस प्रकार असिद्धि दोष आ जाता है। एवं कारित्व हेतुसे सामर्थ्य सिद्ध करनेमें भी बाध और असिद्धि दोष हो जायगा। क्योंकि विरोधके कारण हेतुके रहनेपर साध्य नहीं रहेगा और साध्यके रहनेपर हेतु ही नहीं रह सकेगा। ऐसे ही अकारित्व-हेतुसे असामर्थ्यरूप साध्यका अनुमान करनेमें भी बाध और असिद्धि दोष हो जाते हैं। क्योंकि अकारित्व रहने पर सामर्थ्यके न होनेसे बाध होगा तथा असामर्थ्य रहने पर कारित्वका न रहना ध्रुव होनेसे अकारित्व-हेतुमें स्वरूपासिद्धि दोष हो जायगा। इस तरह कुशूल-(बखार) स्थ और क्षेत्रस्थ बीजमें पूर्वोक्त प्रकारसे दिखाया गया प्रसङ्ग और विपर्य्यय-रूप अनुमान ही दूषित हो जाता है और क्षणिकत्वसिद्धिके योग्य नहीं रह जाता है।

"सामर्थ्य और कारित्वरूप व्यावृत्तिओंका वृक्षत्व और शिंशपात्वके समान कुछका ग्रहण और कुछका परित्याग कर आंशिक विरोध भी मानना ठीक नहीं है। अर्थात् जैसे शिंशपात्व-धर्म वृक्षत्वके साथ सीसमके वृक्षमें रहता भी है और वृक्षत्व-धर्म वाले आम्रादि वृक्षोंका परित्याग भी करता है, वैसे ही सामर्थ्य और कारित्व-धर्ममें भी परस्पर आंशिक विरोध रहेगा और उतनेसे ही दोनों व्यावृत्तियोंमें भेदकी सिद्धि हो जायगी" यह भी नहीं कह सकते हो। क्योंकि वृक्षत्व और शिंशपात्वके समान सामर्थ्य और कारित्वमें व्याप्यव्यापकभाव नहीं मानते हो। अर्थात् आपसमें जहाँ व्याप्यव्यापकभाव रहता है, वहीं आंशिक विरोध भी रह सकता है।

यदि इसके लिये व्याप्यव्यापकभाव मानो तो जैसे वृक्ष होता हुआ

१. यदि कारित्वं सामर्थ्येन प्रतिक्षिप्येत तदाऽऽपाद्यबाधः स्यात्, यदि कारित्वेन सामर्थ्यं प्रतिक्षिप्येत तदाऽऽपादकासिद्धिरित्यर्थ इति शङ्करमिश्रः।

नाप्युपाधिभेदात् कार्यत्वानित्यत्ववत्, तदभावात् ।
न च शब्दमात्रमुपाधिः, पर्यायशब्दोच्छेदप्रसङ्गात् ।
नापि विकल्पभेदः, स्वरूपकृतस्य तस्य व्यावृत्तिभेदकत्वेऽ-

भी आम सीसम नहीं रहता, वैसे ही समर्थ भी अकारी (नहीं करनेवाला) हो जाय और असमर्थ भी करनेवाला हो जाय। सारांश यह है कि जो व्यापक होता है वह व्याप्यके बिना भी रह जाता है। इसलिये यदि सामर्थ्यको व्यापक और कारित्वको व्याप्य मानो तो समर्थको भी नहीं करनेवाला मानना पड़ेगा। अथवा यदि कारित्वको व्यापक और सामर्थ्यको व्याप्य मानोगे तो असमर्थको भी करनेवाला मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अयुक्त है।

यदि कहो कि कार्यत्व और अनित्यत्वके समान सामर्थ्य और कारित्वरूप व्यावृत्तियोंमें भी उपाधिकृत[1] भेद है, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां कोई उपाधि ही नहीं है। अर्थात् कार्यत्व और अनित्यत्व-धर्ममें गोत्व-अश्वत्वके समान आत्यन्तिक या वृक्षत्व-शिंशपात्व-के समान आंशिक किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यहां तक कि ये दोनों धर्म कहीं भी साथ ही रहते हैं, फिर भी प्रागभाव और ध्वंस-रूप उपाधियोंके भेदसे ये भी भिन्न माने जाते हैं। परन्तु यहाँ परस्पर समव्याप्त सामर्थ्य और कारित्व धर्मको भिन्न करनेवाले उपाधि भी नहीं हैं।

"सामर्थ्य और कारित्व अर्थोंके बोधक समर्थशब्द और कारीशब्द ही उन्हें भिन्न करनेवाले उपाधि हैं" यह भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि शब्दमात्रके भेदसे यदि बोध्य अर्थ भिन्न हो जाय तो पर्याय शब्दोंका ही उच्छेद हो जायगा। क्योंकि वे ही शब्द पर्याय माने जाते हैं, जो आपसमें तो भिन्न होते हैं पर उनका बोध्य अर्थ अभिन्न रहता है।

"सामर्थ्यका ज्ञान कारित्वके ज्ञानसे भिन्न वस्तु है, इसलिये भिन्न-भिन्न ज्ञान ही इन दोनोंके भेदक उपाधि हैं"। यह भी अयुक्त है।

१. प्रागभावावच्छिन्नं सत्त्वं कार्यत्वम्, ध्वंसावच्छिन्नं सत्त्वमनित्यत्वमिति भेदः ।

समर्थव्यावृत्तेरपि भेदप्रसङ्गात्। विषयकृतस्य तु तस्य भेदकत्वेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्[1]।

न च निर्निमित्त एवायं व्यावृत्तिभेदव्यवहारोऽतिप्रसङ्गात्।

नापि द्वितीयः। सा च सहकारिसाकल्यं वा प्रातिस्विकी वा ?

क्योंकि सामर्थ्य और कारित्व रूप व्यावृत्तियोंको भिन्न करनेवाला जो ज्ञानरूप उपाधियोंमें भेद है, उसे स्वरूपकृत मानते हो या विषयकृत ? यदि प्रथम पक्ष कहो तो असमर्थव्यावृत्ति (सामर्थ्य) भी अपने ही से भिन्न होने लगेगी। क्योंकि असमर्थव्यावृत्तिके ही अनेक बार करके हुए ज्ञान विषयके एक होनेपर भी स्वरूपतः अर्थात् अपने-अपने व्यक्तित्वके विचारसे भिन्न भिन्न हैं। यदि द्वितीय पक्ष कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। क्योंकि सामर्थ्य और कारित्व-रूप विषयमें भेद ज्ञानभेदके अधीन होगा और उनके ज्ञानोंमें भेद उन्हीं विषयोंके भेदके अधीन होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है।

यदि सामर्थ्य और कारित्व-रूप व्यावृत्तियोंमें भेदव्यवहारको बिना कारण मानो तो अतिप्रसङ्गदोष हो जायगा। अर्थात् तब सामर्थ्य ही सामर्थ्यसे और कारित्व ही कारित्व से भिन्न होने लगेगा। इस तरह अभेदमात्रका लोप हो जायगा।

कुशूलस्थ बीज यदि अङ्कुर समर्थ हो तो अङ्कुर उत्पन्न करे इत्यादि पूर्वोक्त प्रसङ्ग और विपर्ययमें सामर्थ्यपदका अंकुर पैदा करनेकी योग्यतारूप द्वितीय अर्थ मानो तो उक्त प्रसङ्गका यह अर्थ होगा— कुशूलस्थ बीज अंकुरकी योग्यता रखता हो तो अंकुर पैदा करे, नहीं पैदा करता है, इसलिए अंकुरके योग्य नहीं है। ऐसी दशामें साधन और साध्यमें ऐक्यापत्तिरूप दोष तो नहीं होगा, क्योंकि योग्यता दूसरी वस्तु है और अंकुर उत्पन्न कर देना दूसरी। तथापि यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है। क्योंकि यहाँ बीजमें अंकुरकी योग्यता अंकुरके लिये मट्टी, पानी आदि बीजके जितने भी सहकारी हैं, उन

१. परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात्—१ पु० पा०

न तावदाद्यः पक्षः, सिद्धसाधनात् परा[१]नभ्युपगमेन हेत्व-सिद्धेश्च। यत् सहकारिसमवधानवत् तद्धि करोत्येवेति को नाम नाभ्युपैति[२] यमुद्दिश्य साध्यते। न चाकरणकाले सहकारि-समवधानवत्त्व[३]मस्माभिरभ्युपेयते, यतः प्रसङ्गः प्रवर्तेत।

प्रातिस्विकी तु योग्यता अन्वयव्यतिरेक[४]विषयीभूतं बीजत्वं वा स्यात्, तदवान्तरजातिभेदो[५] वा सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्या-भाववत्त्वं वा ?

सबोंके समवधानके कारण मानते हो अथवा प्रातिस्विकी योग्यता मानते हो ? अर्थात् स्वभावसे ही प्रत्येक बीजमें वह योग्यता है ?

यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि तब आपके प्रसङ्ग और विपर्य्ययका स्वरूप यह होगा "कुशूलस्थ बीज यदि अपने सहकारियोंसे युक्त होता तो अंकुर करता, नहीं करता है, इसलिये सहकारियोंसे युक्त नहीं है। इस स्थितिमें यहाँ सिद्धसाधनदोष आ जाता है। एवं स्थिरवादियोंको कुशूलस्थ बीजमें सहकारियोंका समवधान अस्वीकृत होनेके कारण प्रसङ्गमें दिया हुआ हेतु भी असिद्ध है। क्योंकि "जो सहकारियोंके सहित है, वह करता ही है" इसे कौन नहीं मानता है ? जिसके प्रति यह साधन कर रहे हो। एवं अंकुर नहीं करनेवाले कुशूलस्थ-बीजमें हम सहकारियोंका योग तो मानते नहीं कि आपका दिया कारित्वका प्रसङ्ग लागू हो।

आपका द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि बीजमें स्वाभाविक अंकुर-योग्यता तो तीन प्रकारकी हो सकती है। प्रथम, बीजके रहते अंकुर होता है और उसके अभावमें नहीं होता, इसलिये अन्वय-व्यतिरेकज्ञानका विषयभूत बीजजातिका होना ही अंकुर-योग्यता है।

१. परः स्थिरवादी।　　२. नाभ्युपगच्छति—१ पु० पा०

३. समवधानवत्तास्माभि—१ पु० पा०

४. अन्वयव्यतिरेकेतिपदम् अन्वयव्यतिरेकग्रहपरम्।

५. बौद्धाभिमतं कुर्वद्रूपत्वम्।

न तावदाद्यः, अकुर्वतोऽपि बीजजातीयस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। तवापि तत्राविप्रतिपत्तेः।

न द्वितीयः[1], तस्य[2] कुर्वतोऽपि मयानभ्युपगमेन दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्। को हि नाम सुस्थात्मा प्रमाणशून्यमभ्युपगच्छेत्। स हि न तावत् प्रत्यक्षेणा[3]नुभूयते, तथानव[4]सायात्।

दूसरा, बीजकी किसी अवान्तरजाति—(कुर्वद्रूपत्व) का होना। और तीसरा, केवल सहकारिहीनताके ही कारण अंकुर न कर सकना। अर्थात् पत्थरके टुकड़ोंके समान नहीं कि जो सहकारियोंके विद्यमान रहनेपर भी अंकुर नहीं करते।

इनमें प्रथम प्रकार (बीजजातिका होना) ठीक नहीं है। क्योंकि तब आपके प्रसङ्ग और विपर्ययका यह स्वरूप होगा "कुशूलस्थ पदार्थ यदि बीजजातिका होता तो अंकुर करता, नहीं करता है, इसलिए वह बीजजातिका नहीं है"। किन्तु अंकुर नहीं करते हुए भी धान्यादिक बीजजातिके हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। उनके बीजजातिके होनेमें तुम्हें भी विवाद नहीं है।

बीजका कुर्वद्रूपत्व-जातिका होनारूप द्वितीय प्रकारकी योग्यताका मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब आपके प्रसङ्गका यह स्वरूप होगा "कुशूलस्थ बीज यदि कुर्वद्रूपत्व-जातिवाला होता तो क्षेत्रपतित बीजके समान अंकुर करता"। पर यहाँ मैं अंकुर करनेवाले क्षेत्रस्थ-बीजमें भी कुर्वद्रूपत्वनामकी जाति नहीं मानता, इसलिये आपका दृष्टान्त हेतुशून्य है। दृष्टान्त वही होता है, जिसे वादी प्रतिवादी दोनों एक सा मानते हों। पर कौन स्वस्थ दिमाग वाला व्यक्ति होगा, जो इस तरहकी प्रमाणशून्य वस्तुको माने। क्योंकि वह

---

१. नापि द्वितीयः—३ पु० पा०

२. तस्य = जातिविशेषस्य।

३. प्रत्यक्षम् = निर्विकल्पकम्। निर्विकल्पकस्यैव तन्मते प्रामाण्यस्वीकारादित्यर्थः।

४. अनवसायात् = अनुव्यवसायाभावादित्यर्थः।

नाप्यनुमानेन, लिङ्गाभावात्। यदि न कश्चिद्विशेषः, कथं तर्हि करणाकरणे इति चेत्, क एवमाह नेति। परं किं जातिभेदरूपः[1] सहकारिलाभालाभरूपो वेति नियामकं प्रमाणमनुसरन्तो न पश्यामः।

तथापि योऽयं सहकारिमध्यमध्यासीनोऽक्षेपकरणस्वभावो[2] भावः, स यदि प्रागप्यासीत् तदा प्रसह्य कार्यं कुर्वाणो गीर्वाणशापशतेनापि अपहस्तयितुं न शक्यते इति चेत्, युक्तमेतत् यद्यक्षेपकरणस्वभावत्वम्[3] भावस्य प्रमाणगोचरः स्यात्, तदेव कुतः सिद्धमिति नाधिगच्छामः।

(कुर्वद्रूपत्व-जाति) प्रत्यक्ष से नहीं मालूम पड़ती है। कारण, क्षेत्रस्थ बीजको देखकर—यह कुर्वद्रूपत्व-जातिवाला है—ऐसा किसीको अनुभव नहीं होता है।

अनुमानसे भी कुर्वद्रूपत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें कोई लिङ्ग (साधन) नहीं है। यहाँ जो तुम यह पूछो कि "यदि बखार और खेतके बीजमें कोई विशेषता नहीं है, तो क्यों एक अंकुर करता है और एक नहीं करता ?" तो विशेषता नहीं है—ऐसा कहता कौन है ? परन्तु वह विशेषता क्या कुर्वद्रूपत्व-जातिका होना और न होना है ? अथवा सहकारियोंका लाभ और अलाभरूप है ? इसका निर्णय करनेवाले प्रमाणका अन्वेषण करते हुए हम उसे (प्रमाणको) नहीं पाते हैं।

"तो भी, जो यह सहकारियोंके मध्यमें रह अविलम्ब अङ्कुरोत्पादक-स्वभाववाला भाव पदार्थ है, वही यदि पहले (बखारमें) भी था, तो उस समय भी अङ्कुरोत्पत्ति करता हुआ वह आपकी देवताके सौ शापोंसे भी नहीं रोका जा सकता है" किन्तु ऐसा कहना भी तुम्हारा तब

---

१. जातिभेदः = कुर्वद्रूपत्वम्।

२. स्वोत्पत्तिक्षणे एव कारित्वमक्षेपकारित्वम्।

३. धर्मत्वं ? पु० पा०

प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामिति चेत्, न, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एवं स्वभावत्वसिद्धौ[1] हि तयोः प्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ चैवंस्वभावत्वसिद्धिरिति।

स्यादेतत्। कार्यजन्मैव अस्मिन्नर्थे[2] प्रमाणं, विलम्बकारिस्वभावानुवृत्तौ कार्यानुत्पत्तिः सर्वदेति चेत्, न, विलम्बकारिस्वभावस्य सर्वदैवाकरणे तत्त्वव्याघातात्। ततश्च विलम्बकारीत्यस्य

ठीक हो जबकि भाव-वस्तुका अविलम्ब कार्य उत्पन्न करदेनारूप स्वभाव प्रमाणित हो। किन्तु वही (उक्त स्वभाव) कैसे सिद्ध है, इसे हम नहीं समझ पाते।

यदि यह कहो कि "बीज यदि अविलम्ब अङ्कुर करनेका स्वभाव-वाला न होता तो पत्थरके समान बादमें भी अङ्कुर नहीं करता, किन्तु अङ्कुर करता है, इस लिये वह अविलम्ब अङ्कुर करनेका स्वभाववाला है" इस प्रसङ्ग और विपर्ययसे उक्त स्वभाव सिद्ध हो जायेगा— तो यहां अन्योन्याश्रयदोष आ जायगा। क्योंकि कहीं भी पहले इस प्रकारके स्वभावका होना प्रसिद्ध हो तो उक्त प्रसङ्ग और विपर्ययकी प्रवृत्ति हो सके तथा पहले उक्त प्रसङ्ग और विपर्ययकी प्रवृत्ति हो तब उक्त स्वभावका होना सिद्ध हो। इस प्रकार प्रत्येकको अपनी सिद्धिके लिये एक दूसरेकी अपेक्षा होनेसे किसीकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

"अस्तु, कार्यकी उत्पत्ति ही बीजके अविलम्बकारी स्वभावका होनेमें प्रमाण है। क्योंकि यदि वह विलम्बकारी स्वभावका हो तो उसका वह स्वभाव सदा बना रहेगा, इस प्रकार कभी भी कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। इससे सिद्ध होता है कि बीज अविलम्बकारी स्वभावका ही है" यह युक्ति देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विलम्बकारी स्वभाववाला पदार्थ यदि कभी भी कार्य न करे तो उसका बिलम्बकारित्व अर्थात् विलम्बसे करना यह विशेषण ही असङ्गत हो जायगा। इसलिये 'विलम्बकारी, इस पदका "जब तक सहकारियोंका असन्निधान रहे

१. स्वभावसिद्धौ—१ पु० पा० २. अस्मिन् अक्षेपकारित्वे।

यावत्सहकार्यसन्निधानं तावन्न करोतीत्यर्थः। एवं च कार्य-जन्म सामग्र्यां प्रमाणयितुं शक्यते न तु जातिभेदे। ते तु किं यथानुभवं विलम्बकारिस्वभावाः परस्परं प्रत्यासन्नाः कार्यं कृतवन्तः? किं वा यथा त्वत्परिकल्पनं क्षिप्रकारिस्वभावाः? इत्यत्र कार्य-जनन[1]मजागरूकमेवेति।

नापि तृतीयः, विरोधात्। सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाव-वांश्च सहकारिविरहे कार्यवांश्चेति व्याहतम्। तस्माद् यद् यद-भावे एव यन्न करोति तत् तत् सद्भावे तत् करोत्येव इति तु स्यात्। एतच्च स्थैर्यसिद्धेरेव परं बीजं सर्वस्वमिति।

तब तक नहीं करनेवाला" यह अर्थ है। अर्थात् वह सामग्रीके जुटनेपर ही कार्य करेगा। इस प्रकार कार्यकी उत्पत्ति तो सामग्रीके जुटावमें प्रमाण हो सकती है न कि तुम्हारी कल्पित कुर्वद्रूपत्व जातिके होनेमें। तब क्या वे बीज अनुभवके अनुसार विलम्बकारी स्वभावके होते हुए भी सहकारियोंसे मिलकर कार्य किये? अथवा जैसी कि तुम्हारी कल्पना है—क्षिप्रकारी (अविलम्बकारी) स्वभावके होनेके कारण? इसमें कार्य-जन्म प्रमाण होनेमें उदासीन है। अर्थात् स्व-कपोलकल्पनाकी अपेक्षा अनुभवको ही प्रमाण मानना समुचित है।

बीजके स्वाभाविक अङ्कुरयोग्यतापक्षमें तीसरा प्रकार भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्ववचनमें ही विरोध हो जायगा। अर्थात् कुशूलस्थ बीजको तुम भी सहकारीरहित मानते हो। ऐसी दशामें तुम्हारे प्रसङ्गका यह स्वरूप होगा "सहकारीरहित बखारका बीज यदि सहकारीके बिना कार्य (अङ्कुर) न करता हो तो कार्य करे"। यह परस्पर व्याहत वचन है। इसलिये यह तो हो सकता है कि" जो ही जिस वस्तुके बिना जिस कार्यको नहीं करता है, वही उस वस्तुके आ जानेपर उस कार्यको कर देता है"। किन्तु यह तो हमारी स्थैर्य-सिद्धिका ही एकमात्र मूल है। क्योंकि उक्त नियममें एक ही बीजका पहले सहकारीके बिना और पीछे सहकारीके साथ रहना सिद्ध होता हुआ उसके क्षणिकत्वका विरोध करता है।

---

[1]. कार्योपजनन—३ पु० पा०

एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम्। तादृग्-व्यवहारगोचरस्यापि बीजस्याङ्कुराकरणादर्शनात्। नासौ मुख्यस्तद्-व्यवहारः[1], तस्य जननिमित्तकत्वात्, अन्यथा त्वनियम-प्रसङ्गादिति चेत्, कीदृशं पुनर्जननं मुख्यसमर्थव्यवहारनिमित्तम्? न तावदक्षेपकरणं, करणमेवेत्येवंस्वभावत्वेना[2]प्युपपत्तेः। ततश्च जननिमित्त[3] एवायं व्यवहारो न व्याप्तिसिद्धिरिति।

इससे "समर्थव्यवहारका विषय होना अर्थात् अङ्कुरसमर्थ कहा जाना ही अङ्कुरकारी होनेमें हेतु है" यह भी खण्डित हो गया। क्योंकि अङ्कुरसमर्थ कहे जाते हुए भी कुशूलस्थ बीजका अङ्कुर नहीं करना देखा जाता है।

यदि "कुशूलस्थ बीजमें अङ्कुरसमर्थत्वका व्यवहार मुख्य (वास्तविक) नहीं है, क्योंकि वास्तविक व्यवहारका कारण तो कार्यका पैदा करना है, जो कि खेतमें बोये गये बीजमें ही है। अन्यथा भ्रमवशात् पत्थरमें किया गया अङ्कुर-समर्थत्वका व्यवहार भी वास्तविक व्यवहार हो जायगा"। तो फिर किस प्रकार कार्य पैदा करना वास्तविक समर्थ व्यवहारका कारण मानते हो? यहां अविलम्बसे कार्य पैदा करना समर्थ-व्यवहारका निमित्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वह असिद्ध है। कारण यह है कि कोई भी कारण अपने सहकारियोंके बिना कार्य नहीं करता, इसलिये बिलम्बसे कार्य करना स्वाभाविक है, जो कुशूलस्थ बीजमें भी है ही। व्यवहारमें अनियम तो इसीसे मिट जायगा कि बीज सहकारियोंके जुटनेपर ही करता है, और सहकारियोंके जुट जानेपर करता ही है। इसलिये पत्थरमें अङ्कुर-समर्थत्वका व्यवहार वास्तविक क्यों कर होगा?

इसलिये कदाचित् अङ्कुर पैदा करना ही अंकुर समर्थत्व-व्यवहारका निमित्त है, न कि अविलम्ब पैदा करना। अतः कुशूलस्थ बीज अंकुर समर्थ कहा जायगा। पत्थर तो कभी भी अंकुर नहीं करता, इसलिये वह अंकुर-समर्थ नहीं कहा जा सकता।

---

१. तत्र व्यवहारः—१ पु० पा०   २. स्वभावत्वे—१ पु० पा०।

३. जननिबन्धन—१ पु० पा०

स्यादेतत् । एतावतापि भावस्य कः स्वभावः समर्थितो भवति ? न हि क्षेपाक्षेपाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्तीति चेत्, न, दूषणाभिधानसमये[1] निश्चयाभावेनैव संदिग्धासिद्धिनिर्वाहे कथापूर्वरूप[2]पर्यवसानात् । उत्तरपक्षा[3]वसरे तु सोऽपि न दुर्वचः ।

इस प्रकार "जो समर्थ-व्यवहारका विषय होता है, वह अंकुर करता है" यह व्याप्ति असिद्ध है। अतः प्रसङ्गोपस्थापनमें मूल-शैथिल्य हो जाता है। अथवा "जो सत् है वह क्षणिक है" यह व्याप्ति नहीं सिद्ध हो सकती है। अतः पूर्वमें कहा गया आपका अनुमान क्षणिकवादमें प्रमाण नहीं हो सकता है।

"अस्तु, फिर भी भाववस्तुके कौनसे स्वभावका आप समर्थन करते हैं ? विलम्बसे करनेका या अविलम्बसे (तत्क्षण) करनेका ? इन दो प्रकारोंसे भिन्न तीसरा प्रकार नहीं हो सकता है। अर्थात् किसी भी पदार्थको या तो विलम्बसे कार्य करनेवाला अथवा अविलम्ब कार्य करनेवाला माना जा सकता है। यदि विलम्बसे कार्य करना स्वभाव मानें तो सहकारियोंका योग रहनेपर भी नहीं करेगा। यदि अविलम्ब (तत्क्षण) कार्य करना स्वभाव माने तो सहकारीकी बिना प्रतीक्षा किये अकेला ही कर देगा" इस प्रकारका उपर्युक्त प्रश्न नहीं कर सकते हो। क्योंकि इस प्रकारके प्रश्नसे तुम्हारा अभिप्राय मालूम होता है कि तुम सभी भावोंका अविलम्बकारित्व-स्वभाव मनवा कर प्रकृतमें यह प्रसङ्ग देना चाहते हो कि "बखारका बीज अविलम्बकारी होता तो अंकुर कर देता"। किन्तु तुम्हारे पक्षमें दोष देनेके समय भावोंके स्वभावको अनिश्चय द्वारा सन्देहमें डाले रखकर ही तुम्हारे साथ हो रही हमारी जल्पकथाका पूर्वरूप पूरा हो जाता है। क्योंकि भाव-स्वभाव का निर्णय हुए बिना तुम्हारे पूर्वोक्त प्रसङ्गमें सन्दिग्धासिद्धिदोष बिना प्रयासके ही आ जाता है और तुम्हारा प्रसङ्ग खटाईमें ही रह जाता है।

---

१. दूषणावसरे—१ पु० पा०

२. पूर्वरूपम् = परपक्षखण्डनम् ।

३. उत्तरपक्षः—स्वपक्षस्य स्थैर्यस्य स्थापनम् ।

तथाहि करणं प्रत्यविलम्ब इति कोऽर्थः ? किमुत्पत्तेरनन्तर-मेव करणं, सहकारिसमवधानानन्तरमेव वा। विलम्ब इत्यपि कोऽर्थः? किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावदकरणं, सर्वथैवाकरण-मिति वा। तत्र प्रथमचतुर्थयोः प्रमाणाभावादनिश्चयेऽपि द्वितीय-तृतीययोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बीजजातीयस्य[1] हि सहकारिसम-वधानानन्तरमेव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमेव। तथा सह-कारिसमवधानरहितस्याकरणमित्यपि।

अत्र च भवानपि न विप्रतिपद्यत एव, प्रमाणसिद्धत्वात् विपर्य-

अपने पक्षका समर्थन-रूप कथाके उत्तरपक्षके अवसरमें तो भावों का स्वभाव बतलाना भी कठिन नहीं है। क्योंकि कार्य करनेमें अविलम्बका क्या अभिप्राय है? क्या जब ही वह कारण जन्म ले, उसके दूसरे क्षणमें ही कार्य करना? या कभीका जन्मा होकर भी अपने सहकारियोंके बाद ही कार्य करना? तथा विलम्बसे भी करनेका क्या अभिप्राय है? क्या जबतक सहकारियोंका सन्निधान न हो तबतक न करना? अथवा कभी भी न करना? इन चारों पक्षोंमें प्रथम और चतुर्थ पक्ष असिद्ध हैं। क्योंकि पैदा होते ही करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। एवं यदि कभी भी न करे तो संसार में कभी कोई कार्य ही न दीख पड़े।

इनमें दूसरा और तीसरा पक्ष यदि आपको अभिप्रेत हो तो उसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। क्योंकि बीजजातिका सहकारियोंके योगमें ही करना और अवश्य करना यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है। इसी तरह सहकारियोंके अभावमें नहीं करना भी प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। इन दूसरे और तीसरे पक्षोंके माननेमें आपको भी विरोध नहीं होगा, क्योंकि ये प्रत्यक्षसिद्ध हैं। बल्कि इनके न माननेमें ही अनेक बाधायें हैं।

१. क्षणिकत्ववादिभिरेकस्यां व्यक्तौ करणाकरणयोरनङ्गीकारात् बीज-जातीयस्येत्युक्तम्।

ये बाधकाच्च । तथाहि यदि सहकारिविरहेऽकुर्वाणस्ततसमवधानेऽपि न कुर्यात्, तज्जातीयमकरणमेव[1] स्यात्, समवधानासमवधानयोरुभयोरप्यकरणात् ।

एवं तत्समवधानविरहेऽपि यदि कुर्यात्, सहकारिणो न कारणं स्युः, तानन्तरेणापि करणात् । तथा चानन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकवतामप्यकारणत्वे कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गः[2] । तथा च कादाचित्कत्व[3]विहतिरिति ।

क्योंकि सहकारियोंके अभावमें न करनेवाला कारण यदि सहकारियोंके सन्निधानमें भी कार्य न करे तो वह जाति ही अकारण हो जायगी। क्योंकि सहकारीका सन्निधान और असन्निधान दोनों दशाओं में वह वस्तु नहीं करती है। जैसे कि मट्टी, पानी आदि सहकारियोंके योगमें अथवा अभावमें भी पत्थरसे अंकुर नहीं पैदा होता, इसलिये समझा जाता है कि पत्थर जाति ही अंकुरके प्रति अकारण है।

इसी प्रकार सहकारियोंके असन्निधानमें भी यदि कार्य करे तो सहकारी पदार्थ कारण ही न कहे जाँय, क्योंकि उनकी बिना अपेक्षा किये ही कार्य कर देता है। इस प्रकार जो वस्तु अन्यथासिद्ध नहीं है और कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक सहचार वाली है, वह भी यदि कारण न हो तो विश्वका कार्यमात्र ही आकस्मिक (बिना कारणका) हो जायगा। अर्थात् कार्योत्पत्ति की कोई व्यवस्था ही नहीं रह जायगी। ऐसी दशामें कार्यका किसी समयमें नहीं रहना और पीछे हो जाना—यह नहीं बनेगा। क्योंकि कार्यको कारणके अधीन माननेसे ही कारणके अभावमें कार्यका नहीं होना और कारणकी सत्तामें कार्यका होना—यह व्यवस्था बन पाती है। बिना कारणके कार्य माननेमें तो कब कार्य होगा और कब नहीं होगा–इसका ठिकाना ही नहीं रहेगा। इस स्थितिमें कार्य या तो सदा ही रहेगा या कभी न होगा।

---

१. तज्जातीयमकारणं स्यात्—१ पु० पा०

२. कार्यस्याकरणकत्वप्रसङ्गः—२ पु० पा०

३. किञ्चित्कालेऽसतः किञ्चित्कालमसत्त्वं कादाचित्कत्वम् ।

एवं च द्वितीयपक्षविपक्षायामक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। तृतीयपक्षविवक्षायां तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपमिति नोभयप्रकार[1] निवृत्तिरिति।

तथापि किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः, स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानम्, अन्यथा वेति। किं नियामकमिति चेत् इदमुच्यते। कुशूलस्थबीजस्याङ्कुरानुकूलः शिलाशक-

इस प्रकार भाव पदार्थका क्या स्वभाव है? इस प्रश्नका यही उत्तर हो सकता है कि—अविलम्ब और विलम्बके पूर्वोक्त चारो पक्षोंमें यदि दूसरा लिया जाय तो अविलम्बसे करना ही भाववस्तुका स्वभाव है और तीसरे पक्षके लिये जाने पर तो विलम्बसे करना ही भावका स्वभाव है। इस तरह परिस्थितिके अनुसार अविलम्बसे करना और विलम्बसे करना दोनों ही भावके स्वभाव हैं।

"फिर भी इसका निर्णय कैसे हो कि जो असमर्थ रहता है वही सहकारियोंसे विहीन रहता है और जो अपना स्वरूप पाते ही कार्य कर देता है, उसीको सहकारियोंका योग प्राप्त होता है—यह ठीक है, अथवा समर्थ भी कभी सहकारियोंसे रहित रहता है और वही कभी सहकारी पाकर कार्य कर देता है—यह ठीक है? तात्पर्य यह है कि समर्थको (कुर्वद्रूपको) ही सहकारियोंका योग प्राप्त होता है और वह उनसे वियुक्त होकर कभी नहीं रहता है। इसलिये कुर्वद्रूप (कार्योन्मुख) जो क्षेत्रस्थ बीज है, वही अंकुर समर्थ है—ऐसा मानना चाहिये। कुशूलस्थ बीजको तो अंकुर समर्थ कहना और यह कहना कि वही भविष्यमें सहकारियोंका योग पाकर अंकुर करता है, दोनों ही गलत हैं।" इस तरह के प्रश्न और तात्पर्यवर्णन पर तुमसे मैं यह पूछता हूँ कि पत्थरोंके टुकड़ोंकी अपेक्षा कुशूलस्थ बीजमें ऐसी कोई विशेषता, जो अंकुरके अनुकूल हो, है कि नहीं? यदि नहीं है तो अंकुर चाहने वाले व्यक्ति की नियमतः एक तरफ (कुशूलस्थ बीजकी ओर) प्रवृत्ति और दूसरी तरफ से (पत्थर खण्डकी ओरसे) निवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

१. नोभयाकार—१ पु० पा०

लात् कश्चिदस्ति विशेषो न वा ? न चेन्नियमेनैकत्र प्रवृत्तिः अन्यस्मा[1]न्निवृत्तिश्च तदर्थिनो न स्यात् । परम्परयाङ्कुरप्रसवसमर्थबीजक्षणजननादस्त्येवेति चेत्, कदा पुनः परम्परयापि तथाभूतं करिष्यतीति । तत्र सन्देह इति चेत्, स पुनः किमाकारः ? किं सहकारिषु समवहितेष्वपि करिष्यति न वेति, उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति ।

अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव करिष्यत्येव[2], परं कदा तेषां समवधानमिति सन्देहः । न तावत् पूर्वः, सामान्यतः कारणत्वावधाने तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा कारणत्वानवधारणात् । नापि द्वितीयः, सहकारिणां तत्त्वावधारणे तस्यानवकाशात्,

---

यदि कहो कि—पत्थरसे बखारके बीजमें यही विशेषता है कि बखारका बीज अंकुर जन्मानेमें समर्थ क्षेत्रस्थबीजके क्षणका परम्परया जनक है—तो बताओ कि परम्परया भी वह क्षेत्रस्थबीजके क्षणको कब पैदा करेगा ? यदि कहो कि इसमें सन्देह है, तो वह सन्देह किस प्रकार का है ? क्या--सहकारियोंके रहनेपर भी वह करेगा या नहीं--इस प्रकार का है ? अथवा सहकारियोंके नहीं रहनेपर भी करेगा या नहीं—इस प्रकारका है ? अथवा जब सहकारियोंका योग होगा तभी करेगा और अवश्य करेगा, पर कब सहकारियोंका योग होगा—इसमें सन्देह है ?

इनमें प्रथम प्रकारका संशय नहीं हो सकता है । क्योंकि सामान्य रूपसे बीजमें कारणत्वका निश्चय रहनेपर संशय नहीं हो सकता है । यदि संशय होगा तो बीज जातिमें कारणत्व ही नहीं बन सकेगा, जो कि प्रत्यक्षसे सिद्ध है ।

द्वितीय संशयपक्ष भी नहीं हो सकता है । क्योंकि सहकारियों में यदि कारणत्वका निश्चय है तो उक्त संशयका अवसर ही नहीं होगा, यदि संशय होगा तो इस स्थितिमें सहकारियोंमें कारणताका निश्चय

---

१. अपरस्मा—१ पु० पा०

२. करोत्येव—१ पु० पा०

अवकाशे वा तेषां तत्त्वानवधारणात् । तृतीये तु सर्व एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र तत्र सहकारि समवधाने सति करणनियमात्, सर्वत्र च सहकारि-समवधानसम्भवात् ।

समर्थ एव क्षणे क्षित्यादिसमवधानमिति चेत्, किमसमर्थे सहकारिसमवधानमेव नास्ति ? समवधाने सत्यपि वा तस्मान्न कार्यजन्म ?

नाद्यः, शिलाशकलादावपि क्षिति-सलिल-तेजः-पवनयोग-दर्शनात् ।

न द्वितीयः, शिलाशकलादिव कदाचित् सहकारिसाकल्यवतोऽपि बीजादङ्कुरानुत्पत्तिदर्शनात्[1] ।

ही नहीं हो सकेगा। किन्तु सहकारियोंमें भी कारणत्व है, इसे पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। अतः द्वितीय संशयपक्ष भी अनुपपन्न है।

तृतीय संशयपक्षमें तो बखारमें रहनेसे लेकर खेतमें जाने तक बीजके जितने भी क्षण हैं, वे सभी समान स्वभाववाले सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि जिस तिस क्षणमें सहकारीका सन्निधान होने पर कार्य पैदा हो सकता है और सभी क्षणोंमें सहकारीका सन्निधान भी हो सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण बीजजातिमें अंकुरकारणत्व सिद्ध होता है।

यदि कहो कि "जिस क्षणमें अंकुर पैदा होता है, उसी क्षणमें मट्टी पानी आदिका योग हो सकता है, बाकी क्षणोंमें नहीं; इसलिये सभी क्षण समानशील नहीं हो सकते।" तो क्या असमर्थ क्षणमें सह-कारियोंका योग ही नहीं हो सकता है ? अथवा योग होने पर भी उससे कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है ? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि प्रस्तरखण्डादिमें भी मट्टी पानी गर्मी और हवाका योग देखा जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि पत्थरके टुकड़ोंके समान कभी सहकारियोंका योग पाकर भी बीज से अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये।

१. प्रसङ्गात् इति पाठः समुचितः ।

एवमपि स्यात्, को दोषः इति चेत्, न तावदिदमुपलब्धम्। आशङ्क्यत इति चेत् न, तत्समवधाने सत्यपि अकरणवत् तद्विरहेऽप्याशङ्क्येत। आशङ्कतामिति चेत्, तर्हि बीजविरहेऽप्याशङ्क्येत। तथा च सति साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः।

स्यादेतत्, न बीजादीनां परस्परसमवधानवतामेव कार्यकरणमङ्गीकृत्याशङ्क्यते येन समवधाननियमात् सर्वेषामेव तज्जातीयानामेकरसतानिश्चयः स्यात्, नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिमङ्गी-

---

"ऐसा भी रहे, हानि क्या है?" यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा कहीं देखा नहीं गया है। यदि कहो, "ऐसी संभावना की जाती है" तो ठीक नहीं है। क्योंकि सहकारियोंके योगमें भी जैसे नहीं करने की संभावना करते हो, वैसे सहकारियोंके अभावमें करनेकी भी संभावना की जानी चाहिये। यदि कहो "ऐसी भी संभावना की जा सकती है" तो बीजके बिना भी कार्य होनेकी संभावना की जानी चाहिये। ऐसी दशामें अंकुर पैदा करनेके लिये नियमसे बीजकी ओर प्रवृत्ति नहीं होगी। तब तो अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा आप कार्यकारणभावका अच्छा निश्चय करेंगे। अर्थात् विपरीत संभावनाओंके कारण कहीं भी कार्यकारणभावका निश्चय नहीं होगा और नियमित प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार संसारकी सब चेष्टायें अव्यवस्थित हो जायेंगी।

"अस्तु, कुर्वद्रूपताकी अपेक्षा किये बिना बीज-मट्टी-पानी आदि कारण पारस्परिक सहयोगको पाकर ही कार्य करते हैं—यह मानता हुआ मैं क्षणिकत्वका आपादन नहीं करता, जिससे अंकुर करनेमें सहकारियोंके सन्निधानका नियम होनेके कारण एक ही जातिके कुशूलस्थ और क्षेत्रस्थ सभी बीजोंमें समान स्वभाव (अंकुर सामर्थ्य) का होना निश्चित हो सके। एवं जहाँ कहीं अंकुर-समर्थ बीजक्षणकी उत्पत्ति मानकर भी मैं क्षणिकत्वसिद्धि नहीं करना चाहता, जिससे सहकारिहीनताकी दशामें भी कभी कार्य करनेकी संभावनामें कार्यकारणका परस्पर ग्रहण किये गये अन्वय-व्यतिरेक नियमका भङ्ग हो जाय, किन्तु—

कृत्य येन विकलेभ्योऽपि कदाचित् कार्यजन्मसंभावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः[1] स्यात्। किन्नाम बीजादिषु समवहिते-ष्ववान्तरजातिविशेषमाश्रित्यापि कार्यजन्म सम्भाव्यत इति।

न, दृष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्

एकत्र जुटे हुए बीजादिकोंमें अवान्तर जातिविशेष (कुर्वद्रूपत्व) का आश्रय करके ही कार्योत्पत्ति संभव है—ऐसा मानकर ही मैं क्षणिकत्वकी सिद्धि करना चाहता हूँ। इसलिये हमारे और आपके बीच मुख्यतया विवादका विषय यही है कि अंकुर करनेवाले क्षेत्रस्थबीजमें कुर्वद्रूपत्व-नामकी जाति रहती है या नहीं? जो कि अंकुर न करनेवाले कुशूलस्थ बीजमें न रहती हो। इस विवादमें कुशूलस्थ बीजसे क्षेत्रस्थ बीजको पृथक् कर देनेवाली उक्त जातिके (कुर्वद्रूपत्व) सिद्ध हो जानेपर मेरा क्षणिकवाद स्वतः सिद्ध हो जाता है।"

पर इस प्रकारसे कुर्वद्रूपत्व-जातिका मानना और उससे क्षणिकत्वकी सिद्धि करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि खेतमें रहनेकी दशामें वह बीज सहकारियोंके सहित देखा गया है, बखारमें रहनेकी दशामें वही बीज सहकारियोंसे रहित देखा गया है, इसीसे अंकुर करना और न करना दोनों ही बन जाते हैं। अतः कुर्वद्रूपत्वनामकी नयी जातिकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि बीजत्व-जातिको अंकुरका निमित्त माननेमें लाघव है, जो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसके विपरीत अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) कुर्वद्रूपत्व-जातिकी कल्पना करनेमें गौरव दोष है।

दूसरा दोष यह है कि इन्द्रियादि अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) वस्तुओंका विलोप हो जायगा। क्योंकि तुम्हारे मतानुसार बाहरी आलोक आदि कुर्वद्रूप ही वस्तुओंके साक्षात्कारके प्रति कारण हो जायेंगे और इन्द्रियाँ अकारण हो जायेंगी।

तीसरा दोष यह है कि कुर्वद्रूपत्वमें बीजत्वका संग्राहकत्व या प्रति-क्षेपकत्वरूप विकल्प नहीं बन सकता है, क्योंकि कुर्वद्रूपत्व-जाति बीजत्व-

---

१. प्रत्यक्षानुपलब्धिविरोध इति शं० मि० सम्मतः पाठः

कल्पनागौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात् अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात् विकल्पानुपपत्तेः विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्चेति ।

तथाहि उत्पत्तेरारभ्य मुद्गरप्रहारपर्यन्तं घटस्तावत् जात्यन्तरानाक्रान्त एवानुभूयमानः क्रमवत्सहकारिवैचित्र्यात् कार्यकोटीः[1] सरूपा विरूपाः करोति। तत्र एतावतैव सर्वस्मिन् समञ्जसे अनुपलभ्यमानजातिकोटिकल्पना[2] केन प्रमाणेन केन वोपयोगेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्[3] । यो यदर्थं कल्प्यते तस्यान्यथासिद्धिरेव तस्याभाव इति भवानेव आह इति ।

जातिकी संग्राहिका नहीं हो सकती है, जैसे कि शिंशपात्व जाति वृक्षत्व-जातिकी संग्राहिका होती है। एवं कुर्वद्रूपत्व-जाति बीजत्वकी प्रतिक्षेपिका भी नहीं हो सकती है, जैसे कि गोत्वजाति अश्वत्वकी प्रतिक्षेपिका होती है।

तुम्हारे कथन के विरुद्ध चौथा आक्षेप यह है कि बीजविशेष (कुर्वद्रूपबीज) अंकुरविशेष के प्रति कारण है, इससे अंकुरसामान्यके प्रति बीजसामान्यका कारण होना खण्डित नहीं होता है। क्योंकि जैसे विशेषका कारण विशेष होता है, वैसे सामान्य भी सामान्यका कारण होता है।

उपर्युक्त मेरे कथनमें उपपत्ति यह है कि घट अपनी उत्पत्तिसे लेकर मुद्गरप्रहार तक अर्थात् विनाशपर्यन्त घटत्वके अतिरिक्त कुर्वद्रूपत्व आदि जातियोंसे अनाक्रान्त ही अनुभव में आता हुआ क्रमशः प्राप्त सहकारियों की विचित्रताके कारण ही सरूप या विरूप विविध कार्योंको करता है। अतः जब इतनेसे ही सब कुछ बन जाता है, तब अनुभवमें नहीं आनेवाली कुर्वद्रूपत्वजाति की कल्पना किस प्रमाणके आधार पर या किस प्रयोजनसे की जाय, जिससे कल्पनागौरवप्रसङ्गरूप दोष

---

१. कर्मकोटीः—२ पु० पा०

२. कल्पनं—१ पु० पा०

३. न सिद्ध्येत्—२ पु० पा०

दृष्टं च जातिभेदं तिरस्कृत्य स्वभावभेदकल्पनयैव कार्योत्पत्तौ[1] सहकारिणोऽपि दृष्टत्वात् कथञ्चित् स्वीक्रियन्ते, अतीन्द्रियेन्द्रियादिकल्पना तु विलीयेत, मानाभावात् विकल्पानुपपत्तेश्च ।

स खलु जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको[2] वा स्यात् तत्प्रतिक्षेपको वा । आद्ये कुशूलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपत्वम्,[3] द्वितीये त्वभिमतस्यापि शालेः कथं तद्रूपत्वम् । एवं शालित्वमपि

न हो । अर्थात् प्रमाण और प्रयोजनके अभावमें कुर्वद्रूपत्व-जाति माननेपर कल्पनागौरवप्रसङ्गरूप दोष होगा ही । आपहीका कहना है कि "जिस प्रयोजनसे जिस वस्तुकी कल्पना की जाती है, उस प्रयोजनकी प्रकारान्तरसे सिद्धि ही उस वस्तु के अभावमें प्रमाण है ।"

एवं प्रत्यक्षसिद्ध बीजत्व-जातिका तिरस्कार करके कुर्वद्रूपत्व-जातिकी कल्पनासे ही अंकुरादि कार्यकी उत्पत्ति माननेमें सहकारियोंको भी अंकुरादि कार्यके प्रति कारण मानना निरर्थक हो जायगा । यद्यपि प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण सहकारी भी कारणके रूपमें किसी तरह माने जा सकते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष इन्द्रियादिकी कल्पना तो प्रमाण न होने से सर्वथा विलीन हो जायगी । क्योंकि तुम्हारे मतानुसार आलोक (प्रकाश) गोलकादि गत कुर्वद्रूपत्वसे ही रूप-रसादि ज्ञान हो जायगा और इन्द्रियाँ अनावश्यक हो जायेंगी ।

अग्रिम विकल्प भी कुर्वद्रूपत्व-जातिमें नहीं बन सकता है । क्योंकि वह बीजगत जातिविशेष (कुर्वद्रूपत्व) शालित्वका संग्राहक है ? अथवा उसका प्रतिक्षेपक (विरोधी) है ? यदि प्रथम पक्ष मानो तो बखारमें रहनेवाला बीज भी तो शालि ही है, फिर उसमें भी क्यों नहीं कुर्वद्रूपत्व मानते हो ? यदि द्वितीय पक्ष कहो तो तुम्हारे अभिमत क्षेत्रस्थ शालिमें भी कुर्वद्रूपत्व कैसे रह सकता है ?

---

१. कार्योपपत्तौ—१ पु० पा०

२. शालित्वस्य संग्राहकः— २ पु० पा०

३. तद्रूपवत्त्वम्—२ पु० पा०

तस्य संग्राहकं प्रतिक्षेपकं वा। आद्येऽशालेरतत्त्वप्रसङ्गः[1]। द्वितीये तु शालेरेवातत्त्वप्रसङ्गः।

न च नोभयमपीति वाच्यम्, विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात्। व्यक्तिभेदेन संग्रहप्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविति[2] चेत्, विलीनमिदानीं तदतज्जातीयताविरोधेन परिदृश्यमानकतिपयव्यक्तिप्रतिक्षेपेऽपि मिथः क्वचित् तुरगविहगयोरपि सम्भेदसम्भवात्।

यश्च यस्य जातिविशेषः, स चेत् तं व्यभिचरेद् व्यभिचरेदपि शिंशपा पादपमविशेषात्, तथा च गतं स्वभावहेतुना। विपर्यये

इसी प्रकार शालित्व-जाति भी कुर्वद्रूपत्व-जातिका संग्राहक है? अथवा उसका प्रतिक्षेपक अर्थात् विरोधी है? प्रथम पक्षमें शालिसे भिन्न मसूर आदिके बीजमें कुर्वद्रूपत्वका अभाव हो जायगा।

यह भी नहीं कह सकते हो कि "कुर्वद्रूपत्व और शालित्व परस्पर न संग्राहक हैं और न विरोधी ही हैं, क्योंकि उनमें या तो परस्पर विरोध मानना होगा अथवा अविरोध मानना होगा। इन दोनों प्रकारोंसे अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार हो नहीं सकता है।

यदि कहो कि "व्यक्तिके भेदसे संग्रह और प्रतिक्षेप दोनों बन सकते हैं। अर्थात् खेतमें रहने वाले शालिमें शालित्व और कुर्वद्रूपत्व दोनों साथ रहते हुए परस्परका संग्राहक भी हो सकते हैं और कुशूलस्थ शालिमें वही शालित्व-जाति कुर्वद्रूपत्वका प्रतिक्षेपक भी हो सकती है तथा अकेले ही रह सकती है" तब तो एक जातिका अन्य जातिके साथ विरोध ही लुप्त हो जायगा। क्योंकि प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले कुछ घोड़ों और पक्षियोंमें परस्पर विरोध रहते हुए भी कहीं अश्वत्व और पक्षित्व जातिका मिश्रित होकर भी रहना संभव हो जायगा।

एवं, जो जिसकी अवान्तर जाति है वह यदि उसे छोड़कर रहे—

---

१. अतत्त्वापत्तिः—२ पु० पा० शं० मि० सम्मतः
२. संग्रहप्रतिक्षेपावविरुद्धाविति—१ पु० पा०

बाधकं विशेष इति चेत् न, तस्येहापि सत्त्वात्[1], तदभावे स्वभाव-त्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा किं बाधकानुसरणव्यसनेनेति। विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च। तथाहि कार्यगतमङ्कुरत्वं प्रति बीजत्वस्याप्रयोजकत्वेऽबीजादपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः।

बीजस्य विशेषः कथमबीजे भविष्यतीति चेत् तर्हि शालेर्वि-

जैसे कि तुम शालित्वकी अवान्तरभूत कुर्वद्रूपत्व-जातिको शालिके अलावे क्षेत्रस्थ यवादिमें भी मानते हो—तो उसीके समान शिंशपात्व भी वृक्ष को छोड़ अवृक्षमें अर्थात् पत्थर आदिमें भी रहे, क्योंकि वह भी वृक्षत्वकी अवान्तरजाति है। ऐसी दशामें "यह वृक्ष है, क्योंकि शिंशपा है" इस अनुमानमें शिंशपात्वधर्म वृक्षत्वका हेतु नहीं बन सकता है।

"यदि शिंशपात्व वृक्षको छोड़कर रहे तो अपनेको भी छोड़ देवे—इसप्रकारका विपक्षमें बाधक होनेसे शिंशपात्व वृक्षका परित्याग नहीं कर सकता है तथा वृक्ष होनेमें शिंशपात्व हेतु बन सकता है" इस प्रकार-की विशेषता दिखाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस प्रकारका विपक्ष-बाधक शालित्व और कुर्वद्रूपत्वके सम्बन्धमें भी दिखाया जा सकता है। क्योंकि जैसे शिंशपा वृक्षत्व स्वभावकी है, वैसे ही कुर्वद्रूप भी शालित्व-स्वभावका है। इसलिये उसीके समान कुर्वद्रूपत्व भी यदि शालिको छोड़कर गेहूँ आदिमें रहे तो स्वयं वह कुर्वद्रूप ही न रह जाय। इस प्रकारका विपक्ष में बाधक यहाँ भी हो ही सकता है। यदि विपक्षमें कोई बाधक न हो तो कुर्वद्रूप में शालि-स्वभावत्व ही अनुपपन्न हो जायगा। यदि उस स्थितिमें भी शालिस्वभावत्व मानो तो कहीं भी विपक्षमें बाधकका दिखाना व्यर्थ हो जायगा।

एवं विशेष विशेषके ही प्रति प्रयोजक होता है, सामान्य के प्रति तो सामान्य प्रयोजक होता है। क्योंकि सामान्यरूपसे अंकुरकार्यके प्रति यदि बीजत्व प्रयोजक न हो तो जो बीज नहीं है—ऐसे पत्थर आदिसे भी अंकुरकी उत्पत्ति होनी चाहिये।

---

१. संभवात्—२ पु० पा०

शेषः कथमशालौ स्यादिति[1] अशालेरङ्कुरानुत्पत्तिप्रसङ्गः। अशालिवद्बीजेऽप्यसौ भवतु विशेषः, तथापि बीजत्वैकार्थसमवेत एवासावङ्कुरं प्रति प्रयोजक इति चेत् न, शालित्वव्यभिचारे शालित्वैकार्थसमवायवदबीजत्वव्यभिचारे बीजत्वैकार्थसमवायेनापि नियन्तुमशक्यत्वादविशेषात्।

तस्माद् यो यथाभूतो यथाभूतमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति, तस्य तथाभूतस्यैव तथाभूते सामर्थ्यम्। तद्विशेषास्तु कार्यविशेषं प्रयोजयन्ति शाल्यादिवदिति युक्तमुत्पश्यामः।

यदि यह कहो कि "बीजत्व-जाति तो अंकुरके प्रति प्रयोजक नहीं है किन्तु उसका अवस्थाविशेष (बैजिककुर्वद्रूपता) ही मेरे मतसे अंकुर-सामान्यका प्रयोजक है, तथा वह बीजसम्बन्धी कुर्वद्रूपता बीजातिरिक्त पत्थर आदिमें कैसे होगी कि पत्थरसे अंकुर हो" तब तो उसीके समान शालिका विशेषभूत कुर्वद्रूपत्व अशालिमें कैसे होगा? इस तरह शालिसे भिन्न गेहूँ आदिसे अंकुर नहीं पैदा होना चाहिये। क्योंकि शालिगत विशेषभूत कुर्वद्रूपत्व गेहूँमें रहेगा नहीं।

यदि कहो कि—शालिसे भिन्न गेहूँके समान ही बीजसे भिन्न पत्थर आदि में भी कुर्वद्रूपत्व नामका वह विशेष रहे, फिर भी पत्थरसे अंकुर की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आ सकता है, क्योंकि बीजत्वधर्मके साथ एक स्थानपर (अर्थात् बीजमें) समवेत जो विशेष (बीजमें रहने वाला ही विशेष ऐसा होगा न कि पत्थरमें रहने वाला) वही अंकुरके प्रति-कारण है। इसलिये पत्थरसे अंकुरका प्रसङ्ग नहीं हो सकता है-तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे शालिमें कुर्वद्रूपत्व-विशेषका रहना अशालिसे (गेहूँ आदिसे) अंकुर होनेमें बाधक नहीं हो सकता, वैसे ही बीजमें कुर्वद्रूपत्व-विशेषका रहना भी अबीजसे (पत्थरसे) अंकुर होनेको नहीं रोक सकता। क्योंकि दोनोंकी स्थिति समान है।

इस लिये जो जिस रूपमें होकर जैसे कार्यको अपने अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण कराता है, उस रूपमें ही उसकी वैसे कार्यके प्रति

---

१. अशालौ भविष्यतीत्यशाले—१ पु० पा०

कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इतिचेत्, तदुत्पत्ति-निश्चयहेतोः[1] प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकस्येति ब्रूमः ।

अथ न्यायेन विना न ते परितोषः, शृणु तमपि । तदा यदङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं न तद्बीजजातीयं यथा शिलाशकलम्, अङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं च कुशूलनिहितं बीजमभ्युपेतं परैरिति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः ।

सामर्थ्य रहती है। उसके विशेष तो कार्यको विशेषताके प्रति प्रयोजक होते हैं। जैसे सामान्यरूपसे बीज सामान्यरूपसे अंकुरके प्रति कारण होता है। किन्तु उसके विशेषभूत शालि गेहूँ आदि तो विशेष रूप से खास-खास अंकुरके प्रति कारण होते हैं—यह हमारी कल्पना ही ठीक है।

यदि यह पूछो कि "बीजजातिका होना ही अंकुरका प्रयोजक है—यह किस प्रमाणके बलसे जाना जाय" तो हम यही कहेंगे कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकके बलसे। क्योंकि बीजके रहते अंकुर होता है, और नहीं रहने पर नहीं होता—इस प्रकारके अन्वय और व्यतिरेक ही बीजसे अंकुरोत्पत्ति होनेका निश्चय कराते हैं।

यदि तुझे अनुमानके विना सन्तोष न हो तो सुनो उसे भी। 'जो अंकुरके प्रति प्रयोजक नहीं है, वह बीज भी नहीं है, जैसे शिलाखण्ड'। इसलिये बीजजातिको यदि अंकुरके प्रति प्रयोजक न मानो तो तुम्हारे मतानुसार कुशूलस्थ बीज बीज न होगा। किन्तु बौद्धाचार्यों ने तो अंकुरके प्रति अप्रयोजक भी कुशूलस्थितको बीज माना है। इस प्रकार बीजत्वका व्यापक जो अंकुरप्रयोजकत्व है, उसका तुम्हारे मतसे कुशूलस्थित बीजमें अभाव है। बस तुम्हारे प्रति हमारी ओरसे दिये जाने वाले प्रसङ्गका यही आपादक बन जाता है। वह प्रसङ्ग यह है—"यदि कुशूलस्थ पदार्थ अंकुरका प्रयोजक नहीं होता तो बीज नहीं होता।

---

१. तत उत्पत्तिस्तदुत्पत्तिः = कार्यकारणभावः, तन्निश्चयकारणस्येत्यर्थः ।

विपर्ययेऽपि किं बाधकमिति चेत्, अङ्कुरस्य जातिप्रतिनियमाकस्मिकत्वप्रसङ्गः[1] इत्युक्तम् ।

बीजत्वं तस्य प्रत्यक्षसिद्धमशक्यापह्नवमिति चेदस्तु तर्हि विपर्ययः । यद्बीजं तदङ्कुरं प्रति प्रयोजकं यथान्त्यसामग्रीमध्यमध्यासीनं बीजं, बीजं चेदं विवादास्पदमिति स्वभावहेतुः[2] ।

अङ्कुरस्य च जातिप्रतिनियमो न तावन्निर्निमित्तः, सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात् । नाप्यन्यनिमित्तः[3], तथाभूतस्य तस्याभावात् ।

यदि कहो कि "जो अंकुर न भी करे, उसके भी बीज होनेमें बाधक ही क्या है ?" तो मैं कह चुका हूँ कि तब अंकुरमें कार्यत्वका नियम अहेतुक हो जायगा, अर्थात् अंकुर कार्य नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि बीजजातिसे उसकी उत्पत्ति मानते नहीं हो और दूसरे किसीसे वह पैदा होता नहीं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह कार्य ही नहीं है। क्योंकि कार्य वही है जो किसी कारणसे पैदा हो।

यदि यह कहो कि "कुशूलमें स्थित धान्यादि वस्तुका बीजत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः अंकुर के प्रति प्रयोजक नहीं होनेपर भी उक्त प्रसङ्गद्वारा उसके बीजत्वका अपलाप नहीं किया जा सकता, तब तो कुशूलस्थबीजमें अंकुराप्रयोजकत्वका विपर्यय अर्थात् अंकुरप्रयोजकत्व ही सिद्ध हो जायगा वह यों होगा—"जो बीज है, वह अंकुरके प्रति प्रयोजक है, जैसे अंकुर जन्मानेवाली अन्तिम सामग्रीके मध्य विराजमान बीज; कुशूलस्थ भी बीज ही है, इसे तुम भी अभी मान चुके हो, इसलिये यह भी अंकुरके प्रति प्रयोजक है" इस प्रकारका अनुमापक हेतु होगा।

एवं अंकुरमें कार्यजातीयत्वका नियमितरूपसे रहना भी अहेतुक नहीं है। क्योंकि अंकुरके कार्य होनेमें यदि कोई निमित्त न हो तो कार्य-अकार्य सबको (नित्य वस्तुको भी) अंकुर कहने लगेंगे। यह भी

---

१. जातिप्रतिनियमः = कार्यजातीयत्वम् । आकस्मिकत्वं = निर्निमित्तकत्वम् ।
२. स्वभावहेतुः = अनुमापको हेतुः । कुशूलस्थबीजम् अङ्कुरप्रयोजकम् बीजत्वात् क्षेत्रपतितबीजवत् इत्यनुमानाकारः ।
३. अन्यनिमित्तः = कुर्वद्रूपत्वनिमित्तः ।

सेयं निमित्तवत्ता विपक्षाद्[1] व्यावर्तमाना[2] स्वव्याप्यमादाय बीजप्रयोजकतायामेव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः।

अथवा कृतमङ्कुरग्रहेण, बीजस्वभावत्वं क्वचित् कार्ये प्रयोजकं न वा ? न चेत्, न तत्स्वभावं बीजं, तेन रूपेण क्वचिदप्यनुपयोगात्। एवं च प्रत्यक्षसिद्धे बीजस्वभावत्वं नास्ति सर्वप्रमाणागोचरस्तु विशेषोऽस्तीति विशुद्धा बुद्धिः।

नहीं कह सकते हो कि "अंकुरके कार्य होनेमें निमित्त उसका बीज जातिसे पैदा होना नहीं है, किन्तु कुर्वद्रूपसे पैदा होना है" क्योंकि कुर्वद्रूपत्व अप्रामाणिक है।

इसलिए अंकुरत्व-जातिका केवल कार्यमें रहना आकस्मिक नहीं है, किन्तु किसी निमित्तवश है। उस निमित्तको ढूँढ़ते हुए हम बीजत्वको ही उसका निमित्त निश्चित करते हैं। क्योंकि कुर्वद्रूपत्व तो अप्रामाणिक है। शालित्वको निमित्त माननेमें गोधूमका अंकुर छूट जाता है और गोधूमत्वको निमित्त माननेपर शालिका अंकुर छूट जाता है। अतः सामान्यरूपसे बीजत्व ही निश्चित होता है। इस प्रकार "जो जो बीज है, वह वह अंकुरप्रयोजक है" यह हमारी व्याप्ति भी सिद्ध हो जाती है। तथा इस व्याप्तिके बलसे कुशूलस्थ बीजमें भी अंकुरप्रयोजकत्व सिद्ध हो जाता है।

अथवा अङ्कुर की बात रहने दो और यह बताओ कि बीजका बीजस्वभावत्व किसी कार्यमें प्रयोजक है कि नहीं ? यदि नहीं, तो वह बीज बीजस्वभावका नहीं रहेगा। अर्थात् बीजका बीजत्व असत् हो

---

१. विपक्षात् = निर्निमित्तात् इत्यर्थः। स्वव्याप्यं = कार्यजातीयत्वमादायेत्यर्थः। बीजप्रयोजकतायामित्यत्र बहुव्रीहिः। तेन बीजं प्रयोजकं यस्य अङ्कुरगतकार्यत्वस्य, तस्य भावो बीजप्रयोजकता तस्यामित्यर्थः। बीजप्रयोज्यतायामिति क्वचित् पाठः। अस्मिन् पाठे अङ्कुरगतकार्यत्वे बीजप्रयोज्यता सुगमैव। प्रतिबन्धसिद्धिः = व्याप्तिसिद्धिः। तदाकारश्च यद् यद् बीजं तत्सर्वमङ्कुरप्रयोजकमिति।

२. निवर्तमाना—१ पु० पा०।

क्वचिदुपयोगेऽप्येकस्य तेन रूपेण सर्वेषामविशेषस्ताद्रूप्यात्। तथा च कथं किञ्चिदेव बीजं स्वकार्यं कुर्यात् नापराणि।

न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम्, अबीजात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि बीजमात्रम्, अङ्कुरकारिणोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यङ्कुराद्यन्यतममात्रम्, प्रागपि[1] तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

जायगा। क्योंकि बीजत्वरूपसे वह कहीं उपयोगी है नहीं। इस तरह तो—प्रत्यक्ष-सिद्ध बीजस्वभावत्व असत् है और सभी प्रमाणोंसे असिद्ध जो कुर्वद्रूपत्व वह सही है—यह तुम्हारी बहुत ही अच्छी सूझ है।

यदि एक ही बीज बीजत्वरूपसे कहीं उपयोगी हो तो उस रूपसे सभी (कुशूलस्थ आदि) बीजोंका उपयोग सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वह बीज-स्वभावत्व सभीमें है। तब कैसे कुछ ही बीज अपना कार्य करें और दूसरे नहीं ?

वस्तुमात्र तो बीजस्वभावका कार्य हो नहीं सकती, क्योंकि वैसी दशामें विना बीजके किसीकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् विना बीजके घट पट आदि कैसे बन सकेंगे ?

बीजमात्र भी बीजस्वभावका कार्य नहीं हो सकता है। अर्थात् बीज स्वभावसे बीज ही पैदा होते हैं–यह भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि तब अङ्कुर जन्माने वाले बीजसे भी अङ्कुर न होकर बीज ही पैदा होने चाहिये।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि—"बीजस्वभावका कार्य कभी बीज कभी अङ्कुर और कभी बीजका अनुभव है" क्योंकि तब उसी बीजसे पहले अङ्कुर की और पीछे बीजकी उत्पत्ति होनी चाहिये। अर्थात् वही बीज-जाति कुशूलावस्थामें बीज पैदा करती है और क्षेत्रावस्थामें अङ्कुर पैदा करती है तथा कभी उससे अनुभवरूपी कार्य पैदा होता है, ऐसा मानने पर पहले ही अर्थात् कुशूलावस्थामें ही अङ्कुर कर देना चाहिये एवं क्षेत्रावस्थामें बीज करना चाहिये। क्योंकि बीजस्वभाव का कार्य आपने अंकुर बीज आदि सब बताया है। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है, अतः आपका उक्त नियम असङ्गत है।

---

१. प्रागपि = सहकारिसमवधानादिति शेषः।

यदा यदुत्पन्नं सत् यत्कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य प्रयोजकत्वमिति चेत्, तत् किमवान्तर-जातिभेदमुपादाय ? बीजस्वभावेनैव वा ? आद्ये स एव जाति-भेदस्तत्र प्रयोजकः, किमायातं बीजत्वस्य ? द्वितीये तु समान-शीलानामपि[1] सहकारिवैकल्यादकरणमित्यायातम्, तत्तत्सहकारि-साहित्ये[2] सति तत्तत्कार्यं प्रति प्रयोजकस्य बीजस्वभावस्य[3] सर्वसाधारणत्वादिति ।

अत्रापि प्रयोगः—यद्येन रूपेणार्थक्रियासु नोपयुज्यते, न तत् तद्रूपम् , यथा बीजं कुञ्जरत्वेन किञ्चिदप्यकुर्वन्न कुञ्जरस्वरूपम् ।

इसका उत्तर यदि यह कहो कि "जो कारण उत्पन्न होकर जब जिस कार्यके अनुकूल सहकारियोंके बीच रहता है, तब उसी कार्यके प्रति वह प्रयोजक होता है, तो बताओ, वह बीज किसी अवान्तर जातिविशेष-को लेकर उस कार्यके प्रति प्रयोजक है ? अथवा बीजस्वभावसे ? प्रथम पक्षमें वह अवान्तर जातिविशेष ही उसमें प्रयोजक हुआ, बीजत्वका क्या हुआ ? अर्थात् बीजस्वभावत्व तो अनुपयोगी ही रह गया । द्वितीय पक्षमें तो यह सिद्ध हुआ कि बीजस्वभावका होता हुआ भी कारण सहकारियोंके अभावमें कुछ नहीं करता है । क्योंकि उस उस सहकारीका योग होनेपर उस उस कार्य का प्रयोजक जो बीजस्वभावत्व, वह सभी बीजोंमें समान है । तात्पर्य यह है कि अंकुरका प्रयोजक बीजस्वभावत्व है, जो कुशूलस्थ बीजमें भी है । किन्तु मट्टी जलादि सहकारीके अभावमें वह अंकुर नहीं पैदा करता है और वही क्षेत्रमें पहुँचकर मट्टी और नमी के संयोगसे अंकुर पैदा कर देता है ।

इसमें भी अनुमानका प्रयोग हो सकता है । जैसे—"जो जिस रूपसे किसी प्रयोजनसिद्धिमें उपयोगी नहीं होता है । वह तद्रूप नहीं

---

१. समानशीलानाम् = बीजस्वभावत्वेन कारणानामित्यर्थः ।

२. सहकारिसाकल्ये—१ पु० पा०

३. बीजस्वाभाव्यस्य—१ पु० पा०

तथा च शाल्यादयः सामग्रीप्रविष्टा बीजत्वेनार्थक्रियासु नोप-युज्यन्त इति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः, तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्तत्वात्, अन्यथातिप्रसङ्गात् ।

तद्रूपत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादशक्यापह्नवमिति चेत्, अस्तु तर्हि विपर्ययः-यद्यद्रूपं तत् तेन रूपेणार्थक्रियासूपयुज्यते यथा स्वभावेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः, बीजजातीयाश्चैते[1] कुशूलस्थादय

होता है। जिस प्रकार बीज कुञ्जरस्वरूपसे कुछ भी नहीं करता, अतः वह कुञ्जरस्वरूप नहीं है। उसी प्रकार सामग्री सहित भी धान आदिको बीजत्वरूपसे तुम कहीं उपयोगी नहीं मानते हो। ऐसी स्थिति में बीजत्वस्वरूपका व्यापक जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसकी अनुपलब्धि हो जाती है, जो कि प्रसङ्गमें हेतु बन जाती है।

वह प्रसङ्ग यों होगा—सामग्रीयुक्त बीजमें यदि बीजस्वरूपत्व होता तो वह बीजत्वरूपसे अर्थ—(प्रयोजन) किया करता। तुम्हारे मतानु-सार तो वह बीजत्वरूपसे अर्थक्रियामें उपयोगी नहीं है। इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यापकके अभावमें व्याप्यभूत बीजरूपत्वका अभाव प्रसक्त हो जाता है। क्योंकि जो तद्रूपवाला है, वह उस रूपसे अर्थ-क्रियाके प्रति उपयोगी भी है। ऐसा न माननेपर बीज भी कुञ्जरजातीय होने लगेगा। भले ही वह कुञ्जररूपसे कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करता है।

यदि कहो कि "प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण कुशूलस्थको बीजजातिसे अलग नहीं किया जा सकता"। तो प्रसङ्गकी जगह विपर्यय ही रहे। वह यों होगा—जो जिस रूपका होता है, वह उस रूपसे अर्थक्रिया (प्रयोजनसिद्धि) में उपयोगी होता है, जैसे सामग्रीमध्यवर्ती क्षेत्रस्थ बीज तुम्हारे मतानुसार कुर्वद्रूपत्वसे युक्त है और वह उस रूपसे उपयोगी भी है। उसी प्रकार कुशूलस्थ भी बीजरूप है, अतः बीजरूपसे उसे उपयोगी भी मानना पड़ेगा। इस तरह उस रूपका होना ही यहां उस रूपसे उपयोगी होनेमें हेतु है। क्योंकि तद्रूपत्वमात्र ही उपयोगिताका

---

१. बीजरूपाश्चैते—२ पु० पा०

इति स्वभावहेतुः, तद्रूपत्वमात्रानुबन्धित्वाद् योग्यतायाः । ततश्चास्ति किञ्चित् कार्यं यत्र बीजत्वेन बीजमुपयुज्यत इति।

बीजानुभव एवासाधारणं कार्यं यत्र बीजत्वं प्रयोजकं, तच्च सर्वस्मादेव बीजाद्भवतीति किमनुपपन्नम् इति चेत्, न, यौगिकतदनुभवस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः । लौकिक इति चेत, न, सत्यमेतत, न त्विदमवश्यं सर्वस्माद्बीजाद्भवति इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात् असार्वत्रिकत्वाच्च । ततश्च योग्यमपि सहकार्यसन्निधानान्न[1] करोतीत्यर्थसिद्धम् ।

कार्यान्तरमेवातीन्द्रियं सर्वबीजाव्यभिचारि भविष्यतीति चेत, तन्न तावदुपादेयम्, अमूर्तस्य मूर्तानुपादेयत्वात, परिदृश्यमान-

---

व्याप्य है। इसलिये कोई कार्य अवश्य है, जिसमें बीजत्वरूपसे बीज उपयोगी है।

यदि कहो कि 'बीजका अनुभव ही वह विशेष कार्य है, जिसमें बीजत्व प्रयोजक है, क्योंकि वह सभी बीजोंमें होता है, ऐसा माननेमें क्या हानि है" ? तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि योगबलसे होने वाला अनुभव बीजके विना भी हो जाता है। यदि "अनुभवका मानी लौकिक अर्थात् हमलोगोंका अनुभव लो, जो बीजकी उपस्थितिमें ही हो सकता है" तो यह ठीक है, किन्तु यह लौकिक अनुभव भी तो सभी बीजसे अवश्य नहीं होता। क्योंकि अनुभवके लिये बीजके साथ इन्द्रियका संयोग जरूरी है और वह संयोग सदा सब बीजोंसे है नहीं। अतः जब जिस बीजके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हुआ, उस बीजसे तो अनुभव भी पैदा नहीं हुआ। इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि कार्यके योग्य भी कारण सहकारीके अभावमें कार्य नहीं करता है। इससे भी बीजका स्थिरत्व ही सिद्ध होता है न कि क्षणिकत्व।

यदि "सब बीजसे पैदा होने वाला कोई दूसरा ही कार्य होगा जो अतीन्द्रिय होगा" ऐसा कहो तो वह कार्य उपादेय (बीजका ही एक

---

१. सन्निधेर्न—२ पु० पा०

मूर्तघटिततया[1] मूर्तान्तरस्य तद्देशस्यानुपपत्तेः । नापि सहकार्यं, मिथः सहकारिणामव्यभिचारानुपपत्तेः ।

अपि चैवं सति प्रयोजकस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः, तद्गोचरस्तु न प्रयोजकः । दृश्यं च कार्यजातमदृश्येनैव स्वभावेन क्रियते, दृश्येन त्वदृश्यमेवेति, सोऽयं यो ध्रुवाणीत्यस्य विषयः ।

अथवा व्यतिरेकेण प्रयोगः—विवादाध्यासितं बीजं सहकारि

परिणाम) नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि यदि उस कार्यको अमूर्त मानो तो वह मूर्तिहीन कार्य मूर्तिमान बीजका परिणाम नहीं हो सकता है । यदि उसे मूर्त मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि उस बीजसे जहां तुम्हारे मतानुसार दृश्यमान मूर्त्तिधारी अग्रिम बीज पैदा होता है, उसी देशमें दूसरा मूर्त कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता है । कारण, एक ही स्थानपर दो मूर्त्त रह नहीं सकते ।

वह कार्य बीजका सहकार्य भी नहीं कहा जा सकता । अर्थात् "वह कार्य बीजका परिणामरूप तो नहीं है, परन्तु इस ढङ्गका कार्य है, जिसमें सहकारी सहित बीज निमित्त है" यह भी नहीं कह सकते हो क्योंकि बीजको सहकारियोंका योग सदा प्राप्त ही रहेगा—यह नियम नहीं है । इसलिये सहकारियोंकी अनुपस्थितिकी हालतमें वही बीज उस कार्यको नहीं भी करेगा । इस प्रकार भी बीजका स्थिरत्व ही सिद्ध होता है, न कि क्षणिकत्व ।

इसके अतिरिक्त तुम्हारे कथनानुसार कार्यका प्रयोजक जो कुर्वद्रूपत्व-स्वभाव है, वह कारणताका निश्चय कराने वाले अन्वय-व्यतिरेक का विषय नहीं है, और जो बीजत्व अन्वय-व्यतिरेकका विषय है, वह तो प्रयोजक नहीं है । तथा जो दृश्य-कार्य अङ्कुर है, उसे अदृश्य कुर्वद्रूपत्वसे ही किया मानते हो और दृश्य बीजत्वसे तो अतीन्द्रिय ही कार्यकी उत्पत्ति मानते हो । इस तरह तो यह—"योऽध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते । ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि" इस उक्तिका विषय बन गया ।

१. मूर्तप्रतिहततया—१ पु० पा०

वैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादि कार्यवैकल्यं, तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभूतबीज-जातीयत्वात्। यत् पुनः सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिकार्य-वैकल्यं न भवति, न तदेवम्भूतबीजजातीयं, यथा शिला-शकलमिति।

न च किमुक्तसाध्यव्यावृत्तेरुक्तसाधनव्यावृत्तिरुदाहृतात्, किं वा परम्परयापि तथाविधै[1] प्रसवसामर्थ्यविरहादिति व्यतिरेक-सन्देह इति वाच्यम्, प्रागेव शङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति।

स्यादेतत्। मा भूत् सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्म-

अथवा व्यतिरेकी-अनुमानका प्रयोग किया जाता है। जैसे—"विवादका विषय कुशूलस्थ बीज सहकारियोंके अभावके कारण ही अङ्कुर आदि कार्य नहीं करता है। क्योंकि कार्यकारणभावनिश्चयका विषयीभूत जो क्षेत्रस्थ बीज है, उसी जातिका यह भी है। अर्थात् जिस बीजसे तुम भी अङ्कुरकी उत्पत्ति मानते हो, उसी बीजजातिका कुशूलस्थ बीज भी है। किन्तु जो सहकारीके कारण अङ्कुरादि कार्य नहीं करने वाला नहीं है, बल्कि हमेशा ही अङ्कुर करनेमें असमर्थ है, वह अङ्कुर जन्माने वाले क्षेत्रस्थ बीजकी जातिका भी नहीं है, जैसे शिलाखण्ड।

ऐसी आशंका नहीं कर सकते कि "शिलाखण्डमें जो तथाकथित बीज-जातीयत्वका अभाव है, क्या वह तथाकथित साध्यके ही नहीं रहनेके कारण है? या परम्परासे भी अंकुर न जन्मा सकनेके कारण है? अतः यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति भी सन्दिग्ध है।" क्योंकि पहले ही शङ्काका बीज मिटा दिया गया है। अर्थात् सभी बीज जब अंकुरके प्रति प्रयोजक सिद्ध किये जा चुके हैं, तब यह ठीक ही है कि कोई बीज यदि अंकुर नहीं करता है तो वह केवल सहकारीके न जुटनेके कारण ही। शिलाखण्ड तो हमेशा ही अंकुरमें असमर्थ है, इसलिये वह बीज-जातिसे भी पृथक् है।

अस्तु, "सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप विरुद्ध-धर्मोंका एक जगह

---

१. तथाभूत—१ पु० पा०

संसर्गः[1], अस्तु बीजत्वमेव प्रयोजकं, भवतु च सहकारिसमवधाने सति कर्तृस्वभावत्वं भावस्य, तथा च तदसन्निधानेऽकरणमप्युपद्यताम्। तथापि तज्जातीयमात्र एवेयं व्यवस्था न त्वेकस्यां व्यक्तौ, करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र दुर्वारत्वादिति चेत, न, विरोधस्वरूपानवधारणात्[2]।

स खलु धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यान्नित्यत्वानित्यत्ववत, धर्मिणि तदापादकत्वं वा शीतोष्णवत, तद्वत्ता वा दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

संसर्ग मत हो, अंकुरके प्रति प्रयोजक भी बीजत्वसामान्य ही होवे, सहकारियोंका योग होनेपर भाववस्तुका कर्तृत्व-स्वभाव भी रहे, तथा सहकारियोंके अभावमें न करना भी सही होवे, तो भी यह व्यवस्था बीजजातिमात्रके लिये ही हो सकती है, न कि एक व्यक्तिके लिये। क्योंकि आपके मतानुसार बखारमें रहनेसे लेकर खेतमें जाने तक जो एक बीज है, उसीमें करना और न करनारूप विरुद्ध धर्मोंका संसर्गरूप दोष प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे अनिवार्य है" ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि करण और अकरणमें किस प्रकारका विरोध है, इसीका निश्चय नहीं हो सकता है।

क्योंकि क्या वह विरोध करण और अकरणरूप धर्मोंका परस्परका अभावरूप होना है? जैसा कि नित्यत्वका अभावरूप अनित्यत्व और अनित्यत्व का अभावरूप नित्यत्व है, तथा वे परस्परमें विरोधी है। अथवा धर्मीमें परस्परके अभावका आक्षेप करनारूप विरोध है? जैसा कि शीतत्व जलमें रहता हुआ उसमें उष्णत्वाभावका आक्षेप कर देता है और उष्णत्व अग्निमें रहता हुआ उसमें शीतत्वाभाव का आक्षेप कर देता है। या एकमें रहते हुए भी परस्पर भेदरूप विरोध है? जैसा कि एक ही पुरुषमें दण्डित्व और कुण्डलित्व दोनों रहते हैं, पर दण्डित्व और कुण्डलित्व आपसमें एक दूसरे से भिन्न हैं।

---

१. धर्माध्यास—१ पु० पा०   २. अनवबोधात्—१ पु० पा०

न प्रथमः, निर्विशेषणस्यासिद्धत्वात्[1]। यावत्सत्त्वं किञ्चित्-करणात्, सविशेषणस्य तु विरोधसिद्धावपि अध्यासानुपपत्तेः। यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्याभावो नत्वन्यदा तत्करणस्य, न चैतयो[2]रेकधर्मिसमावेशमातिष्ठामहे।

न द्वितीयः, भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेः। व्यापारापरव्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणे कार्यभावाभावौ वेति।

अतिरेकसिद्धावपि स्वकाल एव स्वाभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावमाक्षिपेत् करणं, न त्वन्यदा, न हि यो यदा नास्ति स

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि करण और अकरण परस्परका अभावरूप भलेही होवें, पर बिना विशेषणके सामान्यतः अकरणत्व बीजमें असिद्ध है। क्योंकि जितने सत्पदार्थ हैं, सब अवश्य कुछ करते हैं। इसलिये बीजमें करण और अकरण एक कालमें कहां रहा कि विरोध हो।

यदा-तदारूप कालात्मक विशेषणके सहित करण-अकरणमें विरोध रहनेपर भी उनका एक जगह समावेश नहीं हो सकता है। क्योंकि जब जो नहीं करता है, तभी उसमें करणका अभाव है, न कि अन्य कालमें, अर्थात् करनेके समयमें भी। हम तो 'जब करना' और 'तभी न करना' इन दोनों विशेषणसहित विरुद्धधर्मोंका एक धर्मीमें समावेश मानते नहीं हैं।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि भाव और अभाव के अतिरिक्त करण और अकरण असिद्ध हैं। क्योंकि अन्तिम व्यापाररूप सहकारीका भाव ही करण है और उसका अभाव ही अकरण है। अथवा कार्य होना करण है और कार्य न होना अकरण है। अर्थात् करण और अकरण परस्पराभाव के आपादक तब होते यदि वे परस्पराभावके व्याप्य होते।

१. असिद्धेः—१ पु० पा०   २. न चानयोः—२ पु० पा०

तदा स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुमर्हतीति विरोध्यभावं वा आक्षेप्तुम्। तथा सति न कदापि तन्न स्यात् न वा कदापि तद्विरोधो भवेदिति "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इत्यायातम्, न वा विरोधः[1]।

नन्वेवं सति परिमाणभेदोऽपि कालभेदेन न विरुध्यते, तत्राप्येवं वक्तुं सुकरत्वात्, न, बाधकबलेन तत्र कालभेदस्य विवक्षितत्वात्। तथाहि नारब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरमारभ्यते

करण-अकरणको सहकारिभावाभावसे अतिरिक्त माननेपर भी, जैसे, घट अपने कालमें ही घटाभावका विरोध करता है, न कि घटाभावके कालमें, वैसे ही करण भी अपने कालमें ही स्वविरोधीभूत अकरणके अभावका आक्षेप कर सकता या अकरणका विरोध कर सकता है, न कि अकरणकाल में भी। ऐसा नहीं होता कि जो जब नहीं है, तभी वह अपने अभावका विरोध करता हो अथवा अपने विरोधीके अभावका आक्षेप करता हो। वैसा होनेपर कभी भी उसका ना नहीं होगा और कभी भी उसके विरोधीको होनेका अवसर नहीं आयगा। इस तरह यहाँ "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इस गीतावचनका विषय उपस्थित हो गया और तुम्हारे क्षणिकवादके विरुद्ध वस्तुओंका नित्यत्व ही सिद्ध हो गया। एवं, अपने कालमें तथा विरोधीके भी कालमें तुम्हारे कथनानुसार यदि अपने ही रहे तो सदैव विरोधीका अभाव हो जानेसे कहीं भी विरोध नहीं सिद्ध हो सकेगा।

(शङ्का) जैसे कालभेदसे एकही वस्तुमें करण और अकरण विरोधी नहीं कहा जाता है, वैसे कालभेदसे एक ही वस्तुमें दीर्घत्व और ह्रस्वत्वरूप भिन्न परिमाणके रहनेमें भी विरोध नहीं होना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी ऐसा कहा जा सकता है कि "अपने कालमें ही एक परिमाण अपने विरोधी दूसरे परिमाणका विरोध कर सकता है, नकि अन्यकाल में भी"

१. न चाविरोधः—१ पु० पा०

मूर्तत्वसमानदेशत्वयोरेकदा विरोधात्। तथा चारम्भपक्षे पूर्व-द्रव्यनिवृत्तिः अनिवृत्तावनारम्भ इति।

तत्र निवृत्तावाश्रयभेदादेव परिमाणभेदः, अनिवृत्तौ संयोगि-द्रव्यान्तरानुपचये क्व परिमाणभेदोपलम्भो यो विरोधमावहेत्। तदुपचये [1]तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः, आश्रयानुत्पत्तेः। अतएव स्थौल्यातिशयप्रत्ययोऽपि तत्र भ्रान्तः। तस्मात् कालभेदेनापि न

(उत्तर) यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि बाधकबलसे वहाँ काल-भेद होनेपर भी दीर्घत्व ह्रस्वत्वमें विरोध ही कहा गया है। अर्थात् एक ही वस्तु पहले ह्रस्व होकर दीर्घ नहीं हो जाती है, बल्कि पहली वस्तुके नष्ट हो जानेपर दूसरी ही वस्तु दीर्घ परिमाणवाली पैदा होती है। क्योंकि जिन अवयवोंसे पहले द्रव्यका निर्माण हुआ है, उन्हीं अवयवोंसे दूसरा द्रव्य नहीं बनता है। क्योंकि प्रथम द्रव्यके रहते ही वहां दूसरा द्रव्य कैसे रह सकता है? एक समयमें दो मूर्त द्रव्योंके एक जगह रहनेमें विरोध है। इसलिये नये द्रव्यकी उत्पत्तिपक्षमें पूर्वद्रव्यकी निवृत्ति माननी पड़ेगी। यदि पूर्वद्रव्यकी निवृत्ति न हो तो नये द्रव्यका आरम्भ भी नहीं हो सकता है।

यदि वहां पूर्वद्रव्यकी निवृत्तिके बाद नया द्रव्य दीर्घ परिमाण-वाला पैदा हुआ, तब तो आश्रयके भेदसे ही परिमाणमें भेद हुआ, न कि आश्रयद्रव्य पूर्वका ही रहा और परिमाण बदल गया।

पूर्व द्रव्यकी अनुवृत्तिपक्षमें—अर्थात् पूर्व द्रव्य यदि वैसाका वैसा बना रहा, उस पक्षमें—वहाँ यदि किसी दूसरे संयोगी द्रव्यका मेल नहीं हुआ तो परिमाणभेदकी उपलब्धि ही कहाँ होगी, जो कि विरोध लावे। यदि दूसरे द्रव्यका मेल हुआ, तब भी किसमें परि-माणभेदकी उत्पत्ति होगी? क्योंकि पूर्वद्रव्यकी निवृत्ति नहीं होनेसे किसी आश्रयकी उत्पत्ति हुई नहीं, जिसमें वह दूसरा परिमाण पैदा होवे। इसीलिए जहाँ दूसरे संयोगी द्रव्यके मिल जानेसे स्थूलता बढ़ी हुई सी माल्रूम पड़ती है, वहां वह स्थूलता-प्रतीति भ्रमात्मक है। अतः

---

१. तदुपचयेऽपि च—१ पु० पा०

परिमाणभेदः एकस्मिन् धर्मिण्युपसंहर्तुं शक्यत इत्यादि पदार्थ-चिन्ताचतुरैः सह विवेचनीयम्[1]।

अस्तु तर्हि इहापि बाधकं बलं प्रसङ्गतद्विपर्ययोरुक्तत्वादिति चेत्, न, तयोः सामर्थ्यासामर्थ्यविषयत्वात् तत्र च उक्तत्वात्। स्तां वा, न तथापि ताभ्यां शक्त्यशक्त्योरविवक्षितकालभेद एव विरोधः साध्यते तथोपसंहर्तुमशक्यत्वात्। यदा तदेत्युपेक्ष्य यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेन्न, कालनियमा-

---

कालभेदसे भी परिमाणभेदका एक धर्मीमें होना नहीं माना जा सकता है। ये सब बातें पदार्थविचारमें चतुर वैशेषिकोंके साथ विचारनी चाहिये।

(शङ्का) यहां भी बाधक बल होवे, क्योंकि बाधकस्वरूप प्रसङ्ग और विपर्ययको मैं पहले दिखा चुका हूँ।

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वे प्रसङ्ग और विपर्यय सामर्थ्य और असामर्थ्य-विषयक ही हैं, तथा उनके विषयमें दूषण भी पहले ही दिखाये जा चुके हैं। अथवा यदि वे प्रसङ्ग-विपर्यय हों भी, तथापि उनके द्वारा किसी कालविशेषका निवेश किये बिना करण और अकरणमें विरोध सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि वैसा उपसंहार नहीं हो सकता। अर्थात्—कुशूलस्थ दशामें सामर्थ्यहेतुसे करणका प्रसंग करो तो वह हमें भी इष्ट ही है। कारण, आगे चलकर वह अंकुर करता ही है। इसके विपरीत अकरणसे यदि कुशूलस्थ दशामें बीजमें सामर्थ्यका अभाव सिद्ध करो तो हेतु ही असिद्ध है। क्योंकि कुशूलस्थबीजमें जो अकरण है, वह करणविरोधी नहीं है। इसलिए कदाचित् अकरणके कारण कुशूलस्थबीजमें अङ्कुरसामर्थ्यका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है।

(शङ्का) जब तब इत्यादि कालभेदका निर्देश किये बिना ही 'जो समर्थ है वह करता ही है' इस प्रकारका उपसंहार हो सकता है।

---

१. चिन्तनीयम्—३ पु० पा०

विवक्षायां यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेन्न, कालनियमाविवक्षायां यत् समर्थं तत्करोत्येवेति कदाचित् स्यात्। तथा च संभवविधेरत्यन्तायोगो विरुद्धो न त्वयोगः। नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्।

ननु यदसमर्थं प्रथममासीत् तस्य सामर्थ्यं पश्चादपि कुत आगतम्, प्रथमं समर्थस्य वा पश्चात् कुत्र गतम्। नैतदेवं, तत्तत्सहकारिमतस्तत्तत्कारकत्वं हि सामर्थ्यम्, अतद्वतस्तदन्यवतो वा तदकर्तृत्वमसामर्थ्यम्। इदं चौत्पत्तिकमस्य रूपं, ते च

(उत्तर) यह भी ठीक नहीं है। कालविशेषका निर्देश किये बिना 'जो समर्थ है वह करता ही है' यह बात सदाके लिए नहीं है किन्तु कदाचित्के लिये है। इस स्थितिमें उस उपसंहारका यह स्वरूप हुआ कि 'जो समर्थ है उसका करना संभव है'। यदि इस संभव-विधिको किसीके साथ विरोध है तो करणके अत्यन्तिक अयोगके साथ है न कि सामान्य अयोग के साथ। जैसे 'नील कलम होता ही है' यहाँ नील कमलकी संभावना बताकर नीलकमलका सर्वथा न होना (आत्यन्तिक अभाव) रोका जाता है, न कि नीलकमलके न होनेको भी रोक देता है। क्योंकि नीलकमल नहीं भी होता है।

(शङ्का) तो, जो पहले अंकुर करनेमें असमर्थ रहा, उसमें पीछे भी सामर्थ्य कहांसे आगयी? अथवा जो पहले समर्थ था, उसकी सामर्थ्य पीछे कहाँ चली गयी?

(उत्तर) इस तरहका प्रश्न नहीं कर सकते। क्योंकि यहाँ सामर्थ्यका अर्थ योग्यता लो, तबतो पहले और पीछे भी वह समर्थ ही है। सामर्थ्यपदसे यदि कार्यका करना अर्थ लो, तो उस उस सहकारीसे युक्त होकर उस उस कार्यको कर देना ही सामर्थ्य है और उस उस सहकारीके अभावमें अथवा अन्य कार्यके सहकारीके योगमें उस कार्यका न करनाही असामर्थ्य है। भावोंका यही स्वाभाविक रूप है। और वे सहकारी अपने उपस्थापक कारणके अधीन होनेसे अनियत कालमें उपस्थित होते हैं। इसलिये कार्योंका भी काल अनियत रहता है। अर्थात् सामर्थ्य

सहकारिणः स्वोपसर्पणकारणवशात् भिन्नकाला इत्यर्थात् कार्याणामपि भिन्नकालतेति ।

तथाप्येककालस्थ एव भावो जातनष्टस्तदा तदा तत्कार्यं करोतु, उत्पन्नमात्रस्य तत्स्वभावत्वात्, एकदेशस्थवदिति चेत्—

सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया ? सहकारिसान्निध्यापेक्षया वा ? आद्ये न किञ्चिदनुपपन्नम्, नित्यानामप्येवंरूपत्वात् वर्तमानैकस्वभावत्वात् सर्वभावानाम् । तदेव तु क्वचित् सावधि क्वचिन्निरवधीति विशेषः । सावधित्वेऽपि व्यापारफलप्रवाहप्रकर्षापकर्षाभ्यां विशेषः ।

न कहीं जाता है और न कहीं से आता है। किन्तु सहकारीका योग और अयोग ही सामर्थ्य और असामर्थ्य है। और उस योगका भी समय अनियत है, क्योंकि वह भी उपस्थापक कारणके अधीन है।

(शङ्का) तो भी जैसे एक जगह रहता हुआ विषय अपनेसे भिन्न देशमें आत्मामें ज्ञानसुखादिको पैदा करता है, वैसे ही किसी एक कालमें रहकर नष्ट हो जानेवाला क्षणिक पदार्थ भी विभिन्न क्षणोंमें कार्य पैदा कर सकता है, क्योंकि उसी स्वभाव का वह पैदा होता है।

(उत्तर) तो यहाँ एक कालमें रहनेका अभिप्राय अपने कालमें रहना है ? या सहकारियोंके कालमें रहना है ?

यहाँ प्रथमपक्षमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। क्योंकि नित्य और अनित्य सभी स्थिर पदार्थ अपने कालमें ही रहते हैं। क्योंकि अपने कालमें ही रहना सभी भावोंका स्वभाव है। किन्तु वही रहना कहीं अवधिके साथ है, जैसे अनित्योंका। और कहीं बिना अवधिके है, जैसे नित्यों का। सावधि रहनेमें भी व्यापार और फलके प्रवाहका प्रकर्ष और अप्रकर्षरूप विशेषता होती है। अर्थात् यागसे अपूर्वनामक एक ऐसा प्रकृष्ट व्यापार पैदा होता है, जिसके प्रभावसे बहुत पहले ही यागके नष्ट हो जानेपर भी स्वर्गरूप फल उत्पन्न हो जाता है। बीजादिमें वह प्रकर्ष नहीं है, इसलिये अंकुरोत्पत्तिके अव्यवहित पूर्वमें बीजका रहना आवश्यक है।

द्वितीयस्तु स्यादपि यदि तेषां यौगपद्यं भवेत्, क्रमिणस्तु सहकारिण इत्युक्तम्। सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तरि तु जातनष्ट एव करोतीत्युत्तरप्रसङ्गो निरर्गलशैशवस्येत्यलमनेन।

तस्मात् कार्यस्य स एव कालः, कारणस्य तु स चान्यश्चेति संबन्धिकालापेक्षया पूर्वकालताव्यवहारः।

अपि च यदा तदेतिस्थाने यत्र तत्रेति प्रक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्गतद्विपर्यययोः को दोषः?

दूसरा पक्ष तब हो सकता, यदि सभी सहकारी एक कालमें रहें। किन्तु सहकारी क्रमसे रहने वाले हैं, यह कहा जा चुका है। सहकारीसहित होकर स्वयं या अपूर्व आदि व्यापारके द्वारा स्वभावतः करता है, ऐसा कहने वालेके प्रति तो यह उत्तर उपस्थित करना कि—पैदा होते ही नष्ट होकर ही (क्षणिक होता हुआ भी) कार्य करेगा, स्वच्छन्द शिशुता है। अतः इससे बचो। अर्थात् उक्त कथनमें क्षणिकत्वका अवसर ही नहीं है।

अतः कार्यका वही [सामग्रीसमवधानका उत्तरवर्ती] काल है और कारणका तो यथासंभव वह भी है और दूसरा भी है। अर्थात् कोई कारण सामग्रीके बाद भी बना रहता है और कोई कार्यके पूर्व ही नष्ट हो जाता है। कार्य और कारणके एक समयमें रहनेपर भी कारणमें कार्यके प्रति पूर्वकालताका जो व्यवहार होता है, वह कार्यप्रागभावरूप सम्बन्धीके कालमें उसके नियमतः रहनेके कारण होता है।

इसके अतिरिक्त कालवाची 'जब और तब' पदोंके स्थानमें देशवाची 'जहां और वहां' पदोंका भी निवेश करके यदि वे ही प्रसङ्ग और विपर्यय उपस्थित किये जाँय तो क्या हानि है? अर्थात् "जो जब जहां जिसके प्रति समर्थ है, वह तब वहां उसे करता ही है" ऐसा नियम मानकर पूछता हूँ कि—खेतमें बोया गया बीज बखारमें अंकुर करनेमें समर्थ है या नहीं? यहां यदि समर्थ मानो तो क्षेत्रस्थ

न कश्चिदिति चेत्, तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत।

आपद्यतां, तदादाय योगाचारनयनगरं प्रवेक्ष्याम इति, न, हेतुफलभाववादवैरिणमनपोह्य तत्र प्रवेष्टुमशक्यत्वात्।

तदपवादे वा सत्त्वाख्यसाधनशस्त्रसंन्यासिनस्तव बहिर्वाद-संग्रामभूमावपि कुतो भयम्?

बीज बखारमें भी अंकुर उत्पन्न करदे, इस प्रकारका प्रसङ्ग और 'नहीं करता है इसलिये वह उस समय खेतमें अंकुर-जनन समर्थ होता हुआ भी बखारमें अंकुर-जनन समर्थ नहीं है' इस प्रकारका विपर्यय तुम्हारे प्रति भी दिये जा सकते हैं। अर्थात् क्षणिक भी बीज सामर्थ्यासामर्थ्य-लक्षण विरुद्ध-धर्मके संसर्गसे भिन्न-भिन्न होने लगेगा।

यदि कहो, इसमें कोई हानि नहीं है, तो सामर्थ्यपक्षमें सब जगह समानरूपसे कार्य करनेसे देशाद्वैतकी आपत्ति हो जायगी। तथा असामर्थ्यपक्षमें एक ही क्षणिकबीजमें सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप विरुद्धधर्मों के संसर्गसे पुनः भेदकी आपत्ति आ जायगी।

(शङ्का) देशाद्वैत हो जाय, उसे लेकर हम योगाचारमतरूप नगरमें प्रवेश कर जायेंगे। अर्थात् योगाचारमतानुसार हम भी बाह्य वस्तु नहीं मानेंगे। अतः क्षेत्र कुशूल आदि सभी देश विज्ञानरूपसे अभिन्न ही हैं। इस स्थितिमें देशभेद मानकर मेरे प्रति सामर्थ्यासामर्थ्यका क्षणिकबीजमें आपादन नहीं हो सकता है।

(उत्तर) ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यकारण-भावरूप वैरीको परास्त किये विना योगाचारमतरूप नगरमें प्रवेश ही नहीं कर सकते। अर्थात् योगाचारमतमें सब कुछ विज्ञानरूप होनेसे कार्यकारणका भेद भी मिथ्या मानना होगा। और यही योगाचारनगरमें प्रवेशका बाधक होगा।

यदि योगाचारनगरमें प्रवेश पानेके लिये कार्यकारणभावको भी छोड़ दो तो "यत् सत् तत् क्षणिकम्" इस अनुमानमें क्षणिकत्वसिद्धिका

ननु यावत्योऽर्थक्रिया भिन्नदेशास्तावद्भेदं कारणमस्तु को विरोध इति चेत्, न, तेषामपि प्रत्येकं तत्प्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। एवमेकस्य जगति वस्तुतत्त्वस्याऽलाभे साध्वी क्षणभङ्गसाधनपरिशुद्धिः।

अस्तु तर्हि कश्चिद्दोष एवानयोरिति चेत्, स पुनः कस्मिन् साध्ये? किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः? किं वा तद्विरुद्धयोः? किं वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे? आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे?

साधनभूत सत्त्व-हेतुरूप शस्त्रका भी परित्याग कर देना पड़ेगा। ऐसी दशामें बाह्यस्थिरत्ववादरूप युद्धस्थलीमें भी तुम्हें क्या भय है? अर्थात् क्षणिकत्वसिद्धिके लिये उठाये सत्त्वहेतुरूप शस्त्र गिराकर हार मान ही गये तो स्थिरत्व ही मान लो, उससे बचनेके लिये योगाचार मतका स्वीकार क्यों कर रहे हो?

(शङ्का) जिन जिन भिन्न देशोंमें जितनी अर्थक्रियायें (अंकुरादि कार्य) होती हैं, बीजरूपकारणके भी उतने भेद माननेमें क्या विरोध है!

(उत्तर) ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि कारणके उतने भेदोंमें भी प्रत्येकके लिये उक्त प्रसङ्ग पुनः वैसे ही दिया जा सकता है। अर्थात् वह प्रत्येक बीज देशान्तरमें भी अंकुरसमर्थ हो तो देशाद्वैतकी आपत्ति हो जायगी। और अंकुरसमर्थ न हो तो स्वदेशमें सामर्थ्य और अन्यदेशमें असामर्थ्यरूप विरुद्धधर्मोंका संसर्ग होनेसे वह प्रत्येक भी भिन्न हो जायगा। इस प्रकार जगत् में एक वस्तु कोई रह ही नहीं जायगी। ऐसी दशामें क्षणिकत्व सिद्ध करनेवाले आपके हेतुओंकी अच्छी विशुद्धता (निर्दोषता) है। अर्थात् जब एक कोई है नहीं, तो किसे पक्ष मानकर क्षणिकत्व सिद्ध करोगे।

यदि पूर्वोक्त देशगर्भित प्रसङ्ग और विपर्ययमें किसी दोषको मानो, तो बताओ, क्या सिद्ध करनेमें वह दोष होगा। क्या, सामर्थ्य और असामर्थ्य सिद्ध करने में? या सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप विरुद्ध

नाद्यः, सर्वत्र सामर्थ्ये हि प्रसह्यकरणात्, सर्वत्राशक्तौ क्वचिदप्यकरणात्।

सर्वदेशसमानस्वभावत्वेऽप्यस्य 'स्वोपादानदेश एव तत्कार्यं करोतीति, अयमस्य स्वभावः स्वकारणादायातो न नियोगपर्यनुयोगावर्हतीति चेत्, तर्हि सर्वकालसमानस्वभावत्वेऽपि तत्तत्सहकारिकाल एव[1] करोतीत्ययमस्य स्वभावः स्वकारणादायात इति किन्न रोचयेः?

न द्वितीयः, विरुद्धधर्माध्यासेनाप्यभेदे भेदव्यवहारस्य

धर्मोंके आरोपसे बीजव्यक्तिमें भेद सिद्ध करने में? अथवा करण और अकरणका विरोध सिद्ध करने में?

इनमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि क्षेत्रस्थ-बीजमें क्षेत्रमें अंकुरके प्रति सामर्थ्य और बखारमें अंकुरके प्रति असामर्थ्य ये दो न माने जाँय तो वह बीज सर्वत्र अंकुर समर्थ ही होगा अथवा सर्वत्र असमर्थ ही होगा। ऐसी दशामें सर्वत्र सामर्थ्य होनेमें उसे बखारमें भी अंकुर करना बलात् प्राप्त हो जायगा। एवं सर्वत्र असामर्थ्य होनेमें कहीं भी (क्षेत्रमें भी) अंकुर न करना प्रसक्त हो जायगा।

(शङ्का) सब जगह बीजके एक ही स्वभावका होनेपर भी अपने कार्यके लिये नियत एकदेशमें ही वह कार्यको करता है, इस प्रकार का बीजका यह स्वभाव अपने कारणसे प्राप्त हुआ है। अतः स्वभावके लिये कोई विधि या निषेध नहीं दिया जा सकता है।

(उत्तर) तो उसी प्रकार "सब कालमें अर्थात् खेतमें और बखारमें भी रहनेकी दशामें बीजके एक स्वभावका होने पर भी उन-उन सहकारियोंके प्राप्तिकालमें ही वह अङ्कुररूप कार्य करता है। इस प्रकारका यह बीजका स्वभाव ही है, जो अपने कारणसे इसे प्राप्त है" यह बात क्यों नहीं पसन्द करते हो?

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग होने

---

१. लाभ एव—१ पु० पा०

निर्निमित्तकत्वप्रसङ्गात्। अनैकान्तिकश्च हेतुः कालतोऽपि न भेदं साधयेत्॥

न तृतीयः, विरोधलक्षणयोगे बाधकसहस्रेणापि विरोधस्यापनेतुमशक्यत्वात्, अयोगे वा तदेव चिन्त्यम्। यद्विधाने यस्य निषेधो यन्निषेधे वा यस्य विधानं तयोरेकत्र धर्मिणि परस्परपरीहारस्थिततया विरोधः[1], सचेह नास्ति। तद्देशकार्यकारित्वं हि तद्देशकार्याकारित्वेन विरुद्धं तद्विधौ तस्य नियमेन निषेधात्, न पुनर्देशान्तरे तत्कार्याकारित्वेन, तस्यानिषेधात्। न ह्यन्यत्र तदकरणमतत्करणं वा तत्र तत्करणस्याभावोऽपि तु तत्र तदकरणमिति चेत्—

पर भी यदि अभेद मानो तो विश्वमें भेदव्यवहारका कोई विषय ही नहीं रह जायगा। साथ ही दैशिक भेदस्थलमें ही व्यभिचारी होनेसे विरुद्धधर्माध्यासरूप हेतु कालिक भेदको भी नहीं सिद्ध कर सकेगा।

एवं, तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि विरोधलक्षणका योग रहनेपर हजारों बाधक भी उस विरोधको नहीं हटा सकते। यदि विरोधलक्षणका वहाँ अयोग है, तब यही तो विचारणीय है कि जिसके विधानमें जिसका निषेध हो और जिसके निषेधमें जिसका विधान हो, उन दोनोंमें एक जगह एक दूसरेको छोड़कर रहनेके कारण ही विरोध होता है, और वैसा यहाँ नहीं है। क्योंकि उस देशमें कार्य करनेको उसी देशमें कार्य न करनेके साथ विरोध है। कारण, उस देशमें कार्यकारित्वके विधानमें उस देशमें कार्याकारित्वका नियमतः निषेध होता है। न कि देशान्तरमें उस कार्यको न करनेके साथ विरोध है। कारण, वहाँ देशान्तरमें कार्यकारित्वका निषेध नहीं होता है। अर्थात् उस देशमें कार्यकारी देशान्तरमें कार्याकारी भी हो सकता है, इसमें विरोध नहीं है। क्योंकि उससे भिन्न जगहमें उस कार्यको न करना या उससे भिन्न कार्यका करना उस जगह उस कार्यको

१. परस्परपरीहारावस्थितयोर्विरोधः—१ पु० पा०

हन्तैवम्भूतविरोधलक्षणव्यावृत्तिर्भिन्नकालशक्त्यशक्त्योरपीत्युक्तप्रायं, तत्प्रतिसन्दधीथाः। तस्मात् प्रसङ्गतद्विपर्ययस्थितावपि असिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः।

ननु यदेकदा यत् करोति तद्यावत्सत्त्वं तत्करोत्येव यथा कश्चिच्छब्दः[1] शब्दान्तरमिति प्रसङ्गोऽस्तु। विपर्ययस्तु यदेकदा यन्न करोति तत् सर्वदैव तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम्। न करोति चैकदा कुशूलस्थं बीजमङ्कुरमिति चेत्—

तदेतज्जात्यभिप्रायेण वा स्यात् व्यक्त्यभिप्रायेण वा स्यात्।

करनेका विरोधी नहीं है किन्तु उसी जगह उस कार्यको न करना ही विरोधी है।

तब तो हन्त! ऐसे विरोधलक्षणका अभाव भिन्नकालमें करण और अकरणमें भी है। यह पहले ही कह दिया गया है, उसे स्मरण करो। अर्थात् भिन्नकालमें करण अकरणमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए किसी प्रकार यदि प्रसङ्ग और विपर्ययकी सिद्धि हो भी जाय तो भी विरुद्ध धर्मोका संसर्ग असिद्ध है। अर्थात् जैसे, देशभेदसे, वैसे ही कालभेदसे भी एक जगह सामर्थ्य और असामर्थ्य रह सकते हैं।

(शङ्का) यदि कहो कि "जो एक बार जिसे करता है, वह जब तक अपनी सत्ता रहती हैं, उसे करता ही है। जैसे, कोई शब्द दूसरे शब्दको उत्पन्न करता है" यह प्रसङ्ग होगा। और विपर्यय तो यह होगा कि जो एकबार जिसे नहीं करता है, वह हमेशा ही उसे नहीं करता है, जैसे प्रस्तरखण्ड अङ्कुर को। बखारका बीज भी अंकुरको एक बार भी नहीं करता है, अतः अंकुर करनेवाले क्षेत्रस्थ बीजसे भिन्न होकर क्षणिकत्वकी सिद्धि करा देगा"।

(उत्तर) तो बताओ, यह प्रसङ्ग और विपर्यय जातिके अभिप्रायसे होगा? अथवा व्यक्तिके अभिप्रायसे? जिस जातिका एक बार नहीं करता, उस जातिका कभी भी नहीं करता—इस प्रथम अभिप्रायमें प्रसंग

---

१. अविनश्यदवस्थः—इत्यधिकं शङ्करमिश्रकृतटीकानुसारेण।

प्रथमे द्वयमपि अनैकान्तिकम्, अनियमदर्शनात्। द्वितीये द्वयमप्यन्यथासिद्धम्, एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वादत्यन्ताकरणस्य। सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधिप्रयुक्तत्वात् करणनियमस्य।

एतेन यद्यत्करोति तत्तदुत्पन्नमात्रं यथा कर्म विभागम्। यदुत्पन्नमात्रं यन्न करोति तन्न कदाचिदपि यथा शिलाशकलमङ्कुरमिति निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववदनैकान्तान्यथासिद्धी दोषा[1] विति।

नापि तृतीयः, कृतकत्वानित्यत्वादेरपि[2] परस्पराभाववत्तामात्रेणैव विरोधप्रसङ्गादिति।

और विपर्यय दोनोंमें व्यभिचार है। क्योंकि एक ही बीज जातिमें करना और न करना दोनों ही के देखे जानेसे केवल करने या केवल न करने का नियम नहीं है।

जो व्यक्ति एक बार जिसे नहीं करता है वह कभी भी उसे नहीं करता—इस द्वितीय अभिप्रायमें प्रसंग और विपर्यय दोनों ही अन्यथासिद्ध हैं। क्योंकि एकबार अङ्कुर न करनेवाले प्रस्तरखण्डमें सदा अङ्कुर न करना उसकी अंकुरके प्रति स्वाभाविक अयोग्यताके कारण है। तथा अंकुरके प्रति स्वाभाविक योग्यतावाले बीजमें तो कभी अंकुरका करना सहकारियोंकी सन्निधिके कारण और कभी अंकुर न करना सहकारियोंकी असन्निधिके कारण है।

इससे—जो जिसे करता है वह उत्पन्न होते ही उसे करता है, जैसे कर्म (क्रिया) उत्पन्न होते ही विभागको। एवं जो उत्पन्न होते ही जिसे नहीं करता वह कभी भी उसे नहीं करता, जैसे शिलाखण्ड अंकुरको—इस प्रकारके प्रसंग और विपर्यय भी खण्डित हो गये। क्योंकि यहाँ भी पूर्वके समान जातिके अभिप्रायमें व्यभिचार और व्यक्तिके अभिप्रायमें अन्यथासिद्धिदोष हो जायेंगे।

"दण्डित्व और कुण्डलित्वके समान एक जगह रहते हुए भी

---

१. अन्यथासिद्धदोषौ—१ पु० पा०

२. कृतकत्वानित्यत्वयोरपि—१ पु० पा०

अस्तु तर्हि तस्यैव तेनैव सहकारिणा संबन्धोऽसंबन्धश्चेति विरोधः, न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि संबन्धिनः संबन्ध्यन्तरे स्वाभावस्वाभाव्यं वा विरुध्येत? अभावप्रतियोगित्वं वा? तदैवेति सहितं वा? तत्रैवेति सहितं वा? उभयासहितं वा? तथैवेति सहितं वेति?

न प्रथमः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सत्कार्यप्रतिषेधात्[1]। न तृतीयः, प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्भावसमानकालत्वानभ्युपगमात्।

परस्पर भिन्न होना ही करण और अकरणका विरोध है" यह पूर्वोक्त तृतीयपक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस प्रकारका विरोध माननेमें परस्परमें भिन्न होनेमात्रसे कृतकत्व और अनित्यत्वमें भी विरोधका प्रसंग हो जायगा।

(शङ्का) तब उसी (बीज) का उसी सहकारीके साथ कभी संबन्धका होना और कभी न होना ही विरोध होवे।

(उत्तर) यह नहीं कह सकते हो, क्योंकि अग्रिम विकल्पोंमें कोई भी विकल्प नहीं बन सकता है।

जैसे, क्या दूसरे सम्बन्धीको एक सम्बन्धीका अभावरूप होना विरुद्ध होगा? अर्थात् एक सहकारीका दूसरा सहकारी अभावस्वरूप ही है और भाव और अभावका सम्बन्ध कभी हो नहीं सकता है, यही विरोध है? अथवा भावस्वरूप एक सहकारीका दूसरे सहकारीमें अभावप्रतियोगित्वरूप असमवधान विरुद्ध होगा? अथवा जिस क्षणमें अपना समवधान है उसी क्षणमें उसका असमवधान विरुद्ध होगा? अथवा जिस जगह समवधान है वहीं असमवधानका होना विरुद्ध होगा? अथवा उसी क्षण और उसी देशमें उसका समवधान और असमवधानका होना विरुद्ध होगा? अथवा जिस रूपसे समवधान हो उसी रूपसे असमवधानका होना विरुद्ध होगा?

इनमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि एक सम्बन्धीका अभावस्वरूप दूसरे सम्बन्धीको हम नहीं मानते हैं। दूसरा भी ठीक नहीं है,

---

१. प्रतिक्षेपात्—२ पु० पा०

न चतुर्थः, स हि न तावत् स्थितियौगपद्यनियमेन, संबन्धिनोस्तदसिद्धेः। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वं, नियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिः तत्सिद्धौ च भेदे सति नियमसिद्धिरिति।

न चान्यतस्तत्सिद्धिस्तदभावात् अनियतोपसर्पणापसर्पणकारणप्रयुक्तत्वाच्च संबन्धासंबन्धयोः। नापि विनाशस्य अहेतुकत्वात् अयं विरोधोऽर्थात् सिद्ध्यति, तस्याप्यसिद्धेः। ध्रुवभावित्वे तु पश्यामः। नापि पञ्चमः, न हि तदैव तत्रैव स एव सहकार्यस्ति नास्ति चेति अभ्युपगच्छामः।

क्योंकि सत्कार्यवादका तुम्हारे यहाँ निषेध है। अर्थात् सत्कार्यवादमें ही भावका अभाव नहीं होता है। तीसरा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि केवल प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ही भावके कालमें नहीं माना जाता है। अत्यन्ताभाव तो देशभेदसे भावकाल में भी रहता ही है।

चतुर्थ प्रकारका विरोध भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारका विरोध तब सिद्ध होता जब कि—सम्बन्धियोंमें एकके सत्ताकालमें बिना किसी व्यवधानके दूसरेकी अवश्य सत्ता है—ऐसा नियम होता। किन्तु यह नियम ही असिद्ध है। यदि ऐसा मानो कि इस विरोधसे ही यह नियम सिद्ध हो जायगा, तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। क्योंकि नियमकी सिद्धि होनेपर विरोधकी सिद्धि होगी और विरोधके सिद्ध होनेपर धर्मीमें भेद सिद्ध होकर सभी सहकारियों (सम्बन्धियों) के एक साथ रहनेके नियमकी सिद्धि होगी।

किसी दूसरे प्रमाणसे भी उक्त नियमकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा कोई प्रमाण नहीं है। एवं सहकारियों का परस्पर उपसर्पण और अपसर्पण अनियत है और इसी कारण उनमें सम्बन्ध और असम्बन्ध दोनों ही होते हैं।

यह भी नहीं हो सकता कि—किसी वस्तुके विनाशमें हेतुकी अपेक्षा नहीं होनेसे सभी वस्तु क्षणिक होगी, अतः उसमें सम्बन्ध और असम्बन्धका विरोध स्वतः सिद्ध हो जायगा—क्योंकि बिना हेतुका

ननु समवधानं नाम सहकारिणां धर्मः संयोगो भवद्भिरिष्यते, स च तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽव्याप्यवृत्तिश्चेत्यपि। तथा च स एव तदैव तत्रैवास्ति नास्ति चेति। अनतिरेके स्थिरवादिनो व्यस्तान्यपि बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। व्याप्यवृत्तित्वे च सर्वत्र रक्तादिविभ्रमः शब्दादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गश्च। तस्मादसंयुक्तेभ्योऽन्य एव संयुक्तस्वभावाः परमाणवो जाता इत्येव न्यायः।

विनाश भी असिद्ध है। यदि कहो कि वस्तुओंका विनाश ध्रुव है, इसलिये विनाशमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है—तो इसके सम्बन्धमें आगे कहेंगे।

एवं पांचवें प्रकारका विरोध भी नहीं हो सकता है। क्योंकि—उसी कालमें उसी स्थानमें वही सहकारी है भी और नहीं भी है-ऐसा हम नहीं मानते हैं।

(शङ्का) समवधानको भी आप सहकारियोंका धर्म और संयोगरूप मानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह समवधान उन सहकारियोंसे अतिरिक्त और अव्याप्यवृत्ति (एकदेशी) भी है। तब वही समवधान (संयोग) उसी समय वहीं पर है भी और नहीं भी है, इस प्रकार विरोध आ जाता है। यदि वह समवधान सहकारियोंसे अतिरिक्त न हो तो चूँकि स्थिरवादीके मतसे छिटफुट रहनेवाले भी बीज, पानी, पृथ्वी और प्रकाश वे ही हैं, इसलिये छिटफुट रहनेकी स्थितिमें भी उनसे अंकुररूप कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये। यदि संयोगको एकदेशी न मानकर व्याप्यवृत्ति मानें तो एक भागमें रङ्गका संयोग होनेपर सर्वांशमें लालिमाकी प्रतीति होनी चाहिये और आकाशके एक भागमें नगाड़के संयोगसे सम्पूर्ण आकाशमें शब्दकी उत्पत्ति होनी चाहिये। इसलिये असंयुक्त परमाणुओंसे दूसरे ही संयुक्त स्वभाववाले परमाणु उत्पन्न होते हैं, यही मानना समुचित है। अर्थात् परमाणुपुञ्जसे या सहकारिसमूहसे अतिरिक्त संयोग नहीं है। इस प्रकार क्षणभङ्गवाद सिद्ध हो जाता है।

नैतदेवम्, क्षणिकपरमाणावप्यस्य विरोधस्य दुर्वारत्वात्। तथाहि पूर्वदिगवस्थितः परमाणुर्यथाऽपरदिगवस्थितेन परमाणुनाऽपरदिगवच्छेदेनावृतरूप उत्पन्नः, तथैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनापि न वा? उभयथा वा? आद्ये उभयतोप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। द्वितीये तु उभयतोऽप्युपलम्भापत्तिः। तृतीये पुनः स एव दुरात्मा विरोधः, स एव तेनैव तदैवावृतोऽनावृतश्चेति।

प्रकारभेदमुपादायाविरोध इति चेत्, कः पुनरसौ[1] दिगन्तरावच्छेदः? यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तस्तद्दिगवच्छेदेनैवासंयु-

(उत्तर) ऐसा पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। कारण, क्षणिक परमाणुमें भी इस प्रकारका विरोध नहीं रोका जा सकता है। क्योंकि, पूर्व दिशामें स्थित परमाणु अपर दिशामें स्थित परमाणुसे जैसे अपर भागकी ओर आवृत (ढँका) होकर पैदा होता है, वैसे ही क्या वह पूर्वभागकी ओर भी आवृत ही होता है? या पूर्वभागके समान अपरभागकी ओर भी अनावृत (बिना ढँका) उत्पन्न होता है? अथवा एक भागकी ओर अनावृत और दूसरे भागकी ओर आवृत दोनों ही प्रकारका होता है? यहाँ प्रथम पक्षमें उसकी दोनों ही ओर अनुपलब्धि होनी चाहिये। द्वितीय पक्षमें दोनों ही ओरसे उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होनी चाहिये। तृतीय पक्षमें तो वही दुरात्मा विरोध तुम्हारे यहां भी उपस्थित हो जाता है कि 'वही उसीसे उसी कालमें आवृत भी है और अनावृत भी'।

यदि कहो कि—विशेषणभेदको लेकर यहाँ विरोधका निवारण हो जायगा—तो वह कौन सा विशेषणभेद है?

यदि कहो कि—भिन्न-भिन्न दिशाका योग ही विशेषणभेद है, क्योंकि यदि जिस दिशाकी ओर संयुक्त है उसी दिशाकी ओर असंयुक्त भी हो, तब विरोध हो। यहां तो ऐसा है नहीं—तो अहो! संयोग और संयोगीमें परस्पर भेद मानने वाले मेरे पक्षमें भी यदि यह सिद्धान्त लागू हो तब दोष कैसा?

१. कश्च पुनरसौ-इति शङ्करमिश्रसम्मतः पाठः।

क्तोऽपि, ततो विरोधः स्यात्, इह तु नैवमिति चेत्, हन्त ! संयोग-संयोगिनोर्भेदपक्षेऽपि यद्ययं सिद्धान्तवृत्तान्तः स्यात् कीदृशो दोष इति ? एतेन व्यतिरेकपक्षोऽपि निरस्तः ।

अधिकश्च तत्राश्रयहेतुदृष्टान्तसिद्धौ प्रमाणाभावः, अवस्तुनि प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाणप्रवृत्तावलीकत्वानुपपत्तेः ।

एवं तर्ह्यव्यवहारे स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्, तत् किं स्ववचनविरोधेन तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भवति ? व्यवहारनिषेध-व्यवहारो वा खण्डितः स्यात् ? अप्रामाणिकोऽयं व्यवहारोऽव-श्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत् ?

इस प्रकार 'जो सत् है वह क्षणिक है' इस अन्वयव्याप्तिके खण्डन-से 'जो क्षणिक नहीं है वह सत् भी नहीं है, जैसे खरहेकी सींग' यह व्यतिरेक व्याप्ति भी खण्डित हो गयी।

बल्कि अन्वयव्याप्तिकी अपेक्षा व्यतिरेकव्याप्तिपक्षमें पक्ष, हेतु और दृष्टान्तकी सिद्धिमें कोई प्रमाण नहीं है, यह अधिक दोष है। क्योंकि जो अवस्तु (असत्) है, उसमें किसी प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और जिसमें प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होगी, वह असत् नहीं होगा। अर्थात् स्थिरभावरूप पक्ष तुम्हारे मतमें अप्रामाणिक है। अक्षणिकत्व हेतुको तुम सत्में मानते नहीं और असत् अप्रामाणिक ही है। इस प्रकार हेतु भी अप्रसिद्ध है। साथ ही शशशृङ्गरूप दृष्टान्त भी अप्रसिद्ध ही है।

(शङ्का) यदि अप्रामाणिकमें व्यवहार न हो तो सिद्धान्तीको स्ववचनका विरोध हो जायगा। अर्थात् 'असत्में अनुमानादिका व्यवहार नहीं हो सकता' यह कहना भी तो असत्में व्यवहार ही है।

(उत्तर) तो क्या मेरे स्ववचनविरोधसे उन असत् पक्षादिकोंमें प्रामाणिकता आ जाती है ? अथवा व्यवहारके निषेधका व्यवहार खण्डित हो जाता है ? अथवा—अप्रामाणिक भी यह अनुमान-व्यवहार अवश्य मानना चाहिये—यह सिद्ध होता है ?

न तावत् प्रथमः, नहि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्य क्रमादिविरहे वा प्रत्यक्षमनुमानं वा दर्शयितुं शक्यम्, तथात्वे वा कृतं भौतकलहेन ।

द्वितीय[1]स्त्विष्यत एव प्रामाणिकैः । अवचनमेव तर्हि प्राप्तम् किं कुर्मो यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्रावचनमेव श्रेयः । त्वमपि परिभावय तावन्निष्प्रामाणिकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान्[2] ।

एवं विदुषापि भवता न मूकीभूय स्थितम्, अपि तु व्यव-

इनमें प्रथम तो हो नहीं सकता है । क्योंकि हजारों विरोधके रहने पर भी तुम स्थिरभावरूप पक्षमें अथवा उसमें असत्त्वको सिद्ध करने-वाले क्रमयौगपद्याभावरूप हेतुमें, अथवा शशशृङ्गरूप दृष्टान्तमें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण नहीं दिखा सकते हो । यदि दिखा सको तो भूताविष्टोंकी तरह इस निरर्थक कलहकी क्या आवश्यकता है ?

द्वितीय पक्ष तो प्रामाणिकोंको इष्ट ही है । अर्थात् शशशृङ्गादि अलीक पदार्थोंमें विधिव्यवहारके समान ही निषेधका भी व्यवहार हम नहीं ही मानते हैं । "शशशृङ्गं नास्ति" यह जो निषेधव्यवहार होता है, उसका तो अर्थ यह है कि शशमें शृङ्ग नहीं है । शश भी सत् है और शृङ्ग भी कहीं सत् है । इसलिये शशमें शृङ्ग नहीं है, ऐसा व्यवहार होनेमें कोई बाधा नहीं है ।

यदि यह कहो कि—तब हमें अलीक पदार्थोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं बोलना चाहिये अर्थात् मौन धारण किये रहना चाहिये—तो क्या करें, जहां बोलना सर्वथा ही असंगत है, वहाँ न बोलना ही अच्छा है । स्वयं भी तो विचारो कि अप्रामाणिक अर्थके बारेमें मूक रह जानेवाले और अधिक बोलनेवालेमें कौन अच्छा है ?

यदि कहो कि—ऐसा जानते हुए भी आपसे (मुझसे) मूक होकर नहीं रहा गया, प्रत्युत असत्में भी व्यवहारका प्रतिषेधरूप व्यवहार कर

---

१. द्वितीयं त्विष्यत—इति पाठः क्वचित् ।

२. कतरः प्रामाणिक—इति १ पु० पाठः

हारः प्रतिषिद्ध एवासतीति चेत्, सत्यम्, यथा अप्रामाणिकः स्ववचनविरुद्धोऽर्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया अप्रामाणिक एवासति व्यवहारः स्वीकृतस्तथास्माभिरपि प्रमाणचिन्तायामप्रामाणिको व्यवहारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तूभयत्रापि भवान् समानदृष्टिः स्यादस्माभिरपि तदा न किञ्चिदुच्यत इति।

तृतीये त्वप्रामाणिकश्चाप्यवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्येयमाज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। व्यवहारस्य सुदृढनिरूढत्वादिति चेत्, अप्रामाणिकश्च सुदृढनिरूढश्चेति व्याघातः। कथंचिदपि व्यवस्थितत्वा-

---

ही दिया गया—तो यह ठीक है। क्योंकि, जैसे—जो सत् है, वह क्षणिक है—अपने इस वचनका विरोधी अक्षणिक शशश्रृङ्गमें भी सत्त्वरूप अप्रामाणिक अर्थ न प्रसक्त हो जाय, यह मानते हुए तुम असत् शशश्रृङ्गमें अप्रामाणिक ही अनुमानव्यवहार स्वीकृत किये हो, वैसे ही हम भी क्षणिकत्वसिद्धिके लिये प्रमाणकी चिन्तामें शशश्रृङ्गमें व्यतिरेकव्याप्तिग्रहरूप तुम्हारे द्वारा किया गया अप्रामाणिक भी व्यवहार न प्रसक्त हो जाय, ऐसा मानते हुऐ अप्रामाणिक भी स्ववचनविरोध हम स्वीकार करते हैं।

यदि आप दोनों ही ओर समानदृष्टि हों, तब हम भी कुछ नहीं कहते हैं। अर्थात् तुम यदि शशश्रृङ्गमें व्यतिरेकव्याप्ति दिखाना छोड़ दो तो हम भी उसके खण्डनका यत्न नहीं करेंगे।

तृतीयपक्षमें तो—असत्में व्यवहार अप्रामाणिक भी है और उसे अवश्य मानना भी चाहिये—यह किसकी आज्ञा है? ऐसा आप ही से पूछा जा सकता है।

यदि कहो कि—असत्में व्यवहार अबाधितरूपसे अनादि परम्परासे सिद्ध है, इसलिये अप्रामाणिक होता हुआ भी मानने ही योग्य है—तो उक्तव्यवहार अप्रामाणिक भी है और अनादिपरम्परासिद्ध भी है—यह परस्पर व्याहत वचन है।

दिति चेत्, अप्रामाणिकश्चेन्न कथञ्चिदपि व्यवतिष्ठते, प्रामाणिकश्चेत् तदेवोच्यतामिति वादे व्यवस्था ।

जल्पवितण्डयोस्तु पक्षादिषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रवृत्तस्य न स्ववचनविरोधः, तत्र प्रमाणेनोत्तरमनिष्टमशक्यं च । अप्रमाणेनैव तूत्तरे स्ववचनेनैव भङ्गः, मदुक्तेषु पक्षादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेव स्वीकारात् । अनुत्तरे तु अप्रतिभैवेति ।

यदि च व्यहारस्वीकारे विरोधपरिहारः स्यात्, असौ स्वीक्रियेतापि, न त्वेवम् , न खलु सकलव्यवहाराभाजनं च तन्निषेधव्यवहारभाजनं चेति वचनं परस्परमविरोधि ।

यदि कहो कि—अनुभवसे ही इस प्रकारका व्यवहार व्यवस्थित है—तो यह अनुभव यदि अप्रामाणिक है तो किसी प्रकार भी उससे व्यवहार व्यवस्थित नहीं हो सकता है । यदि प्रामाणिक है तो वह प्रमाण ही बताओ । क्योंकि यही वादनामक कथाका नियम है ।

जल्प और वितण्डा नामक कथाओंमें तो तुम्हारे पक्ष हेतु और दृष्टान्तमें सिर्फ प्रमाण पूछनेमें प्रवृत्त होनेसे मुझे स्ववचनविरोध नहीं होगा । उस प्रश्नका यदि प्रमाणसे उत्तर दो तो अनिष्ट हो जायगा । अर्थात् शशशृङ्ग भी प्रामाणिक होने लगेगा । साथ ही प्रमाणद्वारा शशमें शृङ्गका ग्रहण अशक्य भी है ।

यदि अप्रमाणसे ही उत्तर दो, तब तो अपने वचनसे ही तुम्हारी पराजय होजाती है । क्योंकि "मेरे (तुम्हारे) कहे पक्षादिकोंमें प्रमाण नहीं है" ऐसा तुमने स्वयं ही स्वीकार कर लिया । यदि मेरे प्रश्नका कुछ उत्तर ही न दो तो अप्रतिभानामक निग्रहस्थानसे निगृहीत होते हो ।

एवं, यदि व्यवहार स्वीकार करनेपर विरोधका परिहार हो जाता रहता तो वह स्वीकार भी कर लिया जाता । अर्थात् मूक रहना अच्छा नहीं बताते । परन्तु ऐसा तो है नहीं । क्योंकि सभी व्यवहारोंका वह अपात्र भी है और निषेध व्यवहारका पात्र भी है—यह वचन परस्परमें अविरोधी नहीं है किन्तु विरोधी है ।

विधिव्यवहारमात्राभिप्रायेणाभाजनत्ववादे कुतो विरोध इति चेत्, हन्त ! सकलविधिव्यवहाराभाजनत्वेन किञ्चिद् व्यवह्रियते न वा ? उभयथापि स्ववचनविरोधः, उभयथाप्यवस्तुनैव तेन भवितव्यम् , वस्तुनः सर्वव्यवहारविरहानुपपत्तेः ।

नेतिपक्षे सकलविधिनिषेधव्यवहारविरहीत्यनेनैव व्यवहारेण विरोधात् । अव्यवहृतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् । व्यवह्रियत इति पक्षेऽपि विषयस्वरूपपर्यालोचनयैव विरोधात्, न हि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति ।

यदि चावस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वं विधिव्यवहारगोचरतापि किं न स्यात् ? प्रमाणाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् इति ।

यदि कहो कि—असत्में सकल व्यवहारका अपात्रत्व मानने वालेके यहां उसमें निषेधव्यवहार करनेमें भले ही विरोध हो, पर केवल विधि-व्यवहारका अपात्रत्व माननेवालेके यहां कैसे विरोध होगा ? अर्थात् शशशृङ्ग आदिमें सत्त्व और क्षणिकत्वका निषेधव्यवहार करनेमें बौद्ध-को स्ववचन विरोध नहीं होगा । क्योंकि असत्को हम केवल विधिव्यवहारका ही अपात्र मानते हैं—तो अहो ! सभी विधि और निषेध व्यवहारोंका अपात्ररूपसे किसीको व्यवहृत करते हो या नहीं ? दोनों ही दशाओंमें तुम्हें भी स्ववचन विरोध हो जाता है । तथा दोनों ही दशाओंमें वह अवस्तु (असत्) ही होगी, जिसे तुम व्यवहृत करते हो । कारण, वस्तुमें (सत्में) सकल व्यवहारका अभाव नहीं हो सकता है ।

क्योंकि नहीं पक्षमें—सकल विधि-निषेध-व्यवहारका विरही असत् है—यह भी तो एक व्यवहार ही हुआ, जिससे विरोध आजाता है । कारण व्यवहारमें लाये बिना निषेध ही नहीं कर सकते हो । व्यवहृत करनेके पक्षमें तो विषयस्वरूपकी पर्यालोचना करनेसे ही विरोध झलक जाता है । क्योंकि यह नहीं हो सकता कि—'सब व्यवहारका अविषय भी हो और व्यवहृत भी होता हो' ।

एवं यदि अलीक (मिथ्या बन्ध्यासुतादि) में सत्त्व और क्षणिकत्व-

वन्ध्यासुतस्यावक्तृत्वेऽचेतनत्वादिकमेव प्रमाणं वक्तृत्वे तु न किञ्चिदिति चेन्न, तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्। न हि वन्ध्यायाः सुतो न सुतः, तथा सति स्ववचनविरोधात्। वचनमात्रमेतत् न तु परमार्थतः सुत एवासाविति चेन्न, अचैतन्यस्याप्येवंरूपत्वात्। चेतनादन्यत् स्वभावान्तरमेव ह्यचेतनमित्युच्यते। चैतन्यनिवृत्तिमात्रमेवेह विवक्षितम्, तच्च सम्भवत्येवेति चेन्न, तत्राप्यसुतत्वनिवृत्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्।

के निषेधव्यवहारकी विषयता है तो उसमें विधिव्यवहारकी भी विषयता क्यों न हो? कारण, अलीकमें विधि और निषेध दोनों ही व्यवहारोंके होनेमें प्रमाणाभाव समान रूपसे है।

यदि कहो कि—वन्ध्यासुतमें वक्तृत्वनिषेधका व्यवहार करनेमें उसका अचेतन होना ही प्रमाण है, किन्तु उसमें वक्तृत्वका विधिव्यवहार करनेमें तो कुछ प्रमाण नहीं है—तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उसके वक्तृत्वमें भी उसका सुत होना ही प्रमाणरूपसे विद्यमान है। यह नहीं कह सकते कि वन्ध्याका सुत सुत नहीं है। क्योंकि वैसा कहनेपर अपने ही वचनका विरोध हो जायगा। अर्थात् वन्ध्यासुत कहना और उसे सुत न मानना यह स्पष्ट ही स्ववचनविरोध है।

यदि कहो कि—यह वचनमात्र ही है न कि वह वस्तुतः सुत ही है—तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि तब तो उसका अचेतन होना भी ऐसा ही हो जायगा। अर्थात् वन्ध्यासुतको अचेतन कहना भी वचनमात्र ही है, न कि वह घटादिके समान वस्तुतः अचेतन ही है। क्योंकि चेतनसे भिन्न एक दूसरे स्वभावका पदार्थ ही अचेतन कहा जाता है।

यदि कहो कि—यहाँ अचेतनपदसे कोई विलक्षण स्वभाववाला अभिप्रेत नहीं है, किन्तु चैतन्यकी निवृत्तिमात्र ही विवक्षित है और वह वन्ध्यासुतमें सम्भव ही है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि तब उसमें वक्तृत्व सिद्ध करनेमें भी हेतुवाची सुतपदसे असुतत्वकी निवृत्तिमात्र ही विवक्षित बताया जा सकता है और वह सम्भव ही है।

असुतत्वनिवृत्तिमात्रस्य स्वरूपेण कृतिज्ञप्त्योरसामर्थ्ये समर्थमर्थान्तरमध्यवसेयमनन्तर्भाव्य कुतो हेतुत्वमिति चेन्न, अचैतन्येप्यस्य न्यायस्य समानत्वात्। व्यावृत्तिरूपमपि तदेव गमकं यदतस्मादेव, यथा शिंशपात्वम्, वन्ध्यासुतस्त्वसुतादिव घटादेः सुतादपि देवदत्तादेर्व्यावर्तते अतो न हेतुरिति चेत्, नन्विदमचैतन्यमपि अस्यैवरूपमेव, नहि वन्ध्यासुतश्चेतनादिव देवदत्तादेरचैतनादिकाष्ठादेर्न व्यावर्तते।

वक्तृत्वं वस्त्वेकनियतो धर्मः, स कथमवस्तुसाध्यो विरोधादिति चेत्, स पुनरयं विरोधः कुतः प्रमाणात् सिद्धः ? किं

यदि कहो कि—असुतत्वकी निवृत्तिमात्र तो अलीक होनेके कारण स्वयं किसी क्रियाको और किसी ज्ञानको करानेमें असमर्थ है। इसलिये समर्थ एवं अनुभवमें आनेवाले किसी दूसरे पदार्थका अन्तर्भाव किये विना वह हेतु कैसे बन सकता है ?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि तुम्हारे अचैतन्य हेतुमें भी यह न्याय समानरूपसे लागू हो जायगा।

यदि कहो कि—व्यावृत्ति (निवृत्ति) रूप होकर भी वही बोधक होता है, जो विजातीयसे ही व्यावृत्त होता है, न कि सजातीयसे भी। जैसे शिंशपात्व अपने विजातीय कटहल आदिसे ही व्यावृत्त होता है, न कि सीसमसे भी। इसलिए वह अपने वृक्षत्वका बोधक हो सकता है। किन्तु वन्ध्यासुत तो जैसे असुत अर्थात् विजातीय घट आदि से व्यावृत्त है, वैसे ही देवदत्त आदि सुतसे भी व्यावृत्त है। अतः वह वक्तृत्वका हेतु नहीं हो सकता है—तो निश्चय ही तुम्हारा यह अचैतन्य हेतु भी इसके समान ही है। क्योंकि ऐसी बात नहीं है कि वन्ध्यासुत जैसे चेतन देवदत्तसे व्यावृत्त है, वैसे ही काष्ठ आदि अचेतनसे भी व्यावृत्त न हो।

यदि कहो कि—वक्तृत्व केवल वस्तुका ही नियत धर्म है, अतः वह अवस्तु (मिथ्या) भूत वन्ध्यासुतमें कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? क्योंकि वस्तु और अवस्तु परस्पर विरुद्ध हैं—तो बताओ, यह

कर्तृत्वविविक्तस्यावस्तुनो नियमेनोपलम्भात् ? आहोस्विद् वस्तु-विविक्तस्य वक्तृत्वस्यानुपलम्भादिति ?

न तावदवस्तु केनापि प्रमाणेनोपलम्भगोचरः, तथात्वे वा नावस्तु। नाप्युत्तरः, समानत्वात्। नहि वक्तृत्वमिव अवक्तृत्व-मपि वस्तुविविक्तं कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः।

तद्विविक्तविकल्पमात्रं तावदस्तीति चेत्, तत्संसृष्टविकल्प-नेऽपि को वारयिता ? ननु वक्तृत्वं वचनं प्रति कर्तृत्वं, तत् कथमवस्तुनि ? तस्य सर्वसामर्थ्यविरहलक्षणत्वादिति चेत्,

---

विरोध किस प्रमाणसे सिद्ध होता है ? क्या वक्तृत्वसे शून्य ही अवस्तु-की नियमतः उपलब्धि होनेसे ? अथवा वस्तुविहीन वक्तृत्वकी अनु-पलब्धि होनेसे ?

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि अवस्तुकी तो किसी भी प्रमाणसे उपलब्धि नहीं होती है। यदि उपलब्धि होगी तो वह अवस्तु नहीं रह जायगी।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि मेरे और आपके साध्यों-की समान स्थिति है। क्योंकि, जैसे वस्तुविहीन वक्तृत्व अप्रामाणिक है, वैसे ही वस्तुविहीन अवक्तृत्वमें भी कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहो कि—प्रमाण न होनेपर भी वक्तृत्वसे शून्य अवस्तु (वन्ध्यासुत) का ज्ञानमात्र तो है—तो वक्तृत्वसे सम्पृक्त अवस्तुके ज्ञानको भी कौन रोकनेवाला है ?

यदि कहो कि—वक्तृत्वका अर्थ है 'वचनक्रियाका कर्त्ता होना' और वह कर्त्तापन अवास्तविक बन्ध्यासुतमें कैसे आ सकता है ? क्योंकि वह हर प्रकारकी सामर्थ्यसे रहित है—तो, उसमें अवक्तृत्व भी कैसे आ सकता है ? क्योंकि उसका भी अर्थ है 'वचनसे भिन्न कार्यके प्रति कर्त्ता होना' जो मिथ्या में नहीं हो सकता।

यदि कहो कि—जिसमें हर प्रकारकी सामर्थ्यका अभाव है, उसमें बोलनेकी सामर्थ्यका भी अभाव रहने में कोई विरोध नहीं है—तो

अवक्तृत्वमपि कथं तत्र ? तस्य वचनेतरकर्तृत्वलक्षणत्वादिति । सर्वसामर्थ्यविरहे वचनसामर्थ्यविरहो न विरुद्ध इति चेद्, अथ सर्वसामर्थ्यविरहो वन्ध्यासुतस्य कुतः प्रमाणात् सिद्धः ? अवस्तुत्वादेवेति चेत, नन्वेतदपि कुतः सिद्धम् ? सर्वसामर्थ्यविरहादिति चेत, सोऽयमितस्ततः केवलैर्वचनैर्निर्धनाधमर्णिक इव साधून् भ्रामयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति ।

क्रमयौगपद्यविरहादिति चेन्न, तद्विरहसिद्धावपि प्रमाणानुयोगस्यानुवृत्तेः । सुतत्वे च परामृष्यमाणतदविनाभूतसकलवक्तृत्वादिधर्मप्रसक्तौ कुतः क्रमयौगपद्यविरहसाधनस्यावकाशः ? कुतस्तरां चावस्तुत्वसाधनस्य ? कुतस्तमां चावक्तृत्वादिसाधनानाम् ?

बताओ, तूने किस प्रमाणसे जाना कि वन्ध्यासुतमें हर प्रकारकी सामर्थ्य का अभाव है ?

यदि कहो कि—उसके मिथ्या होनेसे—तो यही कैसे जाना कि वन्ध्यासुत मिथ्या है । यदि कहो कि—उसमें हर प्रकारकी सामर्थ्यका अभाव है, अर्थात् वह कुछ भी नहीं कर सकता है, इसलिये जानते हैं कि वह मिथ्या है—तब तो निर्धन खदुकके समान तूँ भी केवल बातोंसे ही सज्जनों को इधर-उधर भरमाते हो और अन्योन्याश्रय दोषको भी नहीं देखते ।

यह कहना कि—हर प्रकारकी असामर्थ्यका कारण क्रम और यौगपद्यका अभाव है । अर्थात् जो किन्हीं कार्यों के करनेमें सामर्थ्यवान् होता है, वह या तो क्रमशः करता है या युगपत् (एक साथ) करता है । वन्ध्यासुत तो न क्रमसे कुछ करता है और न एक साथ । इसीलिए वह सर्वसामर्थ्यसे रहित है—ठीक नहीं है । क्योंकि क्रम और यौगपद्यके अभावकी भी सिद्धिके लिए प्रमाणकी अपेक्षा ज्यों की त्यों है । क्योंकि जब उसे सुत कहते हो तो सुतोंमें रहनेवाले वक्तृत्व आदि सम्पूर्ण धर्म उसमें भी होने ही लगेंगे । इस स्थितिमें वन्ध्यासुतमें क्रमयौगपद्याभावकी सिद्धि कैसे होगी ? और वह मिथ्या भी कैसे सिद्ध होगा ?

तस्मात् प्रमाणमेव सीमा व्यवहारनियमस्य तदतिक्रमे त्वनियम एवेति।

न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ 'स किं गौरः कृष्णो वेति' वैयात्यं विना प्रश्नः। तत्रापि यद्येकोऽप्रतीतपरामर्शविषय[1] एवोत्तरं ददाति न गौर इति, अपरोऽपि किं न दद्यान्न कृष्ण इति। न चैवं सति काचिदर्थसिद्धिः, प्रमाणाभावविरोधयोरुभयत्रापि तुल्यत्वादिति।

नन्वप्रतीतेर्व्यवहाराभाव इति युक्तं, कूर्मरोमादयस्तु प्रतीयन्त

तथा यह भी कैसे सिद्ध होगा कि बन्ध्यासुतमें अवक्तृत्वादि है, अर्थात् वह वक्ता आदि नहीं हो सकता।

इसलिये किसी भी व्यवहारका नियामक प्रमाण ही है। उसके बिना तो कोई नियम ही नहीं रह जायगा। क्योंकि प्रमाणसे देवदत्त आदिको जाने बिना "क्या वह गोरा या काला है?" ऐसा प्रश्न धृष्टताके बिना नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस वस्तुको जानते नहीं उसके गोरा काला होनेका प्रश्न ही नहीं होता है। साथ ही वैसा प्रश्न होनेपर भी यदि कोई उसके गोरापन कालापनको बिना जाने ही उत्तर देता है कि वह गोरा नहीं है तो दूसरा भी यह उत्तर क्यों न दे कि वह काला नहीं है। ऐसी स्थितिमें काला या गोरा किसीका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाणाभाव और विरोध दोनों ही उत्तरोंमें समान है।

यहाँ प्रमाणका अभाव इसलिये है कि दोनोंमें किसीने प्रमाणके साथ उत्तर नहीं दिया। और विरोध इसलिए है कि प्रमाणके द्वारा जिस वस्तुको जाना ही नहीं उसका गोरा न होना या काला न होना कैसे जान सकता है? और उत्तर भी कैसे दे सकता है?

(शङ्का) यह ठीक है कि अज्ञात विषयके सम्बन्धमें किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता, किन्तु कछुएके रोम या बन्ध्याका पुत्र आदि तो

१. अविदितपरामर्शविषय इति भ० ठक्कुरसम्मतः पाठः।

एव, न ह्येते विकल्पाः कश्चिदर्थभेदमनुल्लिखन्त एव उत्पद्यन्ते, न च प्रमाणास्पदमेव व्यवहारास्पदमिति, तच्चमुक्तम्[1] । तथाहि शशविषाणमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिर्वा स्यात् असत्ख्यातिर्वा । न तावदाद्यस्ते रोचते, तथा सति हि किञ्चिदारोप्यं किञ्चिदारोपविषय इति स्यात् । तथा चारोपविषयस्तत्रैवास्ति आरोपणीयस्त्वन्यत्रैवेति जितं नैयायिकैः । नापि द्वितीयः, कारणानुपपत्तेः । इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैव[2] व्यापारात् । लिङ्गशब्दाभासयोरन्यथाख्यातिमात्रजनकत्वात् । अपहस्तितस्वार्थयोश्चासत्-

ज्ञात ही हैं। क्योंकि कूर्मरोम या बन्ध्यापुत्र आदि शब्द को सुनकर जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे किसी वस्तु विशेषको विषय किये बिना नहीं होते हैं। यहाँपर यह आवश्यक नहीं है कि जो प्रामाणिकरूपसे ज्ञात होगा, उसीमें कोई व्यवहार होगा। अर्थात् व्यवहारके लिये उसे किसी भी प्रकारसे ज्ञात होना चाहिये।

(उत्तर) इस प्रकारका कथन ठीक नहीं है। क्योंकि शशशृङ्ग, कूर्मरोग, बन्ध्यापुत्र आदि ज्ञानको अन्यथाख्याति मानते हो या असत्ख्याति मानते हो। इनमें प्रथम पक्ष तो तुम्हें नहीं पसन्द है। क्योंकि उस पक्षमें कोई आरोप्य होगा और कोई आरोप का विषय। अर्थात् बन्ध्यास्त्री कूर्म आदि आरोपके विषय होंगे और उनमें पुत्र रोम आदिका सम्बन्ध आरोप्य होगा। ऐसी दशामें बन्ध्यास्त्री तो सामने ही है और पुत्रका सम्बन्ध भी दूसरी जगह है ही। इस प्रकार नैयायिकोंको विजय प्राप्त हो गयी।

कारण न हो सकनेसे असत्ख्याति (असत्का ज्ञान) रूप द्वितीय पक्ष भी संभव नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय द्वारा ज्ञान होनेमें विषय और इन्द्रियका सन्निकर्षरूप व्यापार आवश्यक है। हेत्वाभास और शब्दाभास तो अन्यथाख्याति ही पैदा करते हैं न कि असत्ख्याति।

---

१. तन्न युक्तम्—१ पु० पा०

२. विषयाधिपत्येन—सन्निकृष्टविषयसहकारित्वेनेत्यर्थ इति शिरोमणिः।

ख्यातिजनकत्वे शशविषाणादिशब्दात् कूर्मरोमादिविकल्पानामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, नियामकाभावात् ।

स हि सङ्केतो वा स्यात् ? शब्दस्वाभाव्यं वा ? आद्यस्तावत् सङ्केतविषयाप्रतीतेरेव पराहतः । तत एव[1] तत्प्रतीतावितरेतराश्रयत्वम्, पदसङ्केतबलेनैव प्रतीतौ स्वार्थापरित्यागात् । तथा चानन्विताः पदार्था एवान्विततया परिस्फुरन्तीति विपरीतख्याति-

---

अर्थात् गलत हेतु और मिथ्यावादीके शब्दसे भी उसी अर्थकी प्रतीति होती है, जो कहीं सत् है। जिस हेतुका अपने साध्यके साथ और जिस शब्दका अपने अर्थके साथ कहीं भी सम्बन्ध न हो और वह असत् अर्थकी प्रतीति करावे तो शशशृङ्ग आदि शब्दसे कूर्मरोम आदि अर्थका ज्ञान भी होने लगेगा। क्योंकि ऐसा न होने देनेवाला कोई नियामक नहीं है।

क्योंकि वह नियमन करने वाला सङ्केत होगा? अथवा शब्दका स्वभाव? प्रथम पक्षमें 'शशविषाण' इस पदसमूहका सङ्केत मानो तो असंभव है। क्योंकि सङ्केतका विषय जो अखण्ड शशविषाण उसकी कहीं प्रतीति ही नहीं है तो उसमें 'शशविषाण' इस पदसमूहका सङ्केत कैसे हो सकता है? यदि इसी सङ्केतके बलसे उसकी प्रतीति मानो तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है "सङ्केतसे प्रतीति और प्रतीति होनेपर सङ्केत"।

यदि कहो कि—शश और विषाण इन प्रत्येक पदोंके सङ्केतबलसे ही "शशविषाण' इस अखण्ड अर्थकी प्रतीति हो जायगी—तब तो शशपदका खरहारूप अपना अर्थ और विषाणपदका सींगरूप अपना अर्थ कहीं सत् ही है न कि असत्। इस प्रकार पृथक् पृथक् लोकमें प्रसिद्ध खरहा और सींगरूप अर्थ केवल परस्पर में असम्बद्ध हैं, और 'शशशृङ्ग' शब्दसे सम्बद्धरूपमें भासित होते हैं, यह अन्यथाख्याति ही तो हो रही है न कि असत्ख्याति।

यदि कहो कि—शश और विषाण पदोंका भी पृथक्-पृथक् अपने-अपने अर्थोंके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् उन पदोंका

---

१. इत एवेति भ० ठक्कुरसम्मतः पाठः।

रेवानुवर्तते। स्वार्थपरित्यागे तु पुनरप्यनियमः, असामयिकार्थप्रत्यायनात्। शब्दस्वाभाव्यात् तु नियमे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि तथाविधविकल्पोदयप्रसङ्गादिति।

वासनाविशेषादिति चेत्, अथासदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणम्? उत वासनापि? न तावदाद्यः, शशविषाणादिप्रत्ययानां सदातनत्वप्रसङ्गात्। कदाचित् प्रबोधादिति चेत्, न, प्रबोधोऽपि सहकार्यन्तरं वा? अतिशयपरम्परापरिपाको वा? आद्ये वासनैवेति पक्षानुपपत्तिः। द्वितीयेऽपि यद्यर्थान्तरप्रत्यासत्तेस्तदा पूर्ववत्।

खरहा और सींगरूप अर्थ भी असत् ही है, इसप्रकार असत्‌ख्याति सिद्ध हो जाती है—तब तो फिर भी किस शब्दसे कौन अर्थ समझा जाय, इसका कोई नियम नहीं रह गया। इस स्थितिमें घटशब्दसे पटका भी बोध होना चाहिये। यह कहना तो ठीक नहीं है कि—शब्दका स्वभाव ही ऐसा है कि कोई खास शब्द किसी खास अर्थको ही बताता है—क्योंकि तब विद्वान्‌के समान मूर्खको भी समान रूपसे शब्दोंसे अर्थबोध होना चाहिये। कारण शब्दका स्वभाव सबके प्रति समान है।

इस दोषसे बचनेके लिये यदि संस्कारविशेषको कारण मानो, तो बताओ, असत् अर्थका उल्लेख करनेवाले ज्ञानका कारण केवल संस्कार ही है? या संस्कार भी एक कारण है? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कारके सदा होनेसे शशविषाणादिका ज्ञान भी सदा होते रहना चाहिये।

यदि कहो कि—संस्कारके कभी कभी उद्बुद्ध होनेसे शशशृङ्गज्ञान भी कभी-कभी होगा—तो ठीक नहीं है। क्योंकि संस्कारका उद्बोध (जागरण) संस्कारसे भिन्न एक अन्य सहायक है? या उन्हीं संस्कारोंकी एक परिपक्व अवस्थामात्र है? प्रथम पक्षमें वासना (संस्कार) ही कारण है, यह कथन असङ्गत हो जाता है। द्वितीय पक्षमें भी संस्कारकी वह अवस्था यदि दूसरी वस्तुके संसर्गसे हो तो "वासना ही कारण है" यह कथन फिर असंगत हो जाता है। यदि

स्वसंततिमात्राधीनत्वे तु बाह्यवादव्याघातः,[1] नीलादिबुद्धीनामपि वासनापरिपाकादेवोत्पादात्[2]। वासनापीति पक्षे तु तदन्योऽपि हेतुः कश्चिद् वक्तव्यः, स च विचार्यमाणः पूर्वन्यायं नातिवर्तत इति।

न च शशविषाणादिशब्दानामसदर्थैः सह सम्बन्धावगमोऽपि। तथाहि परबुद्धीनामनुल्लेखात् तद्विषयस्याऽप्यनुल्लेख एव। न चार्थक्रियाविशेषोऽप्यस्ति, यतो विषयविशेषमुन्नीय तत्र

संस्कारोंकी धारासे ही वह अवस्था बन जाती है, तब तो बाह्यवादका व्याघात हो जायगा। क्योंकि नीलपीतादिज्ञान भी बिना बाह्यवस्तुकी अपेक्षा किये ही परिपक्वावस्थाप्राप्त संस्कारसे ही उत्पन्न हो जायगा। अर्थात् नीलपीतादिविकल्पोंके कादाचित्कत्वकी उपपत्तिके लिये ही तुमने बाह्यनीलादिको स्वीकार किया है। वह कादाचित्कत्व यदि वासनामात्रके अधीन उत्पन्न हो जाय तो बाह्य नीलादिका स्वीकार व्यर्थ हो जायगा।

इन सभी दोषोंसे बचनेके लिए—ज्ञान होनेमें वासना भी कारण है—ऐसा द्वितीय पक्ष स्वीकार करो तो वासनासे अन्य जो हेतु है, उसे भी बताना चाहिए। और उसपर विचार किये जानेपर वह भी पूर्ववत् ही खण्डित हो जाता है। अर्थात् असत्ख्यातिका कारण इन्द्रिय नहीं हो सकती है, क्योंकि असत् वस्तुसे उसका सन्निकर्ष नहीं होता और वह सन्निकृष्ट वस्तुको ही बतानेमें समर्थ है। हेत्वाभास या शब्दाभाससे तो असत्की ख्याति हो ही नहीं सकती, यह बता चुके हैं।

एवं शशविषाण आदि शब्दोंका असत् अर्थोंके साथ सम्बन्धज्ञान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि दूसरेकी बुद्धिका ज्ञान दूसरेको नहीं

---

१. नीलादिविकल्पकादाचित्कत्वेन त्वया नीलादीनि बाह्यानि स्वीक्रियन्ते। तच्च कादाचित्कत्वं यदि वासनामात्राधीनमेव तदा गतं बाह्यनीलादिस्वीकारव्यसनेनेति शङ्करमिश्रः।

२. वासनापरिपाकादेरेवोत्पादात्—१ पु० पा०

सङ्केतो गृह्यताम्। न च सङ्केतयितुरेव वचनात् तदवगतिः, तद्विषयाणां सर्वेषां वचनानामप्रतीतविषयत्वेनागृहीतसमयतया अप्रतिपादकत्वात्।

न च शशविषाणमुच्चारयतः कश्चिदभिप्रायो वृत्त इति तद्विषयोऽस्य वाच्य इति सुग्रहः समय इति वाच्यम्, न ह्येवमाकारः

होनेसे शशविषाणशब्दका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति उस शब्दका किस अर्थके साथ सम्बन्ध जानकर प्रयोग करता है, इसका ज्ञान श्रोताको नहीं हो सकता है। एवं शशशृङ्गशब्दके प्रयोगके बाद किसी वस्तुका लाना या ले जाना भी नहीं दीख पड़ता, जिससे उस वस्तुविशेषको जानकर उसमें शशशृङ्गशब्दका संकेत (सम्बन्ध) जाना जाय।

यह भी नहीं कह सकते कि—जैसे, 'पिक' शब्दका अर्थ 'कोकिल' होता है, संकेतकर्ताके इस वचनसे हम पिकशब्दके अर्थको जान जाते हैं, वैसे ही शशशृङ्ग शब्दका अर्थ भी संकेतकर्त्ताके वचनसे ही जाना जा सकता है—क्योंकि वहाँ कोकिलशब्दके द्वारा कोयलरूप वस्तुको पहलेसे ही हम जानते हैं और उसीकी सहायतासे पिकशब्दका भी कोयलअर्थके साथ सम्बन्ध जाने जाते हैं। किन्तु यहाँपर शशशृङ्गशब्दका अर्थ जाननेके लिए संकेतकर्त्ता जितने भी शब्दोंका प्रयोग करेगा, वे सभी शब्द शशशृङ्गशब्दके समान ही श्रोताके लिए अपरिचित अर्थवाले ही होंगे। इस प्रकार जब स्वयं उन्हीं शब्दोंका उस असत् अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं जाना गया है, तब उनकी सहायतासे शशशृङ्गशब्दका अर्थ कैसे जाना जा सकता है? अर्थात् जब वह अर्थ ही असत् है तो किसी भी कल्पित शब्दसे उस अर्थकी उपस्थिति श्रोताके मनमें नहीं हो सकती है। कोयल तो सत् वस्तु है और वह सबको प्रत्यक्ष है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि—शशविषाणशब्दका उच्चारण करनेवाला व्यक्ति अवश्य ही किसी अर्थके अभिप्रायसे उच्चारण करता है, अतः वही अर्थ शशविषाणशब्दका वाच्य है, ऐसा संकेतग्रह आसानी से हो सकता है—क्योंकि सामान्यरूपसे हुए ऐसे सङ्केतग्रहका

समयग्रहः । गां बधानेत्युक्ते अप्रतीतशब्दार्थस्याप्यभिप्रायमात्र-प्रतीतौ समय[1]ग्रहप्रसङ्गात् । न च विशेषान्तरविनाकृतः कल्पनामात्रविषयोऽस्य वाच्य इति साम्प्रतम्, घटकूर्मरोमादीनामपि तदर्थत्वप्रसङ्गात् ।

न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनयाऽसदर्थशब्दसंबन्धप्रति-पत्तिभाज इति साम्प्रतम्, परस्परवार्तानभिज्ञतया अपरार्थत्वप्रसङ्गात् । न हि स्वयं कृतं समय[2]मग्राहयित्वा परो व्यवहारयितुं शक्यते । न च व्यवहारोपदेशावन्तरेण ग्राहयितुमपि । न च गां बधानेतिवत् शशविषाणपदार्थे व्यवहारः, न चायमसावश्च इति-

---

शाब्दबोधमें कोई उपयोग नहीं है । अन्यथा 'गां बधान' ऐसा कहनेपर जिसे विशेषरूपसे 'गां' और 'बधान' पदका अर्थ नहीं मालूम है, उसे भी केवल यह जानकर कि ये पद अवश्य ही किसी अर्थके अभिप्रायसे कहे गये हैं, सङ्केतज्ञान होकर शाब्दबोध हो जाना चाहिये ।

यह भी समुचित नहीं है कि—शशविषाण आदि शब्दोंका कोई विशेष अर्थ नहीं होनेपर भी कल्पनामात्रका विषय जो अलीक अर्थ वही इस शब्दका वाच्यार्थ है—क्योंकि कोई भी काल्पनिक अर्थ यदि शशविषाण शब्दका अर्थ माना जाय तो काल्पनिक घटरोम[1] और कूर्मरोम आदि भी शशविषाणशब्दका अर्थ होने लगेगा ।

यह भी ठीक नहीं है कि—बोध करनेवाले सभी व्यक्ति अपनी अपनी वासनासे ही उपस्थित हुए अलीक अर्थोंमें शशविषाण आदि शब्दोंका संकेत जान लेते हैं—क्योंकि अपनी वासनाके आधारपर उपस्थित अर्थमें हुआ शब्दका सङ्केतग्रह अपने ही तक रह जायगा, दूसरे को नहीं हो सकता । इसलिये दूसरे व्यक्तिके प्रति शशशृङ्ग आदि शब्दोंका व्यवहार असंभव हो जायगा । कारण, स्वयं कल्पित किसी अर्थमें किसी शब्दके सङ्केतको बिना दूसरे को बताये उसके

---

१. यद्वा यन्मते घटस्यापि काल्पनिकत्वं तन्मतमाश्रित्योक्तमिति शंकरमिश्रः ।

२. स्वयं कृतं संकेतं—१ पु० पा०

वदुपदेशः। न च यथा गौस्तथा गवय इतिवदुपलक्षणातिदेशः। न चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीतिवत् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यम्।

तदमूः शशविषाणादिकल्पाः[1] नासत्ख्यातिरूपास्तथात्वे कारणाभावात् मूकस्वप्नवदासां व्यावहारिकत्व[2]प्रसङ्गाच्च। तस्मादन्यथाख्यातिरूपा एवेति नैतदनुरोधे[3]नाप्यवस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वमिति।

प्रति उस शब्दका व्यवहार नहीं किया जा सकता है। और यह भी नहीं हो सकता कि प्रवृत्तिरूप व्यवहार अथवा शब्दोपदेश के बिना ही सङ्केतका ग्रह हो जाय। अतः शशविषाणशब्दका सङ्केतग्रह नहीं हो सकता है।

क्योंकि, गौमें बांधना आदि व्यवहार जैसे होता है, वैसे शशश्रृङ्ग पदार्थमें कोई व्यवहार नहीं होता। एवं "इसे अश्व कहते हैं" इसके समान "इसे शशश्रृङ्ग कहते हैं" ऐसा शब्दोपदेश भी नहीं होता है। और न तो "गौ के सदृश गवय होता है" इसके समान किसी वस्तुकी सदृशता ही शशश्रृङ्ग में बतलाई जा सकती है। एवं, जैसे, "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" इस वाक्यमें आये मधुकरपदका सङ्केत वह व्यक्ति आसानीसे जान जाता है, जिसे कमलका खिलना और उसके द्वारा इसके रसका पान किया जाना आदि पहलेसे विदित है। अर्थात् प्रसिद्ध पदोंके साहचर्यसे भी अप्रसिद्ध पदका सङ्केतग्रह हो जाता है। किन्तु शशश्रृङ्गशब्द तो मधुकरशब्दके समान प्रसिद्ध पदोंके साथ कहीं व्यवहृत होता हुआ भी नहीं पाया जाता है।

अतः शशविषाण कूर्मरोम आदि प्रतीतियां असत्ख्यातिरूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि वैसा होनेका कोई कारण नहीं है। यदि हो भी सकें तो भी गूँगेके स्वप्नके समान उनका व्यवहारमें उपयोग नहीं हो सकता है। इसलिये उक्त प्रतीतियां अन्यथाख्यातिरूप ही हैं। इस

---

१. कल्पनाः—इति युक्तः पाठः।

२. अव्यावहारिकत्व इति पाठो युक्तो भाति।

३. न तदनुरोधेन—२ पु० पा०।

भवतु वा असत्ख्यातिस्तथापि न ततो व्यतिरेकः प्रामाणिकः। तथाहि कोऽयं व्यतिरेको नाम? यद्यतो व्यतिरिच्यते तस्य तत्राभावो वा? तदभावस्वभावत्वं वा? तत्र न तावद् क्रमयौगपद्ययोः शशविषाणे अभावः प्रमाणगोचरः, वृक्षरहितभूभृद्कटकवत् क्रमयौगपद्यरहितस्य शशविषाणस्य प्रमाणागोचरत्वात्।

नापि क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं शशविषाणस्य प्रामाणिकं घटाभाववच्छशविषाणस्य प्रमाणेनानुपलम्भात्। घटाभावोऽपि

प्रकार शशविषाणप्रतीतिके अनुरोधसे भी अवस्तुमें निषेध व्यवहार नहीं हो सकता है।

अथवा शशविषाण आदिकी प्रतीति असत्ख्याति ही हो तथापि उस असद् वस्तुमें क्रमयौगपद्यका या अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्ताका व्यतिरेक (अभाव) सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण, यह व्यतिरेक क्या वस्तु है, यह प्रश्न उठता है। क्या जो जिससे व्यतिरिक्त (भिन्न) है उसका उसमें अभाव व्यतिरेक है? अर्थात् अधिकरण से भिन्न और उसमें रहने वाला अभाव व्यतिरेक है। अथवा प्राभाकर मतके अनुसार उसका अभावरूप दूसरेका होना ही व्यतिरेक है? अर्थात् भूतलादि अधिकरणसे अतिरिक्त घटाभाव कोई वस्तु नहीं है, किन्तु अधिकरणस्वरूप ही है। इन दोनों पक्षोंमें प्रथम पक्षके अनुसार शशशृङ्गमें क्रमयौगपद्यका अभाव अप्रामाणिक है। क्योंकि जैसे, वृक्षरहित पर्वतकी तराई प्रत्यक्ष प्रमाणसे देखी जाती है, वैसे क्रमयौगपद्यसे रहित शशशृङ्ग किसी भी प्रमाण से नहीं जाना जाता है।

दूसरा पक्ष अर्थात् शशविषाणका क्रमयौगपद्याभावरूप होना भी प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि घटाभावके समान शशविषाण किसी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं है। अर्थात् शशविषाण क्रमयौगपद्याभावरूप तब होता जबकि "शशविषाणे क्रमयौगपद्याभावः" ऐसी प्रतीति किसी प्रमाणसे होती, किन्तु ऐसा होता नहीं हैं। घटाभाव तो यदि अधिकरणस्वभाव भी हो तो भी "भूतले घटाभावः" यहां घटाभावकी स्वतन्त्ररूपसे प्रतीति होती है।

न प्रमाणगोचर इति चेत्, न, तस्य तद्विविक्तेतरस्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः[1], असिद्धौ वा तत्राप्यव्यवहार एव ।

घटस्तावत् स्वाभावविरहस्वभावः प्रमाणसिद्धः ताद्रूप्येण कदाचिदप्यनुपलम्भात् । एतावतैव तदभावोऽपि घटविरहस्वभावः सिद्ध इति चेन्न, घटभावस्य तदभावविरहस्वभावत्वानभ्युपगमात् । न चान्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे तदन्योऽपि सिद्धः स्यादतिप्रसङ्गात् ।

यदि कहो कि—शशविषाणके अप्रामाणिक होनेसे यदि उसमें क्रमयौगपद्याभाव या तत्स्वरूपत्व न बन सके तो घटाभाव भी (बौद्धके यहाँ) प्रामाणिक नहीं है । अर्थात् अप्रामाणिक होनेपर भी भूतलादिमें जैसे घटाभावादिका व्यवहार होता है, वैसे अप्रामाणिक भी शशविषाणमें क्रमयौगपद्याभावका व्यवहार होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं होगी—तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि घटाभाव भी अपने से भिन्न जो भूतलादि उससे इतर स्वभावका है, यह प्रमाणसे ही सिद्ध है । यदि न सिद्ध हो तो उसमें (घटाभावमें) भी व्यवहार नहीं ही होगा, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही व्यवहार होता है ।

यदि कहो कि—घट घटाभावके अभावरूपसे सिद्ध ही है, क्योंकि उसकी कभी भी घटाभावरूपमें उपलब्धि नहीं होती है । इतनेसे ही घटाभाव भी घटविरहरूपसे सिद्ध है । अर्थात् बौद्धमतमें स्वतन्त्ररूपसे घटकी प्रमिति न होनेपर भी जैसे उसमें सभी लौकिक व्यवहार होते हैं, वैसे ही घटाभाव भी यद्यपि स्वतन्त्ररूपसे प्रमाणसिद्ध वस्तु नहीं है, तथापि उसमें लौकिक व्यवहार हो ही सकता है—तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि भावभूत घट घटाभावका अभावस्वभाववाला है, ऐसा तुम नहीं मान सकते हो । कारण, तुम्हारे मतमें अभावके अलीक होनेसे घट भी मिथ्या होने लगेगा । साथ ही यह भी नहीं हो सकता कि एकके प्रमाणसे सिद्ध होनेपर दूसरी वस्तु भी सिद्ध हो जाय ।

१. प्रतियोगिवदभावस्यापि अतद्व्यावृत्तिस्वभावस्य प्रमाणसिद्धत्वादिति दीधितिः ।

एवम्भूतावेव घटतदभावौ यदेकस्य परिच्छित्तिरपरस्य व्यव-च्छित्तिरिति चेत्, न, घटवद् घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वानभ्यु-पगमे स्वभाववादानवकाशात् । प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभाव-वादावलम्बनं न तु स्वभाववादावलम्बनेनैव वस्तुसिद्धिरिति[1] भवतामेव तत्र तत्र जयदुन्दुभिः ।

तत् किमिदानीं स्वाभावविरहस्वभावो घटः प्रमाणान्नैव सिद्धः ? तव दृष्ट्या एवमेतत्, घटो हि यादृक्तादृक्स्वभावस्तावत् प्रमाणपथमतीर्णस्तस्य तु यदि परमार्थतोऽभावोऽपि कश्चित् स्यात्, स्यात् परमार्थतः सोऽपि तद्विरहस्वभाव इति तथैव प्रमाणेनावे-

---

क्योंकि वैसा होनेपर वृक्ष सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्त हुआ प्रमाण घड़ा भी सिद्ध कर दे। यह अतिप्रसङ्ग हो जायगा।

(शङ्का) और जगह भले ही न हो, तथापि घट और घटाभावका तो यही स्वभाव है कि एकके निषेधमें दूसरेकी प्रतीति हो जाती है।

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि घटके समान घटाभाव तुम्हारे मतसे प्रामाणिक वस्तु नहीं है। अतः उसमें किसी प्रकारका स्वभाववर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध वस्तुमें ही स्वभावका वर्णन किया जा सकता है, न कि स्वभाव वर्णन कर देनेसे ही वस्तुकी सिद्धि हो जायगी। यह आपकी ही घोषणा है।

(शङ्का) तो क्या, अब घड़ेमें अपने अभावका विरहस्वभावत्व प्रमाणसे नहीं ही सिद्ध होगा ?

(उत्तर) हां, तुम्हारे दर्शनके अनुसार तो ऐसा ही है। क्योंकि घड़ा तो परमाणुओंके समूहरूपमें या एक अवयवीके रूपमें प्रमाणसिद्ध है। किन्तु उसका अभाव भी यदि कोई पारमार्थिक वस्तु हो तो घड़ा भी वस्तुतः उस अभावका अभावरूप हो। और वह अभावाभावरूपसे ही प्रमाण द्वारा जाना भी जाय। किन्तु आप तो ऐसा मानते नहीं।

---

१. वस्तुव्यवस्थितिरिति—१ पु० पा०।

दितः स्यात्। न चैतदभ्युपगम्यते भवता। तस्माद् घटवत् तदभावस्यापि प्रामाणिकत्वेनैवानयोः परस्परविरहलक्षणव्यतिरेकसिद्धिः, अप्रामाणिकत्वे त्वनयोरपि न तथाभाव इति। शशविषाणादिष्वपीयमेव गतिः। ननु काल्पनिकरूपसम्पत्तिरेवास्त्वनुमानाङ्गम्, तन्न, तस्याः सर्वत्र सुलभत्वात्।

ननु पक्षसपक्षविपक्षास्तावद्वस्त्ववस्तुभेदेन द्विरूपाः। तत्र ये कल्पनोपनीतास्तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाः, प्रमाणोपनीतेषु तु प्रामाणिका एवेति विभागः। तदिह काल्पनिकाग्निरग्नेर्यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्यावृत्तिः काल्पनिकी सिद्धा तथापि प्रामाणिकाज्जलह्रदादेः प्रामाणिक्येवैषितव्या, सा

इसलिये घड़ेके समान उसका अभाव भी यदि प्रामाणिक (तात्त्विक) माना जाय, तभी घट घटाभावका विरहस्वरूप और घटाभाव घटका विरहस्वरूप सिद्ध हो। किन्तु अभावको अतात्त्विक माननेकी दशामें दोनों ही में परस्पर विरहस्वरूपत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। शशशृङ्ग आदिमें भी यही गति है। अर्थात् शशशृङ्ग प्रामाणिक हो तभी उसमें आप क्रमयौगपद्यका व्यतिरेक (अभाव) सिद्ध कर सकते हैं तथा पूर्व अनुमानमें उसे दृष्टान्तरूपसे उपस्थित कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(शङ्का) काल्पनिक पक्ष सपक्ष और विपक्षका होना ही अनुमानका अङ्ग हो, क्या हानि है?

(उत्तर) ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि काल्पनिक दृष्टान्तादिकी प्राप्ति सर्वत्र सुलभ होनेसे व्यभिचारी, असिद्ध और विरुद्ध हेतुओंसे भी अनुमिति होने लगेगी। अर्थात् "पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् महानसवत्, शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वाद् घटवत्, नित्यः शब्दः कृतकत्वात्" आदि अनुमान भी साधक होने लगेंगे।

(शङ्का) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष वास्तविक और अवास्तविक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमें जो कल्पनाके आधार पर हैं, वहाँ हेतु का रहना या न रहना भी काल्पनिक ही है। किन्तु जो पक्षादि

च न सिद्धेति कुतस्तस्य हेतुत्वम् ? एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः। न चासौ चाक्षुषत्वस्यास्तीति सोऽपि कथं हेतुः ? एवं कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः, वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः। न च तस्य तौ स्तः, तत् कथमसावपि हेतुरिति[1]।

प्रमाणके आधार पर हैं, वहां तो हेतुका रहना या न रहना प्रामाणिक ही है, ऐसी व्यवस्था है। अतः काल्पनिक निरग्नि स्थान से प्रमेयत्वादि हेतुकी व्यावृत्ति भी काल्पनिकरूपमें भले ही सिद्ध हो जाती है, तो भी अग्निरहित प्रामाणिक जल-ह्रदसे तो प्रमेयत्वहेतुकी व्यावृत्ति भी प्रामाणिक ही होनी चाहिये। किन्तु वैसा तो सिद्ध नहीं है। ऐसी दशामें "अग्निमान् प्रमेयत्वात्" इस अनुमानमें प्रमेयत्व कैसे हेतु बनेगा ? ऐसे ही "शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात्" इस असिद्ध अनुमानमें भी प्रामाणिक शब्दके पक्ष किये जानेपर उसमें हेतु की सत्ता भी प्रामाणिक ही अपेक्षित है। किन्तु शब्दमें चाक्षुषत्व तो वस्तुतः है नहीं, तब वह भी कैसे हेतु होगा ? इसी प्रकार "नित्यः शब्दः कृतकत्वात्" इस विरुद्ध अनुमानमें भी तात्त्विक कृतकत्वधर्मका सपक्षमें रहना भी तात्त्विक ही होगा और वास्तविक विपक्षमें न रहना भी वास्तविक ही होगा। किन्तु कृतकत्व हेतुमें उक्त बातें नहीं हैं। अर्थात् प्रकृत अनुमानमें सपक्षभूत नित्य पदार्थमें कृतकत्वका रहना (अन्वय) और विपक्षभूत अनित्यमें न रहना (व्यतिरेक) दोनों ही असिद्ध हैं। ऐसी दशामें वह भी कैसे हेतु हो सकता है ? अर्थात् पूर्वोक्त व्यभिचारी, असिद्ध और विरुद्ध हेतुओंसे अनुमितिकी आपत्ति नहीं होगी।

(उत्तर) उक्त कथन भी प्रलापमात्र है। क्योंकि जबतक कोई नियामक न हो, यह नहीं कहा जासकता कि अपने अभीष्टकी ओर

---

१. नन्वित्यादिः हेतुरित्यन्तः पूर्वपक्षः।

प्रलपितमेतत् , नहि नियामकमन्तरेण सम्पदं प्रति कल्पना त्वरते विपदं प्रति तु विलम्बत इति शक्यं वक्तुम् , तथा च निरग्निकमपि कूर्मरोम सधूममिति कल्पनामात्रेण विपक्षवृत्तित्वात् धूमोऽपि नाग्निं गमयेत् ।

वास्तव्यां रूपसम्पत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेणेति चेत् , तर्हि वास्तव्यामसम्पत्तौ किं काल्पनिक्या तथेति समानम् । विरोधा-विरोधौ विशेष इति चेत्, कुत एषः ? उभयोरेकत्र वस्त्व-वस्तुत्वादन्यत्रावस्तुत्वादिति चेत् , तत् किं काल्पनिकोऽपि धूमो

कल्पना तीव्र हो जाती है, और अनिष्टके प्रति तो मन्द पड़ जायगी। ऐसा मानने पर "अग्निरहित भी कूर्मरोम धूमवान् है" इस व्यभिचार-कल्पनामात्रसे ही धूम विपक्षगामी हो जायगा तथा उससे पर्वतमें अग्नि-की अनुमिति नहीं होनी चाहिये ।

यदि कहो कि—वस्तुतः तो धूम विपक्षगामी नहीं है, अतः कल्पना-द्वारा उसे विपक्षगामी बनानेसे क्या हानि है ? सत्त्व और क्षणि-कत्वकी भी शशशृङ्गमें वास्तविक व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है, तब काल्प-निक व्यतिरेकव्याप्तिसे आपको क्या लाभ है ? इस तरह हम दोनों समान हैं ।

यदि कहो कि—कूर्मरोम मिथ्या है और उसमें वास्तविक धूमका रहना विरुद्ध है, किन्तु काल्पनिक कूर्मरोम या शशशृङ्गमें क्षणिकत्व और क्रमयौगपद्यका अभाव भी काल्पनिक ही रहे, तो इसमें कोई विरोध नहीं है, यही हम दोनोंमें अन्तर है—तो बताओ, क्यों एक जगह विरोध है और दूसरी जगह अविरोध है ?

यदि कहो कि—दोनों स्थलोंमें एक जगह तो वस्तु (धूम) और अवस्तु (कूर्मरोम) का सम्बन्ध होनेमें विरोध है तथा दूसरी जगह अवस्तु अवस्तुका सम्बन्ध होनेमें अविरोध है—तो क्या काल्पनिक भी धूम वस्तुभूत (वास्तविक) है कि कूर्मरोमको उसके साथ विरोध हो जाय ?

वस्तुभूतो येन कूर्मरोम्णस्तेन सह विरोधः स्यात् ? क्वचिद्-वस्तुभूत एवेति निर्धूमत्वमपि क्वचिद्वस्तुभूतमिति तेनापि विरोध एव। तस्माद् यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय तथा काल्पनिकी सम्पत्तिरपि न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः।

क्षणभङ्गसिद्धौ प्रकारान्तरखण्डनम्

अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वे सिद्धे[1] क्षणभङ्गः, न, विकल्पानुपपत्तेः। तद्धि तादात्म्यं वा, निरुपाख्यत्वं वा, तत्कार्यत्वं वा, तद्व्यापकत्वं वा, अभावत्वमेव वेति।,

---

यदि कहो कि—कहीं तो वह धूम वास्तविक ही है, अतः उस वास्तविक धूमका अवास्तविक कूर्मरोमसे विरोध है ही—तो निर्धूमत्व भी कहीं (जलादिमें) वास्तविक ही है, इस प्रकार निर्धूमत्वसे भी कूर्मरोमको विरोध ही होगा। अर्थात् कूर्मरोममें धूमाभाव भी नहीं रह सकेगा और उसमें धूमवत्ताका आपादन किया ही जा सकता है।

अतः जैसे, काल्पनिक व्यभिचारसे अनुमानमें कोई दोष नहीं आता है, वैसे ही सत्त्व और क्षणिकत्वके व्यतिरेकके काल्पनिक सहचारसे भी कोई लाभ नहीं है। इस तरह तुम्हारे सत्त्व और क्षणिकत्वमें व्यतिरेकव्याप्तिका भङ्ग हो गया।

क्षणभङ्गसिद्धिमें प्रकारान्तरका खण्डन

(शङ्का) क्षणिकत्वकी सिद्धि दूसरे ही प्रकारसे की जायगी। वह यों है—चूँकि वस्तुओंका विनाश अवश्यंभावी है, इसलिए वह विनाश विना हेतुका ही होगा। क्योंकि जो अवश्यंभावी होता है, उसमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं रहती है। इस प्रकार जब विनाश होनेमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है, तब तो कोई भी वस्तु उत्पन्न होते ही नष्ट होती रहेगी और क्षणिकत्व स्वतः सिद्ध हो जायगा।

(उत्तर) क्षणिकत्व सिद्ध करनेका उक्त प्रकार भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ आगे दिये जानेवाले पाँच विकल्पोंमें कोई भी सम्भव नहीं

---

१. ध्रुवभावित्वाद् विनाशस्याहेतुकत्वेन—१ पु० पा०

न पूर्वः—निषेध्यनिषेधयोरेकत्वानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा विश्वस्य वैश्वरूप्यानुपपत्तेः ।

ननु कालान्तरेऽर्थक्रियां प्रत्यशक्तिरेवास्य नास्तिता, सा च कालान्तरे समर्थेतरस्वभावत्वमेवेति चेत्, नन्वयमेव क्षण-भङ्गस्तथा चासिद्धमसिद्धेन साधयतः कस्ते प्रतिनन्दः ?[1]

अपि च देशान्तरकालान्तरानुषङ्गिण्यस्य नास्तिता यद्यय-

है। जैसे—"विनाश अहेतुक है" इस कथनका क्या अभिप्राय है ? क्या विनाश प्रतियोगीस्वरूप है ? या निरुपाख्य अर्थात् अलीक है ? या प्रतियोगीका ही कार्य है ? या उसका व्यापक है ? अथवा अभाव-स्वरूप ही होता हुआ प्रागभावके समान अहेतुक है ?

इनमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता है। क्योंकि निषेधकी जाने-वाली वस्तु और उसका निषेध दोनों एक नहीं हो सकते हैं। यदि परस्पर विरोधी स्वरूपवाले भी निषेध्य और निषेध एक हो जायँ तो संसारमें कहीं विचित्रता ही नहीं रह जायगी और गौ एवं अश्व भी एक होने लगेंगे।

यदि कहो कि—उत्तरकालमें अर्थक्रियाके प्रति भाववस्तुगत जो असमर्थता है, वही उसका अभाव कहा जाता है। अर्थात् समर्थसे भिन्न स्वभाववाला वही भाव अभाव कहा जाता है तथा उस असमर्थताको ही भावका नाश भी कहते हैं—तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षणमें सामर्थ्य और दूसरे क्षणमें असामर्थ्य रूप विरोधी धर्म बताकर यदि एक ही वस्तुको दोनों क्षणोंमें भिन्न-भिन्न सिद्ध करना चाहते हो, तो यही तुम्हारा क्षणभङ्ग है और यह स्वयं असिद्ध है। एवं इस क्षणभङ्गको सिद्ध करनेके लिये जो क्षणभेदसे सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप प्रमाण उपस्थित कर एक ही वस्तुको भिन्न-भिन्न बताते हो, वह भी असिद्ध ही है। इस प्रकार असिद्धको असिद्धसे ही सिद्ध करते हुए तुम्हें कौनसा आनन्द प्राप्त हो रहा है ?

एवं उस स्थान और उस क्षणके अतिरिक्त अन्य स्थान तथा अन्य

---

१. प्रतिमल्लः—१, ३ पु० पा०

मेव, नूनमनवरमिदमुक्तं यदयमेव देशान्तरकालान्तरानुषङ्गीति। यदि वा स्वदेशकालवत् कालान्तरदेशान्तरयोरपि नास्तितानुषङ्गेऽस्तित्वप्रसङ्गः। अशक्तेः कथमस्तु ? शक्तेः सत्तालक्षणत्वादिति चेत्, अथ कालान्तरकार्यं प्रति स्वकालेऽशक्तिरसत्त्वं ? किं वा स्वकार्यमपि प्रति कालान्तरेऽशक्तिरसत्त्वम् ?

आद्ये स्वकालेऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तदानीमपि तस्य ताद्रूप्यात्। कालान्तरकार्यं प्रत्येवमेतदिति चेत्, किमयं मन्त्रपाठः ? न हि

क्षणोंमें भी रहनेवाला वह अभाव यदि प्रतियोगी (भाव) रूप ही हो तो निश्चय ही यह कथन भी तुम्हारे मतानुसार असंगत ही होगा। क्योंकि यह भाव ही देशान्तर और कालान्तरतक रहनेवाला सिद्ध हो गया।

यदि दूसरे देश और दूसरे क्षणोंमें भी अभावका अनुवर्तन न मानो तो वहाँ भावका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा।

यदि कहो कि—दूसरे क्षणोंमें वह भाव वस्तु अर्थक्रियाके प्रति अशक्त है, अतः उसका दूसरे क्षणोंमें अस्तित्व कैसे होगा ? क्योंकि शक्ति ही अस्तित्वका लक्षण है—तो बताओ, अन्यकालीन कार्यके प्रति अपने कालमें जो असमर्थता है, उसे असत्त्व मानते हो ? अथवा अपने कार्यके प्रति भी दूसरे कालमें असमर्थताको असत्त्व कहते हो ?

प्रथम पक्षमें अपने कालमें भी वह वस्तु असत् होने लगेगी, क्योंकि उस कालमें भी उसमें असक्ति है ही।

यदि कहो कि—अन्यकालीन कार्यकी दृष्टिसे वह अपने कालमें भी असत् ही है—तो क्या यह मन्त्रपाठ है कि आँख मूँदकर सत्को भी दूसरी दृष्टिसे असत् मान लिया जाय ? ऐसा व्यवहार तो कहीं नहीं होता कि जो जिस कार्यमें अशक्त है, वह उस कार्यकी दृष्टिसे है ही नहीं। यह नहीं होता कि गर्दभकी दृष्टिसे धूम संसारमें है ही नहीं। ऐसा क्यों होता है ? इसीलिए कि अशक्त होनेसे उसका स्वरूप नहीं निवृत्त हो जाता है।

यो यत्राशक्तः स तदपेक्षया नास्तीति व्यवह्रियते। न हि रासभापेक्षया धूमो जगति नास्ति। तत् कस्य हेतोः? न ह्यशक्तस्य स्वरूपं निवर्तत इति।

द्वितीये तु यदि कालान्तराधाराऽशक्तिः, कथं तदात्मिका? तदाधारा चेत्, तदैवासत्त्वप्रसङ्गः। कालान्तरे तु विपर्ययः। तस्मात्—

विधिरात्माऽस्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते ॥

अनिर्वचनीयनिवृत्तिवादखण्डनम्

अस्तु तर्हि 'भावस्वरूपातिरिक्तानिवृत्तिर्नास्ति' इति

दूसरे पक्षके अनुसार यदि उस अशक्तिको अन्य कालमें मानो तो क्षणिकवादीके मतमें अन्य कालमें उस प्रतियोगी वस्तुके नहीं रहनेसे वह अशक्ति प्रतियोगीस्वरूप कैसे हो सकती है? अर्थात् प्रतियोगीका विनाश प्रतियोगीस्वरूप ही है, यह तुम्हारा कथन गिर जाता है।

यदि कहो कि—वह अशक्ति उस प्रतियोगी वस्तुके कालमें ही है—तो अशक्तिके कारण वह प्रतियोगी अपने सत्ताकालमें ही असत् होने लगेगा। इस प्रकार विरोध आ जाता है। साथ ही अपने कालमें असत् होनेपर दूसरे क्षणोंमें इसके विपरीत सत् होने लगेगा।

इसलिए अस्तित्व ही इस भावपदार्थका स्वरूप है, निषेध तो इससे भिन्न वस्तु है। अतः अस्तित्वके समान निषेध भी वस्तुका स्वरूप है, ऐसा सुनकर कौन बुद्धिमान् लज्जित नहीं हो जायगा।

विधि स्वरूप है भावका, नहिं निषेध विधिरूप।
को नहिं सुन लज्जित बने, दोनोंको विधिरूप ॥

अनिर्वचनीयनिवृत्तिवादखण्डन

(शङ्का) यदि प्रथम पक्ष संभव नहीं है तो धर्मकीर्तिके "भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्ति" इस वाक्यमें "सोपाख्या" शब्द जोड़कर द्वितीय पक्ष ही रहे। अर्थात् "भावस्वरूपातिरिक्ता सोपाख्या

वाक्यस्य[1] सोपाख्येति शेषः। नन्वयमपि क्षणभङ्गस्योद्गारः[2], स च कफोणिगुडायितो वर्त्तते। भवतु वा निवृत्तिरसमर्था, तथाप्यहेतुकत्वे तस्याः किमायातम्? तुच्छस्य कीदृशं जन्मेति चेत्? यादृशः कालदेशनियमः। सोऽपि तस्य कीदृश इति चेदेवं तर्हि न घटनिवृत्तिः क्वापि कदापि, सर्वत्रैव सदैवेति स्यात्।

निवृत्तिर्नास्ति" ऐसा परिष्कारकर तदनुसार वस्तुकी निवृत्ति (विनाश) भावस्वरूपसे अतिरिक्त निरुपाख्य (अनिर्वचनीय) है। अतएव वैसी निवृत्ति (विनाश) के लिए किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं होनेसे उत्पन्न होते ही वस्तुका विनाश स्वतः होता रहेगा और क्षणिकवाद अनायास सिद्ध हो जायगा।

(उत्तर) निश्चित ही यह कथन भी क्षणभंगका उद्गार (डँकार) मात्र है। और वह कण्ठके भीतर पहुँचे हुए गुड़के समान है। अर्थात् भीतर गये हुए गुड़का जैसे कोई स्वाद नहीं आता, वैसे ही उक्त परिष्कारसे भी क्षणभङ्गसिद्धिमें कोई लाभ नहीं है। क्योंकि अनेक प्रकारसे क्षणभङ्गवादको खण्डित किया जा चुका है।

अथवा वस्तुकी निवृत्ति अनिर्वचनीय भले ही हो, फिर भी "वह बिना किसी हेतुकी अपेक्षा किये ही होती रहती है" यह तो सिद्ध नहीं ही हुआ।

यदि कहो कि—अभाव (निवृत्ति) तो मिथ्या है, अतः उसका हेतुसे जन्म कैसा? तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे अलीक भी किसी नियत काल और देशमें ही होता है, वैसे वह किसी नियत हेतुसे ही होगा।

यदि कहो कि—अलीकमें देश और कालका सम्बन्ध भी कैसा? अर्थात् अलीकमें देशकालका सम्बन्ध भी नहीं होता है—तब तो घटकी निवृत्ति कहीं भी और कभी भी न हो सकेगी या देशकालका नियम न होनेसे सब जगह और हमेशा ही होने लगेगी।

१, नास्तित्यस्य—२ पु० पा०। निरुपाख्यैव निवृत्तिरस्तीत्याशयः।

२. स्योद्गारः—२ पु० पा०

भवतु[1] प्रथम एवेति चेत्—सोऽयं भावनास्तितास्वरूप-प्रतिषेधो वा भावप्रतिषेधेन निवृत्तिस्वरूप[2]निरुक्तिर्वेति ? आद्ये भावस्यैव सदातनत्वप्रसङ्गः, द्वितीये तु निवृत्तेरेवेति ।

विनाशे प्रतियोगिमात्रकार्यत्वखण्डनम्

अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वम् , न, तस्यापि कार्यं

(शङ्का) यहाँ प्रथम पक्ष ही रहे। अर्थात् घटकी निवृत्ति किसी देशकालमें नहीं होगी।

(उत्तर) तो बताओ, "भावकी निवृत्ति कहीं और कभी नहीं होती है" इससे क्या कहना चाहते हो ? यदि इससे भावनिवृत्तिके स्वरूपका प्रतिरोध करते हो तो भावमें ही शाश्वतिकत्व आने लगेगा। अर्थात् भाव अविनाशी हो जायगा। यदि तो—"भावकी नास्तिता किसी हेतु द्वारा नहीं होती है" यह आशय बताकर निवृत्तिस्वरूपका निर्वचन करना चाहते हो—तब तो इस द्वितीय आशयके अनुसार भावकी नास्तिता (निवृत्ति) ही शाश्वतिक होने लगेगी। क्योंकि निवृत्तिके होनेमें किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं होनेसे उसके हमेशा होनेमें कोई रुकावट नहीं है।

विनाशमें प्रतियोगिमात्रकार्यत्वका खण्डन

(शङ्का) "विनाश ध्रुवभावी है" इसका यह अर्थ है कि विनाश प्रतियोगीका कार्य है। अतः वह प्रतियोगीकी उत्पत्तिके बाद तुरन्त हो जाता है।

(उत्तर) यह नहीं हो सकता। क्योंकि आपके उक्त कथनका क्या अभिप्राय है ? क्या विनाश प्रतियोगीका भी कार्य है ? या प्रतियोगीका ही कार्य है ? प्रथम पक्षमें विरोध होगा। क्योंकि "प्रतियोगीका भी कार्य है" ऐसा कहनेसे मालूम पड़ता है कि विनाशके प्रति प्रतियोगीके अतिरिक्त भी कारण अपेक्षित है। ऐसी दशामें उस अपेक्षित कारणान्तरके विलम्बसे विनाश भी विलम्बसे होगा।

१. अस्त्विति क्वाचित्कः पाठः।

२. प्रतिषेधेन 'नास्तिता' स्वरूप—१ पु० पा०

इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्यं इत्यसिद्धेः। यत्किञ्चिदुत्पन्नमात्रस्य कार्यं स एव तस्य विनाश इति चेत्, तर्हि यस्याः सामग्र्या यत् कार्यं तत् तदतिरिक्तानपेक्षमिति साधनार्थः, तमिमं को नाम नानुमन्यते[1] ? कार्यमेव विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्तव्यम् ? किं तद्विरहवत्त्वात् कार्यस्य ? किं वा तद्विरहरूपत्वात् ?

न तावत् पूर्वः, सहकारिष्वपि तथाप्रसङ्गात्,[2] विरहस्वरूपानिरुक्तेश्च। न द्वितीयः, स हि कार्यकाले कारणस्य योग्यानुप-

---

अतः प्रतियोगिकार्यत्वरूप ध्रुवभावित्व हेतु वस्तुकी क्षणिकत्वसिद्धिके विरुद्ध होगा।

यदि—"प्रतियोगीका ही कार्य विनाश है" यह दूसरा पक्ष लो तो यह हेतु स्वयं असिद्ध है। क्योंकि प्रतियोगीके अलावे मुद्गरादि भी विनाशके प्रति कारण होते हैं।

यदि कहो कि—उत्पन्न होते ही वह कारण जिस कार्यको पैदा करता है, वह कार्य ही उसका विनाश है—तो यहाँ कारणका अर्थ कार्य पैदा करनेवाली सामग्री लो तो उक्त कथनके पूर्वार्ध (साधनभाग) का यह अर्थ निकला कि "जिस सामग्रीसे जो कार्य होता है, वह कार्य उससे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं करता है" तो इसे कौन नहीं स्वीकार करता है ? क्योंकि सामग्रीसे ही तो कार्य होता है। किन्तु "वह कार्य ही विनाश है अर्थात् उस प्रतियोगीकी उत्पत्तिके अनन्तर होनेवाला वह कार्य विनाश ही है" यह बात किस अनुरोधसे मानी जाय ? क्या कारणसे भिन्न कार्य होता है, इसलिए ? अथवा कारणका अभावरूप कार्य है, इसलिये ?

इसमें पहला पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि सहकारीमें भी कारण-विनाशरूप कार्यका व्यवहार होने लगेगा। अर्थात् सूतका सहकारी

---

१. अनुमनुते—२ पु० पा०।

२. तथाभावप्रसङ्गात्—२ पु० पा०। तथा व्यवहारप्रसङ्गात्—३ पु०पा०

लम्भनियमाद्वा भवेत् ? व्यवहारानुरोधाद्वा ? अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वेति ?

न प्रथमः, उपलभ्यन्ते हि पटकाले वेमादयः। न ते त इति चेत्, किमत्र प्रमाणम्? अभेदेऽपि किं प्रमाणमिति चेत्, मा भूत् तावत्, सन्देहस्थितावपि अनुपलब्धिबलालम्बनविलयात्।

जो करघा आदि है, वह भी सूतरूप कारणसे भिन्न है, अतः करघामें भी तन्तुनाशका व्यवहार होने लगेगा। साथ ही कारणविरह (भेद) के स्वरूपका निर्वचन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि विरहका अर्थ अभाव लो तो वह आपके मतमें मिथ्या वस्तु है, अतः वह कार्यमें कैसे रह सकता है? अर्थात् वह कार्य कारणविरहवान् अर्थात् कारणभेदवान् अर्थात् कारणसे भिन्न कैसे होगा? क्योंकि कार्य सत् और विरह (भेद) अभावरूप होनेसे असत् है। तथा सत् असत्का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि उस कारणविरह (भेद) को असत् होनेसे बचानेके लिए अधिकरणस्वरूप मानो तो वह अधिकरण कार्य ही है। इस स्थितिमें जो कार्य कारणभेदरूप है, वह कारणभिन्न कैसे होगा? क्योंकि वही आश्रित और वही आश्रय नहीं होता है। इसलिए भेद ही भिन्न कैसे होगा?

यदि दूसरा पक्ष लो तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यको कारणका अभावरूप माननेका क्या कारण है? क्या, इसलिये कि कार्यकालमें उपलब्धिकी योग्यता रहते हुए भी नियमतः कारणकी उपलब्धि नहीं होती है? या लौकिक व्यवहारके अनुरोधसे? अथवा कारणके विनाशको (अभावको) कार्यसे अतिरिक्त माननेमें बाधक होनेसे?

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि पटकालमें भी वेमा आदि उसके कारणकी उपलब्धि होती है। यदि कहो कि—पटकालमें जो वेमा आदि उपलब्ध होते हैं, वे पहलेवाले नहीं हैं किन्तु दूसरे ही हैं—तो इसमें प्रमाण क्या है? यदि मुझसे पूछो कि—जो वेमा पट होनेके पहले था वही पटकालमें भी है, इसमें क्या प्रमाण है?—तो मैं

न द्वितीयः, न हि पटो जात इत्युक्ते तन्तवो नष्टा इति कश्चिद् व्यवहरति । पटस्यानतिरेकात् तन्तुमात्रजन्मनि भेदाग्रहाद्व्यवहार इति चेत्, न तर्हि व्यवहारबलमपि[1] । विसभागसन्ततौ तावद् व्यवहारबलमस्तीति चेत्, नैतदेवम् । यदि हि तन्तुमालैव पटनिवृत्तिः, कथं तदाश्रयस्तदात्मको वा पटः प्राक् ? अन्यैवा-

---

कहूँगा कि इसमें भी भले ही कोई प्रमाण न हो, तो भी सन्देहके आधारपर ही तुम्हारा यह कथन कि "कार्यकालमें कारणकी उपलब्धि नहीं होती है" विलीन हो जाता है ।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि "पट उत्पन्न हो गया" ऐसा कहनेपर कोई भी यह व्यवहार नहीं करता कि "तन्तु नष्ट हो गये"।

यदि कहो कि–वैसा व्यवहार न होनेका कारण यह है कि पट तन्तुसे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, किन्तु विभिन्न प्रकारके तानाबानावाले तन्तु ही पट कहे जाते हैं, और पूर्व तन्तुओंसे अग्रिम तन्तुओंके भिन्न होनेपर भी एक जातिके होनेसे यह नहीं मालूम पड़ता कि बुने हुए तन्तु पहलेके तन्तुओंसे भिन्न हैं । यही कारण है कि "कारणभूत तन्तु नष्ट हो गये" ऐसा लोकव्यवहार नहीं होता—तब तो यह आया कि तुम्हारे पक्षमें व्यवहारका बल भी नहीं है ।

यदि कहो कि—कारण-कार्य की सन्तति दो प्रकारकी होती है । एक सदृश और दूसरी विसदृश । सदृश सन्तति तन्तु-पटकी और विसदृश सन्तति काष्ठ-अङ्गारकी होती है । यहाँ विसदृश सन्ततिमें देखा जाता है कि अङ्गार पैदा होनेपर कारणभूत काष्ठका विनाश-व्यवहार होता है । इस दृष्टान्तसे हम कल्पना कर लेंगे कि सदृश सन्ततिमें भी अग्रिम कार्य ही कारणका नाश है—

तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि जहाँ पटनाश होनेपर पुनः तन्तुमालाकी अवस्था प्राप्त हो गयी, वहाँपर पटरूपकारणका नाश तुम्हारे कथनानुसार अतिरिक्त वस्तु न होकर उसका अग्रिम कार्य जो तन्तुमाला, तत्स्वरूप ही होगा । ऐसी दशामें जो तन्तुमाला पटनाश

---

१. व्यवहारावलम्बनमपि—२ पु० पा० ।

साविति चेत्, न तावज्जातिकृतमन्यत्वमुपलभ्यते[1]। व्यक्तिकृतं तु नाद्यापि सिध्यति। अतएव[2] तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्[3]। तथापि यद्येवं स्यात् कीदृशो दोष इति चेत्, न कश्चित्, केवलं प्रमाणाभावो व्यवहाराननुरोधश्च। तदसिद्धावपि सिध्यतस्तस्य निमित्तान्तरापेक्षणात्।

स्वरूप है, उसीमें पहले पट कैसे था? अथवा तुम्हारे मतानुसार वही तन्तुमाला पहले पटस्वरूप कैसे थी?

यदि कहो कि—पटनाशकालीन तन्तुमाला पटकालीन तन्तुमालासे भिन्न है, इसलिए पूर्व तन्तुमाला पटरूप होगी और उत्तर तन्तुमाला पटनाशरूप होगी, इसमें कोई विरोध नहीं है—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्व और उत्तर तन्तुमालाओंमें जातिकृत भेदकी उपलब्धि नहीं होती और व्यक्तिकृत भेद तो बिना क्षणभंग सिद्ध हुए हो नहीं सकता, जो अभीतक सिद्ध नहीं हो सका है। इसीलिये यहाँ अन्योन्याश्रयदोष भी हो जाता है। क्योंकि पूर्व तन्तुमालासे उत्तर तन्तुमाला भिन्न सिद्ध हो तो उत्तर तन्तुमाला पटनिवृत्तिरूप सिद्ध हो और उत्तर तन्तुमालाके पटनिवृत्तिस्वरूप सिद्ध होनेपर ही वह (उत्तर तन्तुमाला) पटस्वरूप पूर्व तन्तुमालासे भिन्न सिद्ध हो सकती है।

(शङ्का) फिर भी उत्तर तन्तुमालारूप अग्रिम कार्यको ही पटात्मक पूर्व तन्तुमालास्वरूप कारणका विनाशरूप माननेमें क्या हानि है?

(उत्तर) कोई हानि नहीं है। केवल इतनी बात है कि प्रमाणका अभाव है और ऐसा व्यवहार भी नहीं होता। जहाँपर तन्तुनाशसे ही पटका नाश हुआ हो, वहाँपर पटनाश तन्तुमालास्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि तन्तुमाला भी वहाँ नहीं है। किन्तु वहाँपर पटध्वंसरूप निमित्तान्तरसे ही पटनाशका व्यवहार तुम भी मानोगे।

---

१. मन्यदुपलभ्यते—१ पु० पा०।

२. इत एव—पा० क्वचित्। टीकाकारसम्मतोऽपि।

३—पूर्वापरतन्तुमालयोर्भेदे सति निवृत्तिरूपत्वं, निवृत्तिरूपतायाञ्च सत्यां भेद इत्यन्योन्याश्रय इति शङ्करमिश्रः।

अपि च तन्तुविनाशः सामान्यतस्तन्तुविरहस्वभावो वा स्यात् तद्विपरीतो वा। आद्ये कथं तन्त्वन्तरम्? न हि सामान्यतो नीलमनीलविरुद्धस्वभावमनीलान्तरम्। द्वितीये कथं तद्विरोधी? न हि नीलं सामान्यतोऽपि नीलान्तरविरोधि। विशेषमात्र एवायं विरोध[1] इति चेत्, तत् किं सामान्यतोऽनुभयस्वभाव एव विनाशः? ओमिति ब्रुवतोऽन्यतरमुपादाय विनाशव्यवहारानुपपत्तिः। सामा-

---

एवं तन्तुस्वरूप विनाशको सामान्यरूपसे तन्तुविरहस्वभाववाला मानते हो? या तन्तुविरहस्वभाववाला नहीं मानते हो? यदि पहला पक्ष रखो तो वह विनाश दूसरे तन्तुका स्वरूप कैसे धारण कर लेगा? क्योंकि सामान्यरूपसे अनीलका विरोधीस्वभाववाला नील दूसरे अनीलका स्वरूप नहीं धारण कर लेता है। अर्थात् दूसरा अनील नहीं बन जाता है।

यदि दूसरा पक्ष मानो, अर्थात् वह तन्तुरूप विनाश यदि सामान्यरूपसे तन्तुविरहस्वभाववाला नहीं है, किन्तु तन्तुस्वभाववाला ही है, तो फिर वह विनाश तन्तुनिवृत्तिरूप कैसे हो सकता है? क्योंकि जैसे सामान्यरूपसे एक नील दूसरे नीलका विरोधी नहीं होता, वैसे एक तन्तु सामान्यरूपसे दूसरे तन्तुकी निवृत्तिरूप अर्थात् विरोधी नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—यह विरोध विशेषमात्रमें है, अर्थात् पूर्वतन्तुकी निवृत्तिस्वरूप उत्तरतन्तु हो सकता है [जो क्षणिकत्वका साधक होगा]—तो क्या वह पूर्वोक्त तन्तुरूप विनाश सामान्यरूपसे उक्त दोनों स्वभावोंमें किसी स्वभावका नहीं है? अर्थात् उक्त विनाश सामान्यरूपसे न तन्तुका विरोधी ही है और न अविरोधी ही है? यहाँ यदि "हाँ" कहो, तब तो उन दोनों स्वभावोंमें किसीको लेकर सामान्यरूपसे तन्तुविनाशका व्यवहार नहीं हो सकेगा।

यदि कहो कि—सामान्यरूपसे विरोधी अविरोधीकी चिन्ता तब हो,

---

१. विशेष एवात्र विरोध—१ पु० पा०

न्यस्यालीकत्वात् तत्र विरोधोऽपि किं करिष्यतीति चेत्, विलीन-मिदानीं विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रत्याशया, तस्य तदाश्रयत्वात्।

नन्वतिरिक्ताभावपक्षे यथा पटः पटान्तराभाववांश्च तज्जातीयश्च, अभावो वा पटविरोधी पटान्तरसहवृत्तिश्चेति न कश्चिद् विरोधः, तथा कार्याभावपक्षेऽपि भविष्यतीति। नैतदेवम्, प्रतियोगिना हि तादात्म्यसंसर्गैकजातीयत्वानि[1] नेष्यन्ते, अप्रतियोगित्वप्रसङ्गात् भिन्नकालत्वात् सामान्यतो विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च।

जब कि सामान्यनामका कोई तत्त्व हो। किन्तु वह तो अलीक (असत्) है; अतः यहाँ सामान्यरूपसे विरोध अविरोधका प्रश्न ही नहीं है—तब तो गोत्व और अश्वत्वरूप विरुद्धधर्मोंके भी अलीक हो जानेसे गौ और अश्वका भी भेद मिट जायगा। क्योंकि वह गौ और अश्वका भेद गोत्व और अश्वत्वरूप विरुद्ध धर्मों के कारण ही होता है।

(शङ्का) अभावको अतिरिक्त माननेवालेके मतमें जिस प्रकार पट पटाभाववाला होता हुआ भी पटजातिका है, उसी प्रकार तन्तु भी तन्तु-निवृत्तिरूप होता हुआ तन्तुजातिका बना रह सकता है। एवं, जैसे पटका विरोधी भी पटाभाव दूसरे पटके साथ रह जाता है, उसी प्रकार तन्तुविनाश भी तन्तुरूप हो सकता है।

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अपने प्रतियोगीके साथ अभावका तादात्म्य नहीं होता, एक जगह रहना नहीं होता और एकजातीयता नहीं होती है। क्योंकि तादात्म्य होनेपर वह प्रतियोगित्व-धर्मसे च्युत हो जायगा। अर्थात् प्रतियोगी नहीं रह जायगा। एवं जिस कालमें प्रतियोगी रहता है, उस कालमें उसका अभाव नहीं रहता, इसलिये प्रतियोगी और उसके अभाव का एक जगह रहना संभव नहीं है। एवं, प्रतियोगी और अभावमें सामान्यरूपसे विरोधी धर्म रहते हैं, इसलिये उनमें एकजातीयता नहीं हो सकती है।

---

१. सम्बन्धैकजातीय—२ पु० पा०

अप्रतियोगिना तु संसर्गे को दोषः ? न हि भेदविजातीयतैककालताः संसर्गविरोधिन्यः । तादात्म्यं हि संसर्गित्वे विरुद्धं विरोधित्वं च । ते च नेष्येते एव । नापि बाधकानुरोधः, तदभावात् ।

ननु घटाभावे घटोऽस्ति न वा ? आद्ये घटवति तदभावः, कपाले घटोऽस्तीति तान्यपि तद्वन्ति प्रसज्येरन् । नास्तीति पक्षेऽनवस्थाप्रसङ्गः । अभावान्तरमन्तरेण तत्र नास्तिताव्यवहारे

अप्रतियोगी के साथ तो अभावका संसर्ग होनेमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि भेद, विजातीयता और एककालता परस्परमें संसर्गके विरोधी नहीं होते हैं । कारण, तादात्म्य और विरोधी होना ही परस्पर संसर्गका बाधक होता है । मैं तो अप्रतियोगीभूत पटान्तरमें न अभावका तादात्म्य मानता हूँ और न उसके साथ अभावका विरोध ही मानता हूँ, जिससे पटान्तरके साथ पटान्तरका अभाव न रह सके । इसके विपरीत तुम तो तन्तुनिवृत्ति और तन्त्वन्तरका परस्पर तादात्म्य मानते हो, इसलिये उनका संसर्ग बाधित है । क्योंकि दो भिन्नोंमें ही संसर्ग होता है ।

(शङ्का) वस्तुका अग्रिम कार्य ही उसका विनाश है, क्योंकि विनाश को कार्यातिरिक्त मानने में बाधक है ।

(उत्तर) यह भी नहीं कह सकते । क्योंकि विनाशको कार्यसे अतिरिक्त माननेमें कोई बाधक नहीं है ।

(शङ्का) अभावको अतिरिक्त माननेवालेके यहाँ घटाभावमें घट है कि नहीं ? आद्य पक्षमें, जैसे घटाभावमें घट रहता है, वैसे ही घटस्थलमें घटाभाव भी रहेगा । ऐसी स्थितिमें जिन कपालोंमें घटका अस्तित्व है, वे भी घटाभाववाले होने लगेंगे । दूसरे पक्षमें अर्थात् "घटाभावमें घट नहीं हैं" इस पक्षमें अनवस्थादोषका प्रसङ्ग हो जायगा । अर्थात् घटाभावमें जो दूसरा घटाभाव है, उसमें भी घटके नहीं रहने से तीसरा घटाभाव रहेगा, और उस तीसरेमें चौथा घटाभाव रहेगा, चौथेमें पांचवा और पाँचवेंमें छठा, इस प्रकार अभावकल्पनाका

भावान्तरेऽपि तथा प्रसङ्गः। न, भावान्तरस्य (स) स्वजातीय[1]-त्वेनाविरुद्धसजातीयत्वात्, विरुद्धजातीयस्य वा समानजातीय-त्वानुपपत्तेः। अन्यत्वमात्रेण तथा व्यवहारे तद्वत्यपि प्रसङ्गात्। अभावस्य तु विरुद्धस्वभावतयैवाभावान्तरानुभवतर्कयो[2]रभावादिति।

विराम नहीं होनेसे अनवस्था हो जायगी। इस अनवस्थादोषके भयसे यदि घटाभावमें अन्य अभावके रहे बिना ही "घटो नास्ति" का व्यवहार माना जाय तो भूतलादिमें भी बिना घटाभावके रहे ही "घटो नास्ति" ऐसा व्यवहार क्यों न माना जायगा?।

(उत्तर) अभावको अतिरिक्त माननेवालेके प्रति उक्त प्रकारका बाधक उपस्थित करना ठीक नहीं है। क्योंकि एक भावपदार्थ दूसरे भावपदार्थका भावरूपसे सजातीय होनेके कारण अविरोधी है। अर्थात् एकभावमें दूसरा भाव कभी रह भी सकता है और कभी नहीं भी रह सकता है। जो विरोधी होगा, वह समानजातीय भी नहीं हो सकेगा। जैसे, अभाव भावका विरोधी होनेसे उसका सजातीय नहीं होता। अतः भाव-भावका उक्त नियम अभाव-भावमें लागू नहीं होगा।

यदि घटरूप प्रतियोगीसे भिन्न होनेमात्रसे भूतलादिमें घटाभावका व्यवहार माना जाय तो घटदशामें भी भूतलमें घटाभाव व्यवहार होने लगेगा। क्योंकि घटके रहने पर भी भूतल घटसे भिन्न ही रहेगा। इसलिये भिन्न होनेसे नहीं किन्तु अभाव होनेसे ही भूतलमें घटाभावका व्यवहार हो सकता है। अथवा जो लोग यह कहते हैं कि 'घटवद्-भूतलस्वरूपसे घटाभावकालीन भूतल भिन्न है, इसलिये भावरूपभूतलके लिये ही घटाभावका व्यवहार होता है न कि अभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ है, उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि एक घटवद् भूतलकी अपेक्षासे दूसरा घटवद्भूतल भिन्न भी है और भावरूप

---

१ अत्र सजातीयत्वविरुद्धजातीयत्वे भावत्वाभावत्वाभ्यामिति दीधितिः।

२ घटाभावो यदि घटाभाववान्न स्यात् घटवान् स्यादिति तर्कस्वरूपम्।

भिन्नाभावजन्मनि घटतादव्यक्त्यं दोष इति चेत्, न, घटतादव्यक्त्यं हि यदि घटत्वमेव, अभिमतमेव तत्। नह्यभावजन्मनि घटोऽघटतामुपैतीत्यभ्युपगच्छामः। तत्कालसत्त्वं चेत्, न तर्ह्यभावो जातः, कालान्तरे घटानवस्थानस्वभाव एव हि तदभावः।

भी है। अतः घटसे युक्त भी उस दूसरे भूतलमें घटाभावका व्यवहार होना चाहिये।

उपर्युक्त दोनों व्याख्यानोंके अनुसार यही सिद्ध होता है कि भूतलमें रहनेवाला घटाभाव भूतलरूप अधिकरणसे भिन्न एवं स्वतन्त्र पदार्थ है।

यहाँ पर यह आशङ्का नहीं की जा सकती है कि—भूतलमें रहनेवाला अभाव यदि अधिकरणसे भिन्न है, तो उस भूतलगत अभावमें रहनेवाला अभाव उससे भिन्न होगा और उस अभावमें भी रहनेवाला घटाभावादि उस अभावसे भिन्न होगा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न अगणित अभावोंकी परम्परा कायम हो जायगी और अनवस्थादोषका प्रसङ्ग हो जायगा—क्योंकि घटाभावमें यदि अन्य घटाभावकी प्रतीति होती तो उस प्रतीतिके बलसे अभावमें अभावान्तर स्वीकार किया जाता। किन्तु वैसी प्रतीति होती नहीं है। क्योंकि अभाव तो अपने प्रतियोगीके विरुद्ध स्वभाववाला है। इसलिए जब घटाभाव रहेगा तब उसका विरोधी घट कैसे रह सकता है? अतः प्रथम घटाभावसे ही हमेशा "घटो नास्ति" व्यवहार होता रहता है, तथा वहाँ अन्य घटाभावका अनुभव नहीं होता। इस स्थितिमें अभावमें दूसरा अभाव क्यों माना जाय?

एवं "घटाभावमें यदि घटाभाव न हो तो उसमें घटकी सत्ता होने लगेगी" इस प्रकारका तर्क भी अभावमें अभावान्तर सिद्ध करनेके लिए नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि प्रथम घटाभावसे ही "घटो नास्ति" व्यवहारकी उपपत्ति हो जायगी और घटाभावमें घटसत्ताका आपादन नहीं किया जा सकता।

(शंका) यदि घटसे भिन्न घटाभाव (घटविनाश) होता तो जिस प्रकार घटसे भिन्न पटके होनेसे पटके उत्पन्न होनेपर भी घट अवस्थित

अस्तु तर्हि निरुपादानत्वं बाधकं जन्मन उपादानव्याप्तत्वादिति चेत्, न, धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् भावावच्छेदाच्च व्याप्तेः।

एतेन निरुपादेयत्वं[1] व्याख्यातम्। गुणादिसिद्धौ चानैकान्तिकत्वादिति।

रहता है, उसी प्रकार घटध्वंसके उत्पन्न होनेपर भी घटको पूर्ववत् अवस्थित रहना चाहिये।

(उत्तर) यह दोष भी नहीं हो सकता। क्योंकि घटके अवस्थित रहनेका अर्थ यदि उसके घटत्वधर्मका कायम रहना अभिप्रेत हो तो उसे मैं भी मानता ही हूँ। क्योंकि "अभाव उत्पन्न होनेपर घट अघटत्वको धारण कर लेता है अर्थात् घट अघट बन जाता है" यह हम नहीं मानते।

यदि घटके अवस्थित रहनेका अर्थ घटाभावकालमें घटकी सत्ता मानो तो "घटसत्तावस्थामें घटाभाव ही नहीं पैदा हुआ" ऐसा कहा जायगा। क्योंकि घटाभावका स्वभाव ही ऐसा है कि उस दशामें घट अवस्थित नहीं रह सकता।

यदि कहो कि—जो जन्मता है, उसका अवश्य कोई समवायिकारण होता है। अभावका कोई समवायिकारण नहीं होता, इसलिये उसका समवायिकारणरहित होना ही उसके उत्पत्तिमान् होनेमें बाधक है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यह कथन धर्मिग्राहकप्रमाणसे बाधित है। अर्थात् जिस प्रमाणसे अभावका ग्रहण होता है, वह प्रमाण ही उक्त कथनमें बाधक है। क्योंकि "इह इदानीं घटो नष्टः" इस अभावग्राहक प्रत्यक्षद्वारा ध्वंसका उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है।

एवं "जो जन्मता है, उसका अवश्य कोई समवायिकारण होता है" यह व्याप्ति भावपदार्थोंके लिये है न कि अभावके लिये भी।

इस युक्तिसे "जो जन्मता है, वह अवश्य दूसरे कार्यका आरम्भक होता है, अभावसे कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसलिये अभाव उत्पत्तिमान् नहीं हो सकता है" यह बाधक भी नहीं दे सकते हो।

---

१ निरुपादेयत्वम् = कार्यानारम्भकत्वमित्यर्थः।

अस्तु तर्हि व्यापकत्वं ध्रुवभावित्वमिति चेत्, न, अतादात्म्यात् अतत्कारणत्वाच्च। अस्मद्दिशापि व्याप्तिग्रहो न साहित्यनियमेन, विरोधितया विषमसमयत्वात्। नापि जन्मानन्तर्यनियमेन, तदसिद्धेः। सिद्धौ वा तत एव क्षणभङ्गसिद्धेः किमनेन ?

भविष्यत्तामात्रेण व्यापकत्वमस्तीति चेत, अस्तु, न त्वेता-

क्योंकि उक्त नियम भी भावपदार्थके लिये ही है। एवं, गुणीसे भिन्न गुण उत्पन्न होता है, यद्यपि वह स्वयं किसी कार्यका आरम्भक (उपादान कारण) नहीं होता। इस प्रकार प्रतियोगीसे अतिरिक्त उसका ध्वंस पैदा होता है, यह सिद्ध हो गया।

यदि कहो कि—प्रतियोगीके प्रति व्यापक होना ही ध्वंसका ध्रुवभावित्व है। अर्थात् जैसे धूमवान्का वह्निमान् होना अनिवार्य है, क्योंकि धूमके प्रति वह्नि व्यापक होता है, वैसे ही प्रतियोगीका ध्वंस होना भी ध्रुव है, क्योंकि प्रतियोगीके प्रति ध्वंस व्यापक है—तो यह नहीं हो सकता है। क्योंकि तुम्हारे मतसे वही व्यापक होता है, जिसमें तादात्म्य हो अथवा जो उसका कारण हो। यहाँ ध्वंस न तो प्रतियोग्यात्मा (प्रतियोगीस्वरूप) है और न प्रतियोगीका कारण है। हमारी रीति से भी यहाँ प्रतियोगी और ध्वंस में व्याप्यव्यापकभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि हमारे मतसे नियत साहचर्यसे व्याप्तिग्रह होता है। यहाँ पर प्रतियोगी और ध्वंस परस्पर विरोधी होनेके कारण विभिन्न समयवर्ती होंगे और उनका परस्पर साहचर्य कभी नहीं हो सकता है।

यह भी नहीं हो सकता कि—चूँकि प्रतियोगीके जन्म होनेके अनन्तर ही नियमित रूपसे ध्वंस उत्पन्न हो जाता है, इसलिए प्रतियोगीके प्रति ध्वंस व्यापक है—क्योंकि प्रतियोगीके जन्मके बाद ही तुरन्त नियमितरूपसे ध्वंसका उत्पन्न होना ही अबतक सिद्ध नहीं हुआ है। यदि सिद्ध हो तो उसीसे क्षणभङ्गवाद सिद्ध हो जायगा, तो फिर इस गुरु व्यापारको क्या आवश्यकता है कि विनाश ध्रुवभावी होनेसे अहेतुक है और अहेतुक होनेसे प्रतियोगीकी उत्पत्तिके अग्रिम क्षणमें ही वह उत्पन्न हो जायगा।

वात् हेत्वन्तरानपेक्षत्वसिद्धिः, अद्यतनघटस्य श्वस्तनकपालमालयै-वानैकान्तिकत्वादिति[1]।

एतेन सापेक्षत्वे व्यभिचारोऽपि स्यात्, विनाशहेतूनां प्रति-बन्धवैकल्यसम्भवादिति परास्तम्। कपालसन्ततितुल्ययोगक्षेम-त्वाद् विनाशस्येति।

अस्तु तर्हि चरमः पक्षः। तथाहि—विनाशो न जायते अभावत्वात् प्रागभाववत्। जातोऽपि वा निवर्तते जातत्वात् घट-वदिति। नैतदेवम्, प्रागभावो जायते अभावत्वाद् विनाशि-

---

यदि कहो कि—भविष्यमें ध्वंस उत्पन्न होगा, इसलिए प्रतियोगीके प्रति ध्वंस व्यापक होगा—तो ऐसा भले ही हो, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वह ध्वंस किसी अन्य हेतुकी अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि आजका घड़ा अपने आप कपालमालाका रूप नहीं धारण कर लेता है किन्तु मुद्गरादिरूप कारणकी सहायतासे फोड़े जानेपर ही।

इससे यह तर्क भी खण्डित हो जाता है कि—ध्वंसको हेत्वन्तर सापेक्ष माननेमें व्यभिचार भी हो सकता है। क्योंकि सम्भव है, हेतुओं-के रहनेपर भी कोई प्रतिबन्धक उपस्थित हो जाय अथवा हेतुओंमें ही किसी प्रकारकी न्यूनता आ जाय। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाला भी भावपदार्थ कदाचित् अविनाशी होने लगेगा—क्योंकि तुम्हारे इस तर्कपर मैं भी कहूँगा कि "सम्भव है, विनाशके समान ही कपालसन्ततिमें भी कोई प्रतिबन्ध हो जाय। इस प्रकार क्षण-क्षणमें विनाशशील कपाल-सन्ततिकी उत्पत्ति नहीं सिद्ध होनेसे भावपदार्थोंका क्षणिकत्व भी नहीं सिद्ध होगा।

(शङ्का) तो अन्तिम पक्ष ही रहे। अर्थात् विनाश ध्रुवभावी है। इस प्रकार बिना हेतुकी अपेक्षा किये सभी भाववस्तुओंका अवश्यंभावी विनाश सिद्ध होनेसे क्षणिकवाद सिद्ध हो जायगा। यहाँपर यों अनुमानका

---

१. अनैकान्तादिति—२ पु० पा०

त्वाद्वा ध्वंसवद् घटवद् वा। अजातोऽपि वा न निवर्तते, अजातत्वात्, आकाशवत् शशविषाणवद् वेतिवदसाधनत्वात्।

किमेतेषां दूषणमिति चेत्, भावावच्छिन्नव्याप्तिकत्वादप्रयोजकत्वं, प्राक्प्रध्वंसाभावग्राहकप्रत्यक्षबाधः, प्राक् पश्चाच्च कार्योन्मज्जनप्रसङ्गलक्षणप्रतिकूलतर्कश्च।

प्रयोग किया जा सकता है—विनाश किसी हेतुद्वारा उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि अभाव है, जैसे प्रागभाव। यदि विनाश उत्पन्न हो तो, जैसे घड़ा उत्पन्न होनेसे पुनः निवृत्त हो जाता है, वैसे ही विनाश भी निवृत्त हो जायगा। ऐसी स्थितिमें विनष्ट वस्तुको पुनः प्रकट हो जाना चाहिये।

(उत्तर) यह अन्तिम पक्ष भी आपका ठीक नहीं है। हम भी आपके अनुमानका बाधक अनुमान दे सकते हैं—जैसे, प्रागभाव भी उत्पन्न होता है, क्योंकि अभाव है, जैसे, ध्वंस। अथवा प्रागभाव उत्पन्न होता है, क्योंकि विनाशी है, जैसे घड़ा। अथवा यदि प्रागभाव न उत्पन्न हो तो उसे नष्ट भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि अजात (अनुत्पन्न) है, जैसे आकाश अथवा खरहेकी सींग। यदि मेरा हेतु गलत हो तो वही 'अभावत्व' तुम्हारा भी हेतु है और वह भी गलत होगा। इस प्रकार सिद्ध है कि विनाश अहेतुक नहीं होता किन्तु सहेतुक होता है।

यदि पूछो कि—उपर्युक्त अनुमानों और तर्कोंमें दोष क्या है? तो यही कहा जायगा कि भावपदार्थके साथ ही उक्त व्याप्तिके होनेसे उक्त अनुमान और तर्क अप्रयोजक (असाधक) हैं। अर्थात् भावपदार्थ ही उत्पन्न होनेसे विनाशी होते हैं। या नहीं उत्पन्न होने वाले भावपदार्थ ही नष्ट भी नहीं होते। इसलिये उक्त नियम प्रागभाव और ध्वंसमें नहीं लागू किये जा सकते।

एवं 'यहाँ अभी ध्वंस उत्पन्न हुआ है' इस प्रकारका जब प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब ध्वंसको अजन्य कहना बाधित है। एवं प्रागभावको यदि उत्पत्तिमान् माना जाय तो उत्पत्तिके पूर्वमें घटादि कार्यका आविर्भाव मानना पड़ेगा। तथा ध्वंसको विनाशी माना जाय तो

अथोन्मज्जने को दोष इति चेत्, कालविच्छेदप्रत्ययस्यानुभयात्मकत्वप्रसङ्गः। अयथार्थत्वे तस्य द्विचन्द्रदर्शनकाले चन्द्रदेशविच्छेदवत् तद्वतः कालाविच्छेदे भावस्य प्राक्प्रध्वंससहवृत्तित्वेनाविरोधप्रसङ्गात्। यथार्थत्वे तु भेदस्थितौ तदुन्मज्जनानुपपत्तेः।

एतेन प्रागभावे प्रध्वंसोन्मज्जनं तत्काले च प्रागभावोन्मज्जनमपास्तम्। भाववदभावयोरपि उभयविरोधिस्वभावत्वादिति ॥

ध्वस्त हुए घड़ेका भी पुनः आविर्भाव मानना पड़ेगा। इस प्रकारके प्रतिकूल तर्क भी उक्त अनुमानके बाधक हैं।

यदि कहो कि—उस कालमें भी घटोन्मज्जन (घटाविर्भाव) में दोष ही क्या है ? तो यही है कि ध्वंसदशामें या प्रागभावदशामें "इदानीं घटो नास्ति' यह जो कालके साथ घटकी विच्छेदप्रतीति होती है, उसे न अयथार्थ कह सकते और न यथार्थ कह सकते हो। क्योंकि यदि अयथार्थ कहो तो, जिस प्रकार द्विचन्द्रदर्शनकालमें मध्यभागमें होने वाली चन्द्रमाकी विच्छेदप्रतीतिके अयथार्थ होनेसे मध्यभागमें भी चन्द्रमाकी सत्तामें कोई बाधा नहीं होती है, वैसे ही जहाँ घटका ध्वंस हुआ है, वहाँ भी उस कालके साथ घटका विच्छेद नहीं होनेसे सभी भावपदार्थ अपने प्रागभाव और ध्वंसके साथ रहने लगेंगे और उनका परस्परका विरोध समाप्त हो जायगा।

उक्त विच्छेदप्रतीतिको यदि यथार्थ कहो तो ध्वंस और प्रागभावके साथ घटका कालकृत और देशकृत विरोध स्थिर रहेगा। अतः ध्वंस और प्रागभावके कालमें तुम्हारे द्वारा स्वीकृत घटोन्मज्जन (पुनः घटाविर्भावका) का प्रसङ्ग नहीं बन सकेगा।

इसी प्रकार घटप्रागभावकालमें घटध्वंसका उन्मज्जन (आविर्भाव) तथा घटध्वंसकालमें घटप्रागभावका भी उन्मज्जन खण्डित समझना चाहिये। क्योंकि प्रागभावको जैसे घटसे विरोध है, वैसे ही घटध्वंस

कुतः पुनः स्थिरसिद्धिः ? प्रत्यभिज्ञानात् क्षणिकत्वानुपपत्तेश्च । लक्षणाभेदेन व्यभिचारिजातीयत्वात् प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणमिति चेत् , न, अवान्तरलक्षणभेदेनाव्यभिचारनियमात् । किं तदिति चेत् , विरुद्धधर्मासंसृष्टविषयत्वम् , सिद्धं च तदत्र ।

से भी है। तथा घटध्वंस को जैसे घटसे विरोध है, वैसे ही उसके प्रागभावसे भी विरोध है ॥

स्थिरत्वमें साधक प्रमाण

(शङ्का) भाववस्तु स्थिर हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

(उत्तर) पूर्वोक्त प्रकारसे क्षणिकत्वका सिद्ध न हो सकना और प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है। अर्थात् क्षणिकत्वकी असिद्धिके सम्बन्धमें पूर्वमें कहा जा चुका है। तथा "यह वही घड़ा है, यह वही आदमी है, जिसे मैंने पहले देखा था" इस प्रत्यभिज्ञासे भी सिद्ध होता है कि घटादि पदार्थ स्थिर वस्तु हैं। यदि क्षणिक होते तो "यह वही है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा (स्मृतिसंश्लिष्ट अनुभूति) न होती ।

(शङ्का) तत्तांश (वह) और इदमंश (यह) का उल्लेख करने वाला जो ज्ञान वही प्रत्यभिज्ञाका स्वरूप (लक्षण) है। और यह लक्षण वहाँ भी चला जाता है, जो स्थिर नहीं है। जैसे "यह वही दीप है" यहाँ क्रमशः क्षयको प्राप्त होनेवाली बत्ती और तेलके समान ज्वाला भी क्षणक्षणमें बदलती रहती है, फिर भी "यह वही ज्वाला है" ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार "यह वही घड़ा है" इस प्रत्यभिज्ञाबलसे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि घड़ा स्थिर वस्तु है। अतः स्थिरत्वसिद्धिमें प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं हो सकती है।

(उत्तर) उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं है! क्योंकि यद्यपि सामान्यरूपसे दोनों प्रत्यभिज्ञायें एक सी मालूम पड़ती हैं, फिर भी दोनोंके अवान्तर लक्षणोंमें भेद होनेसे उक्त प्रत्यभिज्ञाद्वारा स्थिरत्व सिद्ध करनेमें किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं आ सकता है।

यदि पूछो कि–"यह वही घड़ा है" इस प्रत्यभिज्ञामें तथा "यह वही दीपज्वाला है" इस प्रत्यभिज्ञामें कौन सा अवान्तरलक्षणका भेद

एवम्भूतमपि कदाचिद् व्यभिचरेदिति चेत्, न, विरुद्धधर्मसंसर्गानास्कन्दितस्यैकत्वप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वत्रैकत्वोच्छेदप्रसङ्गात्। तथा चानेकत्वमपि न स्यादिति भव निष्किञ्चनः।

तस्माद् भेदप्रवृत्ताववश्यं विरुद्धधर्मसंसर्गः, तदसंसर्गे वाऽवश्यं भेदव्यावृत्तिरिति भेदाभेदव्यवहारमर्यादा।

निष्कम्पप्रदीपकुड्मलेषु निपुणं निभालयन्तोऽपि न विरुद्ध-

है? तो कहूँगा कि घटवाली प्रत्यभिज्ञाका विषय जो घट है, वह विरुद्धधर्मसे असंयुक्त है। तथा दीपज्वालावाली प्रत्यभिज्ञा, विरुद्धधर्मसे संसृष्ट जो ज्वाला, उसे विषय करनेवाली है। कारण, दीपज्वालामें कमी-बेशीके तारतम्यका स्पष्ट अनुभव होता है।

यदि कहो कि—वास्तविक प्रत्यभिज्ञा भी, संभव है, कदाचित् व्यभिचरित हो जाय। अर्थात् 'यह वही घड़ा है' ऐसी प्रतीति होनेपर भी पूर्वापर घड़ेमें एकताकी सिद्धि न हो सकेगी—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि विरुद्ध धर्मोंके संसर्गसे असंस्पृष्ट होनेपर भी यदि उस पूर्वापर घड़ेमें एकत्व न माना जाय तो संसारमें एकत्वका सर्वथा उच्छेद हो जायगा। ऐसी स्थितिमें तुम्हारा अनेकत्व भी सिद्ध न हो सकेगा। कारण, प्रतियोगीरूपसे कहीं एकत्व होनेपर ही उसका निषेधरूप अनेकत्व दूसरी जगह सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार एकत्वका परित्याग कर तूँ अनेकत्वसे भी हाथ धो बैठो और सब खोकर दरिद्र बन जाओ।

इसलिये जहाँ भिन्नता (अनेकत्व) है, वहाँ अवश्य ही विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग है। जहाँपर विरुद्धधर्मोंका संसर्ग नहीं है, वहाँ अवश्य ही भिन्नता भी नहीं है। यही भेदव्यवहार और अभेदव्यवहारकी मर्यादा है।

यह कहना कि—निष्कम्प दीपकी कलियोंमें पूर्ण सावधानीसे देखनेपर भी विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग हम नहीं पाते हैं, फिर भी "यह

धर्मसंसर्गमीक्षामहे, अथ च प्रत्यभिज्ञानमवधूय तत्र भेद एव पदं बिधत्त इति चेत्, कस्य प्रमाणस्य बलेन ? आश्रनाशस्य हुताशन-नाशहेतुत्वेन विज्ञातत्वात्, तस्य चात्र प्रतिक्षणमुपलब्धेः। वर्ति-तैलयोरुत्तरोत्तरमपचीयमानत्वात् पूर्वस्य नाश उत्तरोत्पादश्च न्यायसिद्ध इति चेत्, नन्वयं प्रत्यनीकधर्मसंसर्ग एव, नष्टत्वानष्ट-त्वयोराश्रयनाशानाशयोर्वा एकत्र तेजस्यनुपपत्तेः।

सोऽयं शतं शिरश्छेदेऽपि न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छतीति किमत्र ब्रूमः।

भविष्यति तर्हीहापि विरुद्धधर्मसंसर्गो दुरूह इति चेत्, अथ स एवायं स्फटिक इत्यत्र प्रमाणप्रतीतसंसर्गाणां विरोध आशङ्क्यते ?

वही दीपकलिका है" इस प्रत्यभिज्ञाकी अवहेलना कर भेद ही अपना पैर जमा लेता है। इसलिये "जहाँ भेद है, वहाँ अवश्य विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग है" यह नियम नहीं हो सकता है—ठीक नहीं है। क्योंकि दीप कलियोंमें विरुद्धधर्मोंका संसर्ग नहीं दीखनेपर भी किस प्रमाणसे भिन्नता मानते हो ?

यदि—आश्रयका नाश अग्निके नाशका हेतु है, यह बात प्रसिद्ध है। और वह आश्रयनाश यहाँ प्रतिक्षण मालूम होता है। इस प्रकार बत्ती और तेलके उत्तरोत्तर क्षीण हुए जानेसे पूर्वज्वालाका नाश और उत्तरज्वालाकी उत्पत्ति अनुमान सिद्ध है—ऐसा कहो, तब तो यहाँ विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग ही सिद्ध हुआ। और इसी कारण दीपकलियाँ भी भिन्न-भिन्न सिद्ध हुईं। क्योंकि एक ही ज्वालामें नष्टत्व और अनष्टत्व अथवा उसके आश्रयका नाश और अनाश साथ-साथ नहीं बन सकते हैं। इस प्रकार यह प्रतिपक्षी सिर कट जानेपर भी सौ नहीं देता किन्तु अपने आप पाँच बीस देता है, इसमें हम क्या कहें। अर्थात् दीपकलिकामें सीधे विरुद्ध धर्मोंके संसर्गको नहीं स्वीकार करता हुआ भी प्रकारान्तरसे उसे ही स्वीकार करता है।

(शङ्का) वैसे ही यथार्थ प्रत्यभिज्ञास्थलमें भी घटादिमें विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग संभव है, जो मालूम नहीं देता है।

तत्प्रतीतविरोधानां संसर्गः ? अथाप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गा एव केचिद् विरुद्धतया ? संसृष्टतया वेति ?

न प्रथमः, प्रागेव निराकृतत्वात् । न द्वितीयः, अयोग्याना-मनुपलम्भबाधितत्वात् । योग्यानामपि कारणादिव्याप्यव्यापक-विगमविलोकनव्यावर्तितत्वात् । न तृतीयः, तस्यातिप्रसञ्ज-कतया सर्वत्रैकत्वोच्छेदप्रसङ्गादिति ।

एतेन प्रत्यभिज्ञानादेव लक्षणभागमाकृष्यानुमानेन स्थैर्य-

(उत्तर) तो यहाँ मैं पूछता हूँ कि क्या "यह वही स्फटिक है" यहाँपर प्रमाणद्वारा जिनका एकत्र संसर्ग प्रतीत है, ऐसे सत्त्व-द्रव्यत्व और स्फटिकत्व धर्मों के विरोधकी संभावना है ? अथवा जिनका प्रमाण-द्वारा विरोध प्रतीत है, ऐसे गोत्व-अश्वत्व आदि धर्मों के संसर्गकी संभावना है अथवा ? जिनका स्वरूप, विरोध और संसर्ग तीनों अज्ञात हैं, ऐसे धर्मोंका विरुद्धरूपमें होना या उनका संसृष्टरूपमें होना संभावित है ?

इनमें प्रथम आशङ्काका निराकरण पूर्वमें ही हो चुका है, जहाँ एक ही बीजमें सामर्थ्य, असामर्थ्य, अङ्कुरकरण और अङ्कुराकरण आदिका अविरोधीरूपमें रहना सिद्ध किया गया है ।

द्वितीय आशङ्का (संभावना) भी नहीं हो सकती है । क्योंकि जो विरोधी धर्म प्रत्यक्षके अयोग्य हैं, उनके संसर्गका भान सर्वथा असंभव है । तथा प्रत्यक्षके योग्य जो गोत्व-अश्वत्व आदि विरोधी धर्म हैं, उनका भी परस्परमें कार्यकारणभाव या व्याप्यव्यापकभाव आदि न होनेसे एकत्र संसर्ग असंभव है ।

तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि उसके अतिव्याप्तिदोषसे ग्रस्त होनेके कारण सर्वत्र एकत्वका उच्छेद होने लगेगा, या सर्वत्र एकत्व ही होने लगेगा । अर्थात् ज्ञात-अज्ञात सभी धर्म या तो परस्परमें विरोधी बन जायेंगे या अविरोधी ही बन जायेंगे ।

इस प्रकार विरूद्धधर्मासंसृष्टविषयकज्ञानस्वरूप जो यथार्थ प्रत्यभि-

सिद्धिः। तथाहि—विवादाध्यासितो भावः कालभेदेऽपि न भिद्यते, तद्भेदेऽपि विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वात्, यो यद्भेदेऽपि न विरुद्धधर्मसंसृष्टो नासौ तद्भेदेऽपि भिद्यते यथा प्रतिसम्बन्धि-परमाणुभेदेऽपि एकः परमाणुः, तथा चायं विवादाध्यासितो भावः, तस्मात् कालभेदेऽपि न भिद्यत इति।

अत्र[1] व्याप्तौ न कश्चिद् विप्रतिपद्यते, पक्षधर्मता तु प्रसाधितैव। क्षणिकत्वानुपपत्तिश्चानुगतव्यवहारानन्यथासिद्धेः। शब्दलिङ्ग-

ज्ञान है, उसमेंसे विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वरूप लक्षणभागको अलगकर तथा उसे ही हेतु बनाकर अनुमानद्वारा स्थिरत्वकी सिद्धि हो जायगी। अर्थात् उक्त प्रत्यभिज्ञानमें जो विरुद्धधर्मासंसृष्टत्व विशेषण है, वही स्थिरका लक्षण है। और सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञानको हेतु न बनाकर केवल विशेषणांशसे ही, जो कि स्थिरका लक्षण भी है, स्थिरत्वकी सिद्धि हो जायगी। जैसे—

विवादका विषय भाववस्तु-कालभेद होनेपर भी भिन्न नहीं होती, क्योंकि कालभेद होनेपर भी उसमें विरुद्ध धर्मका संसर्ग नहीं होता है, जो जिसके भेदमें भी विरुद्ध धर्मसे संसृष्ट नहीं होता, वह उसके भेदमें भी भिन्न नहीं होता, जैसे त्रसरेणुस्थलमें परस्पर सम्बद्ध परमाणुओंमें भेद होनेपर भी एक परमाणु अपने आपसे भिन्न नहीं होता। वैसी ही प्रकृत विवादका विषय भाववस्तु भी है, इसलिये यह भाववस्तु कालभेद होनेपर भी भिन्न नहीं होती है।

उपर्युक्त व्याप्ति [जो जिसके भेदमें भी विरुद्धधर्मसे संसृष्ट नहीं होता है, वह उसके भेदमें भी भिन्न नहीं होता] में किसीको विरोध नहीं है। एवं भाववस्तुरूप पक्षमें विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वरूप हेतुका रहना सिद्ध ही किया जा चुका है। साथ ही भाववस्तुओंका क्षणिकत्व असंगत भी है। क्योंकि वैसी दशामें सभी गौओंमें जो "गौ-गौ" इस प्रकारका एकाकार अनुगत व्यवहार होता है, वह नहीं हो सकेगा। अर्थात् गोत्वरूप एक स्थिर धर्मके कारण ही उक्त प्रकारका एकाकार

1. अत्र चेति पाठो रघुनाथशिरोमणिसम्मतः।

विकल्पा हि साधारणं रूपमनुपस्थापयन्तो न तृणकुब्जीकरणेऽपि समर्था इत्यविवादम्, बाह्यार्थस्थितौ स्थिरास्थिरविचारात् ॥

तच्चालीकं वा, आकारो वा, बाह्यं वस्तु वेति त्रयः पक्षाः ।

व्यवहार होता है । अन्यथा प्रत्येक गोव्यक्तिके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार होता ।

एवं विभिन्नकालीन विभिन्नदेशस्थ गौओंमें यदि अनुगत एक (गोत्व आदि) साधारण (स्थिर) धर्म न माना जाय तो शब्द-लिङ्ग और विकल्प एक तृण भी टेढ़ा नहीं कर सकते, यह निर्विवाद है। अर्थात् इनसे होनेवाला सामान्यविषयक ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। वह साधारणधर्म बौद्धद्वारा स्वीकृत विज्ञान ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, विज्ञानातिरिक्त बाह्यवस्तु मानकर ही उसके स्थिरत्व और क्षणिकत्वका विचार आरम्भ किया गया है। अर्थात् अनुगत धर्मके बिना शब्दका अर्थके साथ सम्बन्धग्रहण नहीं हो सकता और सम्बन्ध-ग्रहण हुए बिना वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सकता।

इसी प्रकार साधारण धर्मके बिना लिङ्ग (हेतु) और साध्यकी परस्पर व्याप्तिका ज्ञान नहीं हो सकता और व्याप्तिज्ञानके अभावमें साध्यका अनुमान नहीं हो सकता है।

एवं "यह मेरे इष्टका साधन है" इस प्रकारके इष्टसाधनताज्ञानरूप सविकल्पकज्ञान होनेपर प्रवृत्ति होती है, और प्रवृत्तिका विषय कोई अभिनव वस्तु ही हुआ करती है, जिसमें प्रवृत्तिके पहले इष्टसाधनताका प्रत्यक्ष होना अशक्य है। अतः पूर्वमें कभी जिसे इष्ट सिद्ध करते हुए प्रत्यक्ष कर चुके हैं, उसी जातिका होनेके कारण अभिनव वस्तुमें भी अनुमानसे ही इष्टसाधनताका ज्ञान करके उसे प्राप्त करनेके लिए हम प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार स्थिरजाति माने बिना इष्टसाधनताज्ञानरूप सविकल्पकज्ञानसे होनेवाली प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः शब्द, लिङ्ग और सविकल्पककी सार्थकता तभी है, जब कि साधारण अनुगत स्थिर जाति मानी जाय। ऐसी स्थितिमें क्षणिकत्व वहीं समाप्त हो जाता है॥

कीर्ति-दिङ्नागसम्मत अलीकत्वका निराकरण

'गौ-गौ' ऐसी एकाकार प्रतीति करानेवाला वह अनुगतरूप अलीक

तत्र न प्रथमः पक्षः, तद्धि न तावदनुभवादेव तथा व्यवस्थाप्यं तस्यालीकत्वानुल्लेखात्, तथात्वे वा प्रवृत्तिविरोधात्। न ह्यलीकमेव तत् इत्यनुभूयाप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्तते। अन्यनिवृत्तिस्फुरणान्नैष दोष इति चेत्, एतदेवासत्, विधिरूपस्यैव स्फुरणात्। न हि शब्दलिङ्गाभ्यामिह महीधरोद्देशेऽनग्निर्न भवतीति स्फुरणमपि त्वग्निरस्तीति।

यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः, तथापि निवृत्तपदार्थोल्लेख एव निवृत्त्युल्लेखः। न ह्यनन्तर्भावितविशेषणा विशिष्टप्रतीतिर्नाम। ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीत्यनुव्यव-

(मिथ्या) है ? या ज्ञानका आकारविशेष है ? अथवा बाह्यवस्तु है ? ये तीन पक्ष हो सकते हैं। इनमें प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि उस अनुगतरूपको अनुभवके बलसे ही अलीक सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु अनुभवद्वारा उसका अलीकत्व सूचित नहीं होता है। यदि अनुभव अनुगतरूपके साथ ही उसके अलीकत्वको भी सूचित करे तो प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि "वह अलीक ही है" ऐसा अनुभव करता हुआ भी कोई अर्थक्रियाभिलाषी उसमें प्रवृत्त नहीं होता।

यदि कहो कि—अनुगत धर्म (गोत्वादि) का अन्य (अश्वत्वादि) की निवृत्तिरूपसे स्फुरण होना ही यहाँ अलीकत्व है। इसलिये गवादिविषयक प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है—तो फिर यही असंगत है। क्योंकि विषयकी प्रतीति विधिरूपसे होती है न कि अन्यकी निवृत्तिरूपसे। कारण, "पर्वतो अग्निमान्" इस शब्दद्वारा या धूमप्रत्यक्षद्वारा पर्वतप्रदेशमें "अनग्नि नहीं है" यह स्फुरण नहीं होता, किन्तु "अग्नि है" यही स्फुरण होता है।

(शङ्का) यद्यपि "मैं अन्यनिवृत्तिका अनुभव करता हूँ" ऐसा अनुव्यवसाय (ज्ञानविषयक ज्ञान) नहीं होता, फिर भी निवृत्तिपदार्थ भासित हो ही जाता है। और इसे ही अनुभवद्वारा निवृत्तिका उल्लेख हुआ कहेंगे। क्योंकि कोई भी विशिष्टबुद्धि विशेषणका अन्तर्भाव किये

साम्याभावेऽपि साधारणाकारस्फुरणाद् विकल्पधीः सामान्यबुद्धिः परेषां तथा निवृत्तप्रत्ययाद्विप्ता निवृत्तिबुद्धिरस्माकमिति चेत्, हन्त ! साधारणाकारपरिस्फुरणे ,धरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था, किमित्यायातमस्फुरदभावाकारे चेतसि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः ? न ह्यगोपोढोऽयमिति विकल्पः, किन्तु गौरिति ।

ततोऽन्यनिवृत्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को निवृत्तिप्रतीतिमपह्नुवीत । अन्यथा त्वतत्प्रतिभानं तथेति व्यवहृतिरिति गवाकारे चेतसि तुरगबोध

बिना नहीं होती। इसलिये जैसे, नैयायिकोंके यहाँ "मैं सामान्यका अनुभव करता हूँ" ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होनेपर भी सामान्याकारका स्फुरण होनेसे सविकल्पक (अनुव्यवसाय) बुद्धि सामान्यविषयक मानी गयी है, वैसे ही अन्यव्यावृत्तरूपसे विषयकी प्रतीति होनेके कारण उसे अन्यनिवृत्तिविषयक हम कह सकते हैं।

(उत्तर) अहो ! सामान्याकारका स्फुरण होनेसे यदि न्यायमतमें विधिरूपसे सामान्यप्रतीतिको व्यवस्था की जाती है, तो इस दृष्टान्तसे आपके निवृत्तिप्रत्ययकी व्यवस्थाको क्या लाभ है ? क्योंकि आपके विज्ञानमें अभावाकारका स्फुरण ही नहीं होता। अर्थात् 'गौः' इस विशिष्टज्ञानमें गोत्वजातिका तो भान होता है किन्तु अगोव्यावृत्तिका भान नहीं होता। इसलिये वह अनुगत धर्म इतरनिवृत्तिरूप नहीं हो सकता। क्योंकि "यह अगोव्यावृत्त है" यह ज्ञान नहीं होता, किन्तु "यह गौ है" यही ज्ञान होता है।

इसलिए "अन्यनिवृत्तिका मैं अनुभव कर रहा हूँ" ऐसा ज्ञानका आकार नहीं होनेपर भी यदि निवृत्तिका भान होता तो निवृत्तिप्रतीतिका कौन अपलाप करता। किन्तु गवादिप्रतीतिमें निवृत्तिका भान न होनेपर भी तुम्हारे यहाँ निवृत्तिका व्यवहार होता है। ऐसी दशामें गवाकारविज्ञानमें अश्वका बोध हो जाय।

एवं निवृत्तिमात्रकी प्रतीति होनेपर भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

इत्यस्तु। न च निवृत्तिमात्रप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिसम्भवः। न ह्यघटो नास्तीत्येव घटार्थी प्रवर्तते, अपि तु घटोऽस्तीति।

अघटस्यैव निवृत्तिरिति प्रतीतौ नायं दोष इति चेत्, न, घट-निवृत्त्यप्रतिक्षेपे नियमस्यैवासिद्धेः। तत्प्रतिक्षेपे तु कस्ततोऽन्यो विधिः? निषेधप्रतिक्षेपस्यैव विधित्वात्। निवृत्तेरपरिस्फुरणे गां बधानेति देशितोऽश्वमपि बध्नीयादिति चेत्, न, भवेद्प्येवं

क्योंकि घट चाहनेवाला व्यक्ति "यह अघट नहीं है" यह समझकर उसे लेनेको प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु "यह घट है" यही समझकर प्रवृत्त होता है।

(पूर्वपक्ष) यदि हम जिस किसीकी निवृत्तिकी प्रतीतिसे घटमें प्रवृत्तिका होना मानते, तब दोष होता। किन्तु हम तो अघटमात्रकी अर्थात् जितने भी घटभिन्न हैं, सबकी निवृत्तिका ज्ञान होनेपर ही घटमें प्रवृत्तिका होना मानते हैं। अतः घटप्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है।

(उत्तरपक्ष) यह समाधान भी ठीक नहीं है। क्योंकि अघटमात्रकी निवृत्तिकी प्रतीतिमें घटनिवृत्तिकी निवृत्ति प्रतीत होती है या नहीं? यदि कहो कि "नहीं" तो उक्त नियम ही असिद्ध हो जाता है। क्योंकि घट-निवृत्ति भी अघटमात्रके अन्तर्गत आ जाती है। यदि कहो कि— अघटमात्रकी निवृत्तिमें घटनिवृत्तिकी भी निवृत्ति प्रतीत होती है—तब तो इसके अतिरिक्त घटत्वकी विधि भी क्या है? क्योंकि निषेधका निषेध ही तो विधि कहा जाता है। इस प्रकार घटप्रतीतिमें घटत्वकी विधि ही भासित हुई सिद्ध होती है, न कि अघटकी निवृत्ति।

(शङ्का) गोपदसे यदि अन्यनिवृत्तिका भान न हो तो "गौको बाँधो" इस आदेशपर कोई अश्वको भी बाँध दे।

(उत्तर) ऐसा तब होता, यदि अश्व भी गौ होता। किन्तु गौ गौ है और अश्व अश्व ही है। अन्यथा तुम्हारी निवृत्तिको भी विश्व-सनीय कैसे माना जाय। अर्थात् तुम्हारे मतानुसार गोपदका अर्थ है "अगो की निवृत्ति" और अश्वपदका अर्थ है "अनश्वकी निवृत्ति"।

यद्यश्वोऽपि गौः स्यात्, किन्तु गौगौरश्वोऽश्व इति। अन्यथा निवृत्तावपि कुतस्ते समाश्वास इति। निवृत्त्यन्तराच्चेदनवस्था। निवर्त्यनिवृत्तितदधिकरणानां स्वरूपसाङ्कर्ये प्रवृत्तिसंकरः स्यात्। स्वरूपभेदेनैव नियमे विधिमात्रप्रतिभासेऽपि तथा किं न स्यात्?

स्वरूपभेद एवान्यापोहोऽन्यापोढस्वरूपत्वाद् विधेरिति चेत्, न, अलीकपक्षे तदभावात्, तस्य स्वरूपविधावनलीकत्वप्रसङ्गात्,

---

यहाँ गोपदार्थमें जैसे अगो अर्थात् अश्वादिकी निवृत्ति सूचित होती है, वैसे इस अगोनिवृत्तिरूप गोपदार्थमें अनश्वनिवृत्तिकी निवृत्ति सूचित होती है या नहीं? यदि सूचित होती है, तो जैसे गौमें अगोकी निवृत्ति माननी पड़ती है, वैसे ही अगोनिवृत्तिमें भी निवृत्त्यन्तरकी निवृत्ति माननी पड़ेगी। उस दूसरी निवृत्तिमें भी अन्योंकी तीसरी निवृत्ति और उसमें चौथी पाँचवीं आदि। इस प्रकार निवृत्तिमें भी अन्यकी निवृत्ति मानते हुए को अनवस्थादोष आ जायगा। क्योंकि आप हरेक वस्तुको स्वतन्त्रजातिका न मानते हुए अन्यकी निवृत्तिरूपसे ही मानते जाते हैं।

यदि निवृत्तिमें अन्यनिवृत्ति न सूचित होती है, तो इसका अर्थ है कि गौ भले ही अश्वादिकी निवृत्तिरूप है, किन्तु गोगतनिवृत्ति अश्वादि-निवृत्तिरूप या उस निवृत्तिकी निवृत्तिरूप नहीं है। ऐसी स्थितिमें गोगतनिवृत्ति अश्व आदि निवर्त्यरूप हो जायगी और गोत्व आपके मतसे निवृत्तिरूप है ही। अन्ततः गौ, निवृत्ति और अश्व इन सबोंके एक ही स्वरूप बन जानेसे गोशब्द सुननेपर अश्वमें प्रवृत्ति अवश्य होने लगेगी।

यदि कहो कि—निवृत्ति तो स्वरूपसे ही (अपने आप) विलक्षण स्वरूपवाली है, अतः उसमें अन्य निवृत्तिका स्फुरण नहीं होता; इसलिए अनवस्था आदि पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकते—तो मेरा गोत्व भी स्वत एव अन्योंसे विलक्षण है। इतने से ही गोशब्दके सुननेपर अश्वादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। फिर आवश्यकता क्या है कि गोपदसे अन्योंमें प्रवृत्ति रोकनेके लिए गोत्वको अन्योंकी निवृत्तिरूप ही माना जाय।

(शंका) स्वरूपविशेषात्मक वस्तु ही अन्यव्यावृत्ति (अन्यकी

स्वलक्षणस्य च विकल्पानारोहात् । अपि च गां बधानेति देशितो गवि प्रवृत्तो नाश्वे, तदप्रतीतेः । यदा त्वश्वमुपलप्स्यते तदा तत्र प्रवृत्त्युन्मुखोऽपि गोरभावं प्रतीत्यैव निवर्त्स्यतीति किमनुपपन्नम् ॥

स्यादेतत्, न ह्यनुभवमवधूय भवितुं क्षममिति को विधिस्फुरणमपह्नुताम्, तदुपसर्जनीभूतस्तन्निषेधोऽपि स्फुरत्येव, अन्यथा

निवृत्ति) रूप है, क्योंकि भाववस्तु अन्यसे व्यावृत्त होकर ही भासित होती है । अन्यव्यावृत्ति तो निषेधात्मक होनेसे निःस्वरूप है । अतः उस व्यावृत्तिमें पुनः अन्यकी व्यावृत्ति नहीं है, किन्तु वह स्वतः व्यावृत्त है । इसलिए अनवस्थादोष भी नहीं आ सकता है ।

(उत्तर) अनवस्थाका यह समाधान ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त भाववस्तुको अलीक (मिथ्या) मानो तो उसका कोई स्वरूप नहीं हो सकता । यदि कोई स्वरूप हो तो फिर उसे अलीक मानना असंगत होने लगेगा । यदि उसे स्वलक्षण अर्थात् जातिविहीन एक व्यक्तिरूप मानो तो वह तुम्हारे मतानुसार निर्विकल्पकज्ञानका ही विषय होनेसे सविकल्पकज्ञानका विषय न हो सकेगा, जो सविकल्पक हमारे व्यवहारोंका प्रयोजक है ।

एवं, "गौ बाँधो" यह आदेश पाकर गौमें ही कोई प्रवृत्त होता है, न कि घोड़ेमें । क्योंकि उस वाक्यद्वारा घोड़ेकी प्रतीति ही नहीं होती है तो उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसलिए उक्त आदेशके बाद घोड़ेमें प्रवृत्तिको रोकनेके लिए भी गोपदसे अन्यकी निवृत्तिका भान मानना व्यर्थ है । उक्त आदेशवाक्य सुननेके बाद प्रवृत्तिके लिए तैयार होनेपर भी यदि प्रत्यक्षसे वहाँ अश्व उपलब्ध हो जायगा तो गौका अभाव जानकर ही निवृत्त हो जायगा । इसलिए मेरे सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं है ॥

ज्ञानश्रीसम्मत अपोहवादका खण्डन

(पूर्वपक्ष) अस्तु, अनुभवका अपलाप करके शास्त्र नहीं चल सकता, इसलिए विधिरूपमें गोत्वादिभानको कौन अस्वीकार करेगा ? फिर भी

विधेरवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न ह्यन्यतो विशेष्यमव्यावर्तयतो विशेषणत्वं नाम। न चान्यतो व्यावर्तनं व्यवच्छित्तिप्रत्यायनादन्यत्। ततो यथेन्दीवरपुण्डरीकादिशब्देभ्यो गुणीभूतनीलधवलादिविधिशेखरा प्रतीतिः, तदन्यव्यवच्छेदस्तु तद्गर्भार्भकायमाणः, तथा सर्वत्रेति चेत्, अस्तु तावदेवम्, विधिस्तु स्फुरतीत्यत्र सम्प्रति नो निर्बन्धः। अन्यथाऽवच्छेद्यावच्छेदकयोरप्रतीतेरवच्छित्तिरपि न स्यात्, यथोत्पलादावेव नीलत्वाद्यप्रतीतौ।

न च निषेध्यमस्पृशती प्रतीतिर्निषेधं स्प्रष्टुमर्हति, तस्य तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वात्[1]।

विधिकी प्रधानतामें अप्रधानरूपसे गवादिसे भिन्नका निषेध भी भासित होता ही है। अन्यथा गोत्व भी गौका विशेषण नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो विशेष्यको दूसरोंसे व्यावृत्त नहीं करता वह विशेषण ही नहीं होता है। और अन्यव्यावृत्ति (निषेध) का भान कराना ही तो दूसरोंसे व्यावृत्त करना है। इसलिये जिस प्रकार इन्दीवर और पुण्डरीक आदि शब्दोंसे क्रमशः नील और धवल आदि विशेषणकी प्रधानरूपसे प्रतीति होती है, तथा अन्यका निषेध तो उसके गर्भमें शिशुके समान अप्रधानरूपसे भासित होता है, वैसे ही सब जगह प्रधानरूपसे विधिका (गोत्वादिका) भान और अप्रधानरूपसे अन्यव्यावृत्तिका भान होगा।

(उत्तर) ऐसा भले ही हो, किन्तु किसी भी रूपमें विधि भासित होती है, इसीमें सम्प्रति मेरा आग्रह है। अन्यथा विशेष्य-विशेषणकी अप्रतीति होनेपर अन्यकी व्यावृत्ति भी न हो सकेगी। जैसे, कमलमें ही नीलत्वकी प्रतीति न होनेपर रक्तादिकी व्यावृत्ति भी नहीं होती है।

एवं, निषेध्य वस्तुको सूचित किये बिना कोई भी प्रतीति निषेधको

---

१. सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकस्तु सः।
तदा गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते॥

न च निषेधान्तरमेव निषेध्यमितरेतराश्रयप्रसङ्गात्। परानपेक्षनिरूपणे तु विधौ नायं दोष इति।

भी नहीं बता सकती है। इसलिए निषेध्यरूपमें गोत्व-अश्वत्व आदि स्थिर जातियाँ अपोहवादीको भी माननी ही पड़ेंगी। क्योंकि निषेध्यके निरूपणके अधीन ही निषेधका निरूपण है। अर्थात् अगोव्यावृत्तिमें दो निषेध्य और दो निषेध भासित होते हैं। प्रथम निषेध अगो है, जिसमें गौका निषेध किये जानेसे गौ निषेध्य है। दूसरा निषेध अगोकी व्यावृत्ति है, जिसमें महिषादिरूप अगोका निषेध किये जानेसे महिषादि निषेध्य हैं। उक्त दोनों निषेध्योंमें यदि किसी एक गौका और किसी एक महिषका निषेध कहो तो अगोव्यावृत्तिधर्म गोमात्रका धर्म न होकर एकदेशी हो जायगा और गौके अतिरिक्त भी रहने लगेगा। क्योंकि अगोभागमें किसी एक गौसे भिन्न शेष गौओंको ले लेंगे और उसकी व्यावृत्ति सिर्फ उस एक गौमें परिनिष्ठित होगी, इस प्रकार अगोव्यावृत्ति गोमात्र व्यापी न होकर एक देशी हो जायगी। तथा (अगोकी) व्यावृत्तिभागमें भी अगोरूपसे किसी एक महिषको लेकर उसकी व्यावृत्ति दूसरी महिषमें आजानेसे अगोव्यावृत्तिधर्म गोवृत्ति न होकर गोसे अतिरिक्त महिषमें भी चला जायगा।

इन दोनों दोषोंसे बचनेके लिये एक-एककर सभी गौओंका और महिष-अश्व आदि सभी गवेतरोंका निषेध कहो तो असंभव है। क्योंकि व्यक्तिगत रूपसे प्रत्येकका ज्ञान हजार जन्मोंमें भी नहीं हो सकता है। अतः गोत्वरूपसे गोजातिमात्रका निषेध मानना होगा और महिषत्वादिरूपसे गवेतरमात्रका निषेध द्वितीयनिषेध मानना होगा। इस प्रकार गोत्व–अश्वत्व आदि स्वतन्त्र जाति माने बिना कोई गति नहीं है।

यदि कहो कि—अगोपदसे विधिरूप महिषत्व–अश्वत्व आदि धर्म नहीं भासित होता है, किन्तु गोव्यावृत्तिरूप निषेध ही भासित होता है। और उस निषेधका ही दूसरा निषेध अगोव्यावृत्ति है। तथा अगौमें भी निषेध्य जो गौ है, वह भी गोत्वरूप नहीं है किन्तु अगोकी व्यावृत्तिरूप है। अतः अपोहवादीको उक्त दो निषेध्योंके रूपमें गोत्व-अश्वत्वादि जातियाँ नहीं माननी पड़ेंगी। क्योंकि उक्त दोनों निषेध्य

ततः प्रतीतावितरेतराश्रयत्वमुक्तं संकेते सञ्चार्य यत् परिहृतं ज्ञानश्रिया, तदेतद् ग्राम्यजनधन्धीकरणं गोलकादिवत् स्थानान्तर-सञ्चारात् ।

भी एक भिन्न निषेधरूप ही हैं—तो ऐसी दशामें अन्योन्याश्रयदोष हो जायगा। क्योंकि अगोव्यावृत्तिस्वरूप गौका ज्ञान होनेपर अगौका ज्ञान हो सकता है और गोव्यावृत्तिस्वरूप अगौका ज्ञान होनेपर अगोव्यावृत्तिस्वरूप गौका ज्ञान हो सकेगा। इस प्रकार दोनों निषेध्योंको एक दूसरेके ज्ञानकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है। मेरे मतमें तो गोत्व आदि धर्म स्वतन्त्र विधि (भाव) रूप है, न कि किसीका निषेधरूप हैं। इसलिये भाववस्तुके ज्ञानके लिये एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं होनेसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं आ सकता है।

यहाँ ज्ञानके प्रति नैयायिकोंकी ओरसे दिये गये अन्योन्याश्रयदोषको नैयायिकोंके शब्दसङ्केतके ऊपर सञ्चारित कर ज्ञानश्रीने उक्त अन्योन्याश्रयदोषका जो परिहार किया है, वह ग्राम्यजन (अज्ञजन) को ठगनेके समान है। जैसे, कोई ऐन्द्रजालिक हाथकी सफाईसे इधरसे उधर गुटिका करके ग्रामीण पामर जनोंको ठगा करता है[1]।

---

१ यहाँ ज्ञानके प्रति दिये गये अन्योन्याश्रयदोषको ज्ञानश्री इस प्रकारसे पदसङ्केतमें सञ्चारित करते और अपने ऊपर आये उस अन्योन्याश्रय दोषका परिहार करते हैं, मानो नैयायिकने अपने पदसंकेतके बारेमें ही अन्योन्याश्रयदोष दिखाया हो।

उनका कथन यों है—"अगोव्यावृत्त (गवेतरोंसे भिन्न) गोपदका वाच्य है" इस वाक्यसे ही गोपदकी शक्तिका ज्ञान होगा और गोपदकी शक्तिका ज्ञान हो ले, तभी उक्त वाक्यकी प्रवृत्ति होगी, ऐसा अन्योन्याश्रयदोष यदि नैयायिक दिखावे तो उसके प्रति भी यह दोष हो सकता है। क्योंकि उसके मतानुसार "गोत्वविशिष्ट गौ गोपदवाच्य है" इस वाक्यसे ही गोपदकी शक्तिका ज्ञान होगा और गोपदकी शक्तिका ज्ञान हो ले तभी उक्त वाक्यकी प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार नैयायिकमत भी अन्योन्याश्रयदोषसे बचा नहीं है। अपने ऊपर अन्योन्याश्रयदोषको हटानेके लिये यदि नैयायिक कहे कि—उक्त

स्फुरतु विध्यलीकमिति चेत्, न, व्याघातात्। किञ्चिदिति विध्यर्थो न किञ्चिदिति चालीकार्थः। अतद्रूपपरावृत्तिमात्रेणालीकत्वे स्वलक्षणस्याप्यलीकत्वप्रसङ्गात्। रूपमात्रपरावृत्तौ तु कथं विधिर्नाम ?

धर्मोत्तरमतकी आशङ्का और उसका समाधान

(शंका) गोत्व-अश्वत्व आदि धर्म विध्यात्मक होते हुए अलीक-(मिथ्या) रूपसे हमारे ज्ञानमें भासित होते हैं। यहाँ विधि होनेके कारण इनके ज्ञानके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं होनेसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं आ सकेगा, और अलीक होनेसे वह गोत्वादि अपनेसे अन्यकी व्यावृत्तिरूप भी रहेगा।

(उत्तर) ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि वदतोव्याघातदोष हो जायगा। कारण, विधिरूप होना और अलीक होना ये परस्पर विरुद्ध हैं। कुछ होना विधि कहाता है और कुछ नहीं होना अलीकका अर्थ है। अतः ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। एवं, अतद्व्यावृत्ति (अन्य-व्यावृत्ति) मात्र होनेसे यदि गोत्वादि अलीक हो तो तुम्हारा अभिमत स्वलक्षण (गोव्यक्ति) भी अलीक होने लगेगा क्योंकि वह भी अपनेसे अन्यको व्यावृत्तिस्वरूप ही है।

यदि कहो कि—अन्यव्यावृत्तिरूप होनेपर भी गोव्यक्तिका अपना स्वरूप भी है, इसलिये गोव्यक्ति अलीक नहीं हो सकती है। किन्तु

वाक्यकी प्रवृत्तिके लिये गोपदकी शक्तिका ज्ञान अपेक्षित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादिद्वारा उपस्थित गोमें ही 'यह गोपदवाच्य है' ऐसा व्यवहार होकर गोपदकी शक्तिका ज्ञान हो सकता है—तो मैं भी कह सकता हूँ कि—प्रत्यक्षद्वारा उपस्थित अगोव्यावृत्तमें ही "यह गोपदवाच्य है" ऐसा व्यवहार होकर गोपदकी शक्तिका ज्ञान मेरे मतानुसार हो सकता है। अतः अन्योन्याश्रयदोषका मेरे मतमें भी अवकाश नहीं है।

यही ज्ञानश्रीका अन्यगतदोषका अन्यमें सञ्चार करना है, और वैसा करके अपने पक्षमें आये अन्योन्याश्रयदोषका परिहार करना है, जिसके भुलावेमें कोई अज्ञ जन ही आ सकता है। अर्थात् ज्ञानश्रीके इस समाधानसे अन्योन्याश्रयदोषका वास्तविक परिहार नहीं होता है।

विध्यंशस्यारोपितत्वाद्यमदोष इति चेत्, न, स्वलक्षणविधेर्विकल्पासंस्पर्शात्, सामान्यविधेरनुपगमात्, परिशेषादलीकविधौ विरोधस्यैव स्थितेः।

भेदाग्रहाद् विधिव्यवहारमात्रमिति चेत्, सम्भवेदप्येतद्[1] यदि स्वलक्षणमपि विधित्वमपहाय स्फुरेत्, यदि चालीकमपि निषेधरूपतां परिहृत्य प्रकाशेत, न चैवम्।

गोत्व तो स्वयं भी निःस्वरूप होनेसे अलीक है—तब वह गोत्व विधि कैसे है ? क्योंकि जो अलीक होगा वह विधि नहीं हो सकता और जो विधि होगा, वह अलीक नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—गोत्व अश्वत्वादि धर्म वस्तुतः अलीक हैं और उनमें विधित्व आरोपित है। इस प्रकार अलीक होते हुए विधि होनेमें कोई विरोध नहीं है—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस अलीक गोत्वादिमें स्वलक्षणात्मक (व्यक्तिस्वरूप) विधिका आरोप है ? या सामान्यात्मक (जातिस्वरूप) विधिका आरोप है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि आरोप सविकल्पकज्ञानरूप होता है, इसलिये स्वलक्षणात्मक विधि उसका विषय नहीं हो सकता है। कारण, आपके मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञानका ही विषय स्वलक्षण होता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि आप सामान्यात्मक विधि मानते ही नहीं हैं। इस प्रकार आरोप न हो सकनेसे वस्तुतः अलीक को विधि भी वास्तविक ही मानना पड़ेगा और तब एक ही को अलीक और विधि दोनों माननेमें पूर्वोक्त विरोध ज्योंका त्यों रह जाता है।

यदि कहो कि—अलीकमें विधिस्वरूपका आरोप नहीं है किन्तु परस्पर भेदकी अप्रतीति होनेसे विधिका केवल व्यवहार होता है—तो यह तभी होता यदि स्वलक्षण भी अपने विधिरूपको छोड़कर भासित होता और अलीक भी अपने निषेधरूपको छोड़कर प्रकाशित होता, किन्तु ऐसा है नहीं। एवं, स्वलक्षणात्मक विधि और अलीक दोनों ही के निर्धर्मक होनेसे किसी अन्य साधारणधर्मको लेकर भी अभिन्न व्यवहार

१-भवेदेवमिति पाठः शङ्करमिश्रसम्मतः, संभवेदप्येवमिति पाठो भगीरथठक्कुरसम्मतः।

उभयोरपि निरंशतया प्रकारान्तरमुपादायाप्रथनात्, अप्रथ्-मानरूपासम्भवाच्च । [1]काल्पनिकस्यांशांशिभावस्यात एव मूल एव निहितः कुठारः ।

साधारणं च रूपं विकल्पगोचरः, न चालीकं तथा भवितुमर्हति । तस्य हि देशकालानुगमो न स्वाभाविकः[2], तुच्छत्वात् । न काल्पनिकः, तस्याः क्षणिकत्वात् । नारोपितः[3], अन्यत्राप्यप्रसिद्धेः ।

नहीं हो सकता । साथ ही किसी अज्ञात धर्मसे भी दोनोंका अभेदव्यवहार संभव नहीं है । चूँकि तुम्हारे मतमें सभी पदार्थ सामान्यरहित होनेसे सदैव भिन्न भिन्न रूपमें ही भासित होते रहते हैं, इसलिये काल्पनिक धर्मधर्मिभावका मूल जो भेदाप्रतीति है, उसीमें ही कुठार पड़ गया । अर्थात् जब भेदकी अप्रतीति ही असंभव है, तब किसी काल्पनिक सामान्यधर्मके आधारपर भी अलीकमें विधिका व्यवहार नहीं हो सकता ।

एवं, गोत्वादि साधारणरूप ही सविकल्पक ज्ञानका विषय होता है । अलीक तो वैसा नहीं हो सकता है । कारण, जैसा कि साधारणरूपका भिन्न-भिन्न देश (व्यक्ति) और कालमें अनुगम होता है, अलीकमें वह देशकालानुगम स्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योंकि वह तुच्छ (मिथ्या) है । अलीकका देशकालानुगम काल्पनिक भी नहीं हो सकता । क्योंकि कल्पना तो स्वयं ही क्षणिक है, इसलिये उसके द्वारा भिन्न-भिन्न देश और कालमें अनुगम असंभव है ।

यदि कहो कि—गोत्वादिके स्वभावतः अलीक और अननुगत होनेपर भी अन्यत्र देखा गया देशकालानुगम उस अलीकमें आरोपित है—तो यह भी नहीं हो सकता । क्योंकि तुम्हारे मतानुसार अन्यत्र भी देशकालानुगम अप्रसिद्ध है और कहीं प्रसिद्धका ही आरोप भी होता है ।

---

१ काल्पनिकस्यापीति भगीरथठक्कुरसम्मतः पाठः ।

२ भाविक इति शङ्करमिश्रभगीरथठक्कुरसम्मतः ।

३ नाप्यारोपित इति शङ्करमिश्रसम्मतः पाठः ।

भेदाग्रहादेकत्वमात्रमनुसन्धीयत इति चेत्, न, भाविकस्य भेदस्याभावात्, भावे वा काल्पनिकत्वस्य व्याघातात्। परमार्थासतः परमार्थाभेदपर्यवसायित्वात्। आरोपितस्याग्रहानुपपत्तेः, अभेदारोपानवकाशाच्च। आरोपितासत्त्वस्य परमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् चतुःकोटिनिर्मुक्तस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्, तदग्रहस्य त्रैलोक्येऽपि सुलभत्वात्।

यदि कहो कि—सविकल्पकज्ञानके विषय जो अलीक व्यक्ति, उनमें परस्पर भेदका ज्ञान नहीं होनेसे एकत्वमात्र की प्रतीति होती है। इसलिये "गौ गौ" ऐसे अनुगत भानके लिये कोई गोत्वादिसामान्य मानना आवश्यक नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि उन अलीक व्यक्तियोंमें वास्तविक भेद नहीं है। यदि उनके भेद वास्तविक होवें तो उनका स्वयं अलीक होना व्याहत होगा। अर्थात् जो स्वयं अलीक है; उनका भेद कभी वास्तविक हो नहीं सकता।

यदि कहो कि—अलीकगत भेद वास्तविक नहीं है किन्तु अलीकमें भेदकी असत्ता ही वास्तविक है—तो अलीक कही जानेवाली उन व्यक्तियोंमें वास्तविक अभेद पर्यवसित हो जायगा और वह उन व्यक्तियोंमें एक सामान्यरूपता (जाति) का ही साधक होगा।

यदि अलीकोंमें परस्पर आरोपित भेद हो तो उस भेदका अग्रह नहीं बन सकता, क्योंकि ग्रह ही आरोप है। ऐसी स्थितिमें भेदके अग्रहके कारण आपने जो व्यक्तियोंमें एकत्व (अभेद) का प्रतीत होना बताया था, उसे भी यहाँ अवसर नहीं मिल सकता है।

यदि कहो कि—विभिन्न व्यक्तियोंमें भेदकी असत्ताका आरोप हो जानेसे उनमें अभेद प्रतीत होने लगता है—तो जब भेदकी असत्ता आरोपित है, तब सुतरां भेदकी सत्ता पारमार्थिक (वास्तविक) हो जायगी, और जिनके भेद वास्तविक होंगे, वे व्यक्ति भी वास्तविक ही हो जायँगे, आपके मतानुसार अलीक नहीं हो सकते।

यदि कहो कि—न भेद वास्तविक है और न उसकी असत्ता ही वास्तविक है, एवं भेद न आरोपित ही है और न उसकी असत्ता ही

अन्यत्र पारमार्थिकभेदप्रतीतौ कथमभेद आरोप्यतामिति चेत्, एवन्तर्हि यस्य प्रतिभासे यन्नारोप्यते, नियमेन तस्यैवा-प्रकाशे तदारोप्यम्, न तु तन्नामकमात्रस्य, अतिप्रसञ्जकत्वात्। अत एव न व्यधिकरणस्यापि सतोऽसतो वा भेदस्याग्रहोऽ-भेदारोपोपयोगीति।

आरोपित है। किन्तु इन चारों प्रकारोंसे अतिरिक्त किसी अलीक भेद-के ही अग्रहसे व्यक्तियोंमें एकाकारता प्रतीत होती है—तो इस प्रकार-के सर्वतोभावेन अज्ञात भेदका अग्रह तो त्रैलोक्यमात्रमें सुलभ होनेसे सारे संसारमें एकाकारता की प्रतीति होने लगेगी।

यदि कहो कि—अलीक भेदका अग्रह यद्यपि सर्वत्र सुलभ है, तथापि उन उन वस्तुओंमें पारमार्थिक भेदग्रहसे प्रतिबन्ध हो जानेके कारण सर्वत्र अभेदारोप (एकाकारता-प्रतीति) की आपत्ति नहीं हो सकती है—तो ऐसी स्थितिमें जिसका भान होनेपर जिसका आरोप नहीं हो सकता, नियमतः उसीकी अभानावस्थामें उसका आरोप संभव है, न कि उसके नामधारीमात्र किसी काल्पनिकको अभानावस्थामें भी। अर्थात् जब अभेदारोपके प्रति पारमार्थिक भेदग्रहको प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है, तब अलीक भेदाग्रहसे अभेदारोप माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। आरोप सम्बन्धी उक्त नियम न माना जाय तो अतिप्रसङ्गदोष हो जायगा। अर्थात् जिस किसीके भेदका अग्रह सर्वत्र सुलभ होनेसे सर्वत्र ही अभेदारोप होने लगेगा।

एवं अतिव्याप्तिदोषके कारण ही सत् या असत् अन्यगतभेदका अग्रह भी कहीं अभेदारोप होनेमें उपयोगी नहीं हो सकता। अर्थात् अन्यगत भेदाग्रहसे अन्यत्र अभेदारोप माना जाय तो सर्वत्र अभेदारोपकी आपत्ति हो जायगी। इस प्रकार घटपटके वास्तविक भेदका अग्रह होनेसे तथा अलीक शशशृङ्ग और कूर्मरोमके अवास्तविक भेदका अग्रह होनेसे भी गौ अश्व आदि उदासीन अधिकरणोंमें अभेदारोप होने लगेगा।

नापि न्यायादन्यापोहसिद्धिः, तदभावात्। यद् भावाभावसाधारणं[1] तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठम्, यथाऽमूर्तत्वम्; यच्चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यव्यवहारहेतुस्तदन्यव्यावृत्तिरूपम् इति न्यायौ स्त इति चेत्, न, कालात्ययापदेशात्। न हि प्रथमानस्य निष्ठा[2] न्यायसाध्या नाम। प्रथनशरीरं तु चिन्तितमेवेति निष्फलः प्रयासः।

न्याय (अनुमान) द्वारा भी अन्यापोह (अतद्व्यावृत्ति) की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि वैसे अनुमानका अभाव है।

यदि कहो कि— जो भाव-अभावसाधारण होता है, वह अन्यकी व्यावृत्तिस्वरूप होता है, जैसे अमूर्तत्व। अर्थात् अमूर्तत्वधर्म अभावमें तथा आकाश आदि भावमें भी रहता हुआ भावाभावसाधारण होनेसे मूर्तकी व्यावृत्तिस्वरूप है। ऐसे ही गोत्व भी गोके भाव (सत्ता) में रहता है तथा गोका अभाव हो जानेपर भी रहता है, इस प्रकार भावाभावसाधारण होनेके कारण गोत्व भी अन्यव्यावृत्तिस्वरूप ही होगा। एवं जो अत्यन्त विलक्षणोंमें भी समानता-व्यवहारका हेतु है, वह अन्यव्यावृत्तिरूप होता है, जैसे वही अमूर्तत्व। अर्थात् काल आकाशादि कई परस्पर विलक्षण पदार्थोंको अमूर्तत्वधर्म समानरूपमें विदित कराता है, इसलिये अमूर्तत्वधर्म मूर्तकी व्यावृत्तिस्वरूप है। गोत्व भी परस्पर विलक्षण नाना गौओंमें समानताव्यवहारका हेतु है, इसलिये गोत्व अन्यव्यावृत्तिरूप है। ये दो अनुमान अन्यापोहके साधक हैं— तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि ये अनुमान बाधित हैं। कारण, प्रत्यक्षवस्तुका स्वरूपनिर्णय अनुमानद्वारा नहीं होता। प्रत्यक्षके सम्बन्धमें तो विचार किया जा चुका है कि गोत्व आदिका साक्षात्कार विधिरूपमें ही होता है न कि निषेध (अतद्व्यावृत्ति) रूपमें। इसलिये अनुमानद्वारा आपका अन्यापोहसाधनका प्रयास निष्फल है। क्योंकि जब जलमें अनुष्णत्वधर्म वास्तविक है और उसका

---

१ अभावाभावसाधारण्यमस्तिनास्तिप्रत्ययविषयत्वमाश्रयनाशानाशयोरप्य- [illegible]नोषितत्वमिति शङ्करमिश्रः।

२ निष्ठा—स्वरूपम्

यदा चानलीक एव ध्रुवं न्यायस्यानुमानाभासः, तदा कैव कथाऽलीके। न हि तस्याप्रतीयमानमपि किञ्चिदस्ति, यन्न्यायेन साध्यमित्युक्तम्।

किञ्चेदं भावाभावसाधारण्यं न तावदुभयरूपत्वं, विरोधात्। न तद्धर्मत्वमनभ्युपगमात्। नहि गोत्वमभावस्यापि धर्म इत्यभ्युपगम्यते। न तद्धर्मित्वमनैकान्तात्। व्यक्तिरपि भावाभावधर्मशालिनी न निषेधैकरूपेति।

न तदुभयसादृश्य[1]मसम्भवात्। अतन्निवृत्त्यैव तथात्वे साध्याविशेषात्।

अग्निमें साधन करनेवाला अनुमान निश्चितरूपसे आभास होता है, तो जो अगोव्यावृत्ति स्वरूपतः अलीक (मिथ्याभूत) है, उसे सिद्ध करने वाले आपके अनुमानके आभास होनेमें क्या कहना है ? और उस अलीकका कोई ऐसा स्वरूप नहीं है, जो प्रत्यक्षद्वारा प्रतीयमान न होता हुआ भी वास्तविक हो तथा जिसे अनुमानसे सिद्ध किया जा सके। यह बात पहले कही जा चुकी है।

एवं गोत्वादिके भावाभावसाधारण होनेका क्या अभिप्राय है ? भाव—अभाव उभयस्वरूप होना अभिप्राय नहीं हो सकता है। क्योंकि भाव—अभावके परस्परविरोधी होनेके कारण कोई वस्तु उभयरूप नहीं हो सकती है। भाव-अभावका धर्म है गोत्वादि, यह अभिप्राय नहीं हो सकता। क्योंकि गोत्व भावका धर्म होनेपर भी अभावका धर्म नहीं माना जाता है। भाव-अभावका धर्मी होना भी अभिप्राय नहीं हो सकता। क्योंकि आपका अनुमान व्यभिचारी हो जायगा। कारण, व्यक्ति भी भाव-अभावका धर्मी है फिर भी वह आपके मतमें भी केवल निषेध (अन्यव्यावृत्ति) रूप नहीं है। इस प्रकार हेतुके रहनेपर भी साध्य नहीं होनेसे व्यभिचार हो गया।

गोत्वका भावाभावके सदृश होना भी भावाभावसाधारण्य नहीं है,

---

१ सादृश्यं = सादृश्यस्वरूपत्वम्। असंभवात् = अभावावृत्तित्वेन तथात्वासंभवात्, उभयवृत्तेरेव धर्मस्य सादृश्यत्वात् इति रघुनाथः।

नाप्यस्तिनास्तिसामानाधिकरण्यं, विरोधात् अन्यथा-

क्योंकि भाव और अभाव दोनोंका सादृश्य गोत्वमें असंभव है। यदि अतद्व्यावृत्तिरूप होनेसे गोत्वमें अभावका भी सादृश्य संभव ही है तो फिर साध्य और हेतुमें कोई विशेषता नहीं होनेसे अनुमान ही नहीं हो सकता है। अर्थात् गोत्वको अतद्व्यावृत्तिस्वरूप सिद्ध करनेके लिये दिया गया जो भावाभावसादृश्यरूप हेतु है, उसमें अतद्व्यावृत्ति गर्भित है। ऐसी स्थितिमें अतद्व्यावृत्ति सिद्ध करनेके लिये अतद्व्यावृत्ति ही हेतु कैसे बन सकती है?

अथवा यहाँके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका यह अभिप्राय है—"भाव-अभाव उभयका सादृश्य' रूप होना ही गोत्वमें भावाभावसाधारण्य है" यह नहीं कह सकते। क्योंकि सादृश्य उभयगत धर्म होता है। जैसे, चन्द्र और मुखका सादृश्य चन्द्ररूप प्रतियोगी और मुखरूप अनुयोगी दोनों हीमें रहता है। गोत्व भाव और अभाव दोनोंका सादृश्यरूप तब होता, यदि वह भावरूप प्रतियोगी और अभावरूप अनुयोगी दोनों ही में रहता। गोत्व तो भावमात्रमें ही रहता है, इसलिये उभयनिष्ठ नहीं होने से वह उभयसादृश्यरूप नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—गोत्वका उभयसादृश्यस्वरूप होना असंभव तब होता यदि वह भावपदार्थ होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। वह तो गौसे अन्य जो महिषादि उसकी व्यावृत्तिस्वरूप है। और यह महिषादि-व्यावृत्ति जैसे गवादिस्वरूपमें है, वैसे ही स्वरूपहीन अभावमें भी है। क्योंकि अभाव महिष थोड़े ही है? इस प्रकार गोत्वको भावाभाव उभयसादृश्यरूप माननेमें कोई असंभावनादोष नहीं है—तो ऐसा मानने पर हेतु और साध्यमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है। क्योंकि अतद्व्यावृत्तिस्वरूप होनेसे गोत्व भाव-अभाव उभयसादृश्यरूप होकर भावाभाव उभयका साधारण धर्म बनेगा और तब उसे (गोत्व का) अतद्व्यावृत्तिस्वरूप सिद्ध किया जा सकेगा। ऐसी स्थितिमें साधन (हेतु) का साध्यसे कोई अन्तर नहीं रहनेसे उक्त अनुमान नहीं हो सकेगा।

यह भी नहीं कह सकते कि—गोत्वका "अस्तिनास्ति" प्रतीतिका

सिद्धेश्च। न हि यदस्ति तदेव नास्तीति प्रत्ययगोचरः स्यात्। प्रकारान्तरमाश्रित्य स्यादेवेति चेत्, एवं तर्हि तमेव प्रकारभेद-मुपादाय विधिव्यवस्थायां को विरोधो येन प्रतिबन्धः सिध्येत्।

तस्य विधिरूपतायामस्ति[1] नाम किमधिकमुपनेयमिति चेत्, निषेधरूपत्वेऽपि नास्ति[2] नाम किमधिकमुपनेयमिति

विषय होना ही भाव-अभाव उभयसाधारण होना है—क्योंकि विरोध होगा और अन्यथासिद्धि भी। विरोध इसलिये कि जो वस्तु "अस्ति" प्रतीतिका विषय होगी, वही "नास्ति" प्रतीतिका विषय नहीं हो सकेगी। अन्यथासिद्धि इसलिये कि यदि प्रकारान्तरका आश्रयण कर वही वस्तु "अस्ति नास्ति" उभयप्रतीतिका विषय हो सकती है। अर्थात् गौरूप आश्रयका नाश होनेपर गोत्व "नास्ति" प्रतीतिका विषय हो सकता है और उस आश्रयकी अनाशावस्थामें "गोत्व" अस्ति प्रतीतिका विषय हो सकता है—तो इस प्रकारसे गोत्वको विधिरूप माननेमें ही क्या विरोध है, कि आपकी उक्त व्याप्ति सिद्ध हो और तदनुसार गोत्व अगोपोह-(अगोव्यावृत्ति या अगोनिषेध) रूप माना जाय।

यदि कहो कि—गोत्व यदि विधिरूप हो तो "गोत्वम् अस्ति" यहाँ विधिवाचक अस्तिशब्दके उच्चारणमें पुनरुक्तिदोष हो जायगा तथा गोत्वके साथ नास्तिशब्दके उच्चारणमें विधि-निषेधका परस्पर विरोध भी हो जायगा—तो मैं भी कह सकता हूँ कि गोत्व यदि अन्यका निषेध-रूप हो तो "गोत्वं नास्ति" यहाँ नास्तिशब्दके उच्चारणमें भी पुनरुक्ति-दोष हो जायगा और निषेधस्वरूपके साथ अस्ति शब्दके उच्चारणमें निषेध और विधिका परस्पर विरोध भी हो जायगा।

यदि कहो कि—विधि या निषेध किसी एक स्वरूप माननेमें ही उक्त विरोध और पुनरुक्ति दोष होते हैं, इसीलिये तो गोत्वादिधर्म को उभयसाधारण मानना चाहिये—तथापि उभयसाधारणका अर्थ यदि उभयस्वरूप रखो तो भी असंभव है। क्योंकि कोई भी पदार्थ परस्पर

---

१ अस्तिता किमिति रघुनाथशिरोमणिसम्मतः पाठः।

२ नास्तिता किमिति रघुनाथशिरोमणिसम्मतः पाठः।

समानम् । अतएव साधारण्यमिति चेत्, तथापि किं तदुभयात्मकत्वमुभयपरीहारो वेत्यशक्यमेतत् ।

तस्मादस्तिनास्तिभ्यामुपाध्यन्तरो[1]पसम्प्राप्तिः प्राप्तोपाधिनियमो वेति सार्थकत्वं तयोः । तदेतद् विधावपि तुल्यम् । शान्ताशेषविशेषत्वादलीकपक्षे क्वोपाध्यन्तरविधिस्तन्नियमो[2] वेति विशेषदोषः ।

ततो गोशब्दो गोत्वविशिष्टव्यक्तिमात्राभिधायी पर्यवसितः । तास्तु विप्रकीर्णदेशकालतया नार्थक्रियार्थिप्रार्थनामनुभवितुमीशत इति प्रतिपत्ता विशेषाकाङ्क्षः । सा च

विरोधीस्वरूप नहीं हो सकता। उभयसाधारणसे यदि उभयका परिहार (निषेध) अर्थ लो तो भी वही असंभव दोष है। क्योंकि भावके निषेधमें अभावस्वरूपता और अभावके निषेधमें भावस्वरूपता आ जानेसे फिर वही विरोधी-स्वरूपता प्राप्त हो जाती है, जो असंभव है।

इसलिये "अस्ति" पद देशविशेषमें वर्तमानत्वको उपस्थित करता हुआ और "नास्ति" पद देशविशेषमें वर्तमानत्वका निषेध बोधित कराता हुआ सार्थक होता है। यह बात गोत्वको विधिरूप माननेमें भी हो जायगी। बल्कि तुम्हारे अलीकपक्षमें ही, जहाँकि सम्पूर्ण विशेषों (देशविशेष और कालविशेष) का आत्यन्तिक अभाव है, अस्तिपदके योगसे किस देशविशेषमें वर्तमानत्व सूचित होगा और नास्तिपदके योगसे किस देशविशेषमें वर्तमानत्वका निषेध बोधित होगा? यह विशेष दोष हो जाता है।

इसलिये गोशब्द गोत्वविशिष्ट सम्पूर्ण गोव्यक्तियोंका अभिधान करता है। और वे गोव्यक्तियां विभक्त देश और कालमें बिखरी हुई होनेसे दोहन आदि प्रयोजन चाहनेवाले व्यक्तिकी प्रवृत्तिका विषय नहीं बन

---

१ उपाध्यन्तरम् = देशकालपरत्वान्तरस्वरूपम्" तस्याप्राप्तौ प्रापणं प्राप्तौ तु नियमनमिति रघुनाथः ।

२ स्तन्निषेध इति क्वचित् पा०

तस्याकाङ्क्षा 'अस्ति गोष्ठे कालाक्षी धेनुर्घटोध्नी महाघण्टा नन्दिनी' इत्यादिभिर्नियामकैर्विधायकैर्वा निवार्यत[1] इति विधौ न कश्चिद् दोषः।

गोत्वविशिष्टसदसद्व्यक्तिमात्रप्रतीतेस्तदेवास्त्यादिपदप्रयोगवैफल्यमिति चेत्, तावन्मात्रप्रतिपत्त्यर्थमेव तत्। अनेकप्रतिपत्त्यर्थन्तु तदुपयोगः, तस्य प्रागप्रतीतेरित्युक्तम्।

यस्तु निपुणम्मन्यो विकल्पमेव पक्षयति स्म—यज्ज्ञानं यद्भावाभावसाधारणप्रतिभासं, न तेन तस्य विषयत्वम्,

---

सकतीं। अतः वह व्यक्ति दोहनादि प्रयोजनके निमित्त विशेष गौकी आकाङ्क्षा करता है। और उसकी वह आकाङ्क्षा "घोठे (गोशाला) में काली आंखवाली, घटके समान थनवाली तथा बड़ा घण्टावाली नन्दिनी नामकी धेनु है" इन नियामक या विधायक विशेषणोंसे निवृत्त होती है। इस प्रकार विधिपक्षमें कोई दोष नहीं है।

यदि कहो कि—गोशब्द ही गोत्वसे युक्त सत् या असत् गोव्यक्तिमात्रकी प्रतीति कराता है। इसलिये फिर वही अस्ति-नास्तिपदोंके प्रयोगकी निष्फलता आ जाती है—तो यह कहा जा चुका है कि अभिन्न रूपसे सम्पूर्ण गोव्यक्तिको बतलानेवाला गोशब्द है और भिन्न भिन्न रूपमें गोव्यक्तियोंको बतलानेके लिये अस्ति आदि विशेषणपदोंका उपयोग है। क्योंकि विशेषणपदोंके प्रयोगके पूर्व गोव्यक्तियोंकी विभिन्नताकी प्रतीति नहीं होती।

ज्ञानश्रीसम्मत विकल्पपक्षक अनुमानका खंडन

(पूर्वपक्ष) जो तो अपनेको निपुण मानता हुआ सविकल्पक ज्ञानको ही पक्ष बनाता है। क्योंकि गोत्वको पक्ष बनाकर उसमें अन्यव्यावृत्तिरूपता सिद्ध करनेपर बाध या आश्रयासिद्धि दोष हो जाता है। कारण, विधिरूपसे प्रतीयमान गोत्व पक्ष बने तो बाध होगा, क्योंकि उसमें अन्यव्यावृत्तिरूपता बाधित है। यदि अतद्व्यावृत्तिरूपगोत्व पक्ष बने तो नैयायिक-

---

१ निवर्तेत इति शङ्करमिश्रसम्मतः पाठः।

यथा गोज्ञानस्याश्वेनेत्यादि। तद्यदि गोविकल्पस्याश्वाविषयत्वमेव तद्भावाभावसाधारण्यं गव्यपि बाह्ये तथा, ततः साध्याविशिष्टत्वम्।

अथास्त्यादिविशेषाकाङ्क्षा, तदाऽसाधारण्यम्। न ह्युदाहृतो गोविकल्पोऽश्वास्त्यादिविशेषमाकाङ्क्षति। नियम-

---

की दृष्टिसे आश्रयासिद्धिदोष होगा, क्योंकि नैयायिक गोत्वको अतद्व्यावृत्तिरूप नहीं मानता है। इन्हीं दोषोंसे बचनेके लिये जो कोई (ज्ञानश्री प्रभृति) गोत्वको पक्ष न बनाकर सविकल्पक ज्ञानको ही पक्ष बनाता है।

जैसे—जो ज्ञान, जिस वस्तुके भाव और अभाव दोनों ही दशाओंमें होता हुआ भासित होता है, उस ज्ञानका वह वस्तु विषय नहीं बनती है। जैसे, गोज्ञान अश्वके होने या न होने दोनों ही अवस्थाओंमें होता है तथा अश्व उसका विषय नहीं बनता। वैसे ही, गोज्ञान गोव्यक्तिके भी भाव और अभाव उभय दशामें होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिये गोज्ञानका बाह्य गौ भी विषय नहीं बनती है।

(उत्तरपक्ष) तो यहां दृष्टान्तभूत गोज्ञानके अश्वभावाभावसाधारण्यका अभिप्राय यदि गोज्ञानका अश्वको अपना विषय न बनाना ही हो तो दार्ष्टान्तपक्षमें भी गोज्ञानमें बाह्यपदार्थ गौके भावाभावसाधारण्यका भी यही अभिप्राय होगा कि बाह्य गौ गोज्ञानका विषय नहीं बनती है। ऐसी स्थितिमें साध्य और साधन एक ही हो जाता है। अतः सविकल्पक ज्ञानको पक्ष बनाकर किया हुआ अनुमान भी नहीं हो सकता है। अर्थात्—गोज्ञान, बाह्यगोविषयक नहीं है, क्योंकि वह बाह्यगोभावाभावसाधारण है, [अर्थात् बाह्यगोविषयक नहीं] है यहां जो ही साध्य है, वही साधन (हेतु) रूपमें उपस्थित किया गया है। इस प्रकार साध्यसमदोष होनेसे उक्त अनुमान नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—विकल्पके भावाभावसाधारण होनेका अर्थ है, उस वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्व आदि विशेष प्रकारकी आकांक्षा उठाना। अर्थात् "जिस ज्ञानके होनेपर जिस वस्तुमें-है, या-नहीं है, इस प्रकार की विशेष आकांक्षा उठती है, वह वस्तु उस ज्ञानका विषय नहीं होती

विधौ तु विरोध एव। न ह्यतद्विषयस्य तद्विशेषनियमाकाङ्क्षा नाम, गोज्ञानस्यापि विशेषनियमाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्।

तदीयसदसत्त्वानुपदर्शनं चेत्, तद् यदि स्वरूपमेव, ततोऽ-

है" इस प्रकारकी व्याप्ति यहां विवक्षित है। इस व्याप्तिके अनुसार प्रकृत प्रसङ्गमें अनुमानका आकार यह होगा—जैसे, गोज्ञान होनेपर अश्वके विषयमें अस्तित्व-नास्तित्वकी आकांक्षा (जिज्ञासा) उठती है, इसलिये उस ज्ञानका विषय अश्व नहीं होता है। वैसे ही गोज्ञान होनेपर गौमें भी अस्ति-नास्तिकी आकांक्षा उठती है, इसलिये गौ भी गोज्ञानका विषय नहीं है—तो आपका यह अनुमान असाधारणनामक हेत्वाभाससे ग्रस्त है। क्योंकि गोज्ञानसे अश्वमें अस्ति-नास्तिकी आकांक्षा ही नहीं उठती है। इसलिये दृष्टान्तहीन होनेसे उक्त अनुमान असाधारण-दोषसे ग्रस्त है। साथ ही यहाँ भागासिद्धिदोष भी होगा, क्योंकि सभी गोविकल्प (गोज्ञान) अस्तिआदिकी आकांक्षाके उत्थापक नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त विरोध दोष भी होगा, क्योंकि जो जिस ज्ञानका विषय ही नहीं होगा, उसमें वह ज्ञान अस्तिआदिकी आकांक्षाका उत्थापक कदापि नहीं होता है।

यदि कहो कि—सामान्यतः अस्तित्वादिकी आकांक्षाका उत्थापन यहां अभिप्रेत नहीं है, किन्तु देश-कालादिविशेषसे नियत अस्तित्वादि आकांक्षाका उत्थापन ही हेतु है। अर्थात् गोज्ञानका विषय गौ नहीं होती है, क्योंकि गोज्ञान देशकालादिविशेषसे नियत अस्तित्व आदि आकांक्षाका उत्थापक होता है—तो इस अनुमानमें विरोधदोष है। क्योंकि जो वस्तु उस ज्ञानका विषय ही नहीं होगी, उस वस्तुमें 'बाहर है या भीतर है' इत्यादि विशेष नियमकी आकांक्षा उस ज्ञानसे हो नहीं सकती। अन्यथा गोज्ञान होनेपर अश्वमें भी "आज, कल, बाहर या भीतर है" इत्यादि देशकालविशेषसे नियत अस्तित्वादिकी आकांक्षा होने लगेगी।

यदि कहो कि—जो ज्ञान जिस वस्तुके सत्त्व या असत्त्वको नहीं बताता है, उस ज्ञानका वह वस्तु विषय नहीं होती है—तो बताओ कि सत्त्व या असत्त्व वस्तु (धर्मी) स्वरूप है? या उस वस्तुसे

सिद्धिर्दोषः । न हि गोविकल्पो गोस्वरूपं नोपदर्शयतीति मम कदापि सिद्धम् । तव चाद्यापि । उपाध्यन्तरं चेदनैकान्तः । न हि यो यस्योपाध्यन्तरं नोपदर्शयेत्, नासौ तदपीति नियमः ।

ननु नियम एव । तथाहि—यत्र यत्समवेतधर्मबोधनं न तत्र तत्स्वरूपबोधनम्, यथा गोविकल्पशब्दौ तुरगे, तथा च तौ गव्यपि नीलत्वाद्यपेक्षयेति व्यापकानुपलब्धिः । धर्मिबोधे-

भिन्न उसकी उपाधि (धर्म) स्वरूप है ? यदि वस्तुस्वरूप माना तो उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध है । क्योंकि मैं यह कभी नहीं मानता कि गोज्ञान गोस्वरूपको नहीं बताता है । और तुम भी इसे अबतक भी नहीं सिद्ध कर सके हो । यदि सत्वासत्त्वको वस्तुका एक भिन्न धर्मस्वरूप मानो—तो उक्त नियम व्यभिचारी है । क्योंकि यह नियम नहीं है कि जो ज्ञान जिस वस्तुके धर्मको न बतावे, वह उस वस्तुको भी नहीं बताता है । क्योंकि धर्मज्ञानकी सामग्री भिन्न होती है, और धर्मिज्ञानकी सामग्री भिन्न ।

(पूर्वपक्ष) इस प्रकारका तो नियम अवश्य है कि जो जिस वस्तुमें समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध धर्मको नहीं बताता, वह उस वस्तुके स्वरूपको भी नहीं बताता है । जैसे, गोज्ञान और गोशब्द अश्वसमवेत धर्मको नहीं बताते हैं, इसलिये अश्वस्वरूपको भी नहीं बताते । वैसे ही गोज्ञान और गोशब्द गौमें भी नीलत्वादिधर्मकी प्रतीति नहीं कराते हैं, इसलिये गोस्वरूपको भी नहीं बता सकते हैं । क्योंकि व्यापकधर्मकी अप्रतीति होनेसे व्याप्यकी भी अप्रतीति स्वतः सिद्ध है ।

धर्मीका बोध होनेपर भी धर्मोंमें किसीका बोध होना और किसीका नहीं होना, यह नियम उपकारभेदसे संभव होता । और उपकारभेद

१ स्वरूपमेव इति १ पु० पा०
२ तवाद्यापि इति १ पु० पा०
३ चेत्तदा इति १ पु० पा०
४ तमपीति इति १ पु० पा०

ऽपि हि धर्माणां कस्यचिद् बोधः कस्यचिदबोधश्चे[1]त्युपकारभेदान्नियमः स्यात्, उपकारभेदश्च शक्तिभेदाद् भवेत्, न चैवं प्रकृते, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ततः[2] शक्तेरभेदादुपकाराभेदे सर्वोपाधिसहितबोधोऽबोधो वेति द्वयी गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः।

दुष्प्रयुक्तमेतत्—उपाधितद्वतां भेदे प्रतिनियतसामग्रीबोध्यत्वादेव तदयौगपद्ये बोधाबोधोपपत्तेः। प्रतिनियतसामग्रीबोध्यत्वस्यापि स्वभाववैचित्र्यनिबन्धनत्वात्। तस्यापि स्वकारणाधीनत्वात्। तस्याप्यन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। तस्यापि कार्यान्नियत्वादिति।

यत्तु शक्तेरभेदादित्यादि, तत्तदा शोभेत यदि धर्मिमात्रा-

भी ग्राहकसामग्रीगत शक्तिके भेदसे संभव होता। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि शक्तिभेदका भी कारण यदि दूसरा दूसरा शक्तिभेद हो तो अनवस्थादोष हो जायगा। इसलिये यहां शक्तिभेद नहीं होनेसे धर्मीमें किसी प्रकारका उपकारभेद भी नहीं हो सकता है। अतः या तो सम्पूर्ण धर्मोंके साथ धर्मीका बोध होगा या धर्मीका बोध ही न होगा, यह दो ही गति है। इस प्रकार उक्त नियमकी सिद्धि हो जाती है।

(उत्तर पक्ष) आपद्वारा प्रयुक्त उक्त नियम ठीक नहीं है। क्योंकि उपाधियों और उपाधिमान् (धर्मी) का परस्परमें भेद होनेके और सभीके अपनी अपनी नियत सामग्रीसे बोध्य होनेके कारण सबका एक साथ बोध न होकर किसी धर्मका बोध होगा और किसीका नहीं होगा। अपनी अपनी नियत सामग्रीसे बोध होनेमें भी स्वभावकी विचित्रता ही हेतु है। और स्वभाव विचित्रता अपने अपने कारणके अधीन है। अपने अपने कारणका निर्धारण अन्वय और व्यतिरेकसे होता है तथा अन्वयका ज्ञान भी कार्य देखकर किया जाता है।

---

१ दबोध इत्यु० इति १ पु० पा०
२ तत्र इति २ पु० पा०

धीनस्तद्बोधमात्राधीनो[1] वा तावन्मात्रबोधसामग्र्यधीनो वा यावदुपाधिभेद[2] बोधः स्यात्, न चैवम्।

एतेन भेदाद् धर्मिणः प्रतीतावपि शब्दलिङ्गद्वारा धर्माणां चेदप्रतीतिः, इन्द्रियद्वाराऽपि मा भूदित्यादिकं तु कर्णस्पर्शे कटिचालनमपास्तम्। तत्तदुपाध्युपलम्भसामग्रीविरहकाले प्रसञ्जितस्येष्टत्वात्। विचित्रशक्तित्वाच्च प्रमाणानाम्। लिङ्गस्य

जो तो यह कहा कि—शक्तिभेद नहीं होनेसे उपकारभेद भी नहीं हो सकेगा, इसलिये या तो सभी धर्मोंके साथ धर्मीका बोध होगा या सभी धर्मोंको छोड़कर अकेले धर्मीका बोध होगा—वह तो तब शोभा देता, जब कि केवल धर्मीके अधीन या केवल धर्मिज्ञानके अधीन अथवा धर्मिमात्रका ज्ञान करानेवाली सामग्रीके अधीन समस्त धर्मोंका बोध हुआ करता। किन्तु ऐसी बात नहीं, बल्कि धर्मोंका बोध अपनी सामग्रीके अधीन होता है।

इससे यह कहना कि—यदि भिन्न होनेके कारण धर्मीकी प्रतीति होनेपर भी शब्द और लिङ्गद्वारा धर्मिगत धर्मोंकी प्रतीति न हो तो इन्द्रियद्वारा भी होनेवाली धर्मीकी प्रतीतिके साथ धर्मोंकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अर्थात् जैसे शब्द और अनुमानद्वारा केवल वस्तुका ज्ञान होता है, न कि उसके नीलापन आदिका, वैसे ही चक्षुद्वारा भी केवल वस्तुका ही प्रत्यक्ष होना चाहिये, उसके नीलापन उजलापनका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये—कान छूनेपर कटि चालनके समान है और वह भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्षस्थलमें उन उन धर्मोंकी उपलब्धि करानेवाली सामग्रीके अभावकालमें यदि उक्त प्रसङ्ग देते हो तो वह इष्ट ही है। क्योंकि प्रमाणोंकी अपनी-अपनी विचित्र शक्ति है। जैसे, अनुमानप्रमाण, साध्य और हेतुकी प्रसिद्ध जो परस्पर व्याप्ति, उसकी स्मृतिरूप शक्तिवाला होता है। अर्थात् पूर्वमें ज्ञात व्याप्ति-की स्मृति ही अनुमानप्रमाणकी शक्ति है। शब्दप्रमाणकी शक्ति उसका अर्थके साथ सङ्केतका ग्रह है। अर्थात् सङ्केतग्रहके अभावमें

---

१ धीनस्ताव० इति १ पु० पा०

२ उपाधिबोधः इति १ पु०पा०

प्रसिद्धप्रतिबन्धप्रतिसन्धानशक्तिकत्वात्, शब्दस्य समयसीमविक्रमत्वात्, इन्द्रियस्य स्वर्थशक्तेरप्यपेक्षणात्। न तु सम्बद्धोऽर्थ इत्येव प्रमाणैः प्रमाप्यते[1] अतिप्रसङ्गात्।

यस्य तूपाधेरुपलम्भ एव येन प्रमाणेन धर्म्युपलभ्यते, तस्यानुपलम्भे स तेन नोपलभ्यत इति परं युज्यते, सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा, तथा च सिद्धसाधनमिति संक्षेपः।

स्यादेतत्, यदीन्द्रियेण समानविषयावेव लिङ्गशब्दौ, ततः प्रतिभासभेदोऽनुपपन्नः। एकविषयत्वं हि प्रतिभासाभेदेन व्याप्तं सव्येतरनयनदृष्टवत् दृष्टम्।

शब्दसे कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। और प्रत्यक्षप्रमाणभूत इन्द्रियोंके लिये तो वस्तुगत शक्ति (योग्यता) की भी अपेक्षा होती है। ऐसी बात नहीं है कि वस्तु इन्द्रियोंसे सम्बद्ध हुई, इतने मात्रसे इन्द्रियप्रमाणद्वारा उसका ज्ञान हो जायगा। क्योंकि वैसा होनेपर वस्तुके रूपज्ञानके साथ साथ उसके रसका भी ज्ञान नेत्रसे हो जाना चाहिये।

"जिस उपाधिकी तो उपलब्धि होनेपर ही जिस प्रमाणसे धर्मीकी उपलब्धि होती है, उस उपाधि (धर्म) की उपलब्धि नहीं होनेपर उस प्रमाणसे उस धर्मीकी भी उपलब्धि नहीं होती है" यह बात ठीक है। और यह भी ठीक है कि 'किसी धर्मीके सभी धर्मोंकी अनुपलब्धिकी दशामें भी उस धर्मीकी उपलब्धि नहीं होती'। यदि आपका भी यही सिद्ध करना अभिप्राय हो तो सिद्धसाधनदोष आ जाता है। क्योंकि आप जो सिद्ध करना चाहते हैं, वह मेरे मतमें भी ठीक ही है। इस लिये सिद्धको ही सिद्ध करना दोष है। यही सारांश हुआ।

(पूर्वपक्ष) अस्तु, यदि इन्द्रियके समान ही अनुमान और शब्द भी वस्तुके स्वरूपको बतावें तो प्रत्यक्षज्ञानसे अनुमितिज्ञान और शाब्द-ज्ञानमें भिन्नता नहीं होनी चाहिये। जहां जहां एकविषयता रहती है, वहां वहां ज्ञानमें भी भेद नहीं रहता है। जैसे, एक ही विषयको बायीं

---

१ प्रत्याय्यते इति १ पु० पा०

न चेह तथा। यथा हि प्रत्यक्षे चेतसि देशकालावस्था-नियतानि परिस्फुटरूपाणि स्वलक्षणानि प्रतिभान्ति, न तथा शब्दे (शाब्दे) लैङ्गिकविकल्पेऽपि। तत्र हि विजातीयव्यावृत्तमिव परस्पराकारसङ्कीर्णमिवास्फुटमिव प्रत्यक्षापरिचितं किञ्चिद्रूपमाभासमानमनुभवविषयः।

न चोपायभेदमात्रेण प्रतिभासभेद उपपद्यते। न हि प्रतिपत्त्युपायाः प्रतिपत्त्याकारं परिवर्तयितुमीशते। न चैकं वस्तु द्व्याकारमिति प्रतिबन्धसिद्धिः। अस्य प्रयोगः—योऽयं

और दायीं आँखोंसे देखनेपर बायीं आँखसे हुआ ज्ञान दायीं आँखसे हुए ज्ञानसे भिन्न नहीं होता।

किन्तु, यहाँ ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, जैसे प्रत्यक्षदशामें किसी खास देशकाल और अवस्थाके साथ एवं काला उजला आदि अपने स्पष्ट रूपके साथ वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वैसे शब्द या अनुमानद्वारा हुए ज्ञानमें नहीं होती। वहाँ (शब्द और अनुमान स्थलमें) तो अपने विजातीयोंसे स्पष्टरूपमें भिन्नताका अनुभव न होनेके कारण भिन्न जैसा, तथा अपने अन्य सजातीयोंके साथ भेदकी प्रतीति न होनेसे सजातीयोंके आकारमें मिला जुला जैसा, एवं अपने विशेषधर्मकी प्रतीति न होनेके कारण अस्पष्ट जैसा, प्रत्यक्षसे अपरिचित कोई पदार्थ भासित होता हुआ अनुभवका विषय होता है।

जबतक वस्तु भिन्न भिन्न न हो तब तक केवल इन्द्रिय, अनुमान या शब्दरूप उपायोंके भेदसे ज्ञान भिन्न हो जाय ऐसी बात नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञानके उपाय ज्ञानके आकारको नहीं बदल सकते हैं। और यह भी नहीं हो सकता कि एक ही वस्तु दो आकारकी हो। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान वस्तुकी सत्तामें ही होता है, किन्तु अनुमिति और शाब्दज्ञान प्रत्यक्षके समान नहीं हैं, इसलिये वे (अनुमिति और शाब्दज्ञान) वस्तुके रहने या न रहने दोनों दशाओंमें होते हैं। अतः हमारी पूर्वोक्त व्याप्ति (नियम) सिद्ध है कि "जो ज्ञान जिस वस्तुके रहने या न रहने दोनों दशाओंमें हो, वह उससे अन्यकी व्यावृत्ति (अन्यापोह) बोधित कराता है"। यहाँ हमारे अनुमानका

क्वचिद्वस्तुनि प्रत्यक्षप्रतिभासाद् विपरीतः भासो, नासौ तेनैकविषयो, यथा घटग्रहात् पटप्रतिभासः । तथा च गवि प्रत्यक्षप्रतिभासाद् विपरीतः प्रतिभासो विकल्पकाल इति ।

इदमप्यवद्यम्, चित्राचित्रप्रतिभासाभ्यां मिथो विरुद्धाभ्यामेकनीलविषयाभ्यामनैकान्तात् । न हि चित्राध्यक्षे यन्नीलं चकास्ति, तदेव पश्चान्न केवलम्, तदैव वा पुरुषान्तरस्य । येनाकारेणैकविषयत्वं तयोर्न तेनैव विरोधो, येन च विरोधो न तेनैकविषयत्वम् ।

धर्मान्तराकारेण विरोधो नीलमात्राकारेण चैकविषयतेति चेत्, नन्विहापि धर्मान्तराकारेण विरोधो गोत्ववत्पिण्ड-

---

ऐसा आकार बनता है—जो ज्ञान किसी वस्तुके प्रत्यक्षज्ञानसे विपरीत आकारका होता है, वह उसके समान विषयवाला नहीं होता, जैसे—घटज्ञानसे विपरीत पटज्ञान घटविषयक नहीं होता। वैसे ही, गौके सम्बन्धमें जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उससे विपरीत आकारका ज्ञान गोविषयक शाब्दबोध कालमें होता है। इसलिये शब्दद्वारा प्रत्यक्षके समान गोस्वरूपका भान नहीं होगा किन्तु अगोव्यावृत्तिका ही भान होगा।

(उत्तरपक्ष) आपका यह कथन भी सदोष है। क्योंकि चित्ररूपका ज्ञान और अचित्ररूप (नीलमात्र) का ज्ञान परस्परमें विरुद्ध होते हुए भी दोनों ही एक नीलरूपको विषय बनाते हैं ! इसलिये आपका उपर्युक्त नियम कि "परस्पर विपरीत ज्ञान समानविषयक नहीं होते व्यभिचारी हो जाता है। ऐसी बात नहीं है कि चित्रके प्रत्यक्षमें जो नील भासित होता है, वही पीछे अकेला न भासित होता हो, अथवा उसी समयमें अन्य व्यक्तिको वही नील अकेला न भासित होता हो।

यदि कहें कि—जिस आकारसे दोनों ज्ञानोंमें एकविषयता है, उसी आकारसे उनमें विरोध नहीं है, और जिस आकारसे विरोध है, उससे

मात्राकारेण चैकविषयतेति तावन्मात्रनिराकरणेऽसिद्धो हेतुः। पूर्वत्र सिद्धसाधनम्। न हि शाब्दलैङ्गिकविकल्पकाले देश-कालनियमादयोऽपि सर्व एव धर्मविशेषा विषयभावमासाद-यन्तीत्यभ्युपगच्छामः।

ननु धर्मिण्येव स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः कथम्? न कथ-ञ्चित्। यथा यथा हि धर्माः प्रतिभान्ति तथा तथा स्फुटेति

एकविषयता नहीं है। क्योंकि चित्राकार और अचित्राकारसे विरोध है और केवल नीलाकारसे एकविषयता है—तो निश्चित ही प्रत्यक्ष और शाब्दबोधादि स्थलमें भी नील, श्वेत, कपिल आदि धर्मोंके आकार-से विरोध है और गोत्वधर्मवाले पिण्डके आकारसे एकविषयता है। अर्थात् प्रत्यक्षमें नीलापन उजलापनके साथ साथ गोत्वधर्मवाला पिण्ड भासित होता है और शाब्दबोधादि स्थलमें केवल गोत्वधर्मयुक्त पिण्ड का भान होता है। इस प्रकार नीलादि अंशमें ही विरोध है न कि पिण्डांशमें भी।

इसलिये शब्द और अनुमानद्वारा होनेवाले गोत्वयुक्त पिण्डके भान-का यदि खण्डन करना चाहते हो तो इसके लिये आपका दिया पूर्वोक्त (प्रतिभासभेद) हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि पिण्ड (वस्तु) के सम्बन्धमें प्रत्यक्ष शाब्दबोध और अनुमिति सभी ज्ञान समान है। और यदि नियत देश, काल, अवस्था तथा वस्तुके उजलापन नीलापन आदि विशेषधर्मोंको लेकर प्रत्यक्ष और शाब्दादि प्रतिभासोंके भिन्न-भिन्न होनेसे उन्हें भिन्नविषयक सिद्ध करना चाहते हो तो सिद्धसाधन दोष हो जायगा। क्योंकि यह हम भी नहीं मानते कि शाब्द या अनुमितिज्ञानकालमें नियतदेश, काल, अवस्था, नीलत्व, श्वेतत्व आदि वस्तुके सभी धर्म भासित होते हैं। अर्थात् उस रूपसे शाब्द आदि ज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानसे भिन्नविषयक हम भी मानते ही हैं।

(शङ्का) जो धर्मी (वस्तु) प्रत्यक्षसे भासित होता है, वही यदि शब्द और अनुमानसे भी भासित होता है तो प्रत्यक्षज्ञान स्फुट और शाब्दबोध तथा अनुमिति अस्फुट, ऐसा प्रतीतिभेद कैसे होता है?

प्रतिभानव्यवहारः। यथा यथा च धर्माणामप्रतिपत्तिस्तथा तथा प्रतिभानस्य मान्द्यव्यवहारो दूरान्तिकादौ प्रत्यक्षेऽपि लोकानाम्, न तु सर्वथैवाप्रतिपत्तौ।

विदूरादिप्रत्ययोऽपि पक्ष एवेति चेत्, अस्तु, न तु तावताऽपि धर्मधर्मिभेदसिद्धौ प्रत्यक्षबाधस्य, तत्सन्देहेऽपि सन्दि-

---

(उत्तर) मैं कहूँगा कि प्रतिभास स्फुट ही होता है, अतः उसमें स्फुटत्व और अस्फुटत्वका भेद कथमपि नहीं होता है। क्योंकि जैसे जैसे वस्तुके धर्म भासित होते जाते हैं, वैसे "स्फुट प्रतीति है" ऐसा व्यवहार होता है और जैसे जैसे वस्तुगत धर्मोंकी अप्रतीति होती जाती है, वैसे वैसे "मन्द प्रतीति है" ऐसा व्यवहार लोगोंको दूरस्थ और समीपस्थ वस्तुओंके प्रत्यक्षमें भी होता है। यह बात नहीं है कि वस्तु की सर्वथा अप्रतीतिमें ही अस्फुटत्व (मन्दत्व) का व्यवहार होता हो। इसलिये शब्द और अनुमानमें यदि वस्तुका सर्वथा भान न हो तो वहाँ अस्फुटत्व भी नहीं कहा जा सकता है।

यदि कहो कि—विदूरादिप्रतीति भी पक्षके अन्तर्गत ही है। अर्थात् जैसे शाब्द और अनुमितिप्रतीतियोंको वस्तु (धर्मि) विषयक नहीं मानते, वैसे ही विदूरादिप्रतीतिमें भी धर्मीका भान नहीं मानते हैं। इसलिये उसे दृष्टान्तके रूपमें नहीं उपस्थित किया जा सकता है—तो कहूँगा कि वह भी भले ही पक्षकोटिमें रहे, फिर भी धर्म और धर्मीका पारस्परिक भेद सिद्ध है। अतः दूरस्थ वस्तुके कुछ धर्मोंका भान न होनेपर भी उस धर्मीका तो भान होता ही है। इसप्रकार आपका यह अनुमान करना कि विदूरप्रतीतिमें भी धर्मीका भान नहीं होता है, प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है।

बाधमें कथञ्चित् सन्देह होनेपर भी सन्दिग्धानैकान्तिक दोषका परिहार नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतिभासभेद (विदूरप्रतीतिके अस्फुट होने) के कारण ही आप उसे धर्मिविषयक नहीं मानते हैं, किन्तु उसके धर्मिविषयक होनेपर भी कुछ धर्मोंका भान न होनेमात्रसे भी उस प्रतीतिका अस्फुट होना संभव है। इसप्रकार आपके अनुमानमें

ग्धानैकान्तिकस्य वा परिहारः, तावतापि प्रतिभासभेदस्योपपत्तेः ।

यदि च नैवम्, दूरतमादिप्रत्ययेषु कः समाश्वासविषयः ? यस्यार्थो लभ्यत इति चेत्, ननु लाभोऽपि पूर्वपूर्वोपलब्धानुपमर्दनेनैव । न हि सत्त्वद्रव्यत्वपार्थिवत्ववृक्षत्वादिकं परिभूय शिंशपा लभ्यते ।

यत्रार्थक्रियासिद्धिरिति चेत्, सर्वेषामनुवृत्तेः कस्यार्थक्रियेति किं निश्चायकम् ? न किञ्चित्, किन्तु संकीर्णार्थ-

व्यभिचारका सन्देह तो अवश्य है और व्यभिचारका सन्देह भी अनुमितिको रोक देता है।

यदि ऐसी बात न हो तो दूरतम (सर्वाधिक दूर) आदि प्रतीतियोंमें कौन सी प्रतीति विश्वसनीय होगी। अर्थात् दूरतमप्रतीतिमें "कोई द्रव्य है" ऐसा भासित होता है। दूरतरप्रतीतिमें "वह पार्थिव द्रव्य है" ऐसा भान होता है। और निकटप्रतीतिमें "वह सीसमका वृक्ष है" ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। यहाँ एक ही वस्तु अस्पष्टतम, अस्पष्टतर, अस्पष्ट और स्पष्टरूपमें मेरे मतानुसार भासित होती है। किन्तु आपके मतमें किस वस्तुके सम्बन्धमें विश्वास किया जाय कि अमुक वस्तुवाली प्रतीति प्रमा है।

यदि कहो कि—जिस प्रतीतिकी वस्तु प्राप्त हो जाती है, वही प्रतीति विश्वसनीय है—तो निश्चित ही वह प्राप्ति भी पूर्व पूर्वमें प्राप्त वस्तुको अतिरस्कृत कर ही होती है। क्योंकि निकटसे शिंशपाका ज्ञान अतिदूर आदिसे जाने गये उसके सत्त्व, द्रव्यत्व पार्थिवत्व और वृक्षत्व आदि भावोंको तिरोहित करके नहीं होता।

यदि कहो कि—जिसमें पत्र-काण्डादिस्वरूप अर्थक्रिया देखी जाती है, उसीकी प्रतीति प्रमा है और शेषकी अप्रमा—तो शिंशपाप्रतीतिदशामें सत्त्व, द्रव्यत्व, पार्थिवत्व और वृक्षत्वकी भी अनुवृत्ति रहती ही है, उनका उपमर्द होता नहीं। अतः इनमें किसमें अर्थक्रिया होती है, इसका क्या निश्चायक है ?

क्रियाविरहादेकमेव तत्र वस्तु, न चैकस्मिन् प्रतिभासभेद इत्येक एव प्रत्ययस्तत्र सालम्बन इति ब्रूम इति चेत्, तथापि कतम इत्यनिश्चये स एवानाश्वासः।

असंकीर्णाऽपि चार्थक्रिया न व्यक्तितः, सामग्रीतः सर्वसंभवात्। अत एव न सन्तानतः। न ह्येकसन्ताननियता काचिदर्थक्रिया नाम। काञ्चिदर्थक्रियां प्रति प्रत्यक्षानुपलम्भगोचर एव तथा व्यवस्थाप्यत इति चेत्, तर्हि दूरतमाद्युपलब्धा

यदि कहो कि—यद्यपि कोई निश्चायक नहीं है, फिर भी वहाँ अर्थक्रियाके सङ्कीर्ण नहीं होनेसे एक ही वस्तु है, और एक वस्तुमें भिन्न प्रतीति नहीं हो सकती, अतः एक ही प्रतीति वहाँ सविषयक है और शेष प्रतीतियां निरालम्बन हैं—तो सत्त्वसे लेकर शिशपात्वप्रतीति तक कौन सी प्रतीति ऐसी है, इसका निश्चय नहीं होनेसे किसी खास प्रतीतिकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें वही अविश्वास कायम रहा।

यदि कहो कि—शिंशपामें विशेष प्रकारकी पत्रकाण्ड आदि अर्थक्रिया उसके सत्, द्रव्य, पृथिवी या वृक्षमात्र होनेसे होती तो कटहलके भी सत्, द्रव्य, पृथिवी या वृक्ष होनेसे उसमें भी शिंशपा जैसे ही पत्र काण्डादि होते। अतः उस विशेष अर्थक्रियाके कारण शिंशपाप्रतीति ही प्रामाणिक निश्चित होती है—तो फिर भी वह असङ्कीर्ण अर्थक्रिया एक व्यक्तिमात्रसे नहीं होती किन्तु सामग्रीसे होती है। इसीलिये व्यक्तिकी अविच्छिन्न सन्ततिसे भी नहीं हो सकती। क्योंकि कोई भी अर्थक्रिया (जैसे, अंकुरादि) एकमात्र बीजसन्ततिसे नहीं होती है किन्तु उसमें भी मिट्टी पानी आदिकी सन्ततिकी भी अपेक्षा पहले बतायी जा चुकी है।

यदि कहो कि—किसी अर्थक्रियाके प्रति कारणरूपसे वही व्यवस्थित किया जा सकता है, जिसका उस कार्यके प्रति अन्वय-व्यतिरेक सहचार हो। अर्थात् जिसके रहनेपर ही वह कार्य उत्पन्न हो और नहीं रहनेपर न हो, वही उस कार्यका कारण है—तो दूरतम, दूरतर, दूर और निकटसे द्रव्य, पृथिवी, वृक्ष और शिंशपाके रूपमें उपलब्ध पदार्थके सम्बन्धमें भी वही व्यवस्था होनी चाहिये। क्योंकि वे सभी उस अर्थ-

अपि तथा व्यवस्थाप्याः। सर्वेषामेव तेषां तां तामर्थक्रियां प्रति प्रयोजकतया अन्वयव्यतिरेकगोचरत्वात्।

स्यादेतत्, न धर्मान्तराकारेण प्रतिभासभेदो भेदहेतुः किन्तु परोक्षापरोक्षरूपतया। सा हि न धर्मभेदानप्युपादाय समर्थयितुं शक्या, तेष्वपि परोक्षापरोक्षज्ञानोदयात्, तत्रापि धर्मान्तरानुसरणेऽनवस्थानादिति चेत्, न, तयोरविषयाकारत्वात्। द्विविधो हि ज्ञानधर्मो विषयावच्छेदो जातिभेदश्च। तत्र विषयावच्छेदभेदेन विषयस्य भेदस्थितिरभेदनिराकरणं वा, न

क्रियाके प्रति प्रयोजक हैं, यह बात अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध है। जैसे, वही सीसम द्रव्यरूपमें संयोगके प्रति, पृथिवीरूपमें गन्धके प्रति, वृक्षरूपमें सामान्यतः पत्रकाण्डादिके प्रति और शिशपारूपमें विशेष ढङ्गके पत्र काण्डादिके प्रति कारण होता है। इसलिये केवल शिशपाप्रतीति ही प्रामाणिक नहीं है किन्तु द्रव्यादिप्रतीति भी वैसे ही धर्मिविषयक है और प्रामाणिक है।

(पूर्वपक्ष) अस्तु, किन्हीं अन्य धर्मोंके कारण नहीं किन्तु परोक्ष और अपरोक्षरूप होनेसे अनुमानादि और प्रत्यक्षज्ञान परस्पर भिन्न हैं और इसीलिये दोनोंके विषय भिन्न सिद्ध होते हैं। यहाँ ऐसा समर्थन नहीं किया जा सकता कि "ज्ञानोंकी परोक्षता या अपरोक्षता स्वतः नहीं है किन्तु परोक्षत्व-अपरोक्षत्व विषयके ही धर्म हैं और इन परोक्ष-अपरोक्ष विषयोंके ही कारण ज्ञान भी परोक्ष-अपरोक्ष कहे जाते हैं। क्योंकि आपके मतमें परोक्ष विषयमें भी योगियोंको अपरोक्षज्ञान और अपरोक्ष विषयमें भी सर्वसाधारणको शाब्दबोधादि परोक्षज्ञान होता है। यदि इन ज्ञानोंकी भी परोक्षता-अपरोक्षताके समर्थनके लिये किन्हीं अन्य-धर्मोंका सहारा लिया जाय तो इस प्रकारकी कल्पनाकी विश्रान्ति न हो सकनेके कारण अनवस्थादोष हो जायगा। अतः परोक्ष-अपरोक्ष-स्वरूप प्रतिभासके भेदसे प्रत्यक्ष-अनुमानादि ज्ञानोंका विषयभेद आवश्यक है।

(उत्तरपक्ष) उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि मेरे मतमें भी

तु द्वितीयेन, तस्य कारणभेदेनैवोपपत्तेः, श्रुत्यनुमितिस्मृतिवत्। यथा च विषयभेदेऽपि कारणाभेदादेवापरोक्षजातीयमिन्द्रियजं ज्ञानं तथा विषयाभेदेऽपि कारणभेदादेव परोक्षापरोक्षजातीयमिन्द्रियलिङ्गज्ञानं भवत् केन वार्यते। वारणे वा कार्यभेदं प्रति कारणभेदोऽप्रयोजकः स्यात्, तथा चाकस्मिकः स आपद्येत।

जातिभेदोऽयं न तूपाधिभेद इति किमत्र निष्टङ्कं कारणमिति चेत्, अनुभव एव। न हि व्यवसायकाले पारोक्ष्यापारोक्ष्यस्मृतित्वानुभूतित्वानि परिस्फुरन्ति, असावग्निमान्

परोक्षत्व और अपरोक्षत्व विषयप्रयुक्त नहीं होता। कारण, ज्ञानगत धर्म दो प्रकारके होते हैं, विषयसंसर्गित्व और दूसरे प्रत्यक्षत्व-अनुमितित्व-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व आदि जातिविशेष। इनमें विषयसंसर्गके कारण जहाँ ज्ञानोंमें भेद होता है, जैसे घटज्ञान और पटज्ञानमें, वहाँ विषयोंमें भेदकी स्थिति अथवा अभेदका निराकरण होता है। किन्तु जहाँ जातिभेदसे ज्ञानभेद होता है, वहाँ विषयमें भेद होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि कारणके भेदसे ही वहाँ विभिन्न जातिके ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जैसे एकही विषयका शाब्दज्ञान, अनुमितिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि। और जैसे, विषयभेद होनेपर भी इन्द्रियस्वरूप अभिन्न कारणसे उत्पन्न होनेवाले घटज्ञान और पटज्ञान दोनों ही अपरोक्षजातिके ज्ञान होते हैं। वैसे ही विषयभेद नहीं होनेपर भी कारणभेदसे ही इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अपरोक्षजातीय होता है और लिङ्गसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परोक्षजातीय होता है, इसे कौन रोक सकता है। अथवा यदि रोक दिया जाय तो कार्यभेदके प्रति कारणभेद अप्रयोजक हो जायगा। ऐसी स्थितिमें कार्यभेद आकस्मिक होने लगेगा।

(शङ्का) परोक्षत्व आदि जातिविशेष हैं, न कि विषयप्रयुक्त होते हैं, इसमें क्या निश्चायक है ?

(उत्तर) परोक्षत्व अपरोक्षत्वके जातिविशेषरूप होनेमें अनुव्यवसायात्मक अनुभव ही निश्चायक है। क्योंकि व्यवसायकालमें परोक्षत्व

अयमग्निमान् सोऽग्निमान् इति स्फुरणात्। अनुव्यवसायकाले तु तत्प्रतिभासः, अमुमनुमिनोमि इमं पश्यामि तं स्मरामीत्युल्लेखात्। कथं तर्हि परोक्षोऽर्थः प्रत्यक्षश्चेति व्यवहारः? यथाऽनुमितो दृष्टः स्मृत इति।

यदप्यत्यन्तविलक्षणानामित्यादि–तदपि सन्दिग्धानैकान्तिकम्, विधिनापि तथाभूतेन सालक्षण्यव्यवहारस्य निर्वाहात्। तथा हि,अयं व्यवहारो न निर्निमित्तो नाप्यनेक-

---

अपरोक्षत्व-स्मृतित्व-अनुभूतित्वका स्फुरण (भान) नहीं होता। कारण, व्यवसायकालमें 'वह अग्निमान् है'' यह अग्निमान् है' इसी प्रकारका भान होता है। किन्तु अनुव्यवसायकालमें तो परोक्षत्वादिका भान होता है। क्योंकि इस दशामें "उसका अनुमान करता हूँ" "इसे देखता हूँ" "उसका स्मरण करता हूँ" इसी प्रकारका उल्लेख होता है। इस तरह अनुव्यवसायमें परोक्षत्व, प्रत्यक्षत्व, स्मृतित्व आदिका स्पष्ट भान लोकमें होता है।

(शङ्का) यदि परोक्षत्व-अपरोक्षत्व विषयप्रयुक्त नहीं होते तो "वह विषय परोक्ष है, यह प्रत्यक्ष है" इस प्रकारका व्यवहार क्यों होता है?

(उत्तर) जैसे "यह विषय अनुमित है, दृष्ट है या स्मृत है" यह व्यवहार होता है, वैसे ही उक्त व्यवहार भी होता है। अर्थात् विषयके अभिन्न होनेपर भी कारणके भिन्न होनेसे ही अनुमित-दृष्ट-स्मृत आदि व्यवहार जैसे होते हैं, वैसे ही विषयके भिन्न होनेपर भी कारणभेदसे ही परोक्ष और प्रत्यक्षका भी व्यवहार होता है।

जो तो पूर्वमें अपोहसिद्धिके लिये न्याय उपस्थित किया गया है कि "अत्यन्त विलक्षणोंमें भी समानता व्यवहारका जो हेतु है, वह अन्य-व्यावृत्तिस्वरूप होता है—वह भी सन्दिग्धव्यभिचारदोषसे ग्रस्त है। क्योंकि विध्यात्मक जातिसे भी समानता व्यवहारका निर्वाह हो सकता है। क्योंकि "अयं गौः, अयमपि गौः, सोऽपि गौः" इत्यादि समानता व्यवहार अकारण नहीं हो सकता है। अकारण होनेपर उक्त व्यवहार नित्य होने लगेगा।

निमित्तो नाप्यनेकासंसर्गैकनिमित्तः, अतिप्रसङ्गात्। ततोऽनेकसंसर्गैकनिमित्तोऽयं परिशिष्यते। तथा च तादृशस्य विधिरूपत्वे को विरोधः ? येन व्याप्तिः स्यात्। प्रत्युत निषेधरूपतायामेव विरोधो दर्शितः प्रागिति कृतं पल्लवसमुल्लासैः।

नापि प्रवृत्त्यादिव्यवहारनिर्वाहकत्वमपोहकल्पनायाः, अन्यावभासादन्यत्र प्रवृत्तावतिप्रसङ्गात्। अध्यवसायादयमदोष इति चेत्, अथ कोऽयमध्यवसायः ? किमलीकस्य वस्तुधर्मतयाऽवभासः ? किं वा वस्त्वात्मकतया ? ततो भेदाग्रहो, वस्तुवासनासमुत्थं वा ?

यह भी नहीं हो सकता कि समानता व्यवहारके अनेक निमित्त हों, क्योंकि तब अनुगत व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार अनेकके साथ असंसर्गकी दशामें भी उक्त समानता व्यवहार नहीं हो सकता। अतः परिशेषात् अनेकके साथ संसर्ग ही एकमात्र उक्त समानता व्यवहारका निमित्त हो सकता है। ऐसी स्थितिमें उस निमित्तके विध्यात्मक जातिरूप होनेमें क्या विरोध है ? जिससे आपके द्वारा प्रदर्शित उक्त व्याप्ति (न्याय) सिद्ध हो सके। बल्कि उस निमित्तके निषेधरूप (अतद्व्यावृत्तिरूप) होनेमें ही पूर्वमें विरोध दिखाया जा चुका है। इसे अत्यधिक पल्लवित करना व्यर्थ है।

एवं अपोहकल्पना पक्षमें प्रवृत्ति आदि व्यवहारोंका निर्वाह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्य वस्तुके अवभाससे अन्य वस्तुमें प्रवृत्ति हो तो घटज्ञानसे पटमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। अर्थात् बौद्धमतानुसार यदि सविकल्पकज्ञानका विषय घटत्व न होकर अघटव्यावृत्ति हो तो उस ज्ञानसे घटमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहो कि घटत्वका अध्यवसाय स्वीकार करनेसे उक्त दोष नहीं होगा, तो यह अध्यवसाय क्या वस्तु है ? क्या अलीकका (मिथ्याका) वस्तुके धर्मके रूपमें भासित होना अध्यवसाय है ? या वस्तुके रूपमें भासित होना ? अथवा उसका वस्तुके साथ भेदका अग्रह होना

न प्रथमः, विकल्पे तदनवभासनात्। न द्वितीयः, असाधारणविषयतया शब्दविकल्पयोरप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्यासामयिकत्वात्। तस्माद् विकल्पवस्तुनोश्चक्षूरसवत् सर्वथा विरोध एव। साधारणविषयत्वे तु वस्तुत्वाप्रतिभासनम्, तस्यासाधारणत्वात्।

न तृतीयः, प्रवृत्तिसामानाधिकरण्यनियमानुपपत्तेः, भेदाग्रहस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। अतेभ्यो भेदो गृहीत इति चेत्,

---

अध्यवसाय है या वस्तुकी वासनासे उत्पन्न हुआ अलीकका भान ही अध्यवसाय है?

इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुका भान नहीं होनेपर उसके धर्मका भान नहीं होता। इसलिये आपके मतानुसार वस्तुका अवगाहन नहीं करनेवाला सविकल्पक ज्ञान उसके धर्मके रूपमें अलीकका भान नहीं करा सकता है।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब वस्तुके समान तत्स्वरूप अलीकके भी असाधारणविषय (स्वलक्षण) होनेसे उसमें शब्द और विकल्पकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् सङ्केतग्रहके अधीन शब्दकी प्रवृत्ति होती है, और वह सङ्केतग्रह अनन्त (स्वलक्षण) व्यक्तियोंमें नहीं हो सकता। और विकल्प भी अनुगत बाह्य आकारका आलम्बन करके ही प्रवृत्त होता है। इसलिये चक्षु और रसके समान विकल्प और वस्तुमें सर्वथा विरोध ही है। अर्थात् जैसे चक्षुद्वारा रसका ग्रहण नहीं होता वैसे विकल्पद्वारा वस्तुरूप अलीकका भी ग्रहण नहीं हो सकता है।

यदि अलीकको साधारण विषय मानो तो विकल्पद्वारा उसका तो भान हो जायगा किन्तु उसमें वस्तुत्वका भान न हो सकेगा। क्योंकि स्वलक्षणात्मक वस्तुत्व असाधारण विषय होता है।

तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस अलीकका सभी वस्तुके साथ भेदका अग्रह सुलभ होनेसे उस अलीकाध्यवसायसे किस वस्तुमें प्रवृत्ति हो और उसके साथ किस वस्तुमें "अयं गौ" इस प्रकारका

किमतेषु गृह्यमाणेष्वगृह्यमाणेषु वा ? नाद्यः, अतेषामपि स्वलक्षणानां विकल्पागोचरत्वात् । न द्वितीयः, अविज्ञाता[1]-वधेर्भेदस्याप्रथनात्, प्रथने वाऽध्यवसेयाभिमतस्वलक्षणादपि भेदो गृह्येत, अविशेषात् । गृहीतादग्र भेदस्यागृहीतेभ्यस्तु

शाब्दसामानाधिकरण्य (शाब्दबोध) हो, यह नियम नहीं बन सकता है ।

यहाँ यदि यह कहो कि—जो अतत् (उससे भिन्न) हैं, उनसे इस अलीकका भेद गृहीत होता है— तो क्या वे अतत् (तद्भिन्न) स्वयं गृह्यमाण हैं या अगृह्यमाण हैं ? यहां प्रथम नहीं हो सकता, क्योंकि अतत् भी आपके मतानुसार स्वलक्षण हैं । इसलिये वे सविकल्पक ज्ञानके विषय नहीं हो सकते हैं । द्वितीय भी नहीं हो सकता, क्योंकि अवधिका ज्ञान हुए विना भेदका ज्ञान नहीं होता । यदि हो तो अलीकाध्यवसायका अधिष्ठानभूत जो आपका अभिमत गवादि स्वलक्षण है, वह भी अतद्भूत महिषादिकोंके समान ही अज्ञात है । इसलिये उससे भी अलीकमें भेदग्रह होने लगेगा, जिसके परिणामस्वरूप गोविषयक सविकल्पक ज्ञानसे गौमें ही प्रवृत्ति न हो सकेगी ।

यदि कहो कि—अभिमत गोस्वलक्षणका निर्विकल्पक ग्रहण होता है और उसके बाद जो सविकल्पक होता है, वह भी निर्विकल्पक जैसा ही होता है । इसलिये गोस्वलक्षणके गृहीत होनेसे उससे अलीक में भेदग्रह नहीं होगा और अतद् (तद्भिन्न) महिषादिकोंके तो उभयथा अगृहीत होनेसे उससे गृह्यमाण अलीकमें भेदका ग्रह होगा ही । अतः गौमें ही प्रवृत्ति करायेगा न कि महिषादिमें—तो यहां वह भेद यदि धर्मरूप माना जाय तो उक्त कथनके विपरीत ही होगा । अर्थात् प्रतियोगीका ज्ञान होनेपर ही उसके अन्योन्याभावका ज्ञान होता है । इसलिये अज्ञात महिषादिकोंका अन्योन्याभाव अलीक अपोहमें नहीं गृहीत हो सकता है । इस प्रकार भेदका अग्रह प्रवृत्तिका कारण हो तो गोविकल्पसे महिषादिमें भी प्रवृत्ति होनी चाहिये ।

यदि वह भेद अधिकरणस्वरूप माना जाय तो अधिकरणस्वरूपके

---

[1] अनिर्णीता इति १पु० पा०

तद्ग्रह इति चेद्, यदि धर्मलक्षणो भेदस्तदा विपर्ययः। स्वरूप-लक्षणश्चेत्, अविशेषात् सर्वतस्तद्ग्रहोऽन्यत्र तादात्म्यग्रहात्।

निःस्वरूपत्वात् तस्य क्व स्वरूपलक्षणो भेद इति चेत्, अगृहीतादपि तथा स्यात्, अविशेषात्। निःस्वरूपमपि सस्वरूपमिव भिन्नमिव प्रथितमिति चेत्, तत् किमध्यवसेयापेक्षया सस्वरूपमिव न प्रथितम्? अध्यवसेयस्वरूपमिव वा स्फुरि-

---

ज्ञानके लिये प्रतियोगीविशेषकी अपेक्षा नहीं हुआ करती, इसलिये उस स्वरूपलक्षण भेदका ग्रह जैसे महिषादि स्वलक्षणसे होता है, वैसे ही गोस्वलक्षणसे भी होने लगेगा। कारण, एकमात्र तादात्म्यग्रह ही भेदग्रहका प्रतिबन्धक होता है और आपके अपोहका किसी भी वस्तुके साथ तादात्म्यग्रह है नहीं। इसलिये अपोहरूप अलीकाध्यवसायसे गौ महिष आदि सभी स्वलक्षणोंमें समानरूपसे प्रवृत्ति होनी चाहिये।

यदि कहो कि—अलीक होनेके कारण अपोह निःस्वरूप है, इस-लिये निर्विकल्पकवेद्य गोस्वलक्षणके प्रति उसका स्वरूपलक्षण भेद कैसे हो सकता है?—तो वहां गोविषयक निर्विकल्पक ज्ञानसे नहीं गृहीत होनेवाले महिषादिके प्रति भी अगोपोहका स्वरूपलक्षण भेद कैसे हो सकता है? क्योंकि महिषके प्रति भी वह अपोह निःस्वरूप ही है।

यदि कहो कि—निःस्वरूप होता हुआ भी वह अपोह महिषादिके प्रति सस्वरूप जैसा और भिन्न जैसा प्रतीत होता है—तो क्या अध्यसायके अधिष्ठानभूत गोस्वलक्षणके प्रति वह अपोह सस्वरूप जैसा नहीं प्रतीत होता? या अध्यवसेय जो गोस्वलक्षण तत्स्वरूप भासित होता है? आद्य पक्ष में दो प्रकार हो सकते हैं। या तो ज्ञानका विषय नहीं होनेसे अपोह सस्वरूप जैसा नहीं भासित होगा अथवा सस्वरूप जैसा भासित न होनेका अभिप्राय है—निःस्वरूप भासित होना। दोनों ही दशाओंमें गोके सविकल्पक-ज्ञानसे गौमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। और "अयं गौः" ऐसा शाब्दसामानाधिकरण्य भी नहीं हो सकता है। अर्थात् अपोहके अज्ञानमें भी उक्त सामानाधिकरण्य

तम् ? आद्येऽप्रतिपत्तिर्वा स्यात्। उभयथापि सामानाधिकरण्यप्रवृत्ती न स्याताम्। द्वितीयस्तु प्रागेव दूषितः।

नापि चतुर्थः, नीलानुभववासनासमुत्थस्य पीतानुभवस्य नीले प्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्। नानुभवः प्रवर्तकोऽपि तु विकल्पः, स च यस्मात्, तस्यैव विषये इति चेत्, यस्मादिति साक्षात्

और प्रवृत्ति नहीं हो सकती तथा उसके निःस्वरूपत्वज्ञानमें भी सामानाधिकरण्य और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

द्वितीय पक्षका तो पहले ही खण्डन किया जा चुका है। क्योंकि सविककल्पक ज्ञानमें जब गोस्वलक्षणका स्पर्श ही नहीं होता तो उसके द्वारा अपोह गोस्वलक्षणस्वरूप कैसे भासित हो सकता है ?

एवं "वस्तुज्ञानसे जन्य जो वासना, उससे उत्पन्न होना ही अध्यवसाय है" यह पूर्वोक्त चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्ध मतमें वासना कोई स्थायी संस्कार नहीं होती, किन्तु एक ज्ञानके बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा ज्ञान ही वासना है। इस प्रकार नीलानुभवरूप वासनाके अनन्तर उत्पन्न जो पीतानुभव उससे भी नीलमें प्रवृत्ति होने लगेगी।

यदि कहो कि—कोई भी निर्विकल्पक अनुभव प्रवर्तक नहीं होता किन्तु सविकल्पक ही प्रवृत्तिका जनक होता है। और वह सविकल्पक भी जिस निर्विकल्पकसे उत्पन्न होता है, उसीके विषयमें प्रवृत्ति कराता है। इसलिये पीतका निर्विकल्पक अनुभव प्रवृत्तिका जनक नहीं होगा किन्तु उसके सविकल्पकसे ही प्रवृत्ति होगी। और वह प्रवृत्ति भी पीतविषयमें ही होगी न कि नीलविषयमें। क्योंकि पीतविषयक निर्विकल्पकसे ही वह सविकल्पक उत्पन्न हुआ है, इसलिये निर्विकल्पकका विषयीभूत जो पीत, उसीमें प्रवृत्ति करायेगा, नीलमें नहीं—तो यहाँ सविकल्पकका निर्विकल्पकसे साक्षात् उत्पन्न होना विवक्षित है ? अथवा परम्परया ? यदि साक्षात् उत्पन्न होना विवक्षित हो तो शाब्दज्ञान और अनुमितिज्ञानसे प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि शाब्दज्ञान संकेतविषयक सविकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न होता है और अनुमितिज्ञान भी व्याप्तिविषयक सविकल्पक ज्ञानसे ही उत्पन्न होता है। यदि

परम्परया वा ? प्रथमे शाब्दलैङ्गिकज्ञानानामप्रवर्तकत्वप्रसङ्गः । द्वितीये तु स एवातिप्रसङ्गः ।

अनुभवव्यापारपुरस्कारान्नियम इति चेत्, कः पुरस्कारार्थः ? न तावदनुभवैकविषयत्वम्, विकल्पेन तदसंस्पर्शात् । नाप्यनुभवत्वारोपः, स्वात्मनि कल्पनापोढाभ्रान्तत्वात्, विषये चाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्, तथानवभासे वा विकल्पत्वव्याघातात्, विशेषोपलब्धौ चारोपासंभवात् ।

परम्परया कहें तो नीलविषयक निर्विकल्पक भी पीतविषयक सविकल्पकका परम्परया जनक होता है, इसलिये आपके नियमानुसार पीतसविकल्पकसे भी नीलमें प्रवृत्ति होने लगेगी।

यदि कहो कि—जो विकल्प जिस अनुभवके धर्मको पुरस्कृत कर उत्पन्न होता है, वह उसीके विषयमें प्रवृत्ति कराता है। इस नियमसे अन्यत्र प्रवृत्तिका वारण हो जाता है—तो यहां पुरस्कारका क्या अर्थ है ? यह नहीं हो सकता कि "अनुभव (निर्विकल्पक) के समान विषयवाला होना ही उसके धर्मको पुरस्कृत करना है" क्योंकि आपके मतमें सविकल्पक ज्ञान अनुभवविषयीभूत स्वलक्षणको छूता ही नहीं है।

यह भी नहीं हो सकता कि "नीलानुभवत्वधर्मका नीलविकल्पमें आरोप ही पुरस्कार है, इसलिये नीलविकल्पसे नीलमें ही प्रवृत्ति होगी" क्योंकि अनुभवत्वका आरोप विकल्पके स्वरूपमें नहीं हो सकता। कारण, विकल्प अपने स्वरूपके सम्बन्धमें काल्पनिकतासे रहित होनेसे अनारोपित वस्तु है।

एवं विकल्पका जो विषय, उसमें भी अनुभवत्वका आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि विकल्पका जो विषय होता है, वह शब्दप्रयोगके योग्य होनेके कारण आपके मतमें बाह्य और अलीकरूपसे भासित होता है। इसलिये अलीकत्वरूप अपने विशेषधर्मके साथ भासित होनेवाले विकल्प-विषयमें अनुभवत्वधर्मका आरोप हो नहीं सकता। क्योंकि अन्यधर्मके आरोपके प्रति अपना विशेषधर्मदर्शन बाधक होता है।

यदि अलीकत्वरूप विशेषधर्मके साथ विकल्प-विषयका भान न हो

नापि तद्धर्मप्रामाण्यारोपः, तस्यानियतविषयत्वे प्रवृत्ति-नियमानुपपत्तेः। परमार्थसद्विषयत्वे च तस्य विकल्पसंसर्ग-प्रसङ्गात्। अलीकविषयत्वे चाप्रवृत्तेः। अलीकस्यानलीक-तया स्फुरणं तु निषिद्धम्।

नाप्यनुभवात् स्वात्मनो भेदाग्रह एव तद्व्यापारपुरस्कारः,

तो वह विकल्प ही नहीं हो सकता और यदि हो तो तथाकथित आरोप नहीं हो सकता है।

अनुभवगत प्रामाण्यका सविकल्पकमें आरोप भी पुरस्कारका अभि-प्राय नहीं हो सकता। क्योंकि वह प्रामाण्य यदि अनियतविषयक हो अर्थात् विषयविशेषसे अघटित होता हुआ सामान्यरूपसे आरोपित होता हो तो उस विकल्पसे किस विषयमें प्रवृत्ति होगी, इसका नियम नहीं हो सकता है?

यदि वह प्रामाण्य स्वलक्षणात्मक पारमार्थिक विषयसे गर्भित हो तो सविकल्पक ज्ञानमें भी स्वलक्षणका संसर्ग होने लगेगा, जो आपको अनिष्ट है। अर्थात् जो सविकल्पक स्वलक्षणात्मक वस्तुको ग्रहण नहीं करता, वह उससे गर्भित प्रामाण्यका ग्राहक कैसे हो सकता है? और यदि वह प्रामाण्य अलीक विषयसे गर्भित हो तो, चूँकि आपके मतमें अलीक वस्तु अनुभवका विषय नहीं होती, इसलिये अलीकसे गर्भित प्रामाण्य अनुभवका धर्म भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थितिमें अनुभवगत प्रामाण्यका आरोप नहीं हो सकनेके कारण सविकल्पक ज्ञानसे फिर भी नियत विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहो कि—पहले अलीक विषयमें पारमार्थिकत्वका आरोप होगा और बादमें तद्गर्भित प्रामाण्यका आरोप सविकल्पकमें हो जायगा, इसलिये विषयविशेषमें प्रवृत्ति होनेमें कोई भी बाधा नहीं है—तो उक्त कथन पूर्वमें ही निषिद्ध हो चुका है। अर्थात् अलीकत्वरूपविशेषधर्मके दर्शनके कारण उसमें पारमार्थिकत्वबुद्धि ही नहीं उत्पन्न हो सकती है।

"अनुभवका विकल्पमें भेदग्रह न होना ही अनुभवव्यापारको विकल्पद्वारा पुरस्कृत करना है" यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बौद्धमतमें सभी ज्ञान स्वयंप्रकाश होते हैं, इसलिये उत्पन्न होता हुआ

स्वरूपस्य स्वतोऽवगतेः विषयभेदस्य च प्रागेव निरूपणात् । नाप्यपारोक्ष्यम्, तस्यापि स्वात्मनि सर्वज्ञानसाधारणत्वात् । विषये च विकल्पस्य तदभावात् । तथाभावेऽप्यन्यत्र नियत-प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।

नापि विषयसारूप्यम्, तदभावात् । का हि परमार्थ-सदलीकयोः समानरूपता नाम । यदि रूपशब्दो धर्मिवाचकः

सविकल्पक ज्ञान अनुभव (निर्विकल्पक) से स्वरूपभेदको स्वतः ग्रहण करता हुआ ही उत्पन्न होता है ।

यदि अनुभव और विकल्पके अलीकविषयगत भेदका अग्रह होना पुरस्कार मानें तो इसका विवेचन पूर्वमें ही किया जा चुका है । अर्थात् विकल्पके अलीक विषयमें अनुभवविषयका पारमार्थिक भेद नहीं रह सकता ।

"जैसी अपरोक्षता अनुभवमें है, वैसी ही विकल्पमें भी है । इसलिये विकल्पज्ञान अनुभवविषयमें ही प्रवृत्ति कराता है, अन्यत्र नहीं", इस प्रकारका अपारोक्ष्य भी अनुभवव्यापारका पुरस्कार नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि यहाँ यदि ज्ञानगत अपरोक्षता ली जाय तो सभी ज्ञान अपने स्वरूपमें अपरोक्ष ही हैं । इसलिये सब ज्ञानसे सब विषयमें प्रवृत्ति होने लगेगी । यदि विषयगत अपरोक्षताको लेकर अनुभव और विकल्पका साम्यसम्बन्ध कहा जाय, तो विकल्प-विषयके अलीक होनेके कारण उसमें अपरोक्षताका ही अभाव है । विकल्प-विषयमें यदि अपरोक्षता मान भी ली जाय तो भी अलीक-विषयक विकल्पज्ञानसे अलीकभिन्न स्वलक्षणात्मक विषयमें नियमतः प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी । क्योंकि अन्य विषयके ज्ञानसे अन्य विषयमें प्रवृत्ति नहीं होती है ।

निर्विकल्पक ज्ञानका विषय जो स्वलक्षण और सविकल्पक ज्ञानका विषय जो अलीक इन दोनोंमें सारूप्य होना भी विकल्पद्वारा अनुभव (निर्विकल्पक) के व्यापारको पुरस्कृत करना नहीं है । कारण, यहां सारूप्य नहीं हो सकता है । क्योंकि पारमार्थिक और अलीकमें कौन सी समानरूपता है ? यदि "समानरूपता" इस शब्दमें रूपशब्द धर्मीका

समानशब्दश्चैकपर्यायः, क्वार्थसंगतिः प्रकृते। यदि वा रूपं धर्मः समानश्चैको वैकजातीयो वेति, तथापि क्वार्थसङ्गतिः प्रकृते। अतद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न, तस्य चालीकानलीकनिष्ठतया एकत्वैकजातीयत्वयोरभावात्। आभिमानिकोऽयं सारूप्यव्यवहारो न पारमार्थिक इति चेत्, न, अभिमानस्यैव चिन्त्यमानत्वात्। न हि चिन्तितप्रकारान् परिभूयापरोऽभिमानो नाम।

स्वभावादेव कश्चिद् विकल्पः कस्मिंश्चिदेवास्फुरितेऽपि

वाचक हो और समानशब्दका अर्थ एकत्व हो तो प्रकृतमें कैसे अर्थसङ्गति हो सकती है? क्योंकि आपके मतमें सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों ज्ञानोंमें एक धर्मी (वस्तु) नहीं भासित होता है। यदि रूपशब्दसे वस्तुका धर्म लिया जाय और समानशब्दका अर्थ हो एक अथवा एकजातीय, तो भी प्रकृतमें अर्थकी सङ्गति कैसे हो सकती है? क्योंकि विकल्प और अनुभवका विषय न एक धर्म है और न एक जातिका धर्म है।

यदि कहो कि—अतद्व्यावृत्ति ही विकल्पविषय और अनुभवविषय में रहने वाला समान धर्म है—तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जो अतद्व्यावृत्ति विकल्पविषयमें रहेगी वह अलीकनिष्ठ होनेसे असद्रूप होगी और जो अनुभवविषयमें रहनेवाली अतद्व्यावृत्ति होगी वह अलीकभिन्ननिष्ठ अर्थात् सत्यनिष्ठ होनेके कारण सद्रूप होगी। इसलिये सद् और असद्रूप होनेसे दोनों विषयोंकी अतद्व्यावृत्ति न एक होगी और न एक जातिकी होगी।

यदि कहो कि—विकल्प और अनुभवके विषयोंमें सारूप्य-व्यवहार पारमार्थिक नहीं है, किन्तु आभिमानिक (काल्पनिक) है, इसलिये अर्थसङ्गति होना आवश्यक नहीं है—तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अभिमान (कल्पना या आरोप) ही तो यहां विचारणीय विषय है। साथ ही विकल्प एवं अनुभवसम्बन्धी आरोपके बारेमें अबतक जितने प्रकार विचारे जा चुके हैं, उनसे अतिरिक्त अभिमानका कोई दूसरा स्वरूप हो भी नहीं सकता है।

यदि कहो कि—स्वभावसे ही कोई विकल्प किसी खास वस्तुमें ही

प्रवर्तयति, किमत्र क्रियताम् । स चास्य स्वभावभेदः स्वकारणादेवायातः, तत्र कः पर्यनुयोज्यतामिति चेत्, तत् किमप्रत्यासन्न एव विकल्पस्तत्र प्रवर्तयति ? प्रत्यासत्त्यन्तराभावात् स्वभावप्रत्यासन्नो वा व्यहृतिरेव वा प्रत्यासत्तिः ?

न प्रथमः, अतिप्रसङ्गात् । द्वितीये तु स्वभावेनोत्तरं स्यात्, किन्तु तदेव स्फुरणम् । न हि व्यवहारे प्रवर्तयितव्ये स्वभावप्रत्यासत्तिमवधूय ज्ञानज्ञेययोरपरः कश्चिद् विषयविषयिभावः । सदसदनिर्वचनीयार्थख्यातिवादिभिरपि स्वभावप्रत्यासत्तेरवर्जनीयत्वादिति वक्ष्यमाणत्वात् ।

प्रवृत्ति कराता है, भले ही वह वस्तु उस विकल्पद्वारा भासित न होती हो। इसमें क्या किया जाय ? और विकल्पका यह स्वभावविशेष उसे अपने कारणसे ही प्राप्त है। इसलिये स्वभावके सम्बन्धमें भी कुछ कहनेके लिये किसे बाध्य किया जाय—तो क्या वह विकल्प उस वस्तुसे असम्बद्ध ही रहकर उसमें प्रवृत्ति कराता है ? या स्वभावातिरिक्त सम्बन्धके नहीं रहनेसे उस वस्तुसे स्वभावतः सम्बद्ध होकर उसमें प्रवृत्ति कराता है ? अथवा उस वस्तुके बारेमें लौकिक व्यवहारोंको कराना ही उसके साथ विकल्पका सम्बन्ध है ?

इनमें प्रथमपक्ष नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उस विकल्पसे अनियन्त्रितरूपमें सभी वस्तुओंमें प्रवृत्ति होने लगेगी। द्वितीयपक्षमें तो स्वभाववाला उत्तर हो सकता है, किन्तु वही तो वस्तुका स्फुरण है। क्योंकि प्रवृत्ति आदि व्यवहार करानेके लिये स्वभावरूप सम्बन्धके अलावे ज्ञान (विकल्प) और ज्ञेय (वस्तु) का दूसरा कोई विषय-विषयिभाव नहीं है। अर्थात् नियत विषयमें प्रवृत्तिके लिये उस विषयके साथ सविकल्पक ज्ञानको स्वभावतः सम्बद्ध माना जाय तो वह स्वलक्षणात्मक वस्तु भी विकल्पका विषय हो ही गयी। जिनका यह मत है कि सत् या असत्‌रूपसे अनिर्वचनीय वस्तुका ही विकल्पद्वारा भान होता है, उन्हें भी वस्तु और विकल्पका स्वाभाविक सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। यह बात आगे कही जायगी।

तृतीये तु व्यक्तमात्माश्रयः, स्वव्यवहार[1] नियमं प्रत्येव निमित्ता[2]नुसरणात् ।

कारणशक्तेरसदुत्पत्तिवन्नियम इति चेत्, सत्यम्, एतच्चिन्तनीयम्, कारणशक्त्याऽपि नियतजातिनियतया भवितव्यम्। अन्यथा ज्वलनविकल्पाज्जलेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

दाहादिसमर्थाकारविकल्पजातीयं तात्त्विके वह्नौ प्रवर्तयतीति जातिर्नोपाधिर्वा नियामक इति चेत्, न तर्हि रत्नमरीचिनिचये ततः प्रवर्तेत, तज्जातीयस्य दहन एव प्रवर्तन-

---

तृतीय पक्षमें तो स्पष्ट ही आत्माश्रयदोष है। क्योंकि इस पक्षमें जो लौकिक व्यवहार सम्बन्धरूपसे निमित्त माना गया है, वही नियत प्रवृत्ति आदि लौकिक व्यवहार उस निमित्तानुसरणका उद्देश्य भी है। इस प्रकार स्वमें स्वकी अपेक्षा होनेसे यहां आत्माश्रयदोष आ जाता है।

यदि कहो कि—दण्डरूप कारणका असत् घटके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहने पर भी दण्ड घटको ही पैदा करता है, पटादि को नहीं, उसी प्रकार गोविकल्पका गोस्वलक्षणके साथ सम्बन्ध न होने पर भी गोविकल्प से गौमें ही प्रवृत्ति होगी महिषादिमें नहीं—तो यह सही है, किन्तु यह भी विचारणीय है कि जैसे किसी अनुगत जाति (धर्म) से युक्त कारणका किसी अनुगत जातिसे युक्त कार्यके साथ नियमतः अन्वय-व्यतिरेक रहता है, उसी प्रकार गोविकल्पका गोविषयक प्रवृत्तिके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेमें नियामकके रूपमें कोई अनुगत जाति होनी चाहिये। नहीं तो अग्निविषयक विकल्पज्ञानसे जलमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी।

यदि कहो कि—"दाहादिसमर्थोऽयम्" इस आकारवाला जो जो विकल्प होगा वह स्वलक्षणविषयक नहीं होने पर भी स्वलक्षणात्मक तात्त्विकवह्निमें प्रवृत्ति करायेगा, इस प्रकार दाहादिसामर्थ्यरूप जो उक्त विकल्पज्ञानका आकार है वही अनुगत जाति या धर्मके रूपमें प्रवृत्तिका

---

१. अव्यवहार इति २ पु० पा० २. निबन्धानुस० इति २ पु० पा०

सामर्थ्यात् । ताद्रूप्येण तस्यैव प्रथनादिति चेत्, प्रथताम्, न तु तस्य प्रवर्तनयोग्यता तत्र प्रथननियता, वह्निस्वलक्षणे वह्निविकल्पादप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । स्वीकुरु वा तस्यापि तत्र स्फुरणं, परिहर वा वह्निविकल्पादवह्नौ प्रवृत्तिमिति ।

एतेनाकारसारूप्यं नियमहेतुरपास्तः । अर्थनीयसारूप्याभावेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्, अनर्थनीयसारूप्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात् ।

नियामक है—तब तो वह्निविकल्पसे रत्नकिरणपुञ्जमें कभी भी प्रवृत्ति न हो सकेगी । कारण, दाहसमर्थमें ही प्रवृत्ति करानेकी शक्ति उस विकल्पजातिमें है, और रत्नकिरणसमूहमें वह दाहसामर्थ्य धर्म है नहीं । किन्तु वह्निबुद्धिसे उसमें भी लौकिक प्रवृत्ति देखी जाती है ।

यदि कहो कि—दाहसमर्थ अग्निके रूपमें ही रत्नकिरणोंका ज्ञान हुआ है, इसलिये उसमेंप्रवृत्ति हो सकती है—तो रत्नकिरणोंका ज्ञान होनेसे क्या हुआ ? कारण, तुम्हारे मतमें तो उस वस्तुमें प्रवृत्ति करानेके लिये उस वस्तुका ज्ञान आवश्यक है नहीं । यदि आवश्यक हो तो वह्निविकल्प से वह्निवस्तुमें प्रवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि उस विकल्पमें वह्निवस्तुका भान तुम्हारे मतमें नहीं होता है । इसलिये या तो वह्निवस्तुका भी भान सविकल्पक ज्ञानमें मानो या वह्निविकल्पसे रत्नकिरणपुञ्जमें होने वाली प्रवृत्तिको रोक दो।

इस रत्नकिरणवाले दोषसे यह मानना भी कि नियत विषयमें प्रवृत्तिका कारण प्रवृत्तिविषय और विकल्पमें आकार (धर्म) सारूप्य है, खण्डित हो जाता है । क्योंकि इस मतानुसार वह्निविकल्पसे वह्निस्वलक्षणमें तो प्रवृत्ति हो जायगी । कारण, जो वह्नित्वधर्म वह्निस्वलक्षणमें है, वही वह्निविकल्पमें भी माना जाता है, इसलिये यहां विकल्प और स्वलक्षणात्मक वस्तुमें धर्मसारूप्य मिल जाता है । किन्तु जहां वह्निबुद्धि (विकल्प) से रत्नकिरणमें निष्फल प्रवृत्ति होती है, वहां अर्थनीय वस्तुमें अर्थात् प्रवृत्तिके लिये अभिप्रेत किरणपुञ्जमें और प्रवर्तक बुद्धिमें आकारसारूप्य है नहीं । क्योंकि प्रवर्तक वह्निविकल्पमें वह्नित्वधर्म

न च बाह्यवादे ज्ञानज्ञेययोर्विवक्षितसारूप्यसंभवः, सामग्रीवैषम्यात्। साम्ये वा जाड्यचैतन्ययोरेकशेषप्रसङ्गात्। न च साम्येऽप्यवान्तरविशेषात् कार्यविशेषव्यवस्था, मिथः सामग्र्यननुविधानेन जायमानत्वात्। न च कार्यान्नियं साम-

---

है और प्रवृत्तिके विषय किरणपुञ्जमें किरणत्वधर्म है। अतः उक्त नियमानुसार वह्निभ्रमसे रत्नकिरणोंमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

यदि कहें कि—अर्थनीयके साथ अर्थात् वहां प्रवृत्तिके लिये अभीष्ट किरणपुञ्जके साथ वह्निविकल्पमें धर्मसारूप्य न होनेपर भी वह्निवस्तुके साथ तो उसमें सारूप्य है ही—तो ऐसे आकारसारूप्यको प्रवृत्ति-नियामक नहीं माना जा सकता है। क्योंकि प्रवृत्तिके अविषयीभूत वह्निसारूप्यसे वह्निविकल्प यदि अन्यत्र किरणपुञ्जमें प्रवृत्ति करावे तो उस वह्निविकल्पसे जलमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी।

एवं विज्ञानवादमें ज्ञान और ज्ञेयके परस्पर अभिन्न होने तथा समान सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञान और ज्ञेयमें आकारसाम्य संभव है। परन्तु बाह्यवादमें ज्ञान और ज्ञेयमें आकारसाम्य संभव ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही विषमसामग्रीसे उत्पन्न हैं। यदि दोनोंकी सामग्रीमें साम्य माना जाय तो जड़ता और चेतनतामें एकशेष होने लगेगा। अर्थात् एक सामग्रीके कारण या तो सब कुछ अज्ञान ही होगा, अथवा ज्ञान ही होगा। इस प्रकार जड़ता और चेतनताका भेद मिट जायगा।

यह नहीं हो सकता कि—सामग्रीसाम्य होनेपर भी अवान्तर विशेषताके कारण ज्ञान और ज्ञेयरूप कार्योंकी विशेषता कायम रहेगी। जैसा कि समान सामग्रीसे उत्पन्न होनेपर भी ज्ञान और सुखका परस्पर वैजात्य अक्षुण्ण रहता है—क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयकी उत्पत्तिके लिये एक दूसरेकी सामग्रीके योगकी अपेक्षा नहीं रहती है। अर्थात् प्रकाश और अन्धकारके समान दोनों ही विलक्षण सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं।

यह भी नहीं हो सकता कि–ज्ञान और ज्ञेयरूप कार्यके साम्यसे उन्हें उत्पन्न करनेवाली सामग्रीमें भी साम्यकी कल्पना कर लेनी चाहिये—

ग्रीसाम्यम्, बाह्ये धूमाद्यनुविधीयमानस्य कारणस्य दृश्यत्वात् धूमज्ञानस्य च तद्व्यभिचारोपलम्भात्। न च तदेव कारणमेकत्र दृश्यमदृश्यं चान्यत्रेति युक्तम्।

यदि च नीलिमादिर्विज्ञानस्य जातिविशेषः, कथं तदतिपत्य ज्ञेयं स्पृशेत्? ज्ञेयस्य चेत्, कथं ज्ञानं तद्विशिंष्यादिति जातिसङ्करापादनप्रस्तावे चिन्तितप्रायम्। तस्मात् स्फुरित एव ज्ञानं प्रवर्तयतीति गले पादुकयाऽप्यङ्गीकारयितव्यो गत्यन्तराभावात्।

क्योंकि बाह्यस्थलमें धूमादिकी उत्पत्तिके लिये अपेक्षित अग्नि आदि कारण दृश्य होते हैं, तथा धूमज्ञानकी उत्पत्तिके लिये अग्नि आदि दृश्य कारणका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् दृश्य वह्निके विना भी धूमज्ञान हो जाता है।

एवं यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि वही अग्निरूप कारण धूमकी उत्पत्तिमें दृश्य होकर तथा धूमज्ञानकी उत्पत्तिमें अदृश्य होकर कारण होगा।

यदि कहो कि—नीलत्वादि जो ज्ञानके आकार हैं, वे ही स्वलक्षणात्मक ज्ञेयके भी आकार हैं, इसलिये आकारसाम्यके कारण ही विकल्प स्वलक्षण में ही प्रवृत्ति कराता है, अन्यत्र नहीं— तो वह नीलत्वादि आकार यदि विज्ञानगत कोई जातिविशेष हो तो वह विज्ञानको छोड़कर ज्ञेयमें कैसे रह सकता है? यदि वह ज्ञेयवस्तुगत कोई जाति हो तो वह ज्ञानको कैसे विशेषित कर सकता है? यह बात जातिसाङ्कर्यापादनप्रकरणमें प्रायः विचारी जा चुकी है। इसलिये "स्फुरित विषयमें ही ज्ञान प्रवृत्ति कराता है" यह बात "गले पादुका" न्यायसे भी स्वीकार करनी होगी। क्योंकि इसमें दूसरी गति नहीं है।

तर्हि स्फुरिते स्वाकार एव प्रवर्तयतु, तत्र प्रवृत्त एव चार्थी तत्सदृशमर्थमासादयति प्रभायां प्रवृत्तो मणिवदिति चेत्, न, अभिमतार्थक्रियासामर्थ्यविरहिण्यप्रवृत्तेः। न बाह्ये विकल्पाकारारोपसंभवः, तस्य तेनासंस्पर्शात्। न चाकारे बाह्यत्वारोपः, स्वरूपे स्फुरत्यस्वरूपारोपानवकाशात्। प्रभायां तु मणिबुद्ध्यैव मण्यर्थी प्रवर्तते, न तु तद्बुध्येति दृष्टान्तोऽप्याभासः।

न चाकारवादेऽस्फुरतोऽर्थस्य सत्तायां प्रमाणमप्यस्ति।

सौत्रान्तिकके आकारवादका खण्डन

यह कहना कि—ज्ञान और ज्ञेयमें आकारसाम्य भले ही मत होवे तथापि सविकल्पक ज्ञान अपने आकारके रूपमें स्फुरित होने वाले बाह्य नीलत्वादिमें ही प्रवृत्ति कराता है और उसमें प्रवृत्त हुआ अर्थी व्यक्ति उसके सदृश स्वलक्षणात्मक वस्तुको वैसे ही प्राप्त कर लेता है, जैसे प्रभा में प्रवृत्त व्यक्ति मणिको प्राप्त कर लेता है—ठीक नहीं है। क्योंकि अभिमत दाहादि अर्थक्रियाके प्रति सामर्थ्य नहीं होनेसे ज्ञानाकारमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। कारण, लोकमें वह्निरूप बाह्य अर्थ ही दाहादिसमर्थरूपमें विहित है, न कि आन्तर वह्निज्ञान।

यदि कहो कि—ज्ञानाकार और अर्थक्रियासमर्थ बाह्यवस्तुमें अभेदारोप होनेसे प्रवृत्ति होती है—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि बाह्य वस्तुमें ज्ञानाकारका आरोप असंभव है। कारण, आपके मतमें बाह्य वस्तुका ज्ञानके साथ स्पर्श तक नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानाकारमें बाह्यत्व का भी आरोप नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्रकाश होनेके कारण ज्ञान-स्वरूपके भासित होनेसे उसमें उसके अस्वरूपभूत बाह्यका आरोप असंभव है, जैसे रज्जुस्वरूपके भासित हो जानेपर उसमें सर्पत्वका आरोप नहीं होता। और जो प्रभामणिका दृष्टान्त दिया है, वह भी दृष्टान्ताभासमात्र है। क्योंकि मण्यर्थी व्यक्ति मणिबुद्धिसे ही प्रभामें प्रवृत्त होता है और मणि पा लेता है, प्रभाबुद्धिसे नहीं।

एवं आकारवादी सौत्रान्तिकके मतमें ज्ञानमें नहीं भासित होनेवाले

आकारकादाचित्कत्वस्य तैमिरिककेशाद्याकारेणानैकान्तिकत्वात् ।

अर्थक्रियासंवादस्यापि स्फुरितस्याकारमात्रशरीरत्वात् बाह्यस्य चासिद्धेः । निरालम्बनार्थाकारवच्च क्वचिद् वासना-

---

अर्थकी सत्तामें कोई प्रमाण भी नहीं है। अर्थात ज्ञानद्वारा यदि बाह्य अर्थका भान होता है तो उसीसे "घटं जानाति, पटं जानाति" इत्यादि व्यवहार बन जायगा। इस स्थितिमें इस व्यवहारकी उपपत्तिके लिये उस ज्ञानमें भासित होने वाले घटपटादिको बाह्यातिरिक्त ज्ञानका आकार कहना अप्रामाणिक है। एवं घटपटादि यदि ज्ञानका आकार होता तो "ज्ञानं घटः" यही व्यवहार होता। किन्तु वैसा व्यवहार न होकर "घटस्य ज्ञानम्" इत्यादि व्यवहार होता है। इस प्रकार आकारवाद असिद्ध है। यदि तो ज्ञानद्वारा बाह्यार्थका भान न मानो तो बाह्यार्थकी सत्ता ही नहीं सिद्ध हो सकेगी।

यदि कहो कि—ज्ञान कभी घटपटादि आकारको धारण करता है और कभी नहीं करता है, इससे हम बाह्य अर्थका अनुमान कर लेंगे। अर्थात् बाह्यार्थके सम्मुखस्थ रहनेपर ही ज्ञान आकारको धारण करता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ज्ञानका आकार धारण करना ही बाह्यार्थ की सत्तामें प्रमाण है—तो यह नियम भी व्यभिचरित है। क्योंकि वास्तविक केशके नहीं रहनेपर भी तैमिरिक केशाकार ज्ञान होता है।

यदि कहें कि—ज्ञानगत दहनाकारसे दहन (अग्नि) की सिद्धि भले मत होवे किन्तु दाहरूप अर्थक्रियासे अग्निकी सत्ताका अनुमान कर लेंगे—तो वह दाहादि अर्थक्रिया भी ज्ञानद्वारा भासित होनेकी दशामें ज्ञानका आकार ही है। और जो ज्ञानद्वारा नहीं भासित होनेवाला बाह्य दाह है, उसकी सत्ता ही अबतक असिद्ध है। इस प्रकार जो दाहरूप लिङ्ग स्वयं असिद्ध है, उससे दहनरूप साध्यका अनुमान कैसे हो सकता है ?

यदि कहो कि—दाहाकार ज्ञानसे दाहका अनुमान और पुनः दाहसे अग्निका अनुमान हो जायगा। क्योंकि दाहके विना दाहाकार ज्ञान

वशादर्थक्रियाकारोऽपि निरालम्बन एव भविष्यतीति विपक्षे बाधकाभावात् प्रतिबन्धस्याप्यसिद्धेः। तस्माद् बाह्यसिद्धिः साकारं च ज्ञानमिति बाललोलुपत्वमिति।

अस्तु तर्हि बाह्यमेव स्वलक्षणं विकल्पस्य विषयः। यद्यपि स्वरूपेणासामयिकतया तत्राभिलापसंसर्गयोग्यम् तथाप्यतद्रूपपरावृत्तिप्रत्यासत्त्या साधारणरूपतामात्मं सत् तथा

नहीं हो सकता और आगके बिना दाह नहीं हो सकता—तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि बिना बाह्यवस्तुके जैसे तैमिरिककेशाकार ज्ञान होता है, वैसे ही बिना दाहादिरूप अर्थक्रियाके वासनावशात् कहीं निरालम्बन ही दाहाकार ज्ञान हो जायगा। इस विपक्षका कोई बाधक नहीं होनेसे बाह्य अर्थके साथ अर्थक्रियाकारकी व्याप्ति भी असिद्ध है। ऐसी स्थितिमें अर्थक्रियाके संवादसे बाह्यार्थकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इस लिये बाह्यकी सिद्धि करना और ज्ञानको साकार भी मानना, यह बालचापलके सिवाय और कुछ नहीं है। क्योंकि बाह्यविलोपपक्षमें ही घटज्ञानसे पटज्ञानमें विशेषताके लिये आकारविशेषकी कल्पना करनी पड़ती है। बाह्यवस्तुकी सत्तापक्षमें तो बाह्यविषय ही ज्ञानोंके भेदक हो जायेंगे, फिर आकारकी कल्पना अप्रामाणिक है।

वैभाषिकमतखण्डन

(पूर्वपक्ष) यदि सौत्रान्तिकका बाह्याकारवाद दोषग्रस्त है तो बाह्यभूत स्वलक्षण ही विकल्पका विषय हो। यद्यपि वह स्वलक्षणात्मक बाह्य व्यक्तिगतरूपसे संकेतका विषय नहीं होनेसे शब्दप्रयोगके योग्य नहीं हो सकता है तथापि अतद्व्यावृत्तिरूप सम्बन्धके द्वारा वह स्वलक्षणात्मक बाह्यव्यक्ति साधारण (सामान्य) रूपताको धारण करता हुआ शाब्दादिप्रयोगके योग्य हो ही सकता है। क्योंकि जैसे एक गौ अगोव्यावृत्त है, वैसे अन्य भी गौ अगोव्यावृत्त हैं। अर्थात् अगोव्यावृत्ति

भवत्येव। यथा ह्येको गौरगोव्यावृत्तस्तथाऽपरेऽपि गाव इति चेत्, अथ कोऽयमगौर्नाम ? किमेकस्य गोस्वलक्षणस्यानात्मा ? आहोस्वित् तद्गतधर्मविरही ?

प्रथमे न गवान्तरेऽपि गोशब्दविकल्पौ प्रवर्तेयाताम्, अश्वादिवदनात्मत्वाविशेषात्। अतिप्रसङ्गश्च, महिषमातङ्गाद्यगोव्यावृत्त्याऽश्वेऽपि गोव्यवहारप्रसङ्गात्। स गोरपि व्यावर्तत इति चेत्, तत् किमभिमतो गौर्गोरपि न व्यावर्तते ? व्यावर्तते, किन्तु स्वयमप्यसौ गौरिति चेत्, यद्यगोव्यावृत्तिरेवास्य गोत्वं, तदश्वेऽपि समानम्। अन्यच्चेत्तदुच्यताम्।

सभी गोव्यक्तियोंका समानधर्म है, जिसके द्वारा स्वलक्षणात्मक गोव्यक्ति भी संकेतका विषय एवं शब्दप्रयोगके योग्य हो सकता है।

(उत्तरपक्ष) यहां यह बताओ कि "अगौ" क्या वस्तु है ? क्या एक गोव्यक्तिसे जो भिन्न है, उसे अगौ कहते हैं ? अथवा उस गोव्यक्तिमें रहनेवाली गोत्वजातिसे जो शून्य है, उसे अगौ कहते हैं ?

यहां प्रथमपक्ष स्वीकार करनेपर अन्य गौमें भी गोशब्दका प्रयोग और सविकल्पक ज्ञानकी प्रवृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि अश्वादिके समान अन्य गौ भी उस एक गौसे भिन्न है। साथ ही अतिप्रसङ्गदोष भी हो जायगा। क्योंकि महिष (भैंसा) मातङ्ग (हाथी) आदि जो अगौ हैं उनकी व्यावृत्ति होनेसे अश्वमें भी गोव्यवहार होने लगेगा। यदि कहो कि—अश्व केवल महिषादि (अगौ) से ही व्यावृत्त नहीं होता बल्कि गौसे भी व्यावृत्त होता है—तो क्या आपका अभीष्ट गौ गौसे भी व्यावृत्त नहीं होता ? यदि कहो कि—वह गौ अन्य गौसे व्यावृत्त तो होता है किन्तु स्वयं भी वह गौ है—तो उसके स्वयं गौ होनेका कारण जो गोत्व है, वह क्या चीज है ? यदि अगोव्यावृत्ति ही इसका गोत्व हो तो वह पूर्वोक्तरीतिसे अश्वमें भी समान ही है। अर्थात् महिषादिरूप अगौसे व्यावृत्त होनेके कारण अश्व भी गौ ही होवे। यदि गोत्व कोई और वस्तु हो तो उसे कहो। अर्थात् गोत्व अन्यव्यावृत्ति—(अपोह) रूप न होकर विध्यात्मक जातिरूप हो तो वस्तुभूत जातिकी सिद्धि ही हो गयी।

द्वितीये तु तद्गतधर्मविरहिव्यावृत्तस्तद्वानेव स्यात्। तत्र च न विवादः।

मिथः सम्भिन्नाकाराः पिण्डा एव साधारणं रूपमस्तु, कृतमतद्रूपपरावृत्त्येति चेत्, न, सम्भेदाभावात्। स हि न वास्तवः, पिण्डानां विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। नाभिमानिकः, शाबलेयादेर्भेदेनैव प्रथनात्। तद्धर्माणां सम्भेदाभिमान इति चेत्, न, धर्म्यतिरिक्तधर्मानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा पर्यवसितं विवादेन।

द्वितीयपक्षमें तो उस गोव्यक्तिमें वर्तमान गोत्वधर्मसे शून्य जो वस्तु, उससे व्यावृत्त (भिन्न) जो होगा, वह गोत्वधर्मवान् ही होगा। और उसमें कोई विवाद नहीं है। अर्थात् इस पक्षमें भी गोत्वजातिकी सिद्धि होनेसे मेरा अभीष्ट ही सिद्ध हुआ।

धर्मकीर्तिमतखण्डन

परस्परमें एकाकार पिण्ड ही साधारणरूप है। अर्थात् पिण्डोंकी एकाकारता ही उनकी अनुगत बुद्धिका विषय है न कि पिण्डगत कोई जाति। इसीलिये जातिखण्डनके लिये अतद्व्यावृत्तिका सहारा लेना भी अनावश्यक है। धर्मकीर्तिका यह पिण्डैक्यवाद भी ठीक नहीं है, क्योंकि पिण्डोंका एकत्व ही असंभव है। कारण, पिण्डोंका वास्तविक एकत्व हो नहीं सकता, क्योंकि सभी पिण्ड परस्पर विरुद्ध धर्मोंसे युक्त हैं। पिण्डोंका काल्पनिक एकत्व भी नहीं हो सकता है। क्योंकि शाबलेय आदि सभी पिण्ड भिन्न-भिन्न रूपमें ही भासित होते हैं।

यदि कहें कि—पिण्ड भले ही भिन्न-भिन्न रूपसे भासित होते हैं किन्तु उनके धर्मोंमें एकत्वका अभिमान होता है और वही धर्मगत आभिमानिक एकत्व अनुगत प्रतीतिका विषय है–तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि आपके मतमें धर्मीसे अतिरिक्त धर्मकी सत्ता ही नहीं है। यदि धर्मीसे अतिरिक्त धर्मकी सत्ता मानें तो हमारे साथ विवाद ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि आपने भी वास्तविक अनुगत धर्म (जाति) की सत्ता स्वीकार ही कर ली।

स्यादेतत्, भिन्नानामेव स्वलक्षणानां समानाकारविकल्पजननसामर्थ्यमस्तु। तदपेक्षया च केचिद् गाव इति व्यपदिश्यन्ते केचिदगाव इति। तच्च सामर्थ्यं स्वकारणनियतत्वाददपर्यनुयोज्यम्। अन्यथा सामान्येष्वपि सामान्यान्तरं कल्प्येत, अनुगतव्यवहारानुरोधात्। तथा गोपिण्डेष्वपि, गोत्वस्य तेष्वेव व्यवस्थित्यनुरोधात्। उभयमुखी चैवमनवस्था स्यादिति चेत्—

(आशङ्का) अस्तु, सभी स्वलक्षणात्मक पिण्ड परस्पर भिन्न ही रहें और उनमें समानाकार सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य स्वीकार की जाय। एवं उसी सामर्थ्यके रहनेसे कोई "गौ" ऐसा व्यवहृत होते हैं और उसके न रहनेसे कोई "अगौ" ऐसा व्यवहृत होते हैं। साथही वह सामर्थ्य स्वकारणनियत है, इसलिये उसके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं हो सकता कि क्यों वह अमुकमें ही है और अमुकमें नहीं है। और यह भी प्रश्न नहीं हो सकता कि उस सामर्थ्यमें भी दूसरा अनुगत सामर्थ्य है या नहीं? अन्यथा "गोत्वं सामान्यम् अश्वत्वं सामान्यम्" इस अनुगत व्यवहारके अनुरोधसे सामान्योंमें भी अन्यसामान्यकी कल्पना करनी पड़ जायगी।

एवं "गोत्व गोपिण्डोंमें ही रहता है अन्यत्र नहीं" इस व्यवस्थाके अनुरोधसे गोपिण्डोंमें गोत्वके वृत्तित्वनियामकके रूपमें एक अतिरिक्त जातिकी कल्पना करनी पड़ेगी। तथा गोत्वके समान ही उस नवीन कल्प्यमान जातिके भी वृत्तित्वके नियमनके लिये पुनः गोपिण्डोंमें अन्य जातिकी कल्पना करनी पड़ जायगी। इसप्रकार ऊर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी दोनों प्रकारकी अनवस्था हो जायगी। अर्थात् गोत्वसामान्य में दूसरा सामान्य और उसमें दूसरा यह ऊर्ध्वमुखी अनवस्था तथा गोत्वगत वृत्तित्वके नियमनके लिये गोपिण्डोंमें दूसरी जाति तथा उसके भी नियमनके लिये गोपिण्डोंमें दूसरी जाति तथा उसके (उस जातिके) भी नियमनके लिये उन गोपिण्डोंमें दूसरी जातिकी कल्पना करनी पड़ जायगी, जिसका विश्राम न होनेसे अनवस्था हो जायगी।

यद्येवं, निमित्तान्तरमनपेक्ष्यैकव्यवहारोऽत्यन्तभिन्नैः, एवं भिन्नव्यवहार एवाभिन्नेनैकेन केनचित् किं न साध्यते ? शक्तिस्वभावावलम्बनस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् ।

अथैवं सत्येकव्यवहारः क्वचिदपि न स्यात् निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम् । तदेतत्तुल्यम् । अनेकव्यवहारोऽप्येवं सति न स्यात् निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम् । तस्मादेकेनैकव्यवहारवदनेकेनाप्यनेकव्यवहार एवेति सामर्थ्यनियमः ।

का गतिस्तर्हि सामान्येष्वनेकेष्वेकव्यवहारस्य ? या चन्द्रमस्येकस्मिन्ननेकव्यवहारस्य । भ्रान्तोऽसाविति चेत्, अयमपि

(समाधान) उक्त प्रतिपादन ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकार जातिको स्वीकृत किये बिना ही यदि अत्यन्त भिन्न स्वलक्षणोंद्वारा एक अनुगत विकल्पजनन का व्यवहार होना माना जाय तो ऐसे हो अभिन्न किसी एक वस्तु (जाति) को मानते हुए उसीसे सभी भिन्न-भिन्न व्यवहार होते हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ? क्योंकि स्वाभाविक सामर्थ्यका अवलम्बन दोनों पक्षोंमें समानरूपसे किया जा सकता है ।

यदि कहो कि—ऐसा होनेपर एक व्यवहार कहीं न हो सकेगा, या बिना किसी निमित्तके ही होगा, यह दोनों ही ठीक नहीं है–तो यह दोष आपके भी पक्षमें समान है । क्योंकि आपके कथनानुसार अनेकव्यवहार भी कहीं न हो सकेगा, या बिना किसी निमित्तके होगा, जो दोनों ही अनिष्ट हैं । इसलिये एकसे जैसे एक ही व्यवहार होता है, वैसे अनेकसे भी अनेक ही व्यवहार हो सकता है, यही वस्तुगत सामर्थ्यका नियम है ।

यदि एकसे ही एकव्यवहार होता है तो गोत्व, अश्वत्व, महिषत्व आदि अनेक सामान्योंमें होने वाले सामान्यत्वरूप एकव्यवहारकी क्या गति होगी ! तो मैं कहूँगा; जो गति एक चन्द्रमामें अनेकत्वव्यवहारको होती है, वही होगी । यदि कहो कि—चन्द्रमामें अनेकत्वव्यवहार

भ्रान्त एव । बाधकस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् ।

सर्वत्र भ्रान्तोऽस्त्विति चेत्, भेदव्यवहारोऽपि तथा किं न स्यात्? अर्थक्रियास्थितेरिति चेत्, व्यक्तिभेदाभेदव्यवस्थापकार्थक्रियाभेदाभेदवत् सजातीयासजातीयत्वव्यवस्थापकार्थक्रियासाजात्यवैजात्ये अपि किं न पश्यसि? ते अपि भ्रान्ते इति चेत्, अर्थक्रियाभेदोऽपि भ्रान्त इति तुल्यम्। अस्त्वेवमिति चेत्, त्यज तर्हि बाह्यव्यसनम्। अयमेवाशय इति चेत्, तत्र वक्ष्यामः।

मा भूद् वाऽर्थक्रियासाजात्यवैजात्यावगमः, भ्रान्त्यनुगमोऽप्येकं निमित्तमनादृत्य कथम्? तदपि हि कार्यसाजात्यं

भ्रमात्मक है तो अनेक सामान्योंमें यह एकसामान्यत्वका व्यवहार भी भ्रमात्मक ही है। क्योंकि बाधक दोनों जगह समानरूपसे है।

यदि कहो कि—तब गोपिण्डोंमें भी एक गोत्वसामान्यका व्यवहार भ्रान्त हो तो कहूँगा कि सर्वत्र व्यक्तियोंमें भेदव्यवहार भी भ्रान्त क्यों न हो जाय!

यदि कहो कि—अर्थक्रियाके भेदसे व्यक्तिमें भेद होता है—तो जैसे अर्थक्रियाका भेद और अभेद व्यक्तिके भेद और अभेदका व्यवस्थापक है, वैसे ही अर्थक्रियाका साजात्य और वैजात्य व्यक्तिके सजातीयत्व और विजातीयत्वका व्यवस्थापक है, यह बात भी तुझे क्यों न सूझती है?

यदि कहो कि—अर्थक्रियाका साजात्य और वैजात्य भी भ्रान्त है—तो व्यक्तियोंमें भेद सिद्ध करने वाला अर्थक्रियाका भेद भी वैसे ही भ्रान्त होगा।

यदि कहो कि—हां, अर्थात् अर्थक्रियाभेद और व्यक्तिभेद सभी भ्रान्त हैं—तो फिर बाह्यवस्तुओंकी सत्ताका आग्रह छोड़ दो। यदि तूँ अपना अभीष्ट भी इसे ही बताओ तो उसके सम्बन्ध में आगे कहेंगे।

अथवा अर्थक्रियाका साजात्य-वैजात्य भले ही मत स्वीकार करो किन्तु एक निमित्तको माने बिना भ्रान्तियोंका अनुगम भी कैसे हो

सामग्रीसाजात्यमन्तरेणाकस्मिकमापद्येत। अन्यथा तत्परम्परालम्बनमपि विडम्बनमेव। भिन्नैस्तैस्तैरभेदव्यवहारसिद्धौ व्यक्तिभिरेव तथाभूताभिरभिमतसिद्धेस्तदनुसरणप्रयासवैफल्यात्। तस्मादारोपव्यवहारस्याप्यनारोपितजात्यनादरेऽसम्भव एवेति।

अस्तु तर्हि जात्यादौ बाधकादपोहसिद्धिरिति चेत्, व्यवहारस्यानन्यथासिद्धौ क्व बाधकम्? अन्यथा विपक्षे बलवद्बाधकमुपनीयानन्यथासिद्धिविश्रान्तोऽपि स्वभावहेतुर्बाधक-

---

सकेगा? क्योंकि भ्रान्तिरूप कार्योंका भ्रान्तित्वरूप साजात्य भी सामग्री-साजात्यके बिना आकस्मिक होने लगेगा। अर्थात् कोई ज्ञान भ्रमात्मक होता है और कोई ज्ञान अभ्रमात्मक, यह व्यवस्था कारणगत साजात्य और वैजात्यके निमित्तसे ही है। अन्यथा सभी ज्ञान भ्रान्त ही होते या अभ्रान्त ही होते।

एवं, यदि कारणगत साजात्य न मानो तो बीज, धान्य और शालि-कलम (बिचड़ा) आदिमें अङ्कुरादिप्रयोजकके रूपमें कुर्वद्रूपत्वपरम्पराकी कल्पना भी आपकी व्यर्थ ही होगी। क्योंकि जैसे भिन्न भिन्न पिण्डोंसे ही अभेद (एकाकार) व्यवहार होना मानते हो, वैसे ही भिन्न भिन्न बीजादिव्यक्तियोंसे ही अनुगत अङ्कुरादि कार्योंकी उत्पत्तिमें कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। फिर अंकुरसाजात्यके अनुरोधसे बीजादि-व्यक्ति और उसकी कारणपरम्परामें कुर्वद्रूपत्वपरम्परानुसरणका प्रयास करना व्यर्थ है।

इसीलिये भ्रमव्यवहार भी कहीं वास्तविक जातिकी प्रसिद्धिके बिना असंभव ही है। अर्थात् वास्तविक सर्पत्वादिजाति यदि कहीं प्रसिद्ध न हो तो रज्जुमें उसका आरोप भी नहीं हो सकता है।

जातिबाधकनिरास

यदि कहें कि—अनेकव्यक्तिवृत्ति जाति, अनेकव्यक्तिवृत्ति संयोग या अवयवी आदिके होनेमें बाधकप्रमाणके होनेसे अनायास अपोहकी सिद्धि हो जायगी—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि शङ्कित या

शङ्कयाऽप्युपहन्येत । ततो बाधकव्यसनमपहायानुगमव्यवहृतिरन्यथाऽप्युपपाद्यताम् । न चैतच्छक्यम्, गत्यन्तराभावात् ।

न च बाधकमप्यस्ति । तद्धि स्वरूपतो वा स्यात् ज्ञानतो वा स्यात् । स्वरूपतोऽप्यनुपलम्भो वा विरुद्धधर्माध्यासो वा ।

न प्रथमः, असिद्धेः । स्फुरत एव हि साधारणाकारस्य शरीरं चिन्तयितुमारब्धं नास्फुरतः । अध्यक्षे साधारणस्फुरणं व्यासेधामो न तु विकल्पे, तस्य समानसङ्केतग्रहतिमिरनिकुर-

---

निश्चित दोनों ही प्रकारका बाधक नहीं हो सकता है । कारण, जातिको स्वीकार किये बिना किसी अन्य प्रकारसे जब अनुगत व्यवहारकी सिद्धि ही नहीं की जा सकती है, तब जातिबाधककी शंका ही कहाँ है ? अर्थात् अनुगत व्यवहारकी अनन्यथासिद्धि ही बाधकशङ्काको दूर कर देती है । अन्यथा विपक्षमें बलवान् बाधकको पाकर अनन्यथासिद्धिसे परिपुष्ट भी आपका स्वभावहेतु (अनुमापक हेतु) बाधककी आशङ्कामात्रसे दूषित हो जायगा । इसलिये बाधकके व्यसनको छोड़कर जातिके बिना भी अनुगतव्यवहारका उपपादन करनेका प्रयास करो । किन्तु जाति माने बिना कोई गति नहीं होनेसे अनुगतव्यवहारका उपपादन अशक्य है । क्योंकि अन्यापोहद्वारा अनुगत व्यवहारकी अनुपपत्ति दिखायी जा चुकी है ।

एवं जातिके प्रति कोई निश्चित बाधक भी नहीं है । क्योंकि वह जातिस्वरूपका बाधक होगा या उसके ज्ञानका ? स्वरूपपक्षमें भी जातिस्वरूपका अनुपलम्भ होगा अथवा विरुद्धधर्मका अध्यास होगा ?

इसमें अनुपलम्भवाला प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अनुपलम्भ असिद्ध है । कारण; यहाँ नाना गवादिव्यक्तियोंमें भासित होनेवाले ही गोत्वादि सामान्यका स्वरूपचिन्तन प्रारम्भ किया गया है न कि नहीं भासित होनेवालेका । अतः गोत्वादिसामान्यका अनुपलम्भ कहना असङ्गत है ।

यह कथन भी कि—प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) में ही हम साधारणधर्मस्फुरणका निषेध करते हैं, न कि सविकल्पकमें । निर्विकल्पक ज्ञानमें

म्बकरम्बितदृष्टिभिरेवोपपादनात् न त्वस्माभिः, कल्पनाकोष-स्यानन्तप्रसरतया तत्त्वाव्यवस्थापकत्वादिति चेत्, शब्दानु-सन्धानविरहेऽपि जायमानत्वात्।

तथापि तद्वासनात एवेति चेत्, किमेकसङ्केतविषयाभावेऽपि समानशब्दसङ्केतग्रहवासनावशादेकाकारपरामर्शस्तत्सद्भावे वा ? न तावदाद्यः, नानासास्नादिमद्व्यक्तिवत् स्वर्ग-लोचनबाणाम्बुकुलिशादिष्वपि गोशब्दसङ्केतग्रहवासनावशात् तथाविधप्रत्ययानुगमप्रसङ्गात्। इष्ट एवासावर्थ[1] इति चेत्,

---

साधारणधर्मभानका उपपादन तो वे ही करते हैं, जिनकी दृष्टि सभी गोव्यक्तियोंमें समान गवादिशब्दके सङ्केतग्रहरूपी अन्धकारसमूहसे कलुषित हो गयी है, हम नहीं। कारण, कल्पनाकोषके विस्तारका अन्त नहीं होनेसे कल्पनाके आधारतत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। अर्थात् सविकल्पकज्ञानमें काल्पनिक ही भान होनेसे उसके आधारपर जातिकी सिद्धि नहीं हो सकती है—ठीक नहीं है। क्योंकि गोपदवाच्यत्वके अनुसन्धानाभावदशामें भी प्रत्यक्षकालमें अनेक गोव्यक्तियोंमें अनुगत एक गोत्वजातिका भान सबको होता है।

यदि कहो कि—वहाँ भी प्राक्तन सङ्केतग्रहकी वासना (संस्कार) है—तो क्या सङ्केतविषयके एक न होनेपर भी समानशब्दके सङ्केतग्रह की वासनासे एकाकार (अनुगत) बुद्धि होती है ? या सङ्केतका विषय भी एक ही है, इसलिये एकाकार बुद्धि होती है ? इनमें आद्यपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि सास्नादि (गलकम्बल) धारी नाना व्यक्तियोंके समान गोपदवाच्य स्वर्ग, लोचन, बाण, जल, वज्र, वाणी, दिशा, किरण और पृथ्वीमें भी समान गोशब्दके सङ्केतग्रहकी वासनासे एकाकार अनुगत प्रतीति होने लगेगी।

यदि कहो कि—उन सबोंमें भी एकाकार अनुगतप्रतीति इष्ट ही है—तो यह सास्नादिमती नानाव्यक्तियोंमें साधारणरूप (गोत्व) को नहीं

---

१. इष्ट एवायम् इति क्वचित् पाठः।

सोऽयं सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु साधारणं रूपं न पश्यति, पश्यति तु गोशब्दवाच्येषु दशस्विति किमत्र वक्तव्यम्। नूनं रुचिरेवास्य[1] लोचनमिति। शक्यमिदमितरेणापि वक्तुमिति चेत्, शक्यम्, न तु व्यवहारस्तन्मूलो विपर्यासयितुम्।

नन्वेतावतापि विकल्पः सिध्यतु, अनुभवस्तु कथम्? सवस्तुकविकल्पसिद्धेरेव। कथं तस्य सवस्तुकतेति चेत्,

---

देखता है और गोपदके दश वाच्यार्थोंमें तो देखता है, यहाँ हम क्या कहें? निश्चित ही इसकी अपनी रुचि ही नेत्र है।

यदि कहो कि—इस प्रकारकी बात बौद्ध भी कह सकता है। अर्थात् नैयायिक भी गोपदवाच्यार्थ स्वर्ग आदिमें साधारणरूप (गोत्व) नहीं देखता है और गोपदवाच्य सास्नामती व्यक्तियोंमें तो गोत्वको देखता है, ऐसा क्यों?—तो बौद्ध भी भले ही ऐसा कहे, किन्तु अनुगतधर्ममूलक समानाकारव्यवहारको अन्यथा नहीं कर सकता।

यहाँ समाधानका आशय यह है कि स्वर्गादिमें भी जो अनुगतरूपसे गोव्यवहार होता है, उसका कारण है गोशब्दवाच्यत्वरूप अनुगत धर्म। किन्तु सास्नादिमती व्यक्तियोंमें होनेवाले अनुगत गोव्यवहारका कारण गोशब्दवाच्यत्वरूप अनुगत धर्म नहीं है, किन्तु गोत्व जाति ही है। क्योंकि जिसे गोव्यक्तियोंमें गोशब्दवाच्यत्वकी व्युत्पत्ति नहीं है, उसे भी उनमें अनुगतरूपसे गोप्रतीति होती है।

यदि कहो कि—पूर्वोक्त युक्तिवादसे भी सविकल्पक ज्ञान अनुगत-जातिविषयक भले ही सिद्ध होवे किन्तु अनुभव (निर्विकल्पक ज्ञान) जातिविषयक कैसे सिद्ध होगा?—तो मैं कहूँगा, कि गोत्वरूप वस्तु-विषयक सविकल्पक ही निर्विकल्पक ज्ञानके भी गोत्वविषयक होनेमें प्रमाण है। क्योंकि कोई बाधक नहीं रहनेपर सविकल्पकज्ञानका विषय ही निर्विकल्पका भी विषय होता है।

यदि कहो कि—सविकल्पक ज्ञानकी सवस्तुकता ही अभी तक कहाँ सिद्ध हुई है? अर्थात् वह तो अलीकविषयक होता है—तो मैं बता

---

1. रुचिरमेवास्य इति क्वचित् पाठः।

शब्दवासनादिकारणान्तरविध्वंसादिति तुष्णीम्भव।

अन्तराले किमिति नोपलभ्यत इति चेत्, उपलब्धिकारणाभावात्।

पिण्ड एव कुण्डे बदरवत् कुतो नोपलभ्यत इति चेत्, न, अनन्यदेशत्वात्। भेदेन तूपलभ्यत एव, पिण्डान्तरासंसर्गिणि पिण्डेऽनुभूयमाने तत्संसर्गितयाऽनुभवात्।

चुका हूँ कि शब्दसङ्केतग्रह या उसकी वासना आदि अन्य कारणोंके अभावमें भी "गौरयम्" ऐसी सविकल्पक प्रतीति गोत्वनामक अनुगत धर्मके कारण ही होती है। इसलिये गोत्व भी वस्तुभूत ही है। अतः अब कुछ कहनेमें मौन हो जा।

"गोत्वजाति यदि व्यापक है तो दो पिण्डोंके मध्यदेशमें क्यों नहीं उपलब्ध होती है? एवं यदि नित्य है तो एक पिण्डके नष्ट होनेपर पिण्डान्तरकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें क्यों नहीं उपलब्ध होती है? तो इस प्रश्नका उत्तर है कि नित्य और व्यापक होनेपर भी दो पिण्डोंके अन्तरालमें जातिकी उपलब्धि इसलिये नहीं होती है कि उसकी अभिव्यञ्जिका सास्नादिमती व्यक्तिका वहाँ अभाव है।

यदि कहो कि--पिण्डमें यदि कोई जाति है तो जैसे कुण्डमें पृथक्-रूपसे बदरकी उपलब्धि होती है? वैसे पिण्डमें पृथक्रूपसे जातिकी उपलब्धि क्यों नहीं होती है?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि पृथक् उपलब्धिका अर्थ यदि पिण्डसे भिन्न देशमें उपलब्धि हो तो जातिका पिण्डसे अतिरिक्त कोई देश ही नहीं है। बदरका तो कुण्डसे अतिरिक्त अपना अवयव ही देश है। एवं पृथक् उपलब्धिका अर्थ यदि पिण्डसे भिन्नरूपमें उपलब्धि हो तो पिण्डसे भिन्नरूपमें जातिकी उपलब्धि होती ही है। क्योंकि एक पिण्ड दूसरे पिण्डका असंसर्गी होकर भासित होता है और उससे भी सम्बद्ध वह जाति होती है। अर्थात् पिण्ड और जातिमें यदि अभेद होता तो उस पिण्डसे असम्बद्ध दूसरे पिण्डमें उस जातिका अनुभव नहीं होता।

नापि द्वितीयं बाधकम्, अवयविसमानयोगक्षेमत्वात्। जायमानपिण्डसम्बन्धानुपपत्तिरप्रतिसंक्रमात् तत्रासत्त्वात् अनुत्पादाच्चेति चेत्, कथं पुनस्तत्रासत्त्वं त्वया व्यज्ञायि ? तत्र सत्त्वे तत्रत्याकाशादेरपि गोत्वप्रसङ्गादिति चेत्, न चैतत् पश्चादपि तत्रत्याकाशादिना सम्बध्यते। येन च पिण्डेन सम्बध्यते, न तत्र कदापि तन्नास्ति। तत्कुतो विरोधः।

"सङ्केतका विषय भी एक ही है" इस द्वितीय पक्षको तो अभीष्ट होनेके कारण मूलकारने दूषित नहीं किया। क्योंकि इस पक्षमें सभी गोव्यक्तियोंमें वर्तमान एक गोत्वजातिको पूर्वपक्षीने भी सङ्केतका विषय स्वीकार कर लिया।

जातिके प्रति विरुद्ध धर्माध्यासरूप द्वितीय विकल्प भी बाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि अवयवीके समान ही इसका भी साधनप्रकार है। अर्थात् अवयवीके सम्बन्धमें जैसे, "वह कार्त्स्न्येन अवयवोंमें रहता है अथवा एकदेशेन" इस विकल्पका खण्डन किया गया है, वैसे ही जातिके सम्बन्धमें भी कार्त्स्न्यैकदेशरूप विरुद्धधर्मके अध्यासका खण्डन समझना चाहिये।

यदि कहो कि—जायमान पिण्डके साथ गोत्वका सम्बन्ध तीन प्रकार से हो सकता है—(१) दूसरे पिण्डसे उस पिण्ड तक सङ्क्रमण द्वारा (२) या यहाँ पहलेसे ही वर्तमान रहनेके कारण (३) अथवा उस जायमान पिण्डके साथ साथ उत्पन्न होनेके कारण। ये तीनों ही गोत्वमें अनुपपन्न हैं। क्योंकि निष्क्रिय होनेसे जाति चल नहीं सकती है। एवं उस देशमें यदि पहलेसे गोत्व रहे तो उस देशको भी गौ कहने लगेंगे। तथा जातिके नित्य होनेसे पिण्डके साथ वह उत्पन्न भी नही कही जा सकती है—तो तूने कैसे समझा कि गोत्व उस पिण्डस्थलमें पहलेसे वर्तमान नही है ?

यदि कहो कि—वहाँ पहलेसे गोत्वके रहनेपर वहाँके आकाशमें भी गोत्वप्रसङ्ग हो जायगा—तो यह गोत्व पीछे भी तो वहांके आकाशसे सम्बद्ध नहीं होता है। अर्थात् गोत्वव्यवहारके लिये समवायसम्बन्धसे

अथ पिण्डमन्तर्गडुमुपादायोपलक्षणतया तत्रेति व्यवहारः, तदा तदुपसर्पणापसर्पणोत्पत्तिविनाशैरेव तदुपपत्तौ न यातीत्यादिरपराद्धेषोरिव धानुष्कस्य कण्ठडम्बरः।

तथाहि पिण्डमधिकृत्योपसर्पणापसर्पणाभावः, तदुपलक्षितं

गोत्वकी सत्ता कारण है, इसलिये पिण्डकी उत्पत्तिके पूर्व या पीछे स्वरूपतः गोत्वके रहनेपर भी आकाशके साथ उसका समवायसम्बन्ध नहीं रहनेसे आकाशमें गोत्वप्रसङ्ग नहीं होता है।

यदि कहो कि—पिण्ड तो एक अन्तर्गडुमात्र (निरूपकमात्र) है, न कि वह गोत्वका समवायेन आधार है। इसलिये उसे लेकर पिण्डमें गोत्वका व्यवहार लाक्षणिक है, मुख्य नहीं है। और उस उपलक्षणभूत पिण्डकी सत्तावस्थामें "इह गोत्वम्" तथा पिण्डशून्य आकाशमें "नेह गोत्वम्" ऐसा व्यवहार होता है—तो वैसे ही पिण्डके उपसर्पण अपसर्पण, उत्पत्ति एवं विनाशसे ही गोत्वके सत्त्वासत्त्व-व्यवहारोंकी भी उपपत्ति हो जायगी, फिर—

न याति न च तत्रासीत् न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥

इस प्रकारका जातिके सम्बन्धमें धर्मकीर्तिका कण्ठघोष भी वैसा ही है, जैसा बाणके लक्ष्यसे विचलित होनेपर धनुर्धारीका होता है। अर्थात् धर्मकीर्तिने जातिके सम्बन्धमें विरोध उपस्थित किया है कि "गोत्वादि जाति जायमान पिण्डदेशमें न जाती है, न वहाँ पहलेसे थी ही, न वहाँ उत्पन्न ही होती है और न सावयवय होती हुई पूर्व आधारको छोड़ती या अन्य आधारको प्राप्त ही करती है, इस प्रकार जाति माननेमें कितनी व्यसनपरम्परा है?" परन्तु हमारे मतमें जातिको कहीं जाने या उत्पन्न होनेकी आवश्यकता नहीं है, वह तो व्यापक और नित्य है। जाना, आना, उत्पन्न और नष्ट होना पिंडगत धर्म हैं। इस प्रकार जातिको लक्ष्य कर कीर्तिने जो विरोध प्रदर्शन किया है, वह व्यक्तिमें संक्रान्त होकर निष्फल हो जाता है। अतः धर्मकीर्तिकी स्थिति लक्ष्यच्युत धानुष्कके समान है।

एवं, पिंड तक न जातिका उपसर्पण होता है और न किसी अन्य

देशमधिकृत्य च सत्त्वासत्त्वे सामान्यस्येति कि केन सङ्गतम् ? अथाप्यनुत्पन्ने पिण्डे तस्यासत्त्वं सुलभमेव तदसत्त्वादिति हृदयम्, तन्न, स्वरूपसत्त्वासत्त्वयोर्द्वितीयानपेक्षत्वात् । सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वे तु द्वितीयापेक्षे । ततस्तत्रासति नास्तीति कोऽर्थः ?

तेनासता न सम्बध्यत इति चेत्, तच्चैवमेतत् । पश्चात् कथं सम्बध्यतामिति चेत्, तस्य सत्त्वात्, असम्बद्धत्वस्य तदसत्त्वप्रयुक्तत्वात् । ततः प्रागसन् पिण्डः पश्चात् कथमुपपद्यतामिति चोद्यनिष्ठा, सा च सत्कार्यवादमनुपततीत्युक्तवान्तिः ।

पिंडसे जाति विलग ही होती है । इस मान्यताके कारण पिंडोपलक्षित आकाशादिदेशोंमें जातिकी सत्ता या असत्ता कहना वैयधिकरण्यके कारण एकदम असङ्गत है ।

यदि आपका आशय हो कि—स्वरूपतः जाति पिण्डोपलक्षित आकाशादि देशोंमें भले ही रहे और जो पिण्ड उत्पन्न हो चुका है, उसमें भी वह भले ही रहे, किन्तु जो पिंड अभी तक उत्पन्न ही नहीं है, उसमें तो उस जातिका अभाव सुतराम् सुलभ है । क्योंकि उस जातिका आधारभूत पिण्ड ही नहीं है—तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि जातिकी स्वरूपतः सत्ता या असत्ताके लिए पिंडादिरूप द्वितीयकी अपेक्षा ही नहीं है । हाँ, सम्बद्ध या असम्बद्ध होनेके लिए तो जाति किसी द्वितीयकी अपेक्षा रखती है । अर्थात् पिंडके उत्पन्न होनेपर उसमें जाति सम्बद्ध रहती है, नहीं तो स्वरूपतः विद्यमान भी जाति असम्बद्ध ही रहती है । ऐसी स्थितिमें "असत्पिण्डमें जाति नहीं है" आपके इस कथनका क्या अर्थ है ?

यदि "उस असत् पिंडके साथ जातिका सम्बन्ध नहीं है" यह अर्थ लें तो वह ठीक ही है । यदि पूछें कि—पीछे उस पिंडके साथ जाति क्यों सम्बद्ध हो जाती है ?—तो उत्तर होगा, पिंडकी सत्ता हो जानेके कारण । क्योंकि पिंडसे जातिकी असम्बद्धता पिंडकी असत्ताके कारण ही रहती है । उसके बाद आपके पूर्वपक्षकी निष्ठा (पर्यवसान या

तथापि सामान्यतद्वतोरत्यन्तभेदे कथं सामानाधिकरण्यमिति चेत्, किमिदम्? समानेनाधिकरणेन हि सम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्, तस्य च भेदेन को विरोध इति नाधिगच्छामः। गवाश्वयोरपि तथाभावप्रसङ्ग इति चेत्, ननु व्यतिरेकदृष्टान्तस्थानं तत्, न तु विरोधस्थानम्। तत्र मैत्रतनयोऽपि यदि कश्चिदश्यामः स्यात् परिदृश्यमानानामपि तथाभावप्रसङ्ग इति क्व नाम दुर्लभम्?

निचोड़) यही है कि—पहले असत् पिंड पीछे कैसे सत् हो सकता है?—किन्तु वह तो सांख्यके सत्कार्यवादका अनुगमन कर रही है, जो आपके द्वारा कभी भी स्वीकृत नहीं हुए रहनेके कारण बिना कुछ खाये वमनके समान है।

"तथापि जाति (धर्म) और जातिमान् (धर्मी) में यदि अत्यन्तभेद हो तो उनमें परस्पर सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है? अतः धर्म और धर्मीमें अत्यन्तभेद न मानकर आंशिकभेद अर्थात् भेदाभेद ही मानना चाहिये" तो यह क्या कह रहे हो? अर्थात् ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि समान अधिकरणसे सम्बन्ध ही तो सामानाधिकरण्य कहाता है और उसे भेदसे क्या विरोध है? यह हम नहीं समझते।

यदि कहो कि—अत्यन्तभेदमें सामानाधिकरण्य माननेपर गो और अश्वमें भी सामानाधिकरण्य होने लगेगा—तो हम यह नहीं कहते कि जिनमें भेद है, उनमें अवश्य सामानाधिकरण्य होता है। किन्तु कहीं भेदमें सामानाधिकरण्य होता है, जैसे जाति और जातिमान्में। और कहीं भेदमें सामानाधिकरण्य नहीं होता है, जैसे गो और अश्वमें। इस प्रकार गो और अश्व व्यतिरेकदृष्टान्तका स्थान है, न कि सामानाधिकरण्यका विरोधस्थल है। जैसे, मित्राका कोई पुत्र अश्याम है तो उसके बाकी श्याम भी पुत्र अश्याम नहीं हो जाते। वैसे ही भेदमें सामानाधिकरण्य होता है, ऐसा कहनेपर असमानाधिकरणरूपमें निर्णीत गौ और अश्वमें भी सामानाधिकरण्यकी प्रसक्ति नहीं होती। इस प्रकार विरोध न होते हुए भी व्यतिरेकदृष्टान्तका स्थान कहाँ दुर्लभ है?

तथापि विशेषो वाच्य इति चेत्, अस्ति स्वाभाविको विशेषो यत् किञ्चिदेव केनचित् सम्बद्धं न सर्वं सर्वेणेति। तथाऽनुगमनियमोऽपि स्वभावादेव किं न स्यादिति चेत्, एकस्यानेकसम्बन्धेऽनेकस्य चैकसम्बन्धेऽविरोधात्, एकानेकयोरनेकैकव्यवहारविरोधादिति।

नापि ज्ञानतो बाधकम्, तत्स्वरूपप्रतिक्षेपस्यानुभवबाधितत्वात्। कारणप्रतिक्षेपस्य च जन्मनैवापास्तत्वात्। एकत्व-

---

"फिर भी परस्पर भिन्नोंमें भी कहीं सामानाधिकरण्य होता है और कहीं नहीं होता, इसका नियामकविशेष बताना चाहिये—तो स्वभाव ही वह नियामकविशेष है, जिससे कोई ही किसीसे सम्बद्ध होता है, सब सबसे नहीं।

यदि कहो कि "वैसे अनुगत व्यवहारका नियम भी स्वभावप्रयुक्त ही क्यों न होगा? अतः उसके लिये सामान्य (जाति) माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है" तो यह कह सकते हो। क्योंकि एकका अनेकके साथ सम्बन्ध होनेमें या अनेकका एकके साथ सम्बन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् एक सामान्यका अनेक पिण्डोंके साथ और अनेक पिण्डोंका एक सामान्यके साथ सम्बन्ध होनेमें कोई भी विरोध नहीं है। विरोध केवल इसीमें है कि एकसे अनेक व्यवहार नहीं हो सकता और अनेकसे एक व्यवहार नहीं हो सकता। अर्थात् अनेक पिण्डसे एक अनुगत व्यवहार नहीं हो सकता है। अतः जाति स्वीकार करना अनिवार्य है।

एवं सामान्यज्ञानका कोई बाधक भी नहीं है। क्योंकि वह ज्ञानस्वरूपका बाधक होगा, या उसके कारणका, अथवा उसके एकत्वका, या उसके प्रामाण्यका, अथवा प्रामाण्यव्यापक इन्द्रियजत्वका, या साक्षात्कारित्वका बाधक होगा?

इनमें सामान्यज्ञानके स्वरूपका निराकरण अनुभवबाधित है। अर्थात् सामान्यज्ञान तो सर्वजनानुभव सिद्ध है। सामान्यज्ञानके कारणका निराकरण तो सामान्यज्ञानकी उत्पत्तिसे ही खण्डित है। क्योंकि कारणके बिना सामान्यज्ञानकी उत्पत्ति होती कैसे है?

प्रतिक्षेपस्य च विरुद्धधर्माध्यासविरहप्रतिहतत्वात्। पारोक्ष्यापारोक्ष्यादेरसिद्धेः।

विषयमप्रतिक्षिप्य तत्प्रामाण्यस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वात्, तदप्रतिक्षेपस्य च दर्शितत्वात्।

इन्द्रियजत्वप्रतिक्षेपस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानबाधितत्वात्। साक्षात्कारित्वविश्रान्ते च तदनुविधानस्या-

---

एवं ज्ञानगत एकत्वका भी निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ विरुद्धधर्माध्यासका अभाव होनेसे एकत्वमें कोई बाधा नहीं है। अर्थात् यद्यपि "तदेवेदम्" यह विज्ञान तत्पदार्थ और इदंपदार्थमें एक धर्मवत्त्वको सूचित करता हुआ सामान्यमें प्रमाण हो सकता है, तथापि तत्पदार्थ-ग्राहक और इदंपदार्थ-ग्राहक विज्ञान एक न होकर यदि परस्पर भिन्न भिन्न हो तो सामान्यकी सिद्धि कैसे हो सकेगी? इस प्रकार ज्ञानमें एकत्वके बाधसे सामान्यका भी बाध हो जाता है।

किन्तु उक्त ज्ञानमें एकत्वका बाध तब होता यदि ज्ञानमें विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होता। तत्तांशमें परोक्षत्व और इदमंशमें अपरोक्षत्वको लेकर तो ज्ञानमें विरुद्ध धर्माध्यास असिद्ध है। संस्कार या स्मृतिके द्वारा उपनीत विशेषणांशमें भी विशिष्टज्ञान अपरोक्ष ही होता है।

एवं, सामान्यज्ञानकी प्रामाणिकताका भी निराकरण नहीं हो सकता। क्योंकि सामान्य (जाति) रूप विषयका निराकरण किये बिना सामान्यज्ञानके प्रामाण्यका निराकरण नहीं हो सकता और विषयनिराकरणकी असंभाव्यता पूर्वमें दिखाई जा चुकी है।

यह भी नहीं कह सकते कि—जो ज्ञान प्रमाण होता है, वह इन्द्रियजन्य होता है, सामान्यज्ञान तो इन्द्रियजन्य है नहीं। इसलिये उसमें इन्द्रियजन्यत्वरूप व्यापकके अभावसे प्रामाण्यरूप व्याप्यका अभाव सिद्ध हो जायगा—क्योंकि सामान्यज्ञान इन्द्रियके रहनेपर होता है और इन्द्रियाभावकी दशामें नहीं होता। इस प्रकार चूँकि सामान्यज्ञान इन्द्रियके साथ अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधायी होता है, इस कारण उसमें इन्द्रियजन्यत्वका निराकरण भी नहीं हो सकता है।

व्यभिचारात् । अन्यथा निर्विकल्पकस्याप्यनिन्द्रियजत्वप्रसङ्गात् । कामातुरकामिनीज्ञानस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः । बाधकाभावाच्च दर्शनव्यापारौपाधिकत्वकल्पनानवकाशात् । अवकाशे वा विपर्ययकल्पनाया अपि प्रसङ्गात् ।

इन्द्रियमनपेक्ष्य साक्षात्कारिसमनन्तरप्रत्ययमहिममात्रेण साक्षात्कारिविकल्पोपपत्तौ तद्विपरीतानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रथ-

---

यद्यपि इन्द्रियव्यापारके विना भी शशविषाणादिविकल्पकी उत्पत्ति होती है, इसलिये सविकल्पक ज्ञानके प्रति इन्द्रियसन्निकर्षकी कारणता नहीं है। तथापि साक्षात्कारित्वावच्छिन्न ज्ञानके प्रति तो इन्द्रियका अन्वयव्यतिरेकानुविधान नियमितरूपसे है ही। अन्यथा निर्विकल्पक ज्ञानके प्रति भी इन्द्रियकी कारणता लुप्त हो जायगी। क्योंकि जब कामातुरव्यक्तिको विना इन्द्रियसन्निकर्षके ही केवल भावनावशसे निर्विकल्पकका ही समानधर्मा एवं अस्पष्ट अवभासरूप कामिनीज्ञान उत्पन्न होता है तो अस्पष्ट अवभासरूप निर्विकल्पक ज्ञान भी विना इन्द्रियसन्निकर्षके क्यों न हो जाय ?

सविकल्पकके सम्बन्धमें यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि वह स्वभावतः साक्षात्कारी ज्ञान नहीं है तथा दर्शन-(निर्विकल्पक) गत व्यापार (साक्षात्त्वधर्म) का उसमें आरोप होता है। क्योंकि सविकल्पकके स्वभावतः साक्षात्कारी ज्ञान होनेमें कोई बाधक नहीं हैं। यदि उक्त कल्पनाको अवकाश दिया जाय तो उसके विपरीत भी कल्पना की जा सकती है कि सविकल्पक ही साक्षात्कारी ज्ञान है और तद्गत साक्षात्त्वधर्मका उसमें आरोप होता है।

यदि कहो कि—अव्यवहित पूर्वमें जो निर्विकल्पात्मक साक्षात्कारी ज्ञान होता है, उसीकी महिमासे आगे सविकल्पक ज्ञान होता है और वह उसीके समान साक्षात्कारी भी होता है—तो उक्त नियमानुसार उस साक्षात्कारी सविकल्पकके बाद उससे विपरीत असाक्षात्कारी ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु सविकल्पकमात्रसे असाक्षात्कारी आलयविज्ञानकी उत्पत्ति आप स्वयं मानते हैं।

सविकल्पकके प्रति इन्द्रियकी कारणता होनेपर भी इन्द्रियके आपात-

ममनुत्पत्तेः पूर्वस्मरणादिसहकारिवैधुर्यादिनिबन्धनत्वादित्येषा दिक्।

अस्तु तर्हि प्रयोजनानुरोधादपोहस्वीकारः, सर्वधर्मावाच्यत्वसिद्धिर्हि परमं प्रयोजनम्, कल्पनाजालविधूननेन गम्भीरोदारसमाधिसमधिगमादिति चेत्, निष्प्रमाणमिदं कः श्रद्दध्यात्? प्रमाणं चात्र न प्रत्यक्षानुमाने। आगमश्च न किञ्चिद् वदतीति त्वयैव ग्राहितः शिष्यः।

मात्रसे सविकल्पकी उत्पत्ति इसलिये नहीं होती, क्योंकि वह सहकारीके रूपमें पूर्ववर्ती निर्विकल्पकी अपेक्षा करती है, तथा वही इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञात्मक साक्षात्कारी ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सहकारीके रूपमें तत्तांशके स्मरणकी अपेक्षा करती है, और इन्द्रियसम्पातक्षणमें उक्त सहकारियोंका अभाव रहता है। यहाँ सामान्यज्ञानके प्रामाण्यकी उपपत्तिके लिये उसके इन्द्रियजन्यत्वका साधन तो एक दिग्दर्शनमात्र है। वस्तुतस्तु विषय के अबाधित होनेसे ही कोई ज्ञान प्रामाणिक होता है। इसीलिये इन्द्रियजन्य नहीं होनेपर भी अनुमित्यादि-ज्ञान प्रमाण होता है।

(पूर्वपक्ष) "तो प्रयोजनके अनुरोधसे ही अपोह स्वीकार करना चाहिये और गवादिशब्दोंके वाच्य गोत्व आदि धर्म नहीं होते, यह सिद्ध करना ही यहाँ परम प्रयोजन है। क्योंकि अपोहस्वीकारद्वारा जात्यादिकल्पनाजालका उन्मूलन होकर वासनासहित मिथ्याज्ञानके उन्मूलनमें समर्थ एवं मुक्तिफलका प्रदान करनेवाले समाधिकी प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् जात्यादिक जब पारमार्थिक नहीं रहेंगे तो तुच्छ समझकर उसमें प्रवृत्यादि नहीं होगी। इस प्रकार बाह्यव्यापारसे उपरत होकर मन नैरात्म्यभावनामें समाहित होगा और मुक्त हो जायगा"

(उत्तरपक्ष) इस प्रमाणशून्य कथनमें कौन श्रद्धा करेगा? अर्थात् अपोहका स्वीकार समाधिप्राप्तिका कारण है, यह कथन अप्रामाणिक होनेसे अश्रद्धेय है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण नहीं हैं। यदि कहो कि इसमें बौद्ध आगम प्रमाण है, तो शब्दरूप होनेसे आगम भी किसी वस्तुको नहीं कह सकता यह बात तो तुमने ही अपने शिष्योंको सिखा दी है।

न चैवं चेतनो ग्राहयितुमपि शक्यते, स्ववाग्विरोधस्योद्भटत्वात् । तथाहि—

शब्दस्य कस्यचिदपि[1] वस्तुनि मानसिद्धा
बाधा[2]विधिव्यवहृतिः क्वचिदस्ति नो वा ?

साथ ही इस प्रकारकी सीख किसी सचेतन व्यक्तिको नहीं दी जा सकती, क्योंकि उत्कट स्ववचनविरोध हो जायगा। अर्थात् "आगमो न किञ्चिद् वक्ति" यह भी तो आगम ही है और कुछ विषयको भी कहता है। फिर "आगम किसी वस्तुको नहीं कहता" ऐसा कहनेमें स्ववचन विरोध क्यों न होगा ? एवं किसी शब्दद्वारा स्वलक्षणात्मक वस्तुमें प्रामाणिक विधि और निषेधका व्यवहार होता है या नहीं ? यदि होता है तो क्यों नहीं वे सम्पूर्ण दोष यहाँ भी हो जायँगे ? जो तुम्हारे द्वारा मेरे प्रति दिये गये हैं। अर्थात् अननुगत होनेसे स्वलक्षणात्मक वस्तु शब्दसङ्केतका विषय नहीं हो सकता और शाब्दज्ञानका भी विषय नहीं हो सकता। क्योंकि स्वलक्षणज्ञानको शब्दप्रयोगद्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है।

एवं अतद्व्यावृत्तिरूप अनुगतधर्मको मान कर भी स्वलक्षण वस्तु शब्दका वाच्य नहीं हो सकती। क्योंकि वस्तुभूत स्वलक्षण अतद्व्यावृत्तिरूप अलीक (मिथ्या) धर्मका आश्रय नहीं हो सकता है, इत्यादि दोष तुम्हारे पक्षमें भी हो जायँगे।

यदि कहो कि—स्वलक्षणात्मक वस्तुमें शब्दद्वारा विधि-निषेध व्यवहार नहीं होता—तो यहाँ स्ववचनविरोध स्पष्ट है। क्योंकि उक्त शब्दद्वारा भी वस्तुका ही व्यवहार किया गया है। इस प्रकार अवस्तुकी जगहपर वस्तुपदका सन्निवेश कर तुम्हारे ही श्लोकको तुम्हारे विरोधमें पढ़ा जा सकता है। जैसे—

शब्दस्य कस्यचिदपि वस्तुनि मानसिद्धा
बाधाविधिव्यवहृतिः क्वचिदस्ति नो वा ?

---

१ काचिदपि—इति क्वचित् पाठः ।

२ निषेधविधीत्यर्थः ।

अस्त्येव चेत्, कथमियन्ति न दूषणानि ?
नास्त्येव चेत्, स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः ॥
इति तत्रैव[1] विषयसञ्चारमात्रेण श्लोकः ।

न चास्माकमिव तवाऽप्यत्र मूकतैव शरणम् । सर्वथा वचनविरोधे ह्युदासीनस्य सा शोभते, न चात्र विधौ विरोधः कश्चित् । न च[2] त्वमुदासीनः, प्रयोजने प्रवृत्तत्वात् । तस्मादलमङ्गुलीदीपिकया ध्वान्तध्वंसविधिमनुष्ठायेति ।

अस्त्येव चेत्, कथमियन्ति न दूषणानि ?
नास्त्येव चेत्, स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः ॥

हमने जैसे तुम्हारी गाथाके प्रति मूकता गृहीत कर ली, वैसे ही विषय बदल कर पढ़ी गयी मेरी गाथाके प्रति तुम्हारी भी मूकता ही शरण नहीं बन सकती। क्योंकि हर हालतमें वचनविरोध होनेपर उदासीन हुए व्यक्तिके लिये ही वह मूकता शोभा देती है। यहाँ विधिपक्षमें तो कोई विरोध नहीं है और तुम उदासीन भी नहीं हो। क्योंकि अपोह-सिद्धिद्वारा कल्पनाजालका ध्वंस कर समाधिप्राप्तिरूप प्रयोजनमें प्रवृत्त हुए हो। इसलिये अङ्गुलीकी दीपिकासे अन्धकारको नष्ट करनेकी चेष्टा न करो।

अर्थात् 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इस अनुमानमें व्यतिरेकदृष्टान्तके रूपमें तुमने कूर्मरोमका दृष्टान्त दिया है। उसका यदि मैं निषेध करूँ तो कूर्मरोममें सत्त्वापत्ति हो जायगी, इस प्रकार उसे असत् माननेवाले मुझे स्ववचनविरोध हो जायगा। अतः मैंने मूकता स्वीकार कर ली। किन्तु तुम यहाँ मूकता का ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि "अपोहसिद्धि-

---

१ यहाँ बौद्धकारिका यह है—

धर्मस्य शब्दस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धा ।
बाधाविधिव्यवहृतिः क्वचिदस्ति नो वा ?
अस्त्येव चेत्, कथमियन्ति न दूषणानि ?
नास्त्येव चेत्, स्ववचनप्रतिरोध एव (सिद्धिः) ॥

२ न वा—इति शङ्करमिश्रसम्मतः पाठः ।

आगमस्य तत्त्वार्थपरिस्पर्शित्वविरोधे न स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रवृत्तिः सिध्यतीति प्रयोजनमस्मद्विचारस्यैव परं सुन्दरम् ।

तस्माच्छब्दैः किं वाच्यमित्यनुयोगे किं प्रतिभासात् ? अथाध्यवसायात् ? यद्वा तत्त्वतः ? इति विकल्पे विकल्पस्थोऽन्यापोढाकारः, अन्यापोढस्वलक्षणं, न किञ्चिदिति यत् क्रमेण प्रत्युक्तम्—तत्र प्रथमे समयविपर्यासः, विकल्पाकारस्य समयाविषयत्वात् ।

द्वारा कल्पनाजालके ध्वंसमें शब्दका विधिनिषेधव्यवहार नहीं होता" ऐसा कहनेवाले तुम्हें स्ववचनविरोध होगा ही ।

मेरे मतमें तो आगमको तत्त्वार्थप्रतिपादक न माननेपर स्वर्गार्थियों और मोक्षार्थियोंकी प्रवृत्ति ही न हो सकेगी। इसप्रकार आगमको प्रमाण माननेका प्रयोजन मेरे विचारानुसार ही परम सुन्दर है। अर्थात् स्वर्ग और मोक्षमें प्रवृत्तिरूप प्रयोजनसिद्धिके लिये मैं तत्त्वप्रतिपादनमें आगमको प्रमाण मानता हूँ। किन्तु आगमको प्रमाण नहीं माननेवाले तुम्हें अपोहसिद्धिद्वारा समाधिप्राप्तिरूप प्रयोजनकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि अपोहमें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हैं नहीं और आगमको तुम प्रमाण मानते नहीं ।

इसलिये, शब्दोंका वाच्य अर्थ क्या है ? नैयायिकद्वारा इस प्रश्नके किये जानेपर ज्ञानश्रीने तीन प्रकारके विकल्प किये हैं कि—१ शब्दजन्य ज्ञानका विषय क्या है ? यह प्रश्न है ? या २—शब्दजन्यप्रवृत्तिका विषय क्या है ? यह प्रश्न है ? अथवा ३—वस्तुतः शब्दका वाच्य क्या है ? यह प्रश्न है । और तीनोंका क्रमशः उत्तर देते हुए कहा है कि—यदि प्रथम प्रश्न हो तो उत्तर होगा कि सविकल्पकज्ञाननिष्ठ जो अन्यव्यावृत्त आकार, वही शब्दजन्य ज्ञानका विषय है । यदि द्वितीय प्रश्न हो तो उत्तर होगा कि अन्यापोढ स्वलक्षणात्मक वस्तुमें ही शब्दद्वारा प्रवृत्ति होती है । यदि तृतीय प्रश्न हो तो उत्तर होगा कि कोई भी वस्तु शब्दका वाच्य नहीं होती ।

किन्तु यहाँ ज्ञानश्रीके प्रथम उत्तरमें सङ्केतका विपर्यय (अभाव) हो

द्वितीये तु प्रवृत्तिविपर्यासः, अदृष्टे नियामकाभावात् ।

तृतीये स्ववाङ्निरोधः, अस्यैवार्थस्यानेन तत्त्वतावचनात् ।
अवचने वा तत्त्वतोऽनुत्तरत्वादित्युपसंहारः । तत् सिद्धमेतत्, न क्षणिकत्वमात्मनि बाधकमिति ॥

॥ इति क्षणभङ्गवादनिरासः ॥

जाता है। क्योंकि ज्ञानका आकार सङ्केतका विषय नहीं होता, किन्तु बाह्यवस्तु ही सङ्केतका विषय होती है। ऐसी स्थितिमें विकल्पगत आकार शब्दजन्य ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है।

द्वितीय उत्तरमें प्रवृत्तिका विपर्यय (अभाव) हो जाता है। क्योंकि स्वलक्षणात्मक वस्तुओंके विकल्पका अविषय होनेके कारण विकल्पद्वारा किस स्वलक्षणमें प्रवृत्ति हो और किसमें न हो, इसका नियामक नहीं होनेसे कहीं भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

तृतीय उत्तरमें स्ववचन विरोध हो जाता है। क्योंकि "तत्त्वतः कोई अर्थ शब्दका वाच्य नहीं होता है" इसी अर्थकी तात्त्विकताको "शब्दस्य किञ्चित् तत्त्वतो न वाच्यम्" यह आपका शब्द जब बता रहा है, तब कोई भी शब्द किसी अर्थको नहीं बताता, ऐसा कहनेमें स्ववचन विरोध अवश्य होगा। इससे बचनेके लिये यदि तृतीय प्रश्नका उत्तर ही न दो तो उत्तर न देनेसे अप्रतिभा नामक निग्रहस्थानसे निगृहीत हो जावोगे। इस प्रकार अपोहनिराकरणका यह प्रसङ्ग समाप्त होता है।

अतः यह बात सिद्ध हो गयी कि क्षणिकवाद आत्माकी सिद्धिमें बाधक नहीं हो सकता।

इति क्षणभङ्गवादनिरासः।

अथ बाह्यार्थभङ्गवादः

विज्ञानवादिनि जागरूके बाह्यमेव नास्ति, कुत आत्मेति चेत्, स तावदिदं पृष्टो व्याचष्टाम्—किं ते ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोरेवाभेदो विवक्षितः? उताहो अभिन्नजातीयत्वम्? अथ ग्राह्यांशस्यालीकत्वमिति?

तत्र प्रथमे साध्ये यः कश्चिद्धेतुरुपादीयते सहोपलम्भनियमो वा, ग्राह्यत्वं वा, प्रकाशमानत्वं वा, स व्यक्तमाभासः।

योगाचारमतखण्डन

(पूर्वपक्ष) विज्ञानवादीके सजग रहते बाह्य कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं है, फिर तदन्तर्गत आत्माकी सत्ता कैसे हो सकती है? अर्थात् एक विज्ञान ही परमार्थ सत् है, उससे भिन्न सभी बाह्य असत् हैं। तथा नैयायिकोंका आत्मा भी ज्ञानसे भिन्न होनेसे बाह्य और असत् है।

(उत्तरपक्ष) ऐसा कहनेवाला विज्ञानवादी इन प्रश्नोंका उत्तर कहे कि क्या उसे वस्तुभूत ग्राह्य (विषय) और ग्राहक-(ज्ञान) भागोंका अभेद विवक्षित है? या उन दोनोंके एक जातिका होना विवक्षित है? अथवा ग्राह्यांश (विषयभाग) का मिथ्यात्व अभिप्रेत है?

इनमें यदि प्रथम साध्य अभिप्रेत हो तो उसकी सिद्धिके लिये जो कोई हेतु दिया जायगा, वह चाहे सहोपलम्भनियम हो या ग्राह्यत्व हो अथवा प्रकाशमानत्व हो, वह स्पष्ट ही हेत्वाभास है, हेतु नहीं है। अर्थात् ज्ञान और विषय अभिन्न हैं, क्योंकि विषयके साथ ही ज्ञानका भी नियमतः भान विज्ञानवादी मानता है। एवं घटविषय घटज्ञानसे अभिन्न है, क्योंकि वह ग्राह्य है। तथा घटज्ञान घटसे अभिन्न है, क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाशक है। ये तीनों ही हेतु हेत्वाभास हैं।

क्योंकि आपके मतानुसार ग्राह्य और ग्राहकमें अभेद होनेसे परामर्श हेतु, पक्ष, साध्य और अनुमितिमें अभेद होगा, अतः इनमें परस्पर

तथाहि नीलधवलादिपरस्परविरुद्धाकारनिकरावगाहि विज्ञानमनुभूयते, तदिदं तस्य स्ववधाय कृत्योत्थापनम्।

यदि हि मिथः प्रत्यनीकधर्मानुल्लिखेत्, कथमेकं सत् तदात्मकं भवेत्? न चेदुल्लिखेत् कथं तदाकारं नाम? स्वसंवेदनस्यानुल्लिखितरूपाभावात्।

बाह्यस्यैवम्विधविरुद्धधर्माध्यासाद् भयम्, तथात्वेऽप्यभेदेऽर्थक्रियाचेतनप्रवृत्तीनां सङ्करप्रसङ्गात्, विवेचनानुपपत्तिप्रस-

---

हेतुहेतुमद्भाव कैसे हो सकता है? एवं नील, धवल, पीत आदि परस्पर विरुद्ध आकारोंका अवगाहन करनेवाला चित्ररूपका ज्ञान सबको अनुभूत होता है। जो उस ज्ञानके अपने ही वधके लिये कृत्याको जगानेके समान है। अर्थात् परस्पर विरुद्ध अनेक आकारोंको विषय करनेवाला एक चित्रज्ञान होता है। यहाँ यदि ग्राह्य-ग्राहकमें अभेद हो तो एक ज्ञान अनेक विरुद्धस्वरूपवाला कैसे हो सकता है?। अतः चित्रज्ञानको भी आकारभेदसे भिन्न मानना पड़ेगा। इसस्थितिमें चित्राकार एकज्ञान नहीं रह जायगा और स्वयं उसका ही विलय हो जायगा।

क्योंकि चित्रज्ञान यदि परस्पर विरोधी धर्मोंका उल्लेख करता है तो वह ज्ञान एक होता हुआ उन अनेक विरोधी धर्मोंसे अभिन्न कैसे हो सकता है? और यदि उन विरोधी धर्मोंका उल्लेख नहीं करता है तो वह नीलाकार धवलाकार आदि कैसे हो सकता है?

यदि कहें कि—बिना उल्लेख हुए ही नील धवल आदि विरोधी धर्म चित्रज्ञानके विषय होंगे—तो यह नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वप्रकाशपक्षमें विषयोंका उल्लेख किये बिना कोई ज्ञान ही नहीं नहीं होता है।

(पूर्वपक्ष) बाह्य वस्तुको ही विरुद्धधर्माध्याससे भय है। क्योंकि विरुद्धधर्मोंका अध्यास होनेपर भी यदि अभेद हो तो वस्तुओंमें अर्थक्रिया एवं उनमें चेतनप्रवृत्तिका सङ्कर हो जायगा। अर्थात् आगसे भी प्यासकी शान्ति और जलसे भी दाह होने लगेगा। इस प्रकार अर्थक्रिया

ज्ञाच, न तु विज्ञानस्य। न हि तस्यार्थक्रियाधीनं सत्त्वम्, अपितु प्रतिभाससमात्राधीनम्। नापि तत्रार्थक्रियार्थिनः काचित् प्रवृत्तिः, स्वरसवाहिविज्ञानप्रवाहातिरिक्ताया अर्थक्रियायास्तदर्थिनश्चाभावात्। विवेचनाभावश्च परमो निर्वाहः, स्वसंविदितरू (द्रू) पत्वादिति चेत्,

तत् किमङ्ग! परिणतशान्तेराश्रमपदमिव विज्ञानमासाद्य व्यालनकुलादेरिव नीलधवलादेः शाश्वतिकविरोधत्यागः? निभृतवैराणां तत्कलत्यागो वा?

का सङ्कर हो जायगा। एवं दाहके लिये जलमें तथा प्यासकी शान्तिके लिये आगमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होने लगेगी। इस प्रकार प्रवृत्तिका भी सङ्कर हो जायगा। एवं, अभेद होनेपर नील और धवलका विवेचन (भेदज्ञान) नहीं हो सकेगा।

विज्ञानको तो विरुद्धधर्माध्याससे कोई भय नहीं है। क्योंकि अर्थक्रियाके अधीन विज्ञानकी सत्ता नहीं है, किन्तु स्वप्रकाश होनेसे प्रतीतिमात्रके अधीन ही उसकी सत्ता है। साथ ही किसी अर्थक्रियाकी इच्छासे विज्ञानमें किसीकी प्रवृत्ति भी नहीं होती है, क्योंकि मेरे मतमें स्वरसवाही विज्ञानधाराके अतिरिक्त कोई अर्थक्रिया या उसका अर्थी व्यक्ति ही नहीं होता।

यदि "विरुद्धधर्मका अध्यास होनेपर भी विज्ञानमें अभेद माननेमें नीलपीतादि विषयके भेदसे विज्ञानका विवेचन (भेदज्ञान) नहीं हो सकेगा" यह अनुपपत्ति विज्ञानवादीके ऊपर दिया जाय तो यह विज्ञानवादकी परम साधिका ही है, बाधिका नहीं। क्योंकि विज्ञानवादमें नीलपीतादि विषय और उसके विज्ञानमें भी अभेद ही इष्ट है। एवं विज्ञानको जाननेके लिये भी स्वभिन्न विज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वप्रकाश होनेसे विज्ञान अपने आप विदितरूप होता है।

(उत्तरपक्ष) तो क्या? उच्चकोटिकी शान्तिवाले मुनिके आश्रमस्थानको पाकर सर्प और नेवलके समान विज्ञानको पाकर नीलधवलादि

न तावत् प्रथमः, परस्परनिषेधविधिनान्तरीयकविधिनिषेधयोरविरोधे जगति विरोधोच्छेदप्रसङ्गात् । न चैवमस्त्विस्त्युत्तरेऽपि निवृतिः, कथमप्युक्तरूपताया अनिवृत्तेः, तावन्मात्रशरीरत्वाच्च विरोधस्य । तत्सिद्धेरेव च भेदसिद्धिः । अतो न द्वितीयोऽपि ।

यस्तु बाह्ये विरोधपरिपालनाय विशेषो दर्शितः, स तेषामेवास्तु । यदि हि विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदसाधकत्वं प्रति

विरोधी धर्मोंका सदातन विरोध हट जाता है ? अथवा विरोधके रहते हुए भी विरोधका फल हट जाता है ? अर्थात् नीलधवलादि विरोधी विषयोंके कारण विज्ञानमें भेद नहीं आता ?

यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि परस्परके निषेध और विधि का व्याप्य जो परस्परका विधि और निषेध, उसमें यदि अविरोध हो जाय तो जगत्मात्रसे विरोधका उच्छेद हो जायगा । अर्थात् नीलत्व पीतत्वाभावका व्याप्य होता है और पीतत्व नीलत्वाभावका व्याप्य होता है । इस प्रकार परस्पर अत्यन्त विरोधी नील और पीतमें भी यदि विरोध हट जाय तो संसारसे विरोधका नाम ही हट जायगा ।

(शंका) विज्ञानवादमें सभी वस्तुके विज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण विरोधकी स्वतन्त्रसत्ताका उच्छेद हो जाना भी अभीष्ट ही है ।

(उत्तर) तुम्हारे इस उत्तरसे भी शान्ति नहीं मिल सकती है । क्योंकि नीलपीतादिमें किसी भी प्रकारसे परस्परविरहव्याप्यता (विरुद्धरूपता) की निवृत्ति नहीं हो सकती है । कारण, परस्पर विरहव्याप्यरूपता ही विरोधका स्वरूप है । एवं, नीलपीतादिके विरोधकी सिद्धि ही नीलपीतविषयक विज्ञानके भेदकी भी सिद्धि है । इसलिये "विरोधके रहते हुए भी विज्ञानमें भेद नहीं होता" यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है ।

जो तो बौद्धोंने नीलपीतादि बाह्यवस्तुमें विरोधकी रक्षाके लिये अर्थक्रियाप्रतिनियम (अर्थक्रियाकी व्यवस्था) को दर्शाया है, वह अर्थक्रियाप्रतिनियमरूप विशेष उन्हींके यहाँ रहे । क्योंकि "विरुद्धधर्माध्यास

समाश्वासः, किमर्थक्रियाप्रतिनियमोपन्यासेन ? न चेत्, तथापि किं तेन ? सोऽपि ह्यर्थक्रिययोर्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे सति स्यात् ।

अन्यच्च, यथा बाह्येऽर्थक्रियाप्रतिनियमो न स्यादिति दण्डस्तथा ज्ञानेऽपि प्रतिभासनियमो न स्यादिति दण्ड एव ।

क्व प्रतिभासासाङ्कर्यनियमः, सहैव प्रतिभासोऽपि स्यादिति चेत्, न सहानुपलम्भमसाङ्कर्यं ब्रूमः, किन्तु नीलस्यैव

वस्तुभेदका साधक है" इस बातपर यदि विश्वास है तो भेदसिद्धिके लिये अर्थक्रियाके प्रतिनियमको उपस्थित करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि उक्त बातपर विश्वास नहीं है तो भी अर्थक्रियाप्रतिनियमको भेद-सिद्धिके लिए उपस्थित करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वस्तुओं में अर्थक्रियाकी व्यवस्था भी तभी हो सकती है, जबकि विरुद्धधर्माध्यास के कारण उनमें भेद हो। अर्थात् विरुद्धधर्माध्यास ही वस्तुतः भेदका साधक होता है।

दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार "बाह्यमें भेद न होनेपर उसमें अर्थक्रियाकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी" ऐसा विपक्षबाधक तर्क हो सकता है, वैसे ही ज्ञानके सम्बन्धमें भी तर्क दिया जा सकता है कि "ज्ञानमें यदि भेद न हो तो प्रतिभासकी भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी"। अर्थात् नील-पीतज्ञानमें यदि भेद न हो तो नीलज्ञानमें पीतका भान और पीत-ज्ञानमें नीलका भान होने लगेगा।

(शंका) प्रतिभासोंमें असाङ्कर्यका नियम ही कहाँ है ? क्योंकि कभी अकेले नीलका और कभी अकेले पीतका प्रतिभास होता है तथा कभी नील-पीत दोनोंका साथ साथ संकीर्णरूपसे भी प्रतिभास होता है। अतः ज्ञानमें भेदसिद्धि करनेके लिये उक्त प्रकारसे प्रतिभासके असांकर्य-नियमको तर्कके रूपमें नहीं उपस्थित किया जा सकता है।

(उत्तर) हमारे कथनानुसार प्रतिभासके असांकर्यका यह अर्थ नहीं है कि कई विषय एक साथ उपलब्ध (भासित) नहीं होते। किन्तु साथ भासित होनेवाला भी नील पीतरूपसे और पीत नीलरूपसे भासित

पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेनानुपलम्भम् । स एव मूलं सर्वविरोधानाम् । अन्यथोपलम्भानुपलम्भयोरप्यसिद्धिरेव ।

यदपि नोपलभ्यत इत्युच्यते तदप्युपलभ्यत एव । यदिदमश्वादिकमुपलभ्यते तन्नोपलभ्यत इत्युक्त्यैव निर्वृत्तेः । तेनात्मना नोपलभ्यत इति चेत्, तत् किं सहोपलम्भेऽपि नीलात्मना पीतमुपलभ्यते यतो न विरोधः स्यात् ?

नहीं होता, इसे ही हम असांकर्य कहते हैं। और यही असांकर्य सभी विरोधोंका (बाह्य वस्तुओंके विरोधका और ज्ञानके भी विरोधका) मूल है।

यदि केवल सहोपलम्भके कारण अविरोध होगा तो उपलम्भ और अनुपलम्भमें भी विरोधकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि उपलम्भ और अनुपलम्भकी भी एक साथ प्रतीति होती है। क्योंकि जो गवादिकी अनुपलब्धि कही जाती है, वह भी एक प्रकारसे उपलब्धि ही है। कारण, जो यह अश्वादिकी उपलब्धि है, उसे ही हम गवादिकी अनुपलब्धि कहकर अभिव्यक्त करते हैं। अथवा जो अश्वादिकी उपलब्धि कही जाती है, वह भी एक प्रकारसे अनुपलब्धि ही है। क्योंकि गवादिकी अनुपलब्धिको ही हम अश्वादि-उपलब्धिशब्दसे अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार सहप्रतीतिके कारण उपलम्भ और अनुपलम्भ भी परस्पर अविरोधी होने लगेंगे।

यदि कहें कि—उपलम्भ और अनुपलम्भमें अविरोधका प्रसङ्ग देना तब समुचित होता, जब कि जिसरूपसे अश्वकी उपलब्धि होती है, उसीरूपसे उसकी अनुपलब्धि भी होती, किन्तु ऐसा न होकर अश्वत्वरूपसे अश्वकी उपलब्धि होती है और गोत्वरूपसे उसकी अनुपलब्धि होती है। अतः उक्त विभिन्न प्रकारसे उपलम्भ और अनुपलम्भकी सहप्रतीति दिखलाकर उसमें विरोधकी असिद्धि नहीं कही जा सकती है। अर्थात् एक ही रूपसे उपलम्भ और अनुपलम्भ दोनोंके होनेमें परस्पर विरोध होगा ही—तो क्या नील और पीतका साथ-साथ उपलम्भ होनेपर भी नीलरूपसे पीत उपलब्ध होता है कि उनमें परस्पर विरोध न हो ?

तस्मादुभावपि विरोधौ समौ क्षमौ चाभेदविसर्जने। केवलमेकस्य प्रौढिः सुभगाभिक्षुकन्यायेन यदि स्यात्।

एतेन विवेचनाभावोऽपि निरस्तः, आकारयोरसम्भेदेन वेदनस्यैव विवेचनत्वात्।

अपि च क्षणिकतायामेकपुरुषापेक्षयाऽपि बाह्यस्यापि

इसलिए बाह्यवस्तुका पारस्परिक विरोध तथा नील-पीतादिविषयके विरोधसे नीलपीतादिविषयक उक्त समूहालम्बनात्मकज्ञानका विरोध भी समानरूपसे बाह्यवस्तुओंमें और उक्त ज्ञानमें भी अभेदको दूर करनेमें समर्थ होंगे। इनमें यदि कुछ अन्तर होगा तो यही कि सुभगाभिक्षुकन्यायसे तुम्हारेद्वारा भी बाह्यवस्तुओंका भेद सम्मत होनेके कारण बाह्यविरोधमें प्रौढ़ता है और उक्त प्रकारसे मेरे द्वारा आपादित ज्ञान-भेदके तुम्हारेद्वारा असम्मत होनेके कारण ज्ञानगत विरोध अप्रौढ़ है। अर्थात् जैसे, भिक्षुको विदा करनेमें भी अभागिनीकी प्रधानताको न सहकर कोई सुभगा स्वयं ही भिक्षुको बिदाकर अपनी प्रधानता दिखलाती है, वैसे ही तुम बाह्यमें अभेद दूर करनेमें बाह्यगत विरोधको प्रधानता देना चाहते हो और उक्त प्रकारसे ज्ञानमें अभेद दूर करनेके लिए आपादित ज्ञानगत विरोधसे मुख मोड़ते हो।

पूर्वोक्त प्रकारसे विषय भेदसे प्रतिभास-भेदके सिद्ध कर दिये जानेके बाद विवेचनाभाव स्वीकार करना भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि नील-पीत आदि आकारोंकी असंकीर्णरूपसे प्रतीति ही तो नीलविज्ञान और पीतविज्ञानका विवेचन है। अर्थात् विज्ञानके नील और धवल आदि आकारोंमें जब पार्थक्य सिद्ध है, तब नील और धवल आकार-वाले विज्ञानमें भी भेद सिद्ध होकर विवेचन सिद्ध ही हो जाता है।

एवं क्षणिकवादमें एकपुरुषकी दृष्टि से बाह्यपदार्थका भी विवेचन कैसे हो सकेगा? अभिप्राय यह है कि क्षणिक होनेके कारण भेद-ग्रहकालमें बाह्यवस्तुका विनाश हो जानेसे नील-पीत आदि बाह्यपदार्थोंका विवेचन (भेदग्रह) वह पुरुष कैसे कर सकेगा?

यदि कहें कि—जिस नील-पीतका जिस क्षणमें एक पुरुषके द्वारा

कुतो विवेचनम् ? नानापुरुषापेक्षयाऽपि सन्दिग्धम् । परेण परस्यावेदनात् क सन्देह इति चेत्, अभेदेनैव तत्त्वविवेचनं साध्यम्, तथा च किं तेनोपन्यस्तेन ?

तज्जातीयस्य तु बाह्यवद् विज्ञानस्यापि विवेचनमेवेति ।

सहोपलम्भ होगा, उसी नील-पीतका उसी क्षणमें दूसरे पुरुषके द्वारा विवेचन (भेदज्ञान) हो सकता है—तो भी "अन्य पुरुषद्वारा उस क्षणमें नील-पीतका विवेचन हुआ ही" ऐसा निश्चय नहीं होनेसे सन्देहास्पद है। और सन्देहात्मक विवेचन तो ज्ञानके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। क्योंकि नील-पीतादि बाह्यके समान ही एक साथ उपलब्ध होनेवाले नील और उसके ज्ञानमें भी अन्य पुरुषद्वारा विवेचन हो सकता है।

यदि कहें कि—अन्यसे अन्यका ज्ञान नहीं हो सकनेसे ज्ञानमें विषयसे विवेचन (भिन्नत्व) का सन्देह भी कैसे हो सकता है ? एवं ज्ञान यदि अपने विषयसे भिन्न होता तो वह ज्ञान उस विषयका प्रकाशक ही नहीं होता। क्योंकि परस्पर भिन्नमें प्रकाश्यप्रकाशकभाव माननेमें अश्व भी गौका प्रकाशक होने लगेगा। अतः प्रकाश्यप्रकाशकभाव होनेके कारण विषय और ज्ञानमें कथमपि विवेचन (भिन्नत्व) का सन्देह भी नहीं हो सकता है—तो आप अभेदके द्वारा ही नीलविषय और उसके ज्ञानमें अविवेचन सिद्ध करेंगे। ऐसी स्थितिमें ज्ञानका अपने ग्राह्यविषयके साथ अभेद सिद्ध करनेके लिये विवेचनानुपपत्तिको हेतु बनानेसे भी क्या लाभ होगा ? अर्थात् ज्ञान और विषयमें पहले विवेचनानुपपत्ति सिद्ध हो तो अभेद सिद्ध होगा और पहले अभेद सिद्ध हो जाय तो अविवेचन सिद्ध हो। इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष होनेसे ज्ञान और विषयका अभेद और अविवेचन नहीं सिद्ध हो सकेगा।

यदि कहें कि—क्षणिक होनेके कारण भेदज्ञान होनेके कालमें नष्ट हो जानेसे एकसाथ उपलब्ध हुए नीलव्यक्ति और पीतव्यक्तिका उस पुरुष द्वारा परस्पर विवेचन (भेदग्रह) भले मत हो, फिर भी "नीलजातीय पीतजातीयसे भिन्न है" इस प्रकारसे बाह्यवस्तुका विवेचन तो उस पुरुष द्वारा हो सकता है—तो इस प्रकारसे विवेचन विज्ञानका भी हो ही

स्वसंवेदनबाधितोऽयं विरुद्धधर्माध्यासो न भेदसाधक इति उष्ट्रलगुडकम्, संवेदनेनैवास्य साधितत्वात्।

हिनस्तु तर्हि प्रकाशमानताऽनेकत्वं विरुद्धधर्माध्यासोऽप्येकताम्, तथाप्येकत्वानेकत्वविकलनीलाद्याकारप्रकाशस्वरूपे किमायातमिति चेत्, तदिदं भीतैः क्षेत्रनिलायनम्। नियताकारत्वमेव ह्येकत्वमनियताकारत्वं चानेकता। तन्नि-

---

सकता है। अर्थात् "नीलज्ञानजातीय पीतज्ञानजातीयसे भिन्न है" ऐसा विवेचन विज्ञानमें भी हो जायगा, इसमें कोई बाधा नहीं है।

यदि कहें कि—एक साथ नील और पीतको विषय बनानेवाले समूहालम्बन ज्ञानके एकत्वमें अनुभव ही प्रमाण है। अतः नील-पीत आदि विरुद्ध धर्मोंके अध्याससे उक्त समूहालम्बनात्मक ज्ञानमें भेद साधन करना अनुभवसे बाधित है—तो यह कथन उष्ट्रलगुडकन्यायका ही अनुसरण करता है। क्योंकि अनुभव (संवेदन) ने ही नीलपीतका भेद सिद्ध किया है, फिर वही भेदका बाधक कैसे हो सकता है? अर्थात् "कुरूपो हन्यताम्" यह सुनकर कुरूपको मारनेके लिये जैसे (स्वयं कुरूप) ऊँट ही डण्डा उठा ले, भेदको सिद्ध करनेवाले संवेदन (अनुभव) को ही भेदका बाधक बताना वैसाही है!

(शङ्का) यद्यपि उक्त समूहालम्बनात्मक ज्ञान अनेक नहीं हो सकता, क्योंकि विषयके भिन्न होनेपर भी अपने स्वरूपमें वह ज्ञान एक ही भासित होता है। एवं नील-पीत आदि परस्पर विरोधी धर्मोंके अध्यासके कारण वह एक भी नहीं हो सकता है। तथापि एकत्व-अनेकत्व दोनोंसे अलिप्त रहते हुए नीलपीतादि आकारवाला केवल प्रकाशस्वरूप उक्त समूहालम्बन ज्ञानको माननेमें क्या आपत्ति है?

(उत्तर) आपका यह कथन बर्बरोंके द्वारा घासके साथ-साथ फसल भी नष्ट कर देनेके समान है। अर्थात् प्रकाशस्वरूपकी रक्षाके लिये एकत्व-अनेकत्वका निराकरण कर रहे हो। किन्तु एकत्व-अनेकत्वके खण्डित कर दिये जानेपर प्रकाशस्वरूपकी भी सत्ता स्वयं विलीन हो जाती है। क्योंकि नियत आकारका होना ही प्रकाशस्वरूपका एकत्व है और अनियत आकारका होना ही उसका अनेकत्व है। इसलिये एकत्व-अनेकत्वकी

वृत्तौ च न नीलाकारं नापि नीलपीताद्याकारमित्यनाकारमेवावशिष्यते।

स्यादेतत्, पारमार्थिको विरुद्धधर्माध्यासो भेदहेतुरयं काल्पनिक इति चेत्, एवं तर्हि सुतरामयत्नसिद्धं स्फटिकवद् बोधस्य निराकारशुद्धत्वम्। आकारनिकरस्त्वनात्मेव स्फुरतीत्युभयथैव कालात्ययापदिष्टाः सहोपलम्भादयः।

अपि च आस्तां तावद् विरुद्धधर्माध्यासचिन्ता। योऽयं

निवृत्ति हो जानेपर वह प्रकाशस्वरूप न नियतरूपसे नीलाकार ही हो सकेगा और न नील-पीतादिरूप अनियत आकारवाला ही हो सकेगा। इस प्रकार निराकारता ही शेष रह जाती है। अतः उक्तसमूहलम्बनज्ञानको नीलपीताद्याकार-प्रकाशस्वरूप कहना व्याहत है।

(पूर्वपक्ष) अस्तु, पारमार्थिक विरुद्धधर्माध्यास भेदका हेतु हो सकता है, परन्तु यह तो काल्पनिक है। अर्थात् नीलपीतादि तो अवास्तविक हैं, अतः उन्हें लेकर विरुद्धधर्माध्यास भी अवास्तविक ही है। इसलिये अवास्तविक (काल्पनिक) विरुद्धधर्माध्याससे ज्ञानमें भेद कैसे सिद्ध हो सकेगा?

(उत्तरपक्ष) ऐसा कहो तो ज्ञानमें भी स्फटिकके समान बिना प्रयासके ही अच्छी तरहसे निराकार शुद्धत्व सिद्ध हो गया। क्योंकि नीलपीतादि आकारसमूह तो ज्ञानसे बहिर्भूत ही स्फुरित होता है। इस प्रकार नीलपीताद्याकार पारमार्थिक हो या काल्पनिक हो, दोनों ही दशाओंमें अभेदसाधक पूर्वोक्त सहोपलम्भ आदि हेतु बाधित हैं।

अर्थात् नीलपीतादि आकार यदि पारमार्थिक है तो परमार्थतः विरोधी नीलपीतादि धर्मोंका परस्परभेद, एवं उन्हें अवगाहन करनेवाले समूहालम्बन ज्ञानके साथ उन धर्मोंका भेद, तथा उन विरोधी धर्मोंके कारण समूहालम्बन ज्ञानमें भी स्वतः भेद सिद्ध हो जानेसे अभेद बाधित है। यदि नीलपीतादि अपारमार्थिक है तो पारमार्थिक ज्ञानके साथ अपारमार्थिक नीलपीतादिका अभेद सुतरां बाधित है।

एवं पूर्वोक्त विरुद्धधर्माध्यासका विचार छोड़ भी दिया जाय, तो भी

ग्राह्यग्राहकभागभेदो ग्राह्यनीलादिभेदो वा चकास्ति, स किं सत्योऽसत्यो वा ? सत्यत्वे स एव दोषः । असत्यत्वे नाय-मात्मा विज्ञानस्येत्यनात्मन्यपि सहोपलम्भनियमादयोग्यता इत्यनेकान्ताः ।

भेदो न प्रथत एवेति चेत् , एवं तर्हि अस्तु तावत् सर्व-जनीनप्रतीतिविरोधः स्ववाग्विरोधो वा । असिद्धास्तर्हि हेतवः । न हि भेदाप्रथने सहार्थं तद्व्याप्यतां वा पश्यामः । तदस्फुरणेऽपि पक्षादिप्रविभागोऽपि कथम् ? किं च बोधयितुं

जो यह ग्राह्यभाग (विषय) और ग्राहकभाग (ज्ञान) का भेद तथा नीलादि विषयोंका पारस्परिक भेद भासित होता है, वह क्या सत्य है ? अथवा असत्य है ? यदि भेद सत्य हो तो ग्राह्य-ग्राहकका तथा नील-पीतादि ग्राह्योंका अभेद बाधित ही हो गया । यदि यह भासमान भेद असत्य हो तो इस असत्य भेदका सत्य ज्ञानके साथ तादात्म्य (अभेद) नहीं हो सकता है । इस प्रकार तादात्म्यरूप (अभेद) साध्यके नहीं रहनेपर भी सहोपलम्भरूप हेतुके होनेसे पूर्वोक्त सहोपलम्भ हेतु व्यभि-चारी है । अतः विषय और ज्ञानका अभेद सिद्ध करनेमें यह हेतु सर्वथा अयोग्य है ।

यदि कहो कि—ग्राह्यग्राहकका भेद अथवा नीलपीतादिका भेद भासित ही नहीं होता है—तब तो सर्वजनीन प्रतीतिका विरोध तथा स्ववचनका विरोध हो जायगा । अर्थात् सभीको ही उक्त भेदकी प्रतीति होती है । इस प्रकार सर्वजनीन प्रतीतिका विरोध हो जाता है । एवं भेदकी प्रतीति न होनेपर "भेदो न प्रथते" यह वचन भी तुम कैसे कह सकते हो ?

ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त सहोपलम्भ आदि हेतु भी स्वरूपासिद्ध हो जाते हैं । क्योंकि भेदकी प्रतीति न होने पर सहोपलब्धिका कोई अर्थ ही नहीं है । कारण, अभिन्न वस्तुमें साहित्यका व्यवहार नहीं होता है तथा भेदकी प्रतीति न हो तो सहोपलम्भरूप हेतु अभेदरूप साध्यका व्याप्य भी नहीं हो सकता है । क्योंकि भेदमें ही व्याप्य-व्यापकभाव होता है ।

प्रवृत्तोऽसि किमर्थं च ? अन्वयव्यतिरेकाप्रतीतौ किं च हेतोर्बलम् ? कुतश्च विप्रतिपत्तिः कीदृशे चेति ? सोऽयं विचारमारभते, भेदं तु सांवृतमपि नेच्छति, नूनमुन्मत्तोऽप्यनेन जितः।

विकल्पारूढ एव भेदो व्यवहाराङ्गं नानुभवारूढ इति चेत्, सोऽपि सत्योऽसत्यो वा भासते न वेति विकल्पान् नातिवर्तते।

एवं भेदके अस्फुरणमें पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त आदिका विभाग नहीं हो सकनेसे अनुमानकी प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? एवं किसे जनानेके लिये अनुमानमें प्रवृत्त हुए हो ? क्योंकि तुम्हारे मतमें वादि-प्रतिवादीमें भी भेद नहीं है। एवं तत्त्वनिर्णय विजय आदि उद्देश्योंके असत् होनेसे किस प्रयोजनके लिये अनुमानमें प्रवृत्ति होगी ?

एवं भेदके अभावमें अन्वय-व्यतिरेककी भी प्रतीति नहीं हो सकनेसे पक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्व आदि हेतुका बल भी कैसे हो सकेगा ? एवं विचार-प्रवर्तक विप्रतिपत्ति भी कैसे हो सकेगी ? क्योंकि भेदके बिना प्रतीतियोंमें भी विरोध नहीं हो सकेगा। विरुद्ध प्रतिपत्ति ही तो विप्रतिपत्ति कहाती है। साथ ही भेदके अभावमें विप्रतिपत्तिके विषय भी क्या होंगे ? इस प्रकार यह वादी विचार तो प्रारम्भ करता है किन्तु विचारके लिये अपेक्षित भेद को प्रतीयमान भी नहीं मानना चाहता है। निश्चित ही, इसने नैयायिकको कौन कहे उन्मत्तको भी जीत लिया है।

यदि कहो कि—सविकल्पकज्ञानका विषय (काल्पनिक) जो भेद, वही पूर्वोक्त विविध व्यवहारोंके लिये अपेक्षित है। इसलिये व्यवहारों की उपपत्तिके लिये भेदको निर्विकल्पकज्ञानका विषय (पारमार्थिक) माननेकी आवश्यकता नहीं है—तो वह सविकल्पकज्ञान का विषयभेद भी सत्य है या असत्य है ? तथा भासित होता है या नहीं भासित होता, इत्यादि विकल्पोंसे नहीं बच सकता है। अर्थात् भेद यदि सत्य है और भासित होता है तो हमारा ही अभीष्ट सिद्ध हुआ। सत्य भी भेद यदि

असन्नेवास्फुरन्नेवाध्यवसीयत इति चेत्, अध्यवसीयत इति विवरणार्हमेतत्। तद्विषयव्यवहारजननमध्यवसायार्थ इति चेत्, व्यवहारोऽपि यद्यज्ञानरूपः कथमसंस्तेन जन्यताम्? ज्ञानरूपश्चेत्, कथं नियामकं विना तद्विषयः? स्वकारणसामग्रीसामर्थ्यादिति चेत्, सोऽयं व्यवहृतिरूपज्ञानालीकभेदयोर्नियामकान्तराभावेऽपि कारणसामर्थ्यमाश्रित्य विषयविषयिभावमिच्छति न त्वनुभवानुभाव्ययोरिति क्षीरं विहाय रुचिररोचकग्रस्तस्य सौवीरे।

भासित न हो तो अभासमानका व्यवहार नहीं हो सकनेसे भेदका व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। यदि असत्य भेदको भासित हुआ मानो तो तुम्हारे मतानुसार विषय और ज्ञानमें अभेद होनेसे असत्य ही हो जायगा। यदि उस भेदको असत्य मानते हुए अभासमान भी मानो तो भी पूर्ववत् भेद-व्यवहार लुप्त हो जायगा। क्योंकि जो भासित ही नहीं होता उसका व्यवहार कैसे हो सकेगा?

यदि कहो कि—असत् होते हुए भी और निर्विकल्पकद्वारा अभासमान होते हुए भी भेदका अध्यवसाय होता है—तो अध्यवसायका ही अर्थ यहाँ विचारणीय है। अर्थात् सविकल्पकद्वारा भेदाध्यवसाय होने का क्या अर्थ है?

यदि कहो कि—भेदविषयक व्यवहार करना ही अध्यवसायका अर्थ है—तो आपके मतानुसार असत् होनेसे वह व्यवहार उस सविकल्पकसे कैसे उत्पन्न हो सकेगा? यदि वह व्यवहार ज्ञानरूप हो तो किसी नियामकके विना असत् और अभासमान भेद उसका विषय कैसे हो सकेगा?

यदि कहो कि—व्यवहारस्वरूपज्ञान अपने कारणबलसे ऐसा ही उत्पन्न होता है कि अलीकभेदको भी अपना विषय बना लेता है—तो यह किसी अन्य नियामकके अभावमें भी कारणसामर्थ्यका आश्रयकर व्यवहाररूप ज्ञान और मिथ्याभेदमें तो परस्पर विषय-विषयिभाव (ग्राह्य-ग्राहकभाव) चाहता है, किन्तु निर्विकल्पक और वस्तुभूत

भेदोऽपि विकल्पाकार, न तु बाह्य इति चेत्, यद्यसन्नेवासौ, कथं विकल्पाकारः ? तदाकारश्चेत्, कथमसन्निति परिभावय ।

अस्तु तर्हि सन्नेवेति चेत्, नन्वद्वयदर्शि चेद् विज्ञानम् कथं भेदप्रथा ? आकारद्वयदर्शि चेत्, कथमेकं सद्द्वयात्मकम् ? चित्राकारमिति चेत्, चित्रमेकमनेकं वेति विकल्पगिलितमेव

नीलादिमें ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं चाहता। इस प्रकार अरुचिरोगसे ग्रस्त इस वादीकी रुचि दूध छोड़कर सौवीर[1] (कांजी) में ही हो रही है।

यदि कहो कि—नील-पीतादिका भेद तथा स्वयं नील-पीतादि भी सविकल्पकद्वारा भासित तो होता है किन्तु वह भी विकल्पका ही आकार है, न कि उससे भिन्न बाह्य वस्तु है—तो यदि वह भेद असत् ही है तो वह सत्रूप विकल्पका आकार कैसे हो सकता है ? यदि वह विकल्पका आकार है तो वह असत् कैसे हो सकता है ? यह विचार करो।

इन दोषोंसे बचनेके लिये यदि भेदको सत् ही मानो तो यदि वह विज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) नील-पीतरूप दोनों आकारोंको अपना विषय न बनावे तो उनके भेदका ज्ञान कैसे करायेगा ? यदि वे दोनों आकार सविकल्पक ज्ञानके विषय होते हों तो एक विज्ञान (विकल्प) नील-पीतरूप विरुद्ध दो आकार का कैसे होगा ?

यदि कहो कि—वह विज्ञान न एक आकारवाला है और न दो आकारवाला, किन्तु इन दोनोंसे विलक्षण चित्राकार है--तो वह चित्र भी एक है ? या अनेक है ? इस प्रकारके विकल्पद्वारा वह चित्राकार भी तुम्हारे देखते ही निगल लिया गया। क्योंकि यदि वह चित्राकार अनेक हो तो एक विज्ञानके साथ उसका तादात्म्य (अभेद) कहाँ हो सकेगा ? यदि तादात्म्यकी उपपत्तिके लिये नील-पीतादि अनेक आकारोंके समान विज्ञानको भी अनेक मानो तो चित्राकारका भान कहाँ हो

[1] सौवीर = फटनेके कारण दूधका निकला हुआ पानी।

तव पश्यतः । अनेकत्वे क्व एकविज्ञानतादात्म्यम् ? विज्ञानस्यापि यावदाकारमनेकत्वे क्व चित्राकारसम्वेदनम् ? स्वस्वमात्रमग्नत्वात् । एकत्वे क्व भेदप्रतीतिः ?

अनीलाद्यनेकव्यावृत्तिकृतोऽनेकत्वाध्यवसाय एवेति चेत्, अतादात्म्ये कथं व्यावृत्तीनामुल्लेखः ? तादात्म्ये कथमनेकत्वम् ? एकत्वेऽपि क्व तत्कृतोऽपि भेदाध्यवसायः ? उल्लेखोऽयमस्य विज्ञानस्य यदनेकत्वं नाम, न पुनस्तत्त्वान्तर-

---

सकेगा ? क्योंकि प्रत्येक विज्ञान नील पीत रक्त आदि अपने-अपने आकारोंके साथ पृथक्-पृथक् सम्बद्ध होनेके कारण सभी विज्ञान एकैकाकार ही होंगे, चित्राकार कोई भी नहीं हो सकेगा। यदि वह चित्राकार एक हो तो उस विज्ञानद्वारा नील और पीत आदिकी तथा उनके भेदकी प्रतीति कहाँ हो सकेगी ?

यदि कहो कि—जैसे न्यायमतमें नील-पीतादिसे विलक्षण चित्ररूप माना गया है, वैसे ही तुम्हारे मतमें भी समूहालम्बन विज्ञानका नीलादि आकारोंसे विलक्षण एक चित्राकार माना गया है और उस चित्राकारके एक होनेपर भी अनीलादि अनेक व्यावृत्तियोंके कारण ही उस चित्राकार विज्ञानमें अनेकत्व (भेद) का उल्लेख होता है—तो वे व्यावृत्तियाँ यदि विज्ञानसे भिन्न हों तो विज्ञानद्वारा उनका ग्रहण कैसे हो सकता है ? और ग्रहण नहीं होनेपर व्यावृत्तियोंके कारण भेदका भी उल्लेख नहीं हो सकता है। व्यावृत्तियोंका यदि विज्ञानके साथ तादात्म्य हो तो विज्ञानके एक होनेसे व्यावृत्तियोंमें भी अनेकत्व (भेद) कैसे हो सकेगा ? यदि विज्ञानके समान व्यावृत्तियोंमें भी एकत्व हो तो व्यावृत्तियोंके कारण विज्ञानद्वारा पूर्वोक्त भेदाध्यवसाय (अनेकत्वोल्लेख) भी कैसे हो सकेगा ?

यदि कहो कि—विज्ञानद्वारा भासित होनेवाला जो अनेकत्व है, वह काल्पनिक उल्लेखभर है न कि वास्तविक है। इसलिये उस काल्पनिक अनेकत्वसे विज्ञानके वास्तविक एकत्वमें कोई बाधा नहीं आ सकती है—तो वह काल्पनिक अनेकत्व विज्ञानका स्वरूप है अथवा अस्वरूप है ?

मिति चेत्, स्वरूपमस्वरूपं वेति वाच्यम्। आद्ये अनेकस्वरूपमेकमिति कोऽन्यो वदेदसुस्थात्। द्वितीयस्त्विष्यत एवास्माभिः, किं तु त्वयेष्यताम्। भ्रान्तिरसाविति चेत्, तस्यामपि स्वरूपमस्वरूपं वा प्रकाशेत, प्रकारान्तराभावादिति।

स्यादेतत्, यथाऽतत् तत्तया परिस्फुरदपि न वस्तुगत्या तदेव, तथा तदप्यतत्तया परिस्फुरदपि नातदेव। ततः स्वरूपस्यातत्तया प्रथनेऽपि न काचिद् ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति चेत्,

---

यदि इसमें प्रथम पक्ष मानो तो अनेकत्वको विज्ञानका स्वरूप बताते हुए "विज्ञान एक है" ऐसा प्रमत्तके सिवाय दूसरा कौन कह सकता है? द्वितीय पक्ष तो हमें इष्ट ही है। और मैं चाहता हूँ कि तुम्हें भी इष्ट हो जाय। अर्थात् अनेकत्व यदि ज्ञानका अस्वरूप होता हुआ ज्ञानसे उल्लिखित हो तो भेदमें भी ग्राह्य-ग्राहकभाव होनेसे मेरा अभीष्ट सिद्ध ही हो गया, और तुम्हारे लिये तो यह अत्यन्त अनिष्ट ही हो गया।

यदि कहो कि—वह चित्राकार ज्ञान सविकल्पक होनेसे भ्रमात्मक है, इसलिये उसमें अनेकत्व असत् ही प्रकाशित होता है। अतः उससे ज्ञानगत वास्तविक एकत्वको कोई विरोध नहीं है—तो भ्रान्ति भी ज्ञान ही है, इसलिये उसमें भी "वह अनेकत्वस्वरूप होकर अथवा अस्वरूप होकर प्रकाशित होगा" यह पूर्वोक्त विकल्प बना ही रहा। क्योंकि स्वरूप और अस्वरूपके अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार हो ही नहीं सकता है।

(पूर्वपक्ष) अस्तु, जैसे असत् (अरजत) भी शुक्तिस्वरूप तद्रूप (रजतस्वरूप) से स्फुरित होता हुआ भी वस्तुतः तत् (रजत) ही नहीं हो जाता, वैसे ही चित्रस्थलमें तद् (एक) भी विज्ञान अतत् (अनेक) रूपसे स्फुरित होता हुआ भी वस्तुतः अनेक नहीं हो जाता है। अतः चित्रस्थलमें विज्ञानस्वरूपके नील-पीतादि अनेक आकारसे भासित होनेपर भी विज्ञानस्वरूपकी ग्राह्यतामें कोई क्षति नहीं होती है। अर्थात् जैसे शुक्ति शुक्तिरूपमें गृहीत हो अथवा रजतरूपमें गृहीत हो, दोनों ही

यद्यतत्ताऽपि परिस्फुरन्ती स्वरूपमेवास्य स्यात्, स्यादप्यस्योपन्यासस्य प्रस्तुतोपयोगः। अस्वरूपस्य कथं प्रकाश इति चेद्, यद्यपि तथा वक्ष्यामः, तथाप्यतत्ता कथं तस्य स्वरूपमितीतोऽपि दीयतां दृष्टिः। कश्चास्वरूपस्फुरणे दोषः ?

नायं भिन्नयोर्वेद्यवेदकभावो व्यापारनिबन्धनः, नियतस्य तस्याभावात्। नापि तज्जातिनिबन्धनः, कश्चित् कश्चित्

दशाओंमें शुक्तिकी ग्राह्यतामें कोई आँच नहीं आती है, वैसे ही विज्ञान भी एक आकारमें या नील-पीतादि अनेक आकारोंमें गृहीत होनेपर भी विज्ञानकी ग्राह्यता अक्षुण्ण रहती है।

(उत्तरपक्ष) इस कथनका भी तुम्हारे प्रस्तुत पक्षमें उपयोग तब होता, जब कि स्फुरित होती हुई अतत्ता (अनेकता) भी विज्ञानका स्वरूप ही होती। क्योंकि स्फुरित होनेवाली अनेकता यदि विज्ञानका स्वरूप न हो तो "तत्ता या अतत्ता (एकता या अनेकता) हर दशामें विज्ञानस्वरूपका ही स्फुरण होता है" यह तुम्हारा पक्ष ही गिर जायगा।

यदि कहो कि—अनेकता भी विज्ञानका स्वरूप ही है, क्योंकि अस्वरूपका (भिन्नका) प्रकाश (स्फुरण) ही कैसे हो सकता है ?—तो यद्यपि इसके सम्बन्धमें हम आगे कहेंगे कि "अस्वरूपका ही प्रकाश होता है", फिर भी अतत्ता (अनेकता) उसका स्वरूप कैसे हो सकता है ? इधर भी तुम्हें दृष्टि देनी चाहिये। अर्थात् एक विज्ञानका स्वरूप अनेकता नहीं हो सकती है।

एवं, अस्वरूप (ज्ञानभिन्न बाह्य) के स्फुरणमें बाधक ही क्या है ? अर्थात् कोई बाधक नहीं है।

(शङ्का) परस्पर भिन्नोंका यह ग्राह्यग्राहकभाव व्यापाराधीन नहीं हो सकता ! क्योंकि ज्ञानके द्वारा अतीतानागत विषयोंमें अथवा अतीतानागत विषयोंके द्वारा ज्ञानमें किसी नियत व्यापारका आधान ही नहीं हो सकता है। वर्तमान विषयस्थलमें यद्यपि ज्ञान और विषयद्वारा परस्परका आधान संभव है, तथापि वह व्यापार यदि योग्य है, तो योग्यानुपलब्धि ही उसकी बाधिका है। यदि अयोग्य है, तो उसकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है।

प्रति ज्ञेय इति व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न हि निसर्गसिद्धानां गोत्वादीनामीदृशी रीतिरिति चेत्—

नन्वयमभेदेऽपि दोषस्तदवस्थ एव। तथाहि स्वस्य वेदनमिति नायं व्यापारनिबन्धनो व्यवहारः, स्वात्मनि तदभावात्। नापि जातिनिबन्धनः, साधारण्यप्रसङ्गात्। न हि

एवं उक्त ग्राह्यग्राहकभावके प्रति जाति भी नियामक नहीं हो सकती है। क्योंकि जातिको नियामक माननेकी स्थितिमें "कोई विशेष वस्तु ही किसी विशेष ज्ञानका विषय होगो" यह व्यवस्था नहीं रह जायगी। कारण, गोत्वादि-जातिके सर्वसाधारण होनेसे ऐसी व्यवस्था नहीं अपनाई जा सकती है। गौ और गोज्ञानमें परस्पर ग्राह्यग्राहकभाव (विषयविषयिभाव) होनेमें यदि गोत्वजाति नियामक हो तो वह गौ सभी ज्ञानोंका विषय होने लगेगी। क्योंकि घट-पटादिज्ञानोंकी दशामें भी गौका गोत्व कायम ही रहता है, नष्ट नहीं हो जाता।

एवं ग्राह्यग्राहकभावके प्रति विषयगत गोत्वादि-जातिको नियामक न मानकर ज्ञानगत ज्ञानत्व-जातिको नियामक मानो तो ज्ञानत्व-जातिके भी सर्वसाधारण होनेसे सभी ज्ञान गोविषयक होने लगेंगे। क्योंकि घटज्ञान गोकी अपेक्षासे ज्ञानजातीय न हो, ऐसी बात नहीं है। अतः घटज्ञान जैसे घटविषयक है, वैसे गोविषयक भी होने लगेगा।

(उत्तर) निश्चित ही यह दोष तुम्हारे ग्राह्यग्राहकके अभेद-पक्षमें भी वैसे ही कायम है। क्योंकि "ज्ञान अपना ही ग्राहक होता है, अपनेसे भिन्न किसी विषयका ग्राहक नहीं होता" यह व्यवहार किसी व्यापारके अधीन नहीं होगा। क्योंकि अपनेद्वारा अपने ही में किसी व्यापारका आधान नहीं किया जा सकता है।

अभेदमें ही उक्तग्राह्यग्राहकभावके होनेमें जाति भी नियामक नहीं हो सकती है। क्योंकि, जातिके साधारण होनेसे ज्ञानत्व-जाति किसी विशेषमें ग्राह्यग्राहकभावकी नियामिका नहीं हो सकती है। क्योंकि गोका गोत्व सिर्फ गोज्ञानके प्रति ही है अन्य घटपटादिज्ञानोंके प्रति नहीं, ऐसा नियम नहीं देखा जाता। ऐसे ही ज्ञानका ज्ञानत्व भी सबके प्रति साधारण है, इसलिये वह ज्ञान सर्वविषयक होने लगेगा।

जात्यैव गौः स्वात्मानं प्रति न तु परं प्रतीति नियमो दृष्टः। न च ज्ञानं स्वस्यैव परस्यापि वेदनम्, सर्वसर्वज्ञत्वापत्तेः।

न तत् कस्यचित्, किन्तु वेदनमात्रमिति चेत्, तथापि स्वात्मन्यजडवत् परत्राप्यजडं स्यात्, परस्मिन्नन्धवत् स्वस्मिन्नप्यन्धं प्रसज्येत, जात्यैव तद्रूपत्वात्।

जात्यापि स्वकारणात् क्वचिन्नियतरूपमेव तदुत्पन्नमिति चेत्, नैवमुच्चैर्ब्रूयाः, परैरपि कदाचिदेवं श्रूयेत।

यदि कहो कि—जात्या (स्वभावसे) ही सभी ज्ञान स्वविषयक ही होंगे—तो यहाँ स्वका अर्थ एक विज्ञानव्यक्ति लो तो सभी ज्ञान उस विज्ञानव्यक्तिविषयक हो जायगा। यदि स्वका अर्थ विज्ञानमात्र लो तो सभी विज्ञान सभी विज्ञानोंके ज्ञाता होने लगेंगे। यहाँ इष्टापत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि तुम्हारे मतमें भी ज्ञान अपना ही ज्ञाता होता है, न कि दूसरेका भी।

यदि कहो कि—विज्ञान न परका प्रकाशक होता है और न अपना। फिरभी घटादि-विषयोंसे विज्ञानमें यही विशेषता है कि विज्ञान वेदनमात्र अर्थात् अजडरूप है और घटादि जडरूप हैं—तो भी विज्ञान जैसे अपने प्रति अजडरूप है, वैसे ही उसे दूसरोंके प्रति भी अजड होना चाहिये। अथवा वह जैसे घटादिकोंके प्रति अन्ध है, वैसे उसे अपने प्रति भी अन्ध होना चाहिये। क्योंकि जातिवशात् वह एक जगह जिसरूपसे होगा, दूसरी जगह भी स्वजातिका परित्याग न होनेसे उसी-रूपका होगा।

यदि कहो कि—स्वजातिका परित्याग न करनेपर भी अपने कारणके प्रभावसे वह कहीं नियतरूपमें ही उत्पन्न होगा न कि सर्वत्र। अर्थात् विज्ञान स्वकारणबलसे अपने प्रति ही अजडरूप होगा, घटादिके प्रति नहीं—तो ऐसी बात ऊँचे स्वरसे न बोलना, क्योंकि दूसरा भी कहीं इसे सुन लेगा। अर्थात् भेदमें भी ग्राह्यग्राहकभाव होनेमें स्वकारण ही नियामक हो जायगा। अतः भेदपक्षमें भी कोई अतिप्रसङ्गादि दोष नहीं आ सकेगा।

अभेदोऽस्तु मा वा, भेदं तु प्रकाशमानत्वेन व्यासेधाम इति चेत्, न, वस्तुनि भेदनिवृत्तेरेवाभेदरूपत्वात्।

अस्तु तर्हि भेदाभेदविधुरमेव चित्रम्, चेतोभेदे प्रकाशमानत्वायोगात्, अभेदे चित्रत्वानुपपत्तेरिति चेत्, न, मिथोविरुद्धविधिद्वयविधिवत् तदुभयनिषेधस्याप्येकत्र विरुद्धत्वात्। न च सोऽप्यस्त्विति वाच्यम्, स्याद्वादावतारे तवापि दिगम्बरत्वप्रसङ्गात्।

यदि कहो कि—विषयके साथ विज्ञानका अभेद हो या मत हो किन्तु विषयका प्रकाशक होनेके कारण उसमें ज्ञानके भेदका हम प्रतिषेध करते हैं—तो वस्तुमें भेदकी निवृत्ति ही तो अभेद है। इसलिये यह कथन भी पूर्वोक्तके तुल्य ही हुआ। अतः पूर्वोक्त दोष ज्योंके त्यों स्थिर रह गये।

(पूर्वपक्ष) यदि पूर्वकथन ठीक नहीं है तो भेद और अभेदसे रहित ही चित्र माना जाय। क्योंकि यदि नील-पीतादि विषय विज्ञानसे भिन्न हो तो वह विज्ञानद्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता है। और यदि अभिन्न हो तो विज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण वे नील और पीतादि आपसमें भी अभिन्न ही हो जायेंगे। इससे उनकी चित्रता भग्न हो जायगी।

(उत्तरपक्ष) इस प्रकारका प्रतिपादन भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे परस्पर विरोधी दो विधियोंका एकमें विधान नहीं हो सकता है, वैसे ही परस्पर विरोधी दो विधियोंका एक जगह निषेध भी नहीं हो सकता है। यहाँ यह नहीं कह सकते कि "विरोधी दो विधियोंका एक जगह निषेध भी रहे और निषेधके रहनेमें जो विरोध आता है, वह विरोध भी रहे, क्या हानि है ?" क्योंकि हरेक अनिष्टापत्तिको यदि इष्ट ही मानते जावो तो इस प्रकारके स्याद्वादका अङ्गीकार करनेसे अपने बौद्धपनसे संन्यास लेकर तुझे भी दिगम्बर (जैन) बन जाना पड़ेगा।

यदि कहो कि—भेदविधि, अभेदविधि, भेदनिषेध और अभेदनिषेध इन चारों कोटियोंसे विनिर्मुक्त ही चित्राकार हो। ऐसा होनेमें कोई

अस्तु तर्हि चतुःशिखरीशून्यमेव चित्रम्, आश्चर्यरूपत्वात्, एकानेकत्वविरहेऽपि सत्त्वमित्याश्चर्यार्थो हि चित्रशब्द इति चेत्, अथ चतुःशिखरशेखरमेव किं न स्यात्? आश्चर्यरूपतायुक्तेस्तुल्यत्वात्। एकैकपक्षानुपपत्तिश्च यथा तन्निषेधपर्यवसायिनी तथा तदितरविधिपर्यवसायिन्यपि स्यादिति।

अपि चात्र वस्तुतश्चतुष्कोटिविरहे चेतसो भाषान्तरेणेदमुक्तम्, यदनात्मान एवैताश्चतस्रः कोट्यो भासन्ते न वा प्रतिभान्तीति। तत्राप्रतिभासनमनुत्तरम्। प्रतिभासने तु ग्राह्य-

---

बाधा भी नहीं है, क्योंकि इसे हम आश्चर्यस्वरूप मानते हैं। कारण, भेद और अभेदके अभावमें भी अस्तित्वका होनारूप आश्चर्य अर्थमें ही यहाँपर चित्रशब्द प्रयुक्त है—तो पूर्वोक्त चतुष्कोटिकी प्रधानता ही चित्रमें क्यों न होवे। क्योंकि आश्चर्यरूपतावाली युक्ति इस पक्षमें भी समान ही है।

यदि कहो कि—एक एक कोटिके न हो सकनेसे सभी कोटियोंका अभाव हो जाता है, इस प्रकार चित्रमें चतुष्कोटिशून्यता सिद्ध हो जाती है—तो एक एक कोटिके न हो सकनेसे उस उससे भिन्न दूसरी दूसरी कोटिकी सत्ता भी तो सिद्ध हो सकती है। इसप्रकार चारों कोटियोंकी प्रधानता ही क्यों न सिद्ध हो सकती है?

एवं चित्रज्ञानके वस्तुतः उक्त चारों कोटियोंसे रहित होनेकी दशामें दो तरहकी बातें कही जा सकती हैं कि चित्रज्ञानसे भिन्न चारों कोटियाँ भासित होती हैं या नहीं भासित होतीं। यदि कहो कि—चित्रज्ञानमें चतुष्कोटियोंका यदि भान नहीं होता है तो यहाँ चतुष्कोटिशब्दका प्रयोग भी कैसे हो सकेगा? यदि चतुष्कोटियोंका भान मानो तो ग्राह्यलक्षणके अभावमें भी उन्हें ग्राह्य मानते हो, यह एक द्वितीय चित्र हो गया। अर्थात् तुम्हारे मतमें ज्ञानसे अभिन्नका ही भान होता है और यहाँपर चतुष्कोटियोंके ज्ञानसे भिन्न होनेपर भी भान मान लिया। अतः यह द्वितीय चित्र है।

इसप्रकार तुम्हें चतुष्कोटियोंके भानके अनुरोधसे एकचित्रके बदले

लक्षणायोगेऽपि ग्राह्यभाव इति चित्रमेतत्। तथा च चित्राद्वैताद्वरं चित्रद्वैतमस्तु प्रतिभासनानुरोधादिति।

स्यादेतत्, बहिरन्तरुभयथापि ग्राह्यलक्षणक्षतिरस्तु। प्रकाशमानत्वं तु नीलादीनामशक्यापह्नवम्। तावन्मात्रं चास्माकमभिमतमिति चेत्, तदेतद् विक्रीतगवीरक्षणम्। किमिदं(हि) प्रकाशमानत्वं यत् सर्वथा ग्राह्यलक्षणक्षतावपि न क्षीणम्। न प्रकाशसम्बन्धः, नियमानुपपत्तेरित्युक्तम्। न प्रकाशतादात्म्यम्, चित्रत्वानुपपत्तेरित्युक्तम्।

दो चित्र मानने होंगे। एक यह कि अभेदरूप ग्राह्यलक्षणके अभावमें भी चतुष्कोटियों को ग्राह्य माना। दूसरा चित्र यह हुआ कि वह ग्रहण भी पूर्ववत् विषयके भेद और अभेद दोनोंसे रहित होगा।

(शङ्का) अस्तु, ज्ञानसे भिन्न या अभिन्न दोनों ही रूपोंमें नील पीतादि विषय ग्राह्यलक्षणसे रहित भले ही हो, फिरभी नीलादिकी प्रकाशमानता तो नहीं छिपायी जा सकती है, और उतना ही हमारा अभीष्ट भी है। अर्थात् "नीलादि-विषय प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है" यह बात उसके प्रकाशमान होनेमात्रसे ही सिद्ध हो जाती है।

(उत्तर) इसप्रकारका कथन बेंच दी गयी गौको पुनः रखनेके समान है। अर्थात् नीलादिकमें ग्राह्यलक्षणका अभाव स्वीकार करते हुए तुम ही उसमें प्रकाशमानत्वको समाप्त कर चुके हो और पुनः नीलादिको ज्ञानाभिन्न सिद्ध करनेके लिये तुम ही नीलादिमें प्रकाशमानत्वको हेतु बना रहे हो। अतः तुम्हारी यह प्रक्रिया विक्रीतगवीरक्षणके समान हुई। एवं, यह कैसा प्रकाशमानत्व है, जो ग्राह्यलक्षणके अभावमें भी नीलादिमें कायम रहा। यदि कहो कि प्रकाशसे सम्बन्ध होना ही प्रकाशमानत्व है, तो तुम हो कह चुके हो कि "नीलादिका ही प्रकाशसे सम्बन्ध होगा पीतादिका नहीं" यह नियम नहीं हो सकता। अतः नीलकालमें पीतको प्रतीति और पीतकालमें नीलकी प्रतीति होने लगेगी।

यदि कहो कि—प्रकाशके साथ तादात्म्य होना ही नीलादिका प्रकाशमान होना है—तो इसके सम्बन्धमें मैं कह चुका हूँ कि चित्रज्ञानकी

तस्मान्नीलादीनां प्रकाशमानत्वं परिपालयता ग्राह्यलक्षणे यत्नः कर्तव्यः परिहर्तव्यं वा प्रकाशमानत्वम्। अन्यथा तपनीममपनीय वाससि ग्रन्थिकर्तारमुपहससि, स्वयं च गगनाञ्चले ग्रन्थिं करोषीति। सेयं सर्वप्रकारमसिद्धिः सर्वप्रकारश्चानैकान्तिकत्वमिति।

एकता भग्न हो जायगी। अर्थात् चित्रात्मक-ज्ञान यद्यपि एक होता है किन्तु नील, पीत, हरित, श्वेत आदि विभिन्न विषयोंसे तादात्म्य होनेके कारण वह चित्रज्ञान एक न होकर विषयभेदसे भिन्न भिन्न अनेक ज्ञान हो जायगा, जो अनुभव विरुद्ध है।

अतः नीलादिमें यदि प्रकाशमानत्व की रक्षा चाहते हो तो उसमें ग्राह्यलक्षणके लिये यत्न करना पड़ेगा। अर्थात् भेदमें भी विषयविषयिभाव मानना होगा। नहीं तो नीलादिमें प्रकाशमानत्वका परित्याग कर देना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं करते हो तो यही कहा जायगा कि सुवर्ण फेंककर खाली वस्त्रमें गठरी बाँधनेवालेको तुम हँस रहे हो और स्वयं कनक लेकर भी आकाशमें गाँठ बाँधते हो। अर्थात् ज्ञानश्रीके मतानुसार नीलादिका ज्ञानाकार होना ही स्वर्ण है, जिसे नैयायिक छोड़ देता है। तथा बाह्य-वस्तुका स्वीकार करना ही वस्त्रमें गाँठ देना है, जिसे नैयायिक अपनाता है। यही ज्ञानश्रीके उपहासका अभिप्राय है। जिसका उत्तर नैयायिक भी उपहासके द्वारा ही देता है कि अपने स्वर्ण को लेकर भी ज्ञानश्री वस्त्रमें गाँठ न बाँधकर आकाशमें ही गाँठ बाँधता है। क्योंकि जैसे भेदमें ग्राह्यलक्षणका अभाव है, वैसे ही अभेदमें भी ग्राह्यलक्षणका अभाव है, इसप्रकार सर्वथा ग्राह्यलक्षणाभावमें भी नीलादिमें प्रकाशमानत्व मानना ही आकाशमें गाँठ देनेके समान है, जिसे ज्ञानश्री अपनाये हुए है।

इसप्रकार यहाँ बौद्धके अनुमानमें सभी प्रकारसे असिद्धि एवं सभी प्रकारसे व्यभिचार दोष आ जाता है अर्थात् "नीलं ज्ञानाभिन्नं, प्रकाशमानत्वात्, सहोपलम्भाद् वा" इस अनुमानमें नीलादि-बाह्यको नहीं माननेके कारण नीलस्वरूप पक्षके असिद्ध होनेसे आश्रयासिद्धि हुई। भेद और अभेद दोनों ही स्थितियोंमें ग्राह्य-लक्षणका अभाव होनेसे प्रकाशमानत्व आदि हेतु असिद्ध हैं। अतः स्वरूपासिद्धि हुई।

एतेन द्वितीयः पक्षः प्रत्युक्तः। न हि सजातीयत्वेन ग्राह्यलक्षणवैधुर्यमुत्सार्यते, अतिप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। जडत्वे प्रकाशासम्भावनवेति चेत्, न, तुल्यत्वात्। यथा

तथा ज्ञानाभेदको साध्य करनेमें ज्ञानवृत्ति [1]यावद्धर्मवत्त्व उपाधि है, इसलिए सोपाधिक होनेसे व्याप्यत्वासिद्धि हुई। एवं प्रकाशमानत्वादि हेतुके अलीक भेदमें भी चले जानेके कारण साधारण व्यभिचार हुआ। अथवा पूर्वोक्त रीतिसे सपक्ष विपक्ष दोनों ही से प्रकाशमानत्व हेतुके व्यावृत्त होनेके कारण असाधारण व्यभिचार हुआ। एवं सभी पदार्थको पक्ष माननेके कारण अनुपसंहारीनामक व्यभिचार दोष हुआ।

इससे द्वितीयपक्ष भी खण्डित हो जाता है। अर्थात् लक्षणका अभाव होनेसे नीलादि विषय जैसे ज्ञानसे अभिन्न नहीं सिद्ध होता, वैसे ही वह ज्ञान से अभिन्नजातीय भी नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि सजातीय माननेसे भी नीलादिमें ग्राह्यलक्षणका अभाव नहीं हटता है। कारण, सजातीय ही यदि ग्राह्य हो तो तुम्हारे मतानुसार घटपट आदि सभी विषय एकसा ज्ञानके सजातीय हैं। इसलिये जिस ज्ञानमें पट विषय हो रहा है, उसमें घट भी अनिवार्यतः विषय होने लगेगा। इसप्रकार अतिप्रसङ्ग दोष यथास्थित ही रह जाता है।

यदि कहो कि--नीलादि-विषयको ज्ञान-सजातीय न मानकर जड़ माना जाय तो उसका प्रकाश ही नहीं हो सकता है। अर्थात् नीलादि चूँकि प्रकाशमान होता है, इसीलिये वह ज्ञान-सजातीय सिद्ध हो

---

१. जो साध्यका व्यापक हो और साधनका अव्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं। प्रकृतमें नीलादि-विषयमें ज्ञानाभिन्नत्व साध्य है और प्रकाशमानत्व हेतु है। जो जो ज्ञानाभिन्न होता है, उस उसमें ज्ञानवृत्तियावद्धर्मवत्त्व होता है। इसप्रकार ज्ञानवृत्तियावद्धर्मवत्त्व उपाधि साध्यव्यापक हुआ। तथा जो जो प्रकाशमान हैं, उस उसमें ज्ञानवृत्तियावद्धर्मवत्व नहीं रहता, जैसे घटादिमें। अतः साधनाव्यापक भी हुआ। इसप्रकार प्रकृत अनुमानमें ज्ञानवृत्तियावद्धर्मवत्वके उपाधि होनेसे यहांका हेतु सोपाधिक होकर व्याप्यत्वासिद्ध हुआ।

ह्यस्वसंवेदनवादिनः परं प्रति प्रकाशमपि ज्ञानमात्मनि जड-मेव, तथा स्वसंवेदनवादिनोऽपि स्वात्मनि प्रकाशमपि ज्ञानं परं प्रति जडमेव। कथञ्चिद् बुद्ध्यन्तरेऽप्यजडं चेत्, बाह्येऽपि तथा किं न स्यादिति सन्दिग्धविपक्षवृत्तित्वम्।

ननु बाह्ये सर्वथैव ग्राह्यलक्षणक्षतिः, इह तु समानोपादान-तानियमेन चित्राकाराणां परमार्थभिन्नानामेव व्यतिवेदन-सिद्धिः; न, मिथः प्रथानियमे ह्युपादानमुखेन सामान्यतो वा

जायगा–तो यह नहीं कह सकते हो। क्योंकि वह बात ज्ञानके सम्बन्धमें भी समान ही है। क्योंकि जैसे ज्ञानको अस्वप्रकाश माननेवाले नैयायिकोंके यहाँ विषयोंके प्रति प्रकाशात्मक भी ज्ञान अपने प्रति जड़ ही होता है, वैसे ही ज्ञानको स्वप्रकाश माननेवाले बौद्धोंके यहाँ भी अपने लिये प्रकाशात्मक भी ज्ञान अपनेसे भिन्न ज्ञानके प्रति जड़ ही होता है। अर्थात् स्वप्रकाश होनेके कारण ज्ञान अपनेको तो भासित कर देता है किन्तु अन्य ज्ञानको भासित करनेमें तो वह भी जड़ ही है। अतः जैसे जड़ होते हुए भी ज्ञानका प्रकाश (भान) असंभव नहीं है, वैसे ही जड़ होते हुए भी नीलादि-विषयका भी भान असंभव नहीं होगा।

यदि कथञ्चित् अन्य ज्ञानके प्रति भी वह ज्ञान अजड ही हो तो नीलादि बाह्यविषयोंके प्रति भी वह अजड़ क्यों न होगा? अर्थात् अपनेसे भिन्न होते हुए भी नीलादि-विषयको ज्ञान प्रकाशित कर दे सकता है। इस प्रकार "नीलादिकं ज्ञानसजातीयं प्रकाशमानत्वात्" इस अनुमानमें प्रकाशमानत्व-हेतुमें विपक्षवृत्तित्वका सन्देह हो जाता है।

"बाह्यपक्षमें अर्थात् ग्राह्य-ग्राहकके भेदपक्षमें अतिप्रसङ्ग दोषसे सर्वथा ही ग्राह्यत्वका अभाव हो जाता है। चित्रप्रत्ययके अनुरोधसे अभेदपक्ष भी असंभव है। अतः ग्राह्य ग्राहकभावका नियामक यही मानना चाहिये कि—जो परस्पर समानोपादानक हो अर्थात् जिनका उपादानकारण समान हो, वे परस्पर ग्राह्य-ग्राहक होते हैं–इससे परस्पर

सामग्रीसामर्थ्यमेव वक्तव्यम् , अन्यथा तथाविधकार्यानुत्पत्तेः । तथा च बाह्यग्राह्यनियतस्वभावज्ञानोत्पत्तावपि सुलभमेतदिति पूर्वक एव दोषः ।

अस्तु तर्हि तृतीयः, सर्वथा ग्राह्यलक्षणानुपपत्तेः । तदभावे सामग्रीसामर्थ्यस्याप्याश्रयितुमशक्यत्वात् । विचारसिद्धे हि वस्तुनि कारणचिन्तनावसरो न त्वविवेचित इति चेत् , किं

भिन्न भी नीलपीतादि चित्राकारोंका पारस्परिक ज्ञान हो जायगा। कारण, नीलपीतादि आकारोंका उपादान कारण एक ही ज्ञान है"।

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि परमार्थतः भिन्नोंका भी पारस्परिक ज्ञान होनेका नियामक सामग्रीगत अपनी सामर्थ्य ही माननी पड़ेगी। वह सामर्थ्य चाहे विशेष रूपसे उपादानकारणकी हो अथवा सामान्यरूपसे कारणमात्रकी हो। अर्थात् चित्रस्थलमें भेदमें भी ग्राह्य ग्राहकभाव तुमने भी मान ही लिया। अन्तर इतना ही है कि तुम उसका नियामक समानोपादन मानते हो और मैं कारणगत सामर्थ्यविशेषको ही उसका नियामक मानता हूँ। ऐसा माने बिना नियतकार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

इसप्रकार बाह्यवस्तुको ग्राह्य माननेमें भी उसका नियमित ज्ञान होनेमें उक्त सामग्रीसामर्थ्य नियामक हो सकता है। अतः पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ भी संदिग्धविपक्षवृत्तित्वरूप सन्दिग्धव्यभिचार दोष आ ही जाता है। इसतरह सजातीयत्वरूप द्वितीयपक्ष भी खण्डित हो जाता है।

यदि कहो कि—पूर्वोक्त दोनों पक्षोंके असंभव होनेसे तीसरा पक्ष ही मानने योग्य है। इस पक्षमें ग्राह्य अंश अलीक है और ग्राहकांश (ज्ञान) ही वास्तविक है। क्योंकि बाह्यवस्तुमें किसी भी प्रकारसे ग्राह्यका कोई लक्षण नहीं बन सकता है। अर्थात् नीलादि ग्राह्यपदार्थको पूर्वपद्धतिके अनुसार ज्ञानसे भिन्न या अभिन्न कुछ नहीं कह सकते। और ग्राह्यलक्षणके नहीं होनेसे ग्राह्यरूप लक्ष्य असंभव होगा। ऐसी परिस्थितिमें नियतवस्तुके ग्रहणके लिये सामग्रीगत सामर्थ्यका सहारा लेना भी अशक्य है। क्योंकि विचारद्वारा जो वस्तु सिद्ध है, उसी

ग्राह्यलक्षणानिर्वक्तव्यतया प्रकाशमानत्वमनीषां निवर्तते ? सत्त्वं वा ?

न प्रथमः, न हि लक्षणापरिज्ञानमात्रेण स्पष्टदृष्टमपि लक्ष्यमपह्नोतुं शक्यते, अपरिज्ञानस्य दुरूहत्वेनाप्युपपत्तेः। तेषामप्रतिभासे तन्निषेधस्यानुपपत्तेः।

न द्वितीयः, तदा हि तल्लक्षणानुपपत्तिः सत्त्वं निवर्तयेत् यद्यसत्त्वे लक्षणमुपपद्येत। उभयथाप्यनुपपत्तौ कोऽनुरागोऽ-

---

के सम्बन्धमें कारण (सामग्री) चिन्ताका अवसर आता है, न कि उसके सम्बन्धमें, जो वस्तु ही असिद्ध है—तो यहाँ मैं पूछता हूँ कि ग्राह्यलक्षणका निर्वचन नहीं हो सकनेसे क्या बाह्य पदार्थोंकी प्रकाशमानता (प्रतीति) खण्डित हो जाती है ? अथवा इनकी सत्ता (अस्तित्व) का खण्डन हो जाता है ?

यहाँ प्रथमपक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि केवल लक्षणका ज्ञान नहीं हो सकनेके कारणमात्रसे स्पष्टरूपसे दीख पड़ने वाले भी लक्ष्यका अपलाप नहीं किया जा सकता है। कारण, वस्तुका अज्ञान तो उसकी दुर्ज्ञेयताके कारण भी हो सकता है। साथ ही यदि बाह्यवस्तुकी प्रतीति न हो तो उसमें ग्राह्यलक्षणका निषेध भी नहीं किया जा सकता है। इसलिये ग्राह्य-लक्षणका निषेध करनेके लिये भी अनुयोगीके रूपमें बाह्यवस्तुकी प्रतीति माननी पड़ेगी।

दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि लक्षणकी अनुपपत्तिसे वस्तुसत्ताकी निवृत्ति तभी होती यदि उसकी असत्ता होनेसे लक्षण बन जाता। यदि सत्ता या असत्ता दोनों दशाओंमें लक्षण न बन सकता हो तो असत्ताके प्रति ही क्यों अनुराग है ?

यदि कहो कि—असत्त्व ही ग्राह्यका लक्षण है—तो सत्त्व ही लक्षण क्यों न होगा ?

यदि कहो कि—सत्त्वको ग्राह्यका लक्षण माननेमें भी तो वही दोष है। अर्थात् जैसे, सत्त्वको ग्राह्य का लक्षण माननेपर किसी एक सद्वस्तुके

सत्त्वे। तदेव लक्षणमिति चेत्, सत्त्वमेव किं न स्यात्? अतिप्रसङ्गादिति चेत्, तुल्यम्।

वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वमिति चेत्, अस्तु तावदिदम्, तस्यैवेति तु नियमः कुतः? सामग्रीतस्तथा वेदनोत्पत्तिरिति चेत्, तदेतत्, सम्भाव्यते सति, न त्वसतीति विशेषः। यथा हि सति ज्ञानेनाभिलापः, तेन यत्नः, तेन प्रवृत्तिः, तया तत्प्राप्तिः क्रियते, न तथाऽलीके, तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्, शक्यत्वे वाऽनलीकत्वात्।

व्यवहारोऽप्ययमलीक इति चेत्, तर्हि सुतरां लक्षणाभावः, तद्द्वारस्याप्यभावात्।

ज्ञान होनेपर सत्के नाते अन्य सभी सत्पदार्थोंका भान होने लगेगा, वैसे ही असत्त्वको ग्राह्यका लक्षण माननेपर भी किसी एक असत्का ज्ञान होनेपर असत्के नाते भी अन्य सभी असत्पदार्थोंका भी भान होने लगेगा। इसप्रकार दोनों ही पक्षोंमें समान न्याय है।

यदि कहो कि—ज्ञानजन्यव्यवहारविषयत्व ही ग्राह्यका लक्षण है, अर्थात् ज्ञानके कारण ही जिसका व्यवहार होता है, उसे ग्राह्य कहते हैं—तो यह लक्षण भले ही हो, किन्तु घटज्ञानसे घटका ही व्यवहार होगा, यह नियम कैसे रहेगा? यदि कहो कि—सामग्रीगत सामर्थ्यका ही ऐसा प्रभाव है कि उस वस्तुके ज्ञानसे उसी वस्तुका व्यवहार होगा दूसरे का नहीं—तो यह सामर्थ्य भी सत्पदार्थमें ही संभव है न कि असत्में, यह विशेषता है।

जैसे कि—सद्वस्तुमें ज्ञान होनेपर इच्छा होती है, इच्छासे प्रयत्न, प्रयत्नसे प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति होनेपर उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है, वैसे अलीक (असत्) वस्तुमें नहीं होता। क्योंकि उसमें ज्ञान इच्छादिके होनेपर भी उस मिथ्यावस्तुकी प्राप्ति नहीं की जा सकती है। अर्थात् प्राप्त हो सकने वाली वस्तु सत् ही होगी।

यदि कहो कि—यह ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-प्रवृत्ति और प्राप्तिरूप

अस्तु तर्हि सर्वथा विचारासहत्वमेव विश्वस्येति चेत्, तत् किमिदानीं तत्त्वोपप्लव एव ? काष्ठाशून्यता[1] वा ? न प्रथमः, इयतीं भूमिमारूढस्यापि विचारस्य निश्चलतायां प्रमाणाभावात् । भावे वा कथं तत्त्वोपप्लवः ? अस्यैव विचारस्यानुपप्लवात्, तत्समानन्यायस्यान्यस्यापि तथाभावप्राप्तेः,

व्यवहार भी अलीक ही है, इसलिये अलीकमें अलीकव्यवहारके होनेमें कोई बाधा नहीं है—तब तो बड़ी आसानीसे ग्राह्य-लक्षणका अभाव हो गया। क्योंकि लक्षणघटकीभूत व्यवहार ही असिद्ध है। अर्थात् ज्ञानजन्यव्यवहारविषयत्वरूप ग्राह्यलक्षणमें व्यवहार घटकीभूत (द्वारीभूत) है, अतः व्यवहारके असिद्ध होनेसे तद्घटित सम्पूर्ण लक्षण असिद्ध हो गया।

यदि कहो कि—सत्त्व, भिन्नत्व या अभिन्नत्व किसी भी रूपमें ग्राह्यका लक्षण नहीं हो सकनेके कारण विश्वको विचारायोग्य ही क्यों न मान लिया जाय—तो क्या, इसप्रकार सम्पूर्ण विश्वको विचारके लिये अयोग्य माननेकी दशामें जगत्की तात्त्विकता ही लुप्त हो जाती है ? अथवा तात्त्विकता नष्ट होनेसे जगत्का शून्यतामें पर्यवसान हो जाता है ? अर्थात् जगत् शून्यरूप सिद्ध हो जाता है ? यहाँ प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि यदि सबकुछ अतात्त्विक है तो अबतक इतनी सीढ़ी तक पहुँचे हुए इस विचारकी भी, जो सर्वान्तर्गत है, तात्त्विकतामें कोई प्रमाण नहीं है। यदि इस विचारकी तात्त्विकताका साधक कोई प्रमाण हो तो सब अतात्त्विक कैसे हुआ ? क्योंकि यह एक विचार ही तात्त्विक सिद्ध हो गया। और जिस न्यायसे यह विचार तात्त्विक सिद्ध हुआ, उसी न्यायसे विचारका विषय आत्मा तथा उसका ज्ञानसे भिन्न और नित्य विभु आदि होना भी सिद्ध ही हो गया।

साथ ही आपका यह विचारारम्भ भी निष्फल है। क्योंकि अनियत रूपसे सर्वत्र प्रवृत्ति कराना इस विचारारम्भका फल नहीं हो सकता। कारण, अनियत प्रवृत्ति होनेमें गगनास्वादनमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। किन्तु उससे तृप्तिरूप फल होता नहीं। ऐसे ही अनियत प्रवृत्तिपक्षमें

१. माध्यमिकपक्षोऽयम् ।

निष्फलत्वाच्च। न ह्यस्यातिप्रवृत्तिः फलम्, गगनास्वादनेनातृप्तेः, ज्वाला (अलीक) कलापालिङ्गनेन तापानपनोदनात्। नाप्यतिनिवृत्तिः, जडीभावमात्रेऽप्युपनिपातिदुःखा निवृत्तेः।

न च दुःखमपि विचारासहमित्यहेयमेव, तथाविधस्य-

तापनिवृत्तिके उद्देश्यसे ज्वालासमूहके आलिङ्गनमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। किन्तु उससे तापकी निवृत्ति हो नहीं सकती। यहाँ पूर्वपक्ष का अभिप्राय यह है कि जब तात्त्विकदृष्टिसे सब अलीक है तो समानरूप से अर्थात् अलीकत्वाविशेषात् किसी भी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये कहीं भी प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसा नहीं कि तृप्ति चाहनेवाला व्यक्ति नियत-रूपसे भोजनादिमें ही तथा दुःखकी निवृत्ति चाहनेवाला मोक्षार्थी किसी खास साधनमें ही प्रवृत्त होवे। यही अतिप्रवृत्ति इस विचारारम्भका फल हुआ। यहाँ उत्तरपक्षका आशय तो स्पष्ट है। अतिनिवृत्ति भी विचारारम्भका फल नहीं हो सकता है। अर्थात् यह भी नहीं हो सकता कि इस विचारद्वारा सबको अतात्त्विक समझता हुआ मुमुक्षु सबसे निवृत्त होकर दुःखसे छुटकारा पा जायगा। क्योंकि सबसे निवृत्त होकर जडवत् बन जानेपर भी दैवात् आनेवाले दुःखोंसे पिण्ड नहीं छूट सकता है।

यह भी नहीं कह सकते कि—दुःख भी अतात्त्विक है, अतः वह अहेय (अत्याज्य) ही है। अर्थात् अतिनिवृत्ति ही विचारका फल है। तथा जड़ीभूतको दुःख तब अनिष्ट होता, यदि वह तात्त्विक होनेसे हेय होता। किन्तु वह तो अतात्त्विक होनेसे हेय भी नहीं है—क्योंकि हेयोपादेयरहितव्यक्तिका विचारमें भी अधिकार नहीं है। अर्थात् सबकी प्रवृत्ति दुःखहानिके लिये या सुखप्राप्तिके लिये होती है, और वह उसके लिये ही विचारमें प्रवृत्त होता है। जिसके लिये न कोई हेय है और न कोई उपादेय है, उसके लिये तो विचार भी निष्प्रयोजन ही है।

यह भी नहीं कह सकते कि—लोकानुसार व्यवस्था ही विचारका फल है। अर्थात् लोकसिद्ध पदार्थोंके अलावे कोई तात्त्विक नहीं है—

विचारेऽप्यनधिकारात् । नापि यथालोकं व्यवस्थितिः, विचारात् प्रागपि तस्याः पामरादिवदयत्नसिद्धेः ।

नापि परलोकमात्रान्निवृत्तिः, तस्यैहिकतुल्यत्वात् । दृश्यते हि तावदयमिति चेत्, यदि ज्ञानवचनो दृशिस्तदा परोऽपि तथा । साक्षात्कारवचनश्चेत्, इहैवानुमानादेरप्रवृत्तिप्रसङ्गः । तदपि प्रत्यक्षमिति चेत्, *आमुष्मिकमपि प्रत्यक्षमेव,

---

क्योंकि पामरोंकी तरह तुम्हारे लिये भी विचारके पहले ही लौकिक व्यवस्थायें अनायास सिद्ध हैं।

यह भी नहीं हो सकता कि—स्वर्ग या नरकरूप परलोकमात्रसे निवृत्ति विचारका फल है। अर्थात् विचारद्वारा अतात्त्विकताका ज्ञान होनेसे स्वर्गके लिये यागादिमें प्रवृत्ति तथा नरकसे बचनेके लिये हिंसादिसे निवृत्ति नहीं होगी— क्योंकि पारलौकिक भी ऐहिकके ही तुल्य है। इसलिये स्वर्ग और नरकके समान लोगोंकी चन्दन और कण्टकमें भी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

यदि कहो कि—इस लोकका तथा इसके सुखदुःखका तो दर्शन होता है, इसलिये ऐहलौकिक वस्तुओंमें प्रवृत्ति-निवृत्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है—तो यहाँ दर्शनका अर्थ यदि ज्ञान मानते हो तो परलोकका भी ज्ञान होता ही है। यदि दर्शनसे साक्षात्कार अर्थ मानो तो इसी लोकमें अनुमानादिसे प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु वह्निका अनुमान करके भी उसके आनयनमें प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि कहो कि—लौकिक वह्नयादि और उससे होनेवाला सुखदुःख तो इन्द्रियसन्निकर्षदशामें प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि सुखत्वदुःखत्वरूप लक्षण लौकिकपारलौकिक सभी सुखदुःखोंमें तुल्य है। अर्थात् एक जगह सुखत्वादि-जातिका प्रत्यक्ष होनेपर सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिद्वारा उस जातिसे युक्त सभी सुखदुःखोंका प्रत्यक्ष हो जाता है।

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः टीकाग्रन्थानुसारेण संयोजितः, कलिकातामुद्रितपाठस्त्वत्रत्यो विशृङ्खल इति मन्तव्यम् ।

तुल्यलक्षणत्वात्। अरुचेरेव तत्र न प्रवृत्तिरिति चेत्, तथापि किं विचारेण ? तमन्तेरणापि तस्याः सुलभत्वात्। तामेवायं पुष्णातीति चेत्, अविशेषादिहापि पुष्णीयादिति ❀

सोऽयं पवनतनयवार्तामुपश्रुत्य तत्स्पर्द्धया बालवानरः कियदपि दूरमुत्प्लुत्य महार्णवे पतितः प्राह—अपार एवायमकूपारो मिथ्या रामायणमिति[1]।

तत् किमनेन ? एवं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्यते कीदृशं जगदित्येतावन्मात्रमपि पामरदशावन्निष्फलमेव। न हि निष्फलत्वेऽपि श्रद्धेयमिदम्, तावत्परामर्शपाटवाभावेनाप्युप-

यदि कहो कि—स्वाभाविक अरुचिसे ही परलोकमें प्रवृत्ति नहीं होती है—तो फिर विचारकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि विचारके बिना भी वह अरुचि अनायास सिद्ध है।

यदि कहो कि—परलोकके प्रति स्वतःसिद्ध उस अरुचिको ही विचार पुष्ट करता है—तो विचारद्वारा समानरूपसे इहलोकमें भी अतात्त्विकता का ज्ञान होनेसे ऐहिक सुखसाधनोंके प्रति भी अरुचिको क्यों न पुष्ट करे ?। इसप्रकार यह बाल-वानर महाबली हनूमान्का महासागर लङ्घनवृत्तान्त सुनकर स्पर्धावश कुछ दूरतक उछलकर महासागरमें गिरा हुआ बोलता है कि यह समुद्र तो अपार है और रामायणकी कथा मिथ्या ही है, इसलिये यह महार्णव-लङ्घन निरर्थक है। अर्थात् विचाराशक्त होनेके कारण यह बौद्ध प्रतिवादी उस बालवानरके समान है। इस प्रकार यह न जाना जा सकता है और न दूसरेके प्रति इसका निर्वचन ही किया जा सकता है कि कैसा यह जगत् है ? इतना विचार भी पामरदशाके समान निष्फल ही है। यह भी नहीं कह सकते कि—निष्फल होनेपर भी इतना विचार तो श्रद्धेय ही है—कारण, ज्ञान या निर्वचन न कर सकना तो विचारमें अपटुताके कारण

१ रामायणी कथा—इति ३ पु० पा०

पत्तेः । न हि जात्यन्धो नीलं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्त इत्यज्ञेयानिर्वाच्य एव तल्लोक इति ।

माध्यमिकपक्षखण्डनम्

अस्तु तर्हि शून्यतैव परमं निर्वाणमिति चेत्, न, सा हि यद्यसिद्धा, कथं तदविशेषमपि[1] विश्वमभिधीयते ? वाङ्मात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। परतश्चेत् सिद्धा, परोऽप्यभ्युपगन्तव्यो ग्राह्यलक्षणं चावर्जनीयमिति ।

भी हो सकता है। क्योंकि जन्मसे अन्धा व्यक्ति नीलरूपका ज्ञान और निर्वचन करनेमें यदि अशक्त है तो संसारमें सबके लिये नीलरूप अज्ञेय और अनिर्वचनीय ही नहीं है।

शून्यवाद (माध्यमिकमत) निराकरण ।

यहां शून्यवादी माध्यमिक शङ्का करता है कि—शून्यतामें ही परमशान्ति क्यों न मानी जाय ? अर्थात् हेयोपादेयरूप बाह्य जगत और ज्ञानका भी अभाव होनेसे द्वेष, भय और रागादिसे छुटकारा मिल जायगा और परम शान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—किन्तु ऐसी शङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि सर्वशून्यतापक्षमें शून्यताग्राहक प्रमाणके भी शून्य हो जानेसे शून्यताकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि प्रमाणद्वारा शून्यताकी सिद्धि न मानो, अर्थात् प्रमाणके बिना भी वाङ्मात्रसे शून्यता की सिद्धि मानो तो समानन्यायसे शून्यताके बदले विश्व (पूर्णता) का ही स्वीकार क्यों न किया जाय ? क्योंकि वाङ्मात्र तो सर्वत्र सुलभ है।

शून्यताको यदि परतः अर्थात् प्रमाणान्तरसे सिद्ध कहो तो वह पर भी तुम्हें स्वीकार करना पड़ा। ऐसी परिस्थितिमें सर्वशून्यता कहाँ सिद्ध हुई ? साथ ही ग्राह्यस्वरूप भी अनिवार्यरूपसे स्वीकृत करना पड़ा। कारण, शून्यता और प्रमाणमें तुमने विषयविषयिभावको अङ्गीकार कर लिया। प्रमाणभूत पर भी यदि तात्त्विक न होकर संवृत अर्थात्

---

[1] तदविशेष इति कलिकातामुद्रितपाठः ।

स च परो यदि संवृतिरेव, विश्वशून्यतयोर्न कश्चिद् विशेषः, कथं तदप्यवशिष्येत ? असंवृतिरूपश्चेत् परः, परत एव तस्य सिद्धावनस्था। स्वयमसिद्धश्चेत्, कथं शून्यत्वमपि साधयेत् ? स्वतः सिद्धश्चेत्, आयातोऽसि मार्गेण[1]।

तथाहि—स्वतः सिद्धतया तदनुभवरूपम्। शून्यत्वादेव च न तस्य कालावच्छेद इति नित्यम्। अत एव च न देशावच्छेद इति व्यापकम्। अत एव तन्निर्धर्मकमिति विचारास्पृष्टम्, तस्य[2] धर्मधर्मिभावमुपादाय प्रवृत्तेः। अत

कल्पनामात्र हो तो विश्व और शून्यतामें कोई विशेषता नहीं रही। ऐसी परिस्थितिमें शून्यता भी कैसे बच पायेगी ?

यदि प्रमाणभूत वह पर असंवृतिरूप अर्थात् तात्त्विक हो तो उस प्रमाणकी सिद्धि किसी अन्य प्रमाणसे माननेपर उसकी भी किसी अन्यसे और उसकी भी किसी अन्यसे सिद्धि होगी, इस प्रकार अनवस्थादोष हो जायगा। यदि वह शून्यताका साधक प्रमाण स्वयं ही असिद्ध हो तो वह शून्यताको भी कैसे सिद्ध कर सकेगा ? यदि उस प्रमाणकी सिद्धिको अनवस्थाभयसे परतः न मानकर स्वतः मानो तो अब तुम रास्ते पर आगये। अर्थात् इस पद्धतिसे वेदान्तका स्वयंप्रकाश ब्रह्माद्वैत पक्ष ही निर्दोष है।

कारण, स्वतःसिद्ध (स्वप्रकाश) होनेसे वह (ब्रह्म) ज्ञानस्वरूप है। सम्पूर्ण प्रपञ्चके शून्यरूप होनेके कारण काल और कालोपाधियोंके भी असत् होनेसे वह कालविशेषसे अवच्छिन्न (सीमित) नहीं है, इसीलिये वह नित्य है। और प्रपञ्चशून्यताके कारण ही देशकृत परिच्छेद भी नहीं हो सकता है, इसीलिये वह व्यापक है। शून्यताके कारण ही वह निर्धर्मक (धर्मशून्य) होनेसे विचारका भी विषय नहीं है। क्योंकि जहाँ धर्मधर्मिभाव होता है, वहीं विचारकी प्रवृत्ति होती है। निर्धर्मक होनेके कारण ही वैधर्म्यरूप विशेषका अभाव होनेसे कहीं

१ वेदान्तनयेन इत्यर्थः।

२ तस्य = विचारस्य।

एव विशेषाभाव इत्यद्वैतम्, प्रपञ्चस्यापारमार्थिकत्वाच्च। निष्प्रतियोगिकमिति विधिरूपम्। अविचारितप्रपञ्चापेक्षया तु शून्यमिति व्यवहारः।

तथापि प्रपञ्चशून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रपञ्चेन सह कः सम्बन्धः? न च नायं प्रकाशत इति चेत्, वस्तुगत्या न कश्चित्। संवृत्या तु गगनगन्धर्वनगरयोराधाराधेयभाव इव विषयविषयिभावः। स च यथा नैयायिकैःसमर्थयिष्यते तथैव। वेद्यनिष्ठस्त्वसावस्मिन् दर्शन इति विशेषः। अविद्यैव हि

उसका अन्योन्याभाव नहीं है तथा वह अद्वैत ब्रह्मरूप है। जगत्प्रपञ्च के अवास्तविक होनेके कारण ही उसका कोई प्रतियोगी नहीं है। इसी लिये उसमें किसीका भेदरूप निषेध नहीं प्राप्त होनेसे वह अद्वैततत्त्व निषेधात्मक न होकर विधिरूप है। "शून्यम्" यह व्यवहार तो सत् या असत्‌रूपसे अनिर्वचनीय घटपटादि प्रपञ्चकी दृष्टिसे है न कि अद्वैतब्रह्मकी दृष्टिसे। अर्थात् अनुभवात्मक अद्वैततत्त्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है, यही शून्यताका अर्थ है।

(प्रश्न) फिर भी जब प्रपञ्च कोई वस्तु ही नहीं है, तो प्रपञ्चसे शून्य केवल अनुभवमात्रका प्रपञ्चसे क्या सम्बन्ध है? यह बताना होगा। क्योंकि यह प्रपञ्च नहीं भासित होता है, ऐसी बात नहीं है।

(समाधान) ऐसे प्रश्नका यही उत्तर होगा कि प्रपञ्चके मिथ्यारूप होनेके कारण उसके साथ अनुभवका वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। काल्पनिक दृष्टिसे तो जैसे गगन और गन्धर्वनगरका परस्पर आधाराधेय-भाव सम्बन्ध होता है, वैसे ही प्रपञ्च और अनुभवका विषयिविषयभाव सम्बन्ध है। विषयविषयिभाव क्या है? यह तो जैसा नैयायिकोंने माना है, वैसाही है। किन्तु वह सम्बन्ध न्यायमतमें विषय और ज्ञान उभयनिष्ठ होता है, किन्तु इस (वेदान्त) दर्शनमें तो वह सम्बन्ध केवल वेद्य (विषय) निष्ठ है और वेद्य प्रपञ्चके साथ हो निवृत्त हो जाता है। यही विशेषता है। अविद्या ही वैसे वैसे परिणत होती रहती है, जैसे जैसे घटपटादि विषयोंका अनुभाव्यरूपमें व्यवहार होता रहता

तथा तथा विवर्तते यथा यथाऽनुभाव्यतया[1] व्यवह्रियते। तत्तन्मायोपनीतोपाधिभेदाच्चानुभूतिरपि भिन्नेव व्यवहारपथम-वतरति गगनमिव स्वप्नदृष्टघटकटाहकोटरकुटीकोटिभिः। तदास्तां तावत्, किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तया ?

है। अर्थात् अनादि अविद्यावश घटपटादिकोंमें तथा घटज्ञान पटज्ञान आदिमें भेदकी प्रतीति होती है। एवं मायाद्वारा उपस्थापित उस उस उपाधिके भेदसे ही एक भी अनुभव भिन्न-भिन्नरूपमें व्यवहृत होता है। जैसे एक ही आकाश स्वप्नमें देखे गये घट कटाह कोटर कुटी आदि अनेक रूपोंमें भासित होता है।

अब वेदान्तकी चर्चा स्थगित रहे। क्योंकि आदीके बनियाको जहाजकी चिन्तासे क्या लाभ ? अर्थात् शून्यवादके खण्डनके लिये न्यायदर्शन ही पर्याप्त होगा। अतः यहाँ वेदान्तके उपयोगकी आवश्यकता नहीं है।[2]

---

१ अनुभवनीयतया इति ३ पु० पा०।

२ जिन युक्तियोंसे वेदान्त शून्वादका खण्डन करेगा, उन्हीं युक्तियोंसे न्याय भी खण्डन कर सकता है। क्योंकि सर्वथा असिद्ध भी शून्यता यदि मान्य हो तो व्यवहारद्वारा सिद्ध पूर्णताने क्या अपराध किया है कि वह न मानी जाय। यदि शून्यताको अनुभवबलसे मानो तो अनुभव उसके विपरीत ही बताता है। क्योंकि स्वप्नमें भी शून्यताका अनुभव किसीको नहीं होता है। एवं शून्यता क्या वस्तु है ? यह बताओ। यदि कहो कि अभाव ही शून्यता है, तो सामान्यतः भावके साथ उसका कोई विरोध नहीं है।

यदि सार्वकालिक अभावको शून्यता कहो तो भी विरोध नहीं है। क्योंकि हमेशा किसी न किसीका कहीं न कहीं अभाव न्याय भी मानता है। यदि कहो कि सर्वत्र अभाव शून्यता है, तो भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि एक सम्बन्धसे सत्ता होनेपर भी अन्य सम्बन्धसे उसकी असत्ता मानी ही जाती है। यदि कहो कि सभी सम्बन्धोंसे सर्वदा सर्वत्र अभाव शून्यता है, तो किसका अभाव है, यह बताओ। यदि सबका सर्वदा सर्वत्र अभाव शून्यता मानो तो सब काल, देश, सम्बन्ध

तस्मादनुभवव्यवस्थितौ अनात्माऽपि स्फुरतीत्यवर्जनीय-मेतत् । तत्सिद्धौ तल्लक्षणमपि किञ्चिदस्त्येव । तच्च बाह्या-विरोधे ज्ञानानित्यतायां तन्निष्ठमुभयनिष्ठं वा, बाह्यविरोधे ज्ञान-निष्ठमेव । तन्नित्यतायां तु ग्राह्यनिष्ठमेवेति ।

तथाहि, लक्ष्यस्तावदत्र विषयविषयिभावः । स च प्रका-

इसलिये अनुभवबलसे यह अनिवार्य है कि ज्ञानभिन्न भी भासित होता है । अर्थात् कोई अनुभव "इदं नीलम्" ऐसा होता है और कोई अनुभव तो "इमे नीलपीते परस्परं भिन्ने" ऐसा होता है । इस प्रकारकी विभिन्न अनुभवकी व्यवस्था केवल विज्ञानवादसे नहीं हो सकती है । अतः ज्ञानसे भिन्न विषयका भी भान मानना आवश्यक है ।

एवं बाह्यार्थकी ग्राह्यता सिद्ध होनेपर उसका नियामक भी कुछ (विषयविषयिभाव सम्बन्ध) होगा ही । और वह नियामक बाह्यवस्तु की पारमार्थिकताकी दशामें तथा ज्ञानकी अनित्यतापक्षमें ज्ञाननिष्ठ अथवा ज्ञान-अर्थ उभयनिष्ठ होगा । बाह्यार्थके निषेधकी दशामें योगाचारमतानुसार ज्ञाननिष्ठ ही होगा तथा वेदान्तमतानुसार ज्ञाननित्यत्व-पक्षमें तो बाह्यवस्तुनिष्ठ ही होगा । क्योंकि उस नियामकके आविद्यक होनेसे वह परमार्थभूत ज्ञानात्मक ब्रह्ममें स्थित नहीं हो सकता । साथ ही ज्ञानके नित्य होनेके कारण सदैव "अहं घटं जानामि" ऐसा अनुव्यवसाय होने लगेगा ।

इस न्यायमें विषयविषयिभाव ही वह नियामक है । और वह एक प्रकारका स्वभावविशेष है, जो सद्भूत प्रकाश (ज्ञान) में विषय-सम्बन्धित्वमात्ररूप है । अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञानके निराकार होनेसे विषयके द्वारा ही ज्ञानका निरूपण संभव है । अतः विषयनिरूप-णीयता ही ज्ञानगत तदीयता अर्थात् विषयसम्बन्धिता है, और वही न्यायानुसार विषयविषयिभाव है, जो ज्ञाननिष्ठ माना गया है ।

तथा प्रतियोगियोंको मानते हुए भी शून्यता बताना यह बहुत बड़ा आश्चर्य है । ज्ञानगत विषयसम्बन्धिताके स्वाभाविक होनेके कारण ही उसके लिये भी स्वभाव ही नियामक है, किसी अन्यकारणकी अपेक्षा नहीं है ।

शस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः। स्वभावत्वादेव च नोपकारान्तरमपेक्षते, तन्मात्रीयत्वादेव च नान्यदीयः।

किमस्य फलमिति प्रश्नप्रसङ्गेऽपि बहिस्तद्गोचरव्यवहार-प्रवृत्तिरान्तरमपि तेन ज्ञाननिरूपणम्। कुतोऽयमीदृगित्यनु-योगेऽपि सामग्रीशक्तिरेवोत्तरं कार्यकारणवत्। अन्यथा तत्राप्युपकारान्तरापेक्षायामनवस्था, तदनपेक्षायां (वा) साधा-

एवं तज्ज्ञानमें तन्मात्रका सम्बन्ध होनेसे ही उस ज्ञानमें विषया-न्तरके सम्बन्धका आपादन भी नहीं किया जा सकता है। अर्थात् "प्रकाशस्य सतः तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषो विषयविषयिभावः" इस निर्वचनमें प्रकाश (ज्ञान) को सत् कहनेसे उसकी शून्यताका निराकरण होकर भावरूपता सिद्ध होती है। तदीयतापदसे छप्रत्यय-द्वारा घटज्ञान पटज्ञान यहाँपर ज्ञानमें घटपटादिका विषयितारूप सम्बन्ध सूचित होता है। तदीयतामात्र यहाँ मात्रपदसे घटज्ञानमें पटविषयिता तथा पटज्ञानमें घटविषयिताके प्रसङ्गका निवारण होता है। एवं "स्वभा-वविशेषः" यहां स्वभावपदसे सूचित होता है कि ज्ञानगत विषयकी विषयिता किसी कारणके अधीन नहीं है किन्तु स्वाभाविक है। इसी प्रकार विशेषपदसे "ज्ञानाभाव तथा ज्ञानसमवाय" यहाँ पर अभावके साथ तथा समवायके साथ ज्ञानका स्वरूपसम्बन्ध होनेपर भी विषय-विषयिभावका वारण किया जाता है।

इस विषयविषयिभाव सम्बन्धका फल क्या है ? ऐसे प्रश्नके प्रसङ्गमें भी यही उत्तर होगा कि बाहरमें उस विषयसे सम्बद्ध ग्रहण-परित्यागादि व्यवहारोंमें प्रवृत्त कराना और देहके अन्दर उसके द्वारा ज्ञानका निरूपण कराना। अर्थात् ज्ञानके निराकार होनेके कारण विषयके सम्बन्धसे ही उसके स्वरूपका निरूपण संभव है।

ज्ञानका नियतविषयसम्बन्धितारूप यह स्वभाव भी कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर भी सामग्रीकी स्वाभाविक शक्ति ही उत्तर होगा। जैसे कि कार्यकारणभावस्थलमें होता है। अन्यथा नियत कार्य पैदा करनेमें कारणगत स्वाभाविक शक्ति न मानकर किसी अन्य नियामककी अपेक्षा करनेपर उसका भी कोई अन्य नियामक तथा उसका भी कोई

रण्यं केन वार्यम्[1] । तेन तदेव क्रियते, अनेनाप्येतदेव विषयी-क्रियत इति विवेचनीयम् ।

विषयीक्रियत इति कोऽर्थः ? क्रियत इत्यपि कोऽर्थः ? इति विचारणीयम् । कार्योत्पादनमेव करणम्, तदीयतयोत्पत्तिरेव विषयीकरणमिति विवेचनीयम् । उपकारस्तु यथाऽत्र विज्ञानस्वरूपातिरिक्तो नास्ति, तथाऽत्रापि कार्यस्वरूपातिरिक्तो नास्तीति प्रतिसन्धेयमिति ।

अतएव कार्यकारणभावोऽप्युपेक्षितव्य इति तु महत् साह-

अन्य नियामक मानना पड़ेगा। इस प्रकारकी परम्परामें अनवस्थादोष आ जायगा। एवं यदि स्वभाविक शक्ति भी न मानो तो और कोई नियामक भी न मानो तो अन्य कारणोंसे अन्यकार्योंकी उत्पत्ति कैसे रोकी जा सकती है ?

यदि कहो कि—उस कारणद्वारा वही कार्य किया जाता है, अतः साधारण्यदोष नहीं आ सकता—तो इस ज्ञानद्वारा भी यही अपना विषय बनाया जाता है, यह भी समझना चाहिये। अर्थात् ज्ञानविशेषके द्वारा विषयविशेषका ही विषयीकरण होता है, अतः एकविषयके ज्ञानमें विषयान्तरसम्बन्धिताका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। यदि पूछो कि—विषयीकरणका क्या अर्थ है ? तो करणका भी क्या अर्थ है ? यह विचारणीय है। यदि कहो कि—कार्यका उत्पादन ही करण है—तो ज्ञानमें तदीयताकी उत्पत्ति ही विषयीकरण, यह समझना चाहिये। साथ ही विषयकृत ज्ञानगतविषयितारूप उपकार भी जैसे यहाँपर ज्ञान-स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, वैसे वहाँ भी कारणकृत कार्यगत करण-रूप (उत्पादनरूप) उपकार भी कार्यस्वरूपसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह ध्यान देने की चीज है।

इसीलिये-विषयविषयिभावके समान कार्यकारणभाव भी उपेक्षणीय है—यह कथन भी बहुत बड़ा साहस है। अर्थात् "नियतकार्यके उत्पादन-

---

१ वार्येत इति ३ पु० पा०।

सम् । तथा सति हि स्यादेव न स्यादेवेत्यापद्येत । तथा च प्रकाशतमसोरन्यतरस्य कौटस्थ्यप्रसङ्गः । सांवृतोऽस्त्विति[1] चेत्, विषयविषयिभावोऽप्येवमस्तु । यदि विषयकार्ययोर्बलवती बाधेति सांवृतः, नो चेदेव[2]मिति द्वयी गतिः ।

तदत्र तत्त्वम्—न तावदुभयनिष्ठं लक्षणम्, सतोऽसतो वा स्थिरस्यापि स्फुरणात् । न च ज्ञाननित्यतायां पारमार्थिक-

---

के लिये कारणप्रगत उपकारान्तर (प्रयोजकान्तर) की अपेक्षा होनेपर अनवस्था और उसकी अनपेक्षा माननेपर साधारण्यदोषके कारण ही कार्यकारणभाव भी नहीं मानना चाहिए" इस प्रकारका कथन तो दुःसाहस है। क्योंकि कार्यकारणभावका बहिष्कार देनेपर तो कार्य या तो नित्य ही होता रहे अथवा बिल्कुल न होवे। अर्थात् संसारके सभी पदार्थ नित्य होंगे या मिथ्या होने चाहिये। ऐसे ही विषयविषयिभावका बहिष्कार करनेपर प्रकाश और अन्धकारमें कोई एक कूटस्थ नित्य होने लगेगा। अर्थात् ज्ञानको यदि विषयनिरपेक्ष होनेसे अनादि मानो तो ज्ञानमें कूटस्थत्व (सदातनत्व) आजायगा तथा यदि मिथ्या मानो तो ज्ञानका अभाव ही कूटस्थ हो जायगा। इस प्रकार क्षणिकविज्ञानवाद उभयथा ध्वस्त हो जाता है!

यदि कहो कि—कार्यकारणभावका सर्वथा अपलाप नहीं किया जा रहा है किन्तु वह सांवृत (व्यावहारिक) मात्र है—तो विषयविषयिभाव भी वैसे ही व्यावहारिक होवे। इसलिये विषयविषयिभावमें और कार्यकारणभावमें यदि बलवान् बाधक होगा तो दोनो ही सांवृतिक होंगे, अन्यथा दोनों ही वास्तविक होंगे।

यहाँ यह निष्कर्ष है कि विषयविषयिभावरूप नियामक बौद्धमतानुसार विषय और ज्ञान उभयनिष्ठ नहीं हो सकता है। क्योंकि भाव या अभावभूत स्थिर पदार्थका भी भान होनेसे उभयनिष्ठताकी दशामें विषय के स्थिर होनेसे तत्सहभूत ज्ञान भी स्थिर होने लगेगा। "ज्ञानके नित्य होनेके कारण विषयविषयिभावको ज्ञाननिष्ठ माननेपर सदा व्यवहारका

---

१ सांवृतोऽस्तु कार्यकारणभाव इत्यर्थः ।
२ वास्तवमित्यर्थः ।

बाह्यनिष्ठम्, सत्कार्यवादव्यावृत्तेः सांख्यप्रक्रियाविध्वंसात् ।
न खलु पूर्वापर (पूर्व) तिरोभावाविर्भावावन्तरेण विचारस्याप्यवसरः । नाप्यलीकग्राह्यतया क्षणिकज्ञाननिष्ठमिति, तुच्छस्य विशेषाभावात्, ज्ञानस्य च निराकारत्वात्, अन्यत्राप्य (प्र) सिद्धेरारोपयितुमशक्यत्वात् ।

असन्त एव विशेषकाश्चकासतीति चेन्न, असन्त इति ह्यतत्काला अतद्देशा इति वा ? अकिञ्चिद्रूपा इति वा ?

प्रसङ्ग होने लगेगा । अतः आविर्भाव और तिरोभाव स्वभाववाले विषय में ही स्थित विषयविषयिभाव होगा" यह सांख्यमत भी ठीक नहीं है । क्योंकि सत्कार्यवादके निराकरण हो जानेसे सांख्यकी यह प्रक्रिया भी ध्वस्त है । क्योंकि पूर्वके विनाश और उत्तरकी उत्पत्तिके विना प्रस्तुत विचारका भी अवसर नहीं आ सकता है । अर्थात् ज्ञानके नित्य मानने पर उसका उत्पाद और विनाश नहीं हो सकेगा । अतः विपरीत पूर्वज्ञानकी निवृत्ति और यथार्थ उत्तरज्ञान को उत्पत्तिके लिये किया जाने वाला यह विचार भी निष्फल हो जायगा ।

ग्राह्यविषयोंके अलीक होनेसे क्षणिकविज्ञाननिष्ठ भी विषयविषयिभाव नहीं हो सकता । क्योंकि विषयके तुच्छ होनेसे विषयकृत तथा ज्ञानके निराकार होनेसे आकारकृत विशेषता ज्ञानोंमें नहीं आ सकती । अतः नीलज्ञान और पीतज्ञानमें परस्पर विशेषताकी प्रतीति नहीं हो सकेगी । साथ ही जो अन्यत्र कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं, उसका आरोप भी नहीं हो सकता । अतः आरोपित नीलपीतादिके द्वारा भी ज्ञानोंमें विशेषता नहीं आ सकती है ।

यदि कहो कि—असत्ख्यातिवादके अनुसार नीलपीतादि असत् होते हुए भी ज्ञानोंमें विशेषाधायक होंगे । जैसे, अतीत और अनागत वस्तु वर्तमानमें असत् होती हुई ही ज्ञानकी विशेषिका होती है—तो ऐसा नहीं कह सकते हो । क्योंकि असत्का क्या अर्थ है ? क्या जो तत्कालीन और तद्देशीयसे भिन्नरूप है, उसे असत् कहते हो ? या जो अकिञ्चिद्रूप हैं, वह असत् है ? अथवा कोई नियत व्यावृत्तिमात्रस्वरूप

नियतव्यावृत्तिमात्ररूपा इति वा ? प्रथमे कालदेशान्तरयोः सत्त्वप्रसङ्गः। द्वितीये त्वविशेषता। तृतीये नीलस्यालीकस्यानीलव्यावृत्तिरूपतायामनीलानां पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः। तेषामलीकत्वे तद्व्यावृत्त्यात्मनो नीलस्यानलीकत्वापत्तिः। तथाऽप्यलीकत्वेऽविशेषत्वम्।

तेन रूपेणाविशेषत्वमेवेति चेत्, अथ विशेषः केन ? नीलपीतादिनेति चेत्; तत् किं ततोऽधिकम् ? अनलीकं तर्हि स्यात्। अनधिकं चेत्, कुतस्तेनापीति।

वासनावशाद् विशेषाः स्फुरन्तीति चेत्, स्फुरन्तु, कः कारणे विप्रतिपद्यते ? ते तु नीलादयो यद्यकिञ्चिद्रूपाः, कथं

है ? यदि प्रथम अर्थ लो तो प्रतियोगीभूत कालान्तर और देशान्तरको सत्ता सिद्ध हो जाती है। द्वितीय अर्थमें उससे ज्ञानोंमें कोई विशेषता नहीं आ सकती है। तृतीय अर्थमें अलीकभूत नील यदि अनीलोंकी व्यावृत्तिरूप हो तो अनीलोंमें पारमार्थिकता आजायगी। यदि वे अनील मिथ्या हों तो उनकी व्यावृत्तिरूप नीलमें पारमार्थिकत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि वे अनील और इनकी व्यावृत्तिरूप नील सभी अलीक हों तो पुनः वे ज्ञानमें विशेषाधायक नहीं हो सकते हैं।

यदि कहो कि—अलीकत्वरूपसे नीलादि ज्ञानके अविशेषक ही हैं तो फिर वे ज्ञानमें विशेषता किसरूपसे लाते हैं ? यदि कहो कि—नीलत्वपीतत्वादिरूपसे, तो वह क्या अलीकसे भिन्न है ? यदि भिन्न हो तो वह नीलत्वादि अनलीक अर्थात् सत् हो जायगा। यदि वह नीलत्वपीतत्वादि अलीकसे अभिन्न हो तो फिर उसरूपसे भी नीलपीतादि ज्ञानके विशेषक कैसे हो सकते हैं ?

यदि कहो कि—वासनावशसे ज्ञानगत विशेषताओंका स्फुरण होता है। अर्थात् वासनाविशेषसे असत् भी नीलादिका स्फुरण होता है और वे ही ज्ञानके विशेषक होते हैं—तो वे भले ही स्फुरित होवें। क्योंकि स्फुरणके कारणके सम्बन्धमें किसे मतभेद है ? किन्तु वे नीलादि यदि अकिञ्चिद्रूप (तुच्छ) हैं तो वे ज्ञानमें विशेषक कैसे हो सकते हैं ?

विशेषाः ? तदितररूपेणाकिञ्चिद्रूपत्वे तेन रूपेण किञ्चिद्रूपा एवेति ब्रूमः ।

विचारासहतामात्रमलीकत्वमिति चेत्, तथापि भाषापरिवर्तनमात्रम्, विचारासहतायाः किञ्चिद्रूपत्वविरोधित्वात्। अविरोधे वा त्वद्विचारासहना अपि किञ्चिद्रूपा एव नीलादय इति विचारस्य दुर्विचारत्वप्रसङ्गः। तेन नीलादीनां छायामात्रस्याप्यनाक्रान्तेः प्रविश वा अनिर्वचनीयख्यातिकुक्षिम्, तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायनयानुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे। तस्मात्—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्—

यदि यह कहो कि—नीलत्वसे इतर जो पीतत्वादि उस रूपसे वे नीलादि अकिञ्चिद्रूप हैं—तो नीलत्वरूपसे वे किञ्चिद्रूप (वास्तविक) ही हैं, ऐसा हम कह सकते हैं।

यदि कहो कि—विचारासहत्व ही अलीकत्व है। अर्थात् नीलादिके स्फुरित होनेमें तथा ज्ञानोंका विशेषक होनेमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु वे विचारकी कसौटीपर टिक नहीं पाते, अतएव अलीक कहे जाते हैं—तथापि इस कथनमें भाषाका ही केवल भेद है, वस्तुमें कोई अन्तर नहीं आता। अर्थात् नीलादिविषयको विचारासह कहते हुए उसे अकिञ्चिद्रूप (तुच्छ) ही कह रहे हो। क्योंकि विचारासहत्व किञ्चिद्रूपत्वका विरोधी है। यदि विरोधी न हो तो तुम्हारे लिये विचार सहनेके अयोग्य भी नीलादि किञ्चिद्रूप (वास्तविक) ही बने रहे। इस प्रकार तुम्हारा विचार ही दुर्विचार बन गया। क्योंकि उस विचारसे नीलादि विषयोंकी छायामात्र भी नहीं लांघी जा सकी, उन्हें तुच्छ सिद्ध करना तो दूर रहा। अतः असत्ख्यातिवादको छोड़कर वेदान्तकी अनिर्वचनीय ख्यातिकी शरण ग्रहण करो अथवा बुद्धिकी सङ्कीर्णता हटाकर न्यायमतानुसार नीलादि विषयोंकी वास्तविकता स्वीकार करो। अतः—

बाह्यार्थभेदोंके बिना ज्ञानस्थ भेद न सिद्ध है,

तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः ।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ? ॥ १ ॥

तच्चालीकं विचारासहमनिर्वचनीयं वा यमाश्रित्य जगद्गीयते, स एव विचारश्चिन्त्यतां कोऽसौ कीदृशश्चेति । सतर्कं प्रमाणमेव वाक्यारूढमिति चेत्, तच्चेद् विचारासहम्, किं तेन भौतविचारकल्पेन ।

तथाहि, केनचिद्भौतेन राजद्वारि द्विरदमवलोक्य विकल्पितम्—किमयमन्धकारो मूलकमत्ति ? आहोस्वित् जलवाहो बलाकान् वर्षति गर्जति च ? यद्वा बान्धवोऽयम् "राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः" इति परमाचार्यवचनात्,

---

बाह्यार्थबाधे विजयछवि वेदान्तकी ही सिद्ध है ।
यदि यों नहीं, तो विश्व ऐसा ही यथार्थप्रकाश है,
फिर क्या सुगतमतका यहाँ कुछ भी बचा अवकाश है ?

एवं जिसके द्वारा जगत्को विचारासहके रूपमें अथवा अनिर्वचनीयके रूपमें अलीक कहते हो, उस विचारका ही चिन्तन करो कि वह क्या है और कैसा है ? यदि—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनरूप पञ्चावयववाक्योपपन्न तर्कसहित प्रमाण ही वह विचार है—तो वह प्रमाणरूप विचार भी यदि नीलादिके समान ही विचारासह है तो भूताविष्टोंके विचारके समान वह विचार भी निष्फल ही है । अर्थात् उसके द्वारा सिद्ध किया हुआ जगत्का अलीकत्व भी स्वयं मिथ्या हो गया और फलतः जगत् सत्य ही सिद्ध हो गया ।

जैसे, किसी भूताविष्टने राजाके द्वारपर हाथीको देखकर कल्पना की कि—क्या यह अन्धकार मूली खा रहा है ? या मेघ बगुलोंकी वर्षा कर रहा है और गरज रहा है ? या यह कोई बान्धव है ? क्योंकि श्रेष्ठ आचार्योंका वचन है कि राजाके द्वारपर और श्मशानपर जो रहता है वह बान्धव है । अथवा जो यह जमीनपर दिखाई देता है, उसीकी

अथवा योऽयं भूमौ दृश्यते तस्यच्छायेति ?

दूषितश्च—तत्र नाद्यः, शूर्पयुगलप्रस्फोटनानुपपत्तेः[1] । न द्वितीयः, तस्य स्तम्भचतुष्टयाभावात् । न तृतीयः, तस्य लगुडभ्रामणाभावात् । न चतुर्थः, तस्य नरशिरःशतोद्गिरणाभावात् । ततो न किञ्चिदिदमिति ।

किमेतावता द्विरदस्वरूपं निवर्तताम् ? यद्वा वरमेतस्माद् योऽयं सोऽयमिति वादी द्वितीयो भौतः । तद्विचारसहमिति चेत्, एवं तर्हि स्वयमेव विलीनमलीकादिवादैः, नोत्तरप्रतीक्षणमपि ।

ऊपरकी तरफ खड़ी हुई छाया है ? (यहाँ जमीनपर पड़ी छायामें बिम्बभावका भ्रम तथा वास्तविक बिम्बमें छायाका भ्रम कर रहा है ।

पुनः उसीने इन कल्पनाओंका खण्डन भी कर दिया कि प्रथमपक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि यह अन्धकार होता तो सूपोंका फड़फड़ाना नहीं हो सकता । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह मेघ होता तो उसके चार खम्भे नहीं होते । तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बान्धव होता तो डण्डा नहीं घुमाता । चतुर्थ पक्ष भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह भूमिस्थ वस्तुकी छाया होती तो उसमेंसे मनुष्योंके बहुत से शिर नहीं निकलते । इसलिये यह कुछ भी नहीं है । (यहाँ कानोंमें सूपका, चारों पैरोंमें स्तम्भका, पूँछमें डण्डेका तथा पुरीषपिण्डोंमें शिरका भ्रम कर रहा है) यहाँ पूर्व और उत्तर दोनों ही कथन भ्रम है ।

तो क्या इस भौतविचारसे हाथीकी सत्ता समाप्त हो जाती है ? इससे वह दूसरा भौत (भूतग्रस्त) ही अच्छा है, जो "योऽयं सोऽयम्" कहता हुआ अनिर्वचनीय बताता है ।

यदि तर्कसहित पञ्चावयववाक्योपपन्न प्रमाणरूप विचारको विचारसह (विचारसिद्ध) मानो तो यहीं पर तुम्हारा अलीकवाद बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये अपने आप विलीन हो गया । अर्थात् तर्क, प्रमाण और पञ्चावयव वाक्य यदि पारमार्थिक हैं तो इनका विषय, वक्ता और

---

१ प्रस्फोटनाभावात् इति ३ पु० पा० ।

लोकसिद्धमिति चेत्, तर्हि तस्य परिकरशुद्धिरपि तथैव ग्राह्या, अन्यथा लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तेः। लोके चाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्तया प्रतिसंहृतमश्लिष्टार्थं प्रमाणान्तराप्रतिहतं स्ववचनस्वक्रियास्वज्ञानव्याघातादिदोषरहितं स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं वाक्यमर्थप्रतिपत्तेरङ्गम्, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति।

अनङ्गमितरत्—यथाऽयं पर्वतो देवदत्तो गौर इति, जलह्रदो वह्निमानिति, गिरिर्देवदत्तेन भुक्तमग्निमानिति, श्वेतो डित्थो धावतीति, शशो विषाणीति, माता वन्ध्येति,

---

प्रयोजन आदि भी पारमार्थिक ही होंगे! इसप्रकार जगत्‌का मिथ्यात्व कहां सिद्ध हुआ?

यदि कहो कि—लोकप्रसिद्धिके आधारपर ही पञ्चावयव वाक्यारूढ प्रमाणरूप विचारका ग्रहण होगा, अतः विचारको लोकसिद्ध माननेमात्रसे उसके अलौकत्वमें कोई बाधा नहीं होती है—तो उसके सहकारी कारणोंकी शुद्धता (निर्दोषता) भी लोकसिद्ध ही माननी पड़ेगी। अन्यथा लौकिक विषयका भी उल्लङ्घन कर देनेपर आपका यह तत्त्वविचार भी एक मनमाना वाग्जालमात्र बन जायगा। क्योंकि लोकमें आकांक्षा, योग्यता और आसत्तिसे युक्त होकर जाना गया, अश्लिष्टार्थक (अनेकार्थक पदोंसे रहित), दूसरे प्रमाणोंसे अबाधित, स्ववचनव्याघात स्वक्रियाव्याघात स्वज्ञानव्याघात आदि दोषोंसे रहित तथा अपने ही अर्थका खण्डनकर देनेवाली युक्तिका जो उपस्थापक न हो, ऐसा ही वाक्य अर्थबाधका कारण होता है। जैसे, "पर्वतोऽयं वह्निमान्" यह वाक्य अर्थबाधक होता है। इससे भिन्न प्रकारका वाक्य अर्थबोधक नहीं होता। जैसे, आकांक्षारहित होनेके कारण "अयं पर्वतो देवदत्तो गौरः" यह वाक्य, योग्यतारहित होनेके कारण "जलह्रदो वह्निमान्" यह वाक्य, आसत्तिरहित होनेके कारण "गिरिर्देवदत्तेन भुक्तमग्निमान्" यह वाक्य, श्वेतः, पदके श्लिष्टार्थक होनेसे "श्वेतो डित्थो धावति" यह वाक्य प्रत्यक्ष

अहं मूक इति, इमं न जानामीति, मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति भेषजमुच्यतामिति ।

तदर्थश्च साधनं दूषणं च । तत्र साधनं व्याप्तिपक्षधर्मतौपयिकरूपपञ्चकोपेतं लिङ्गम्, यथा विशिष्टधूमवत्त्वादिति । लिङ्गाभासमितरत्, यथा जलाशयत्वादिति ।

तत्परिकरश्च तर्कः । सोऽपि व्याप्तिबलमालम्ब्यानिष्टप्रसङ्गरूपः । अनिष्टं च द्विविधं प्रामाणिकपरित्यागोऽप्रामाणिकपरि[1]-

---

प्रमाणसे बाधित होनेके कारण "शशो विषाणी" यह वाक्य, स्ववचनव्याघातदोषसे "माता वन्ध्या" यह वाक्य, उच्चारणरूप क्रियासे व्याघात होनेके कारण "अहं मूकः" यह वाक्य, स्वज्ञानव्याघात होनेसे "इमं न जानामि" यह वाक्य (क्योंकि ज्ञात विषयको ही "इमम्" शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है, अतः "इमं न जानामि" कहना स्वज्ञानव्याहत है), तथा स्वार्थप्रतिक्षेपक युक्तिका उपस्थापक होनेके कारण "मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति, भेषजमुच्यताम्" इत्यादि वाक्य अर्थके बोधक नहीं होते हैं। यहाँ अन्तिम वाक्यमें कानमें प्रविष्ट हाथीकी गर्जनाके निवारणार्थ औषधकी जिज्ञासा की गयी है। किन्तु कर्णमें गजगर्जनरूप निवारणीय वस्तु ही अत्यन्त असत् है। अतः उसके लिए औषधाभिधान सर्वथा अयोग्य है। अतः यह वाक्य अर्थबोधक नहीं हो सकता है।

एवं उक्त पञ्चावयव वाक्यका अर्थ (प्रयोजन) है 'स्वपक्षका साधन तथा परपक्षका दूषण"। इनमें व्याप्ति-पक्षधर्मताके सम्पादक पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व और अबाधितत्व नामक पञ्चरूपोंसे युक्त हेतु ही साधन है, जैसे वह्निको सिद्ध करनेमें अविच्छिन्नमूलवाला धूम हेतु। किन्तु उक्त पञ्चरूपोंसे जो रहित होगा, वह हेतु न होकर हेत्वाभास होगा। जैसे वह्नि सिद्ध करनेमें जलाशयत्व हेत्वाभास होगा न कि हेतु। तथा उसका सहकारी कारण तर्क होता है। वह तर्क भी व्याप्तिबलके आधारपर अनिष्टापादनस्वरूप है।

---

[1] काभ्युपगमश्च इति ३ पु० पा०।

ग्रहश्च[1], यथा यद्युदकं पिपासादुःखं न शमयेत्, न पीयेत। यदि च तदेव परमन्तर्दहेत्, तदाऽविशिष्टं मामपि दहेत्।

इतरस्तु तर्काभासः। यथा यदि जलं पिपासादुखं नाशमयिष्यत् रूपवदपि नाभविष्यत्, यथाऽऽकाशम्। यदि च तदेव परमधक्ष्यत् मामपि सुरभिमकरिष्यदिति।

दूषणमपि स्वप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं दूष्या ाधकत्वाविनाभूतं सिद्धं च। यथाऽग्निमत्त्वे साध्ये प्रमेयत्वमनैकान्ति-

---

और वह अनिष्ट दो प्रकारका होता है, प्रामाणिकका परित्यागरूप तथा अप्रामाणिकका ग्रहणरूप। जैसे–यदि पानी प्यासके कष्टको नहीं मिटाता तो उसका पान नहीं किया जाता। यहाँ पानीका पीया जाना प्रामाणिक है, अतः प्रामाणिकका परित्यागरूप अनिष्टापादन किया गया है। एवं वही यदि भीतर दाह पैदा करता तो समानन्यायसे मुझमें भी दाह पैदा करता। यहाँ पानीका दाह पैदा करना अप्रामाणिक है। अतः अप्रामाणिकका ग्रहणरूप अनिष्टका आपादन किया गया हैं। यहाँ प्रामाणिकका परित्याग तथा अप्रामाणिकका ग्रहणरूप दोनों ही तरहका अनिष्टापादन व्याप्तिके आधारपर है, अतः यह तर्क है।

किन्तु व्याप्तिबलके बिना ही किया जाने वाला अनिष्टापादन तर्काभास है। जैसे—यदि जल प्यासके कष्टको नहीं शान्त करता तो वह रूपवान् भी नहीं होता, जैसे आकाश। और यदि वही भीतर दाह पैदा करता तो मुझे भी सुगन्धित कर देता। यहाँ पिपासा शान्त करनेका रूपवान् होनेके साथ तथा दाह पैदा करनेका सुगन्धित करनेके साथ कोई व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है। अतः यह तर्काभास है।

एवं परपक्षका दूषण करनेवाला भी वही होता है, जो स्वार्थप्रतिक्षेपक युक्तिका उपस्थापक न हो, दूषणीय विषयका निश्चित रूपसे असाधक हो तथा स्वयं सिद्ध हो अर्थात् असिद्धिग्रस्त न हो। जैसे, अग्निसाध्यके प्रति व्यभिचारी होनेसे प्रमेयत्व हेतु नहीं होता। अर्थात् यहाँ दिया गया व्यभिचाररूप दूषण स्वार्थपर आघात करनेवाली युक्तिको उपस्थित नहीं करता और न दूषणीय वह्निरूप साध्यका साधक ही है तथा वह्निसाध्यके प्रति प्रमेयत्वहेतुमें व्यभिचारदोष सिद्ध भी है।

कत्वादहेतुरिति। अन्यथा तु तदाभासम्, यथाऽयं धूमो नाग्निसाधकः सर्वथानुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात् प्रमेयत्वात् विरुद्धत्वाच्चेति।

इतरदपि प्रमाणमनुमानच्छाययैव विचाराङ्गम्, तर्कमन्यथासिद्धिं च पुरस्कृत्य प्रवृत्तेः। ततस्तत्राप्येषैव रीतिरनुगन्तव्येति।

एवं व्यवस्थिते लोकव्यवहारे साधनोपक्रमेण यदि विचारयसि, प्रतिज्ञैव तावन्नाङ्गं धारयति। तथाहि—न किञ्चिदस्ति, न किञ्चित् सत्यम्, न किञ्चित् कारकम्, न

इसके विपरीत जो दूषण उक्त तीनों लक्षणोंसे रहित होता है वह तो दूषण न होकर दूषणाभास होता है। जैसे कोई कहे कि "यह धूम अग्निका साधक नहीं है, क्योंकि सर्वथा अनुपलभ्यमान उपाधियोंकी शङ्कासे ग्रस्त है, प्रमेय है तथा अग्निसाध्यके प्रति विरुद्ध है। अर्थात् यहाँका दूषण अपना ही व्याघातक है। क्योंकि यदि धूम हेतुको सर्वथा अनुपलभ्यमान उपाधियोंकी आशङ्कासे ग्रस्त माना जाय तो दूषणभूत तुम्हारा यह सर्वथाअनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वरूप हेतु भी स्वयं सर्वथाअनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कासे ग्रस्त हो जायगा। एवं जो प्रमेय होता है वह अग्निका असाधक नहीं होता, क्योंकि धूम प्रमेय होता हुआ भी तुम्हारे लिये दूषणीयभूत अग्निका साधक ही होता है। तथा वह्निरूप साध्यके प्रति धूमहेतुको विरुद्ध कहना असिद्ध है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अनुमानके समान ही विचारका अङ्ग होते हैं। क्योंकि तर्क और अनन्यथासिद्धि (व्याप्ति) को लेकर ही उनकी भी प्रवृत्ति होती है। इसलिये उनमें भी अनुमानकी ही रीतिका अनुसरण करना होगा।

इस प्रकार तर्करूप परिकरकी शुद्धिसहित साधन और दूषणद्वारा ही लोकव्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था हो जानेपर यदि स्वपक्षसाधनके रूपमें विचार करते हो तो तुम्हारी प्रतिज्ञा ही अपने स्वरूपको कायम नहीं रख सकती है। क्योंकि कोई वस्तु नहीं है, जैसे रज्जुसर्प;

किञ्चिद् विचारसहम्, न किञ्चित् सालम्बनम्, न किञ्चिद् दर्शनम्, न कश्चित् सिद्धान्त इत्यादौ स्वार्थप्रतिक्षेपस्तावद् दुरुद्धरः[1]। प्रतिज्ञापि हि न स्यान्न सत्या, न कारिका, न विचारसहा, तद्विज्ञानमपि न सालम्बनम्, तत्फलमपि न दर्शनम्, तदर्थोऽपि न सिद्धान्त इत्यापद्येत।

इष्यत एवेमिति चेत्, इच्छामात्रेण व्याघातानिवृत्तेः। यदि हि न (ज्ञातं)[2] किञ्चिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञार्थः प्रतिज्ञां स्पृशेत्, कथमयमर्थः प्रत्येतव्यः? न चेत्, कथं सानुपपन्ना?

कोई ज्ञान सत्य नहीं है, जैसे रज्जुसर्पज्ञान, कुछ भी अर्थक्रियाकारक नहीं है, जैसे शशशृङ्ग; कुछ भी विचारकी कसौटीपर स्थिर रहनेवाला नहीं है; जैसे प्रतिबिम्ब; कोई भी ज्ञान सालम्बन (सविषयक) नहीं है, जैसे स्वाप्नज्ञान; दृश्यरूप वस्तुके अभावमें कोई दर्शनरूप क्रिया भी नहीं है; जल और अग्निके समान परस्पर व्याघातक होनेके कारण कोई सिद्धान्त भी नहीं है; इत्यादि प्रकारकी प्रतिज्ञाओंमें स्वार्थप्रतिक्षेपका वारण अशक्य है। अर्थात् इस प्रकारकी प्रतिज्ञासे उक्तप्रतिज्ञाके ही स्वरूपपर आघात पहुँच जाता है। क्योंकि जब कुछ नहीं है, तब यह प्रतिज्ञा भी नहीं है। यदि कोई ज्ञान सत्य नहीं है तो प्रतिज्ञार्थका ज्ञान भी सत्य नहीं होगा। एवं पूर्वोक्त प्रकारसे प्रतिज्ञा भी अर्थक्रियाकारिका नहीं होगी, विचारसह नहीं होगी, उसका ज्ञान सविषयक नहीं होगा, उसका फल भी कोई बोध नहीं हो सकता तथा उसका अर्थ भी कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता; इत्यादि आपत्तियाँ स्वयं प्रतिज्ञाके ऊपर आ पड़ती हैं।

यदि कहो कि—उक्त सारी बातें इष्ट ही हैं—तो तुम्हारी इच्छामात्रसे व्याघातकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि "न किञ्चिदस्ति" इत्यादि प्रतिज्ञाओंका अर्थ यदि स्वयं इन प्रतिज्ञाओंपर भी लागू होता हो तो इनके द्वारा बताये जानेवाले आपके अभीष्ट अर्थकी भी प्रतीति कैसे हो सकेगी? यदि उक्त प्रतिज्ञाओंका अर्थ इन प्रतिज्ञाओंको न छूता हो

१. दुर्वार इति १ पु० पा०। २. ज्ञातमिति १ पुस्तके नास्ति।

तदनुपपन्नत्वे च कथं पुनः प्रतिज्ञार्थ उपपद्येत ? तदिदमायातम्, स्वविषमूर्छिता भुजङ्गी आत्मानमेव[1] दशतीति ।

तत्त्वत इति विशेषणादयमदोष इति चेत्, तद्विचारो वा स्यात् लोकमर्यादातिक्रमो वा । प्रथमः पूर्वमेव निरस्तः; तस्य प्रतिज्ञारूपतया कुलीरस्येव स्वप्रसूतयुक्त्यपत्येनैव प्रतिहतत्वात् । द्वितीये तु स्वच्छायातिक्रमवत् स एव व्याघातः । यदि हि लोकमर्यादातिक्रमः, न विचारस्वरूपस्थितिः । तत्स्वरूपस्थितिश्चेत्, न तदतिक्रम[2] इत्यर्थः ।

तो स्वयं इनका ही अस्तित्व सिद्ध हो गया, फिर सबका असत्त्व कहाँ सिद्ध हुआ ? यदि तो सबके साथ इन प्रतिज्ञाओंका भी अस्तित्व न हो तो इनके द्वारा बताये जानेवाले सर्वासत्त्व आदि आपका अभीष्ट प्रतिज्ञार्थ भी कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् आपकी प्रतिज्ञायें अपने ही स्वार्थकी घातिका बन जाती हैं । इससे यही आया कि अपने ही विषसे मूछित हुई प्रतिज्ञासर्पिणी अपने आपको डँस रही है ।

यदि कहो कि—उक्त प्रतिज्ञावाक्योंमें "तत्त्वतः" ऐसा विशेषण देनेसे यह दोष नहीं आ सकता । अर्थात् तत्त्वरूपसे कुछ नहीं है, यही उन प्रतिज्ञाओंका अर्थ है । इसलिए वस्तुओंकी और इन प्रतिज्ञावाक्योंकी भी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं—तो बताओ, तत्त्वका अर्थ विचार है या अतात्त्विक लोकमर्यादाका अतिक्रमण ही तत्त्व है ? प्रथम पक्ष तो पहले ही खण्डित हो चुका है । क्योंकि विचार तो पूर्वोक्त प्रतिज्ञारूप ही है, जो केंकड़ेके समान स्वयं पैदा की गयी युक्तिरूपी सन्ततिके ही द्वारा विनष्ट हो चुका है । दूसरे पक्षमें तो अपनी छायाको लाँघनेके समान फिर वही व्याघात दोष आ जाता है । क्योंकि यदि लोकमर्यादाका अतिक्रमण होगा तो विचारका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा और वह दुर्विचार हो जायगा । यदि विचारस्वरूपको कायम मानो तो लोकमर्यादाका अतिक्रमण नहीं हुआ ।

१. स्वात्मानमपि इति १ पु० पा०

२. इति प्रतिषेध्यसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातात् इति १ पु० पा०

प्रतिषेध्यसिद्ध्यसिद्धिव्याघातश्च। यदि हि प्रतिषेध्यं सिद्धं नात्यन्ताय प्रतिषेधः। न चेन्नतराम्। लोकव्यवहारसिद्धमिति चेत्, सिद्धमेव हि तर्हि, नह्यन्यतोऽपि किञ्चित् सिध्यति। नायमबाध्यो व्यवहार इति चेत्, न, यदि नैकत्र, अन्यत्रापि[1] तथाभावप्रसङ्गात्।

सर्वत्र बाध्यत इति चेत्, तदपेक्षसिद्धिना व्यवहारेण ?

यदि कहो कि—तत्त्वका अर्थ परमार्थ है, इसलिए उक्त प्रतिज्ञाओंका अर्थ है कि परमार्थतः कुछ भी सत् नहीं है इत्यादि—तो भी प्रतिषेध्यकी सिद्धि या असिद्धि उभय दशाओंमें व्याघात दोष आ जाता है। क्योंकि जिस पदार्थका प्रतिषेध कर रहे हो वह प्रतिषेध्य यदि सिद्ध है, तो उसका आत्यन्तिक प्रतिषेध नहीं हो सकता है। और यदि वह प्रतिषेध्य वस्तु असिद्ध है, तब तो सुतराम् प्रतिषेध नहीं हो सकता है। क्योंकि निषेधके प्रति निषेध्यरूप प्रतियोगीका ज्ञान कारण होता है। यदि कहो कि—प्रतिषेध्य वस्तु लोकव्यवहारसे सिद्ध है, अतः उसका प्रतिषेध होनेमें कोई बाधा नहीं है—तब तो वह वस्तु सिद्ध ही हो गयी। क्योंकि किसी भी वस्तुकी सिद्धि लोकव्यवहारसे ही होती है, अन्य प्रकारसे नहीं।

यदि कहो कि—प्रतियोगीभूत प्रतिषेध्य वस्तु लोकव्यवहारसे सिद्ध तो है, किन्तु वह लोकव्यवहार अबाध्य नहीं है। अर्थात् प्रतिषेधके लिए प्रतियोगीके प्रमात्मक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु भ्रमात्मक प्रतियोगीज्ञानसे प्रतिषेध हो सकता है—तो ऐसा नहीं कह सकते! क्योंकि वह लोकव्यवहार यदि एक जगह अबाध्य नहीं है, अर्थात् किसी एक ही जगह बाध्य है, तो अन्य जगहोंपर उसका अबाध्य होना मानो। तात्पर्य यह है कि शुक्तिमें रजतत्व यदि अबाध्य नहीं है, तो बाजारमें वर्तमान रजत अवश्य अबाध्य है। यदि कहो कि—वह लोकव्यवहार सिर्फ एक जगह नहीं किन्तु सर्वत्र बाधित है—तो क्या बाध्यभूत वस्तु की अपेक्षाकर जिसकी सिद्धि है, ऐसे व्यवहारप्रमाणसे वह बाधित

[1]. सूत्रे "अपि" शब्दः स्वीकृतिसूचकः।

अनपेक्षेण वा ? अव्यवहारेणैव वेति ? यस्तावत्तदपेक्षसिद्धिः, स कथं तमेव बाधेत ? न ह्यनुष्णत्वानुमानेनोष्णत्वग्राहिप्रत्यक्षबाधो लोके। द्वितीयस्त्वसम्भवी, न हि निषेधकं प्रमाणं निषेध्यसिद्धिनिरपेक्षं भवितुं क्षमते। तृतीये तु तद्विपरीतापत्तिः, विचारबाध्यत्वमुपक्रम्याविचारेण मुद्रणात्[1]।

न चैतदपि निर्व्यूढम्। स ह्ययत्नसिद्धमध्यक्षं वा स्यात्, अनिष्टिमात्रं वा। आद्ये विरोधोऽसिद्धिश्च। द्वितीये लोकाति-

होता है? या बाध्यभूतवस्तुनिरपेक्ष सिद्धिवाले व्यवहारप्रमाणसे? अथवा अव्यवहारसे ही बाधित होता है? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि जिस व्यवहारकी सिद्धि बाध्यभूत वस्तुके ही अधीन है, वह व्यवहार उसी वस्तुको कैसे बाधित कर सकता है? क्योंकि लोकमें अग्निमें अनुष्णत्वानुमानद्वारा उष्णत्वग्राहक प्रत्यक्षका बाध नहीं होता है। अर्थात् प्रत्यक्षगृहीत व्याप्तिके आधारपर ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये अनुमानप्रमाण प्रत्यक्षका बाध नहीं करता है। वैसे ही वस्तुसापेक्ष व्यवहार उसी वस्तुका बाध नहीं कर सकता है।

दूसरा पक्ष तो असंभव है। क्योंकि निषेध करनेवाला व्यवहारप्रमाण निषेध्यवस्तुकी सिद्धिकी अपेक्षा किये बिना हो ही नहीं सकता है। तृतीय पक्षमें तुम्हारे पूर्वकथनसे विपरीतकी आपत्ति हो जाती है। क्योंकि विचारद्वारा सबके बाधित होनेका उपक्रम करके अविचार (अव्यवहार) द्वारा बाधित होनेमें पर्यवसान करते हो। जब कि उपक्रमानुसार ही उपसंहार होना चाहिये।

साथ ही वस्तुमें अव्यवहारद्वारा बाध्यता सिद्ध भी नहीं है। क्योंकि अव्यवहारसे क्या अर्थ अभीष्ट है? अयत्नसिद्ध प्रत्यक्ष? अथवा अनिच्छामात्र? आद्य पक्षमें विरोध हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्षकी ही सत्ता तुम्हें स्वीकार करनी पड़ती है। एवं असिद्धि भी हो जाती है। कारण, प्रत्यक्ष तो वस्तुको बाधित नहीं करता प्रत्युत उसकी सत्ता को ही ज्ञापित करता है। द्वितीय अर्थके पक्षमें लोकनियमका अति-

१. विचारबाध्यत्वेन बृंहणात् इति १ पु० पा०

क्रमः, परानिष्ट्या त्वदनिष्टिबाधप्रसङ्गश्चेति ।

एतेन हेतवो निरस्ताः । ते हि ज्ञेयत्वात् ज्ञानत्वात् असत्त्वात् विकल्पानुपपत्तेः प्रत्ययत्वात् कर्मानुपपत्तेः मिथोव्याघातादित्यादयः । एते हि सर्व एव स्वार्थक्रियाप्रतिक्षेपिकां युक्तिमाक्षिपन्ति निषेध्यसिद्धिश्चापेक्षन्ते । अनैकान्तिकौ च प्रथमद्वितीयौ, स्वफल एव व्यभिचारात् । असिद्धौ तृतीय-

---

क्रमण हो जाता है । अर्थात् अनिच्छामात्रसे किसी वस्तुका बाध नहीं होता, यह लोकसिद्ध नियम है । साथ ही यदि अनिच्छामात्रसे किसीका बाध हो तो दूसरेको अनिच्छामात्रसे तुम्हारी इस अनिच्छाका भी बाध हो जायगा ।

इससे अपना ही व्याघातक युक्तियोंके उपस्थापक होनेके कारण आपके हेतु भी खण्डित हो जाते हैं । क्योंकि ज्ञेयत्व, ज्ञानत्व, असत्त्व, विकल्पानुपपत्ति, प्रत्ययत्व, कर्मानुपपत्ति और मिथोव्याघात आदि ही ये हेतु हैं, जिन्हें आपने अपने अभीष्ट साध्योंकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त किया है । ये सभी हेतु अपनी अर्थसिद्धिकी व्याघातिका युक्ति उपस्थित कर देते हैं और निषेध्यवस्तुकी सिद्धि भी करा देते हैं । अर्थात् सबको असत् सिद्ध करनेवाला आपका ज्ञेयत्व हेतु स्वयं ज्ञेय है या नहीं ? यदि ज्ञेय है, तब तो स्वयं वह हेतु भी असत् हो जायगा, फिर दूसरेको कैसे असत् सिद्ध कर सकेगा ? यदि वह हेतु अज्ञेय हो तो वह हेतु ही नहीं हो सकता । क्योंकि अज्ञात होकर कोई हेतु नहीं होता है । इस प्रकार सभी हेतु अपना ही व्याघातक हो जाते हैं । तथा आपकी प्रतिज्ञाओंमें निषेधनीय जो सत्त्व, सत्यत्व, सालम्बनत्व, कारकत्व, दर्शनत्व और सिद्धान्तत्व आदि हैं, वे यदि कहीं भी सिद्ध नहीं है, तो उनका अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि अभाव-बुद्धिके प्रति प्रतियोगिबुद्धि कारण होती है । यदि वे कहीं सिद्ध है, तो वे ही सत्, सत्य, सालम्बन आदि सिद्ध हो गये । फिर "कुछ भी सत् नहीं है" इत्यादि आपकी प्रतिज्ञायें ही भग्न हो जाती हैं ।

एवं, उक्त हेतुओंमें प्रथम ज्ञेयत्वहेतु और द्वितीय ज्ञानत्वहेतु अनैकान्तिक हो जाते हैं । कारण, अनुमितिरूप अपने फलमें ही उनका

चतुर्थो। अनैकान्तिकश्च पञ्चमः, पूर्ववत्। असिद्धो व्याघातेनानैकान्तिकश्च षष्ठः। असिद्धोऽनैकान्तिकश्च सप्तमः।

व्यभिचार हो जाता है। अर्थात् उक्त दोनों हेतुओंका फल है—आपकी अभीष्ट अनुमिति, जिसे ज्ञेय मानते हुए सत् मानोगे और ज्ञान मानते हुए सत्य मानोगे। यदि अपनी अनुमितिकी भी सत्ता और सत्यता तुम न मानो तो, हमारा ही अभीष्ट सिद्ध हो जायगा। क्योंकि मैं चाहता ही हूँ कि तुम्हारी उक्त अनुमिति ही गलत सिद्ध हो जाय।

एवं, तृतीय असत्त्व और चतुर्थ विकल्पानुपपत्तिरूप हेतु असिद्ध हैं। क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाणोंसे हमने बाह्य-सत्त्वको सिद्ध कर दिया है। साथ ही अबाध्य होनेसे बाह्यवस्तुओंका सत्त्वरूपसे विकल्प भी सम्भव है।

एवं पाँचवाँ प्रत्ययत्व हेतु भी अनैकान्तिक है। क्योंकि आपकी अनुमिति ही प्रत्यय होती हुई भी हेतु आदि आलम्बनोंसे युक्त है। एवं छठा हेतु भी असिद्ध तथा व्याघातके साथ-साथ अनैकान्तिक भी है। अर्थात् ग्राह्यत्वरूप कर्मत्व सिद्ध किया जा चुका है, अतः कर्मत्वानुपपत्तिरूप हेतु असिद्ध है। तथा "कर्मका अभाव होनेसे कोई भी दर्शन (ज्ञान) नहीं है" इस उक्तिमें व्याघात दोष आ जाता है। क्योंकि "न किञ्चिद् दर्शनम्" यह एक तुम्हारा साध्य ही है, जो तुम्हारे दर्शन (ज्ञान) का कर्म है। इस प्रकार तुम्हारा प्रतिज्ञावाक्य स्वयं व्याघात-दोष से ग्रस्त है। साथ ही यह कर्मत्वानुपपत्तिरूप हेतु व्यभिचारी भी है। क्योंकि फलीभूत प्रकृत अनुमिति ही स्वयं एक दर्शन (ज्ञान) है, जो "न किञ्चिद्दर्शनम्" इस साध्यको विषय बनाती है तथा तुम्हारे मतानुसार कर्मत्वानुपपत्तिरूप हेतु वहाँ भी है।

एवं, "न कश्चित् सिद्धान्तो मिथोव्याघातात्" इस अनुमानमें मिथो-व्याघातरूप सातवाँ हेतु भी असिद्ध है तथा अनैकान्तिक है। असिद्ध इसलिए कि एक ही सिद्धान्त प्रामाणिक होता है और उसका विरोधी दूसरा सिद्धान्त तो अप्रामाणिक होता है। जब दोनों विरोधी सिद्धान्तों-को प्रामाणिक माना जाता, तभी मिथ्योव्याघात होता। अतः मिथो-व्याघात ही असिद्ध है। अनैकान्तिक इसलिये है कि "न कश्चित् सिद्धान्तः" यह भी तो एक सिद्धान्त ही है।

सर्वे एव कालात्ययापदिष्टा इति ।

एतेन दृष्टान्ता अपि विसर्जनीयाः । ते हि रज्जुसर्पवत् तज्ज्ञानवत् शशविषाणवत् दर्पणमुखवत् स्वप्नप्रत्ययवत् छेद्यानुपपत्तौ छिदावत् मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलवदित्यादयः । येन च तत्र सर्पस्यासत्त्वं, तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वं, शशविषाणस्याकारकत्वं, दर्पणमुखस्य विचारासहत्वं, स्वप्नज्ञानस्य निरालम्बनत्वं, छेद्यानुपपत्तौ छिदानुपपत्तिश्चावधारितानि; तेनैव तत्र रज्जोः सत्त्वम्, असर्पज्ञानस्य सत्यत्वं, शशस्यान्यत्र गवादेर्विषाण एव कारकत्वं, दर्पणस्य विचारसहत्वम्, अस्वप्नज्ञानस्य सालम्बनत्वं, छेद्यनिष्ठा छिदा, सिद्धौ ज्ञानं कर्म चोपगादि-

एवं, उक्त सभी हेतु बाधित भी हैं। क्योंकि प्रमाणद्वारा सर्वासत्त्व-सर्वासत्यत्व आदि तुम्हारे साध्योंका अभाव सर्वसत्त्व और सर्वसत्यत्व ही आदि सिद्ध हैं।

पूर्वोक्त दोषोंसे तुम्हें अपने अनुमानमें दिये दृष्टान्तोंका भी परित्याग कर देना पड़ेगा। क्योंकि वे दृष्टान्त क्रमशः रज्जुसर्प, उसका ज्ञान, शशविषाण, दर्पणमुख, स्वप्नज्ञान, छेद्यवस्तुके अभावमें छेदनक्रिया, तथा परस्परका शोषक और निर्वापक (बुझा देनेवाला) अग्नि एवं जल आदि हैं। अर्थात् इन्हीं दृष्टान्तोंसे तुम क्रमशः सबको असत्, सभी ज्ञानको मिथ्या, सबमें अकारकत्व, सबको विचारायोग्य, सबको अनालम्बन (निर्विषयक), सबको अदर्शनरूप तथा सबकी असिद्धान्तरूपता आदि साध्य सिद्ध करते हो। किन्तु उक्त सभी दृष्टान्त दृष्टान्ताभास होनेसे प्रकृत अनुमानमें उपयोगी नहीं हो सकते हैं।

कारण, जिस प्रमाणसे रज्जुसर्पको असत्, उसके ज्ञानको मिथ्या, शशविषाणको अकारक, दर्पणमुखको विचारासह, स्वप्नज्ञानको निरालम्बन, छेद्यवस्तुकी अनुपपत्तिमें छेदनक्रियाकी अनुपपत्ति आदिका निश्चय करते हो, उसी प्रमाणद्वारा रज्जुमें सत्त्व, असर्पज्ञानमें सत्यता, शशके लोम आदिमें तथा गौकी तो सींगमें ही कारकत्व, दर्पणमें विचारसहत्व, स्वप्नभिन्न ज्ञानमें सालम्बनत्व (सविषयकत्व), छेद्य वस्तुमें

तानि। तदनुपपत्तौ वा साध्यविकलतया सर्व एवैते दृष्टान्ताभासाः। अन्तिमस्तु साधनविकलः। सिद्धान्तानां व्याघातः परस्परविरहरूपत्वलक्षणः। जलानलयोस्तु वध्यघातकस्वभावत्वलक्षणः, न च शब्दसाम्येनानुमानमित्येषा दिक्।

अस्तु तर्हि दूषणोपक्रमेण विचार इति चेत्, तमपि पश्यामः कीदृशोऽसाविति। नेदं स्थूलं विरुद्धधर्मासंसर्ग

छिदाक्रिया तथा सिद्धिके प्रति ज्ञानको कर्म सिद्ध करते हो। अर्थात बाह्यवस्तु सिद्धिका कर्म तुम्हारी दृष्टिमें भले ही न हो सके किन्तु ज्ञानको सिद्धिका कर्म तुम भी बताते हो। यदि वैसा न हो अर्थात् कहीं सत्त्व आदिकी प्रसिद्धि न हो तो सत्त्व आदिका अभावरूप साध्य भी प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार साध्योंकी अप्रसिद्धिके कारण तुम्हारे सभी दृष्टान्त साध्यविकल (साध्यशून्य) होनेसे दृष्टान्ताभास हो जाते हैं। अर्थात् दृष्टान्त वे ही हो सकते हैं, जहाँ साध्यका निश्चय हो। जल और अग्निरूप अन्तिम दृष्टान्त तो हेतुसे ही रहित हैं। क्योंकि पक्षभूत सिद्धान्तमें जिस प्रकारका व्याघात है, उस प्रकारका व्याघात दृष्टान्तभूत जलानलमें नहीं है। कारण, सिद्धान्तोंका व्याघात परस्पर अभावरूप है, जैसे शब्दनित्यत्व-सिद्धान्त और शब्दानित्यत्व-सिद्धान्तका। किन्तु जलानलरूप दृष्टान्तमें तो वध्यघातकभावरूप व्याघात है। अर्थात् जल अग्निका या अग्नि जलका अभावरूप नहीं है, किन्तु एक दूसरेका वध्य और घातकरूप है। इस प्रकार दृष्टान्तभूत जलानलमें सिद्धान्तोंवाला व्याघात है ही नहीं। अतः यह दृष्टान्त साधनसे शून्य हो गया। केवल व्याघातशब्दके साम्यमात्रसे वह दृष्टान्त अनुमानोपयोगी नहीं हो सकता है। इस तरह स्थापनापक्षमें दूषणोंका दिग्दर्शन कराया गया।

अवयविनिषेधका खण्डन

यदि कहो कि—परपक्षदूषणके रूपमें ही विचार किया जाय—तो उस विचार को भी देखते हैं कि वह कैसा है? जैसे-घटादि बाह्य स्थूल नहीं है; क्योंकि यदि स्थूल होता तो उसमें विरुद्ध धर्मोंका संसर्ग नहीं होता। किन्तु घटादिमें एकभागावच्छेदेन ग्रहण और अन्यभागावच्छेदेन अग्रहणरूप विरुद्धधर्म देखे जाते हैं। अतः वह स्थूल एक

प्रसङ्गात्, नास्थूलं तथाप्रतिभासप्रसङ्गात्, न परापेक्षं सदसद्-व्यतिरेकप्रसङ्गात्, नैकं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्, नानेकं भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गात्, न च व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्, नाव्यापकम् अविधेयत्वप्रसङ्गादित्यादिरिति चेत्, न, मिथो-

---

अवयवीरूप नहीं हो सकता है। एवं, यह घटादि अस्थूल भी नहीं है; क्योंकि यदि यह अस्थूल हो तो अस्थूलरूपसे प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु नहीं होती है। अर्थात् घटादि-बाह्य स्थूल भी नहीं है और अस्थूल भी नहीं है तथा इन दोनोंसे विलक्षण कोई प्रकार भी नहीं है। इसलिये अगत्या सिद्ध हो जाता है कि वह शून्यरूप है।

एवं, यह घटादि परानपेक्ष अर्थात् अहेतुक नहीं है, क्योंकि यदि यह अहेतुक होता तो यह आकाशके समान सदातन होता अथवा शशविषाणके समान सदा असत् ही होता। एवं, यह परापेक्ष अर्थात् अपने होनेके लिये हेतुकी अपेक्षा करनेवाला भी नहीं है, क्योंकि वैसा होता तो यह सत् और असत् दोनोंसे भिन्न होता। अर्थात् कारण-व्यापारके पूर्व घट सत् होकर नहीं पैदा होता है एवं असत् होकर भी नहीं पैदा होता है, क्योंकि असत् घटकी उत्पत्ति हो तो घटकारणसे पटकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये। कारण, पूर्वमें जैसे घट असत् है, वैसे ही पट भी असत् है।

एवं, यह घट एक नहीं है, क्योंकि एक होनेपर वैसी प्रतीति होनी चाहिये। अर्थात् रूपस्पर्शादिका समुदाय ही घट है। वह यदि एक होता तो रूपादिका विना भान किये केवल घटमात्रका भान होना चाहिये। घट अनेक भी नहीं है, क्योंकि अनेक होनेमें भेद व्यवस्थित होने लगेगा, किन्तु भेद तो आगे दूषित किया जाने वाला है। एवं घट व्यापक नहीं है, क्योंकि व्यापकमें क्रिया नहीं होनेसे वह भी निष्क्रिय होने लगेगा। घट अव्यापकभी नहीं है, क्योंकि उसमें अविधेयत्वकी प्रसक्ति होने लगेगी। अर्थात् अव्यापकत्वका अर्थ है, कहीं असत् होना और केवल सत्त्व ही विधेयत्वका ज्ञापक है। अतः अव्यापक (कहीं असत्) होनेपर घटमें विधेयत्वका अभाव हो जायगा। इत्यादि पूर्वोक्त प्रकारका तुम्हारा परपक्षदूषणरूप विचार नहीं हो सकता है—क्योंकि मिथोविरोध,

विरोधमूलशैथिल्येष्टापादनानुकूलत्वविपर्ययापर्यवसानैस्तर्काभासत्वात् ।

यथा हि नायं पर्वतो निरग्निः निर्धूमत्वप्रसङ्गात्, नाप्यग्निमान् तथोपलब्धिप्रसङ्गात् इत्यनयोरेक आभासः, परस्परार्थप्रतिक्षेपकयोरुभयोरनाभासत्वानुपपत्तेः, तथाऽत्रापि । न ह्यस्थूलतादिनिषेधादन्यः स्थूलतादिविधिः, तन्निषेधाद्वाऽन्योऽस्थूलतादिविधिरिति ।

मूलशैथिल्य, इष्टापादन, अनुकूलत्व तथा विपर्ययापर्यवसानके कारण तुम्हारे सभी तर्क तर्काभासरूप हैं । यहाँ मूलशैथिल्यका अर्थ है—तर्कके मूलभूत जो आपाद्यापादकका व्याप्तिनिश्चय तथा आपादकका अभ्युपगम हैं, उनमें दोनोंका अथवा किसी एकका अभाव होना । इष्टापादनका अर्थ है—वादिस्वीकृत अर्थका ही आपादन करना । अनुकूलत्वका अर्थ है—वादिस्वीकृत अर्थकी सिद्धिके ही अनुकूल होना । विपर्ययापर्यवसानका अर्थ है—व्यतिरेकव्याप्तिका न होना । मिथोविरोधका अर्थ तो स्पष्ट है ।

जैसे कि—यह पर्वत निरग्नि नहीं है, क्योंकि वैसा होनेपर यह निर्धूम (धूमरहित) होने लगेगा । एवं यह अग्निमान् भी नहीं है, क्योंकि यदि अग्निमान् हो तो वैसी उपलब्धि होनी चाहिये । इन दोनों अनुमानोंमें एक अवश्य आभास है । क्योंकि एक दूसरेका विरोधी होनेके कारण दोनों अनाभास (सदनुमान) नहीं हो सकते । वैसे ही यहाँ भी स्थूलत्वनिषेधका अनुमान तथा अस्थूलत्वनिषेधका अनुमान इन दोनोंमें एक अवश्य आभास है और एक सही है । क्योंकि अस्थूलतानिषेधसे भिन्न वस्तु स्थूलताकी विधि नहीं है तथा स्थूलतानिषेधसे भिन्न अस्थूलताकी विधि भी नहीं है । अर्थात् यदि अस्थूलत्वका निषेध करोगे तो स्थूलत्वका विधान स्वतः हो जायगा तथा स्थूलत्वका निषेध करोगे तो अस्थूलत्वका विधान अवश्य हो जायगा । परन्तु एक साथ दोनोंका निषेध परस्पर विरोधी होनेके कारण कथमपि सम्भव नहीं है ।

शिथिलमूलाश्चैते, प्रतिबन्धस्यासिद्धेः। सिद्धौ वा व्याप्य-व्यापकतदधिकरणानां सिद्धौ विवादनिवृत्तेः। इष्टापादनं च प्रथमे, अनुभूतावसिते स्थूले विरुद्धधर्मासंसर्गस्येष्टत्वात्। तथा च वक्ष्यामः।

अनुकूलश्च द्वितीयः, अस्थूलताप्रतिक्षेपस्य स्थूलतोपलम्भा-नुग्राहकत्वात् तद्रूपताव्यवहारस्य तथाप्रतिभासव्याप्तत्वाच्च। एवं तृतीयोऽपि, अनपेक्षत्वप्रतिक्षेपस्य सापेक्षत्वोपलम्भानुग्राह-कत्वात् अनपेक्षत्वविधेः सदातनत्वव्याप्तत्वाच्च।

एवं, यहाँके सभी हेतु शिथिलमूल हैं, क्योंकि अनुमानका मूलभूत साध्यसाधनकी व्याप्ति ही असिद्ध है। कारण, यदि व्याप्ति सिद्ध हो तो व्याप्तिके प्रयोजक व्याप्य, व्यापक और उनके अधिकरणकी भी सिद्धि अनायास हो जानेसे सर्वशून्यत्ववाद स्वतः खण्डित हो जाता है। इस प्रकार हमलोगोंका विवाद ही समाप्त हो जाता है।

एवं, प्रथम "नेदं स्थूलम्" इस अनुमानमें तो मुझे इष्टापत्ति ही है; क्योंकि निर्विकल्पात्मक अनुभव और सविकल्पात्मक अनुव्यवसायके द्वारा प्रत्यक्षसिद्ध स्थूलमें विरुद्ध धर्मोंका असंसर्ग तो इष्ट ही है। इस बातको आगे कहेंगे।

"न अस्थूलम्" यह द्वितीय अनुमान तो मेरे अभीष्टकी सिद्धिके ही अनुकूल है। क्योंकि अस्थूलताका खण्डन स्थूलतासिद्धिका ही पोषक है। तथा अस्थूलताका व्यवहार अस्थूलताप्रतीतिसे व्याप्त ही है। अर्थात् जहाँ वस्तुतः अस्थूलता है, वहाँ अस्थूलताकी प्रतीति होती है, इसमें आपत्ति क्या है?

ऐसा ही "न परानपेक्षम्" यह तृतीय अनुमान भी अनुकूल ही है। क्योंकि अनपेक्षत्वका खण्डन सापेक्षत्वसिद्धिका ही पोषक है। तथा अनपेक्षत्वका विधान सदातनत्वसे व्याप्त ही है। अर्थात् जो वस्तुतः हेत्वनपेक्ष है, वह सदातन भी होता ही है, इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है।

चतुर्थस्त्वप्रसिद्धव्यापकः, सदसत्त्वस्य विरोधेनैकत्र विधिवन्निषेधस्याप्यनुपपत्तेः। पञ्चमस्त्वनुकूल एव, अनेकत्वाभिमते वस्तुन्येकताप्रतिक्षेपस्यानेकतोपलम्भोपष्टम्भकत्वात् ताद्रूप्यव्यवहारस्य तथाप्रतिभासव्याप्तत्वाच्चेति। षष्ठस्त्विष्ट एवास्माकम्।

ननु भेदः स्वरूपं वा स्यात्, इतरेतराभावो वा, धर्मान्तरं वा। न पूर्वः, घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्तेः। नापरः,

"न परापेक्षम्" इस चतुर्थ अनुमानमें आपाद्यभूत व्यापक ही अप्रसिद्ध है। क्योंकि परापेक्ष माननेमें सदसद्व्यतिरेक (निषेध) का आपादन किया गया है, जो अनुपपन्न है। कारण, सत्त्व-असत्त्वका परस्परमें विरोध होनेसे, जैसे एक जगह उनका विधान नहीं हो सकता, वैसे ही उन दोनोंका एक जगह निषेध भी नहीं रह सका है।

"न एकम्" यह पञ्चम अनुमान भी अनुकूल ही है। क्योंकि जो वस्तु अनेकरूपमें अभिमत है, उसमें एकताका खण्डन उसकी अनेकतासिद्धिका ही पोषक है, तथा एकताका व्यवहार एकताप्रतीतिसे व्याप्त भी है। अर्थात् जहाँ वस्तुतः एकता है, वहाँ एकताकी प्रतीति होनेमें आपत्ति भी नहीं है।

"नानेकं भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गात्" यह षष्ठ अनुमान भी तो हमें इष्ट ही है। क्योंकि जो वस्तु अनेक मानी गयी है, उसमें भेद भी व्यवस्थित ही है।

यदि कहो कि—भेद ही नहीं है तो उसकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? क्योंकि भेद प्रतियोगीस्वरूप होगा या इतरेतराभावरूप होगा ? अथवा कोई धर्मान्तर होगा ? इनमें पूर्वमत ठीक नहीं है। क्योंकि भेद यदि घटादिप्रतियोगीस्वरूप हो तो पुनरुक्तिदोषके कारण "घटो भिन्नः" ऐसा घट और भेदका सहप्रयोग नहीं हो सकता। साथ ही इसमें भेद घटका विशेषण भी नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं ही कोई अपना विशेषण नहीं होता है।

प्रतीतावात्माश्रयप्रसङ्गात्, भिन्नप्रतियोगिनिरूपणाद्धि तद-भावो निरूप्यस्तन्निरूपणमेव च भेदनिरूपणम्। नोत्तरः, अनव-स्थाप्रसङ्गात्। तत् कथमसौ व्यवतिष्ठतामिति चेत्—

तत् किं भेदज्ञानमेव नास्ति? सदपि वा नित्यम्? अनित्यमपि[1] वा निर्हेतुकम्? सहेतुकमपि वा निर्विषयकम्? सविषयकमपि वा बाध्यमानविषयकमिति? तत्र प्रथमः

दूसरा मत भी ठीक नहीं है। कारण, प्रतीतिको लेकर आत्माश्रय दोषका प्रसङ्ग हो जाता है। क्योंकि परस्पर भिन्नरूपमें प्रतियोगियोंका ज्ञान होनेपर ही भेदस्वरूप इतरेतराभावका ज्ञान होगा और भेदात्मक अभावका ज्ञान होनेपर ही भिन्नरूपमें प्रतियोगियोंका ज्ञान हो सकेगा। इसप्रकार द्वितीयमतमें अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है।

तीसरा मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि घटपटगत पारस्परिक भेद यदि कोई धर्मान्तररूप हो तो उभयगत वह धर्मान्तर अभिन्न है या भिन्न भिन्न है? यदि अभिन्न है तो उसके योगसे उसका आश्रयीभूत घटपट परस्पर भिन्न कैसे हो सकते हैं? यदि वह धर्मा-न्तर (वैधर्म्य) उभयमें भिन्न भिन्न हो तो उस धर्मान्तररूप भेदमें एक दूसरा भेद मानना पड़ेगा। इस प्रकार उसमें भी तीसरा और तीसरेमें भी चौथा आदि भेद मानना पड़ जानेसे अनवस्थादोष आ जायगा। अतः जब भेद ही असिद्ध है तो पूर्वोक्त षष्ठ अनुमानमें भेदको व्यवस्थित कहते हुए इष्टापत्ति कैसे दी जा सकती है?—तो मैं पूछता हूँ कि क्या भेदज्ञान ही नहीं है? अथवा होता हुआ भी वह नित्य है? या अनित्य होता हुआ भी वह अहेतुक है? या सहेतुक होता हुआ भी निर्विषयक है? अथवा सविषयक होता हुआ भी वह भेदज्ञान बाध्यमानविषयक है?

यहाँ सर्वतः विरोध हो जानेसे प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। अर्थात् जो भेदज्ञान सर्वजनानुभवसिद्ध है, उसका निषेध नहीं किया जासकता है। एवं भेदज्ञानका निषेध भी तभी किया जा सकता है, जबकि

१. अनित्यमेव इति र पु० पा०

सर्वतो विरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः।

पञ्चमस्तु चिन्त्यते—किमेतेष्वन्यतमात्मा तस्य विषयः? तदन्यो वा? तत्र यद्यन्य एव, किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्येत। एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः स्यात्।

अथान्यतमात्मा[1], तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वम्,

प्रतियोगीरूपमें भेदज्ञानकी सत्ता मानी जाय। साथ ही "भेदज्ञान नहीं है" इस कथनमें स्ववचनविरोध भी है। एवं भेदज्ञानके विना वादिप्रतिवादियोंकी कथा भी नहीं चल सकती है। अतः प्रथम पक्ष असङ्गत है।

सुषुप्तिके अनुरोधसे द्वितीयपक्ष उपेक्षणीय है। अर्थात् यदि भेदज्ञान नित्य होता तो सुषुप्ति अवस्था होती ही नहीं। तीसरा पक्ष भी विरोधके कारण त्याज्य है। अर्थात् जो अनित्य होगा, वह अहेतुक हो नहीं सकता। चौथा पक्ष भी त्याज्य है, क्योंकि भेदज्ञानमें भेदरूप विषयका उल्लेख ही है। अतः वह निर्विषयक कहाँ हुआ? पञ्चम पक्ष तो विचारणीय है कि भेदज्ञानका विषय पूर्वोक्त स्वरूप, इतरेतराभाव तथा धर्मान्तर इन तीनोंमें कोई एक है जिसे बाध्यमान बताते हो? अथवा इन तीनोंसे अन्य है? यदि अन्य हो तो अन्यगत पूर्वोक्त सहप्रयोगानुपपत्ति, आत्माश्रय तथा अनवस्थारूप दोषोंसे इन तीनोंका बाध कैसे हो सकेगा? क्योंकि सहप्रयोगानुपपत्ति आदि दोष अन्यमें हों और ये तीनों बाधित किये जायँ तो स्पष्ट ही चोरके अपराधसे निरपराध माण्डव्यको दण्ड देनेके समान यह हो जायगा।

यदि मानो कि—भेदज्ञानका विषय भेदके पूर्वोक्त तीनों स्वरूपोंमें ही कोई एक है और वही बाध्यमान है। एवं उनमें भी धर्मान्तर

१. अथान्यतमोऽस्य विषय इति २ पु० पा०

तदाऽनवस्थाभिया तदधिक एव प्रवाहस्त्यज्यताम्, तस्य कुतस्त्यागः ? न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहापयति, गन्धे गन्धान्तरवत् ।

अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमवलम्बत इति तत्त्वम्, तत्रापि कात्माश्रयः ? तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात् । अस्ति च तत्, ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तते । अविद्यावशादिति चेत्, किम्वातः ? न

नामक जो तीसरा पक्ष है, वहाँ भेदका स्वरूप विवक्षित है तथा बाध्यमान है—तो अनवस्थाके डरसे उस धर्मान्तर (वैधर्म्य) से अतिरिक्त दूसरे वैधर्म्योंके प्रवाहका परित्याग भले ही कर दिया जाय, किन्तु उस भासमान वैधर्म्यका त्याग क्योंकर होगा ? क्योंकि अनवस्थाके द्वारा भासमान अर्थकी निवृत्ति नहीं हो जाती है, किन्तु उसके प्रवाहका परित्याग हो जाता है । जैसे, जलादिसे पृथ्वीका भेदक पृथिवीमें गन्ध गुण माना गया है । किन्तु गन्धको भिन्न करनेके लिये पुनः गन्धमें दूसरे गन्धगुणका अनवस्थादोषसे परित्याग कर दिया जाता है, न कि प्रत्यक्षभूत पृथिवीगत गन्धका भी परित्याग हो जाता है ।

अथवा यह मानो कि—भेदज्ञान इतरेतराभावको ही वस्तुतः अपना आलम्बन (विषय) बनाता है । अर्थात् भेदज्ञानका विषयभूत भेद इतरेतराभावरूप है और वह बाध्यमान होनेसे अनात्त्विक है—तो इस पक्षमें भी आत्माश्रयदोष कहाँ है ? क्योंकि इतरेतराभाव स्वयं भेद-घटित है । इसलिये भेदज्ञान यदि इतरेतराभावके ज्ञानपर ही आश्रित रहता तो आत्माश्रयके कारण भेदज्ञान होता ही नहीं, किन्तु वह तो होता है । अतः वह भेदज्ञान अपनी उत्पत्तिके लिये किसी अन्य हेतुका भले ही आक्षेप कर ले, पर ऐसा नहीं हो सकता कि अपने प्रति स्वयं हेतु न हो सकनेके कारण उसकी अपनी सत्ता ही निवृत्त हो जाय ।

यदि कहो कि—अविद्यावशसे भेदज्ञानकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् भेदज्ञान अविद्याकृत है—तो यहाँ अविद्यावशका क्या अभिप्राय है ? क्या अविद्याके प्रभावसे भेदज्ञान अपने आप हो जाता है, यह अभिप्राय

ह्यविद्येत्येवा[1]त्माश्रयनिवृत्तिः, तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः ।

अथात्माश्रयदोषोपहततया तन्न स्वस्यैव कारणम्, ततो यतः कुतश्चित् तस्य जन्म, तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः; नाम्नि तर्हि विवादः । न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात् ।

है ? अथवा अविद्यारूप कारणसे भेदज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह अभिप्राय है ? इनमें यदि प्रथम पक्ष मानो तो इससे क्या लाभ हुआ ? क्योंकि अविद्याका प्रभाव मान लेनेमात्रसे आत्माश्रयकी निवृत्ति नहीं होती है । क्योंकि अविद्या माननेपर भी उसे अपने आप ही होना पड़ता है । यदि अविद्याका प्रभावमात्र मान लेनेसे आत्माश्रयकी निवृत्ति हो जाती हो तो घटादिक भी कुम्हार आदिकी बिना अपेक्षा किये अपने आप ही पैदा हो जाँय ।

यदि दूसरे पक्षका आश्रय लेते हुए कहो कि—आत्माश्रयदोषसे उपहत होनेके कारण भेदज्ञान अपना ही कारण नहीं है, किन्तु जिस किसी कारणसे उस भेदज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वह दुर्निरूप है । अर्थात् उस कारणका स्वरूपनिरूपण नहीं किया जा सकता है, यही अभिप्राय है—तो कारणके नाममात्रमें विवाद है । क्योंकि कारणकी सत्ता तो तुमने भी स्वीकार कर ही ली । अतः भेदकी व्यवस्थामें कोई बाधा नहीं है ।

साथ ही कारणका निरूपण भी अशक्य नहीं है । क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकरूपसे अप्रतीतिके साथ जो अधिकरणकी प्रतीति और अधिकरणतावच्छेदकरूपसे अप्रतीतिके साथ जो प्रतियोगीकी प्रतीति, ये दोनों ही प्रतीतियां इतरेतराभावग्रहणके कारण हैं । इस प्रकार कारणका निरूपण किया जा सकता है । अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतियोगी और अधिकरणका ज्ञान ही उनमें इतरेतराभावप्रत्यक्षका कारण है ।

---

१. न ह्यविद्येत्येवमात्मा इति १ पु० पा०

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्; तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नस्त्यज्यताम्, भेदेन तु किमपराद्धम्। सोऽपि दृश्यत इति चेत्, नैमित्तिकस्तु स्यात्, न स्वरूपतः। न हि घटमानय पटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते। व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः।

तथापि कः परमार्थः? यथायथं त्रयमपि। पटस्य हि घटात्मनाऽप्रतीतिरघटात्मना च प्रतीतिस्ततो वैशिष्ट्यप्रतीति-

---

तथा अधिकरणतावच्छेदकसे युक्त अनुयोगीमें प्रतियोगितावच्छेदकका ग्रह ही उस प्रत्यक्षका प्रतिबन्धक है।

यदि कहो कि—स्वरूप ही भेदप्रतीतिका वस्तुतः विषय है—तो भी अनुपपन्न होनेसे "घटो भिन्नः" ऐसा घट और भेदका सहप्रयोग भले ही त्याज्य हो, किन्तु भेदने क्या अपराध किया है? अर्थात् भेद तो तुम भी स्वीकार करते ही हो। अब केवल उसमें आनेवाले बाधकका ही निरास हम दोनों को करना है, और वह इस प्रकार होगा कि सहप्रयोगका ही त्याग किया जाय। यदि कहो—सहप्रयोग भी देखा जाता है, इसलिये स्वरूपात्मक भेद ही त्याज्य क्यों न माना जाय?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि स्वरूपतः भेदका घटादिके साथ प्रयोग नहीं देखा जाता है किन्तु किसी निमित्तवशात् ही सहप्रयोग होता है। अर्थात् "घटो भेदः" ऐसा स्वरूपतः प्रयोग नहीं होता किन्तु घटमें वैधर्म्य या अन्योन्याभावका वैशिष्ट्य सूचित करनेके लिये "घटो भिन्नः" यही प्रयोग होता है। अतः इस प्रकारके नैमित्तिक सहप्रयोगमें तो कोई बाधा नहीं है। क्योंकि "घटमानय, पटमानय" इन प्रयोगोंमें कोई बुद्धिमान् घट-पटपदोंके साथ भेदपदका भी प्रयोग नहीं किया करता है। व्याख्याके रूपमें तो मूर्खोंको समझानेके लिये "घटः कुम्भः" के समान घट और भेदका भी साथ प्रयोग करनेमें कोई दोष नहीं है।

फिर भी पूछो कि—भेद वस्तुतः किं स्वरूप है?—तो यही उत्तर होगा कि यथायोग्य तीनों ही स्वरूप होगा। क्योंकि पटकी घटरूपमें

श्चेत्यनुभवसिद्धम् । तत्राभावस्य प्रथममात्रम्, अभावान्तर-धर्मान्तरयोरभावात् । सामान्यादिषु त्रिषु द्वयम्, धर्मान्तराभावात् । द्रव्यादिषु त्रिषु त्रयम्, त्रयस्यापि संभवात् । भवति पटोऽयं न घटस्तन्तुमयश्चेति, गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चेति, गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चेति ।

लक्षणं च स्वरूपभेदस्य तादृप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः, इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः, वैध-

---

अप्रतीति होना एवं अघटरूपमें प्रतीति होना तथा घटकी अपेक्षा पटमें वैशिष्ट्य (धर्मान्तर) की प्रतीति होना, ये तीनों ही अनुभवसिद्ध हैं। अर्थात् उक्तप्रतीतियोंमें प्रथम प्रतीतिसे स्वरूपात्मकभेद, द्वितीय प्रतीतिसे अन्योन्याभावात्मक भेद तथा तृतीय प्रतीतिसे धर्मान्तरस्वरूप भेद सूचित होता है। इसलिये तीनों ही भेदके स्वरूप हैं। उक्त तीनों भेदोंके अन्तर्गत प्रथम भेद ही अभावमें है अर्थात् स्वरूपात्मक भेद। क्योंकि अभावमें अनवस्थादोषसे दूसरा अभाव और सामान्यशून्य होनेसे सामान्यरूप दूसरा धर्म नहीं रहता है। अर्थात् अन्योन्याभावादिकोंमें भेदव्यवहार स्वरूपतः ही होगा। अतः उसमें अतिरिक्त अन्योन्याभाव या कोई वैधर्म्य मानना अयुक्त है।

सामान्य, विशेष और समवायमें स्वरूपात्मक और अन्योन्याभावात्मक दो भेद होते हैं, क्योंकि इनमें भी जातिरूप कोई वैधर्म्य नहीं रहता। तथा द्रव्य, गुण और कर्ममें स्वरूपात्मक, अन्योन्याभावात्मक तथा वैधर्म्यात्मक तीनों ही प्रकारके भेद होते हैं। क्योंकि इनमें तीनों ही सम्भव हैं। इसीलिये ऐसे प्रयोग होते हैं कि—यह पट है घट नहीं तथा तन्तुमय है, एवं यह गन्ध है रूप नहीं तथा सुरभि है, एवं यह गति है उत्क्षेपण नहीं तथा तिर्यक् है।

इनमें स्वरूपभेदका लक्षण यह होगा कि—तादृप्येण अप्रतीत होते हुए प्रतीत होना। अर्थात् पटका घटरूपमें अप्रतीत होते हुए प्रतीत होना। इतरेतराभावका तो लक्षण यह होगा कि—नहीं बाधित होनेवाली समानाधिकरणनिषेधकी बुद्धि। अर्थात् प्रतियोगिसमानकालीन

र्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिक् ।

सप्तमोऽप्यनुकूल एव, घटादौ व्यापकताप्रतिक्षेपस्याव्यापकतोपलम्भोपष्टम्भकत्वात् व्यापकत्वस्य निष्क्रियत्वव्याप्तत्वाच्च ।

अष्टमस्तु क्वचिदिष्ट एव । यत एव हि क्वचिदविधेयोऽत एव क्वचिद् विधेयोऽव्यापक इति व्यवह्रियते । सर्वत्रेति चेन्न, व्याप्त्यसिद्धेः विरोधाच्च । न हि यदव्यापकं तत्

और प्रतियोगिसमानाधिकरण जो प्रतीयमान निषेध, वह इतरेतराभाव कहाता है। वैधर्म्यका लक्षण तो विरोध है, और वह विरोध भी एक धर्मीमें असमावेशरूप है। अर्थात् घटत्वपटत्वका एक जगह अवस्थित न रहना ही घटपटका परस्पर वैधर्म्यरूपभेद है। यही संक्षेपमें भेदके स्वरूपोंका दिग्दर्शन है।

"घटादिकं न व्यापकं, निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्" यह सप्तम पक्ष भी मेरे अनुकूल ही है। क्योंकि घटादिमें व्यापकताका खण्डन उसमें अव्यापकताज्ञानका ही सहायक है। एवं यह पक्ष मुझे इसलिये भी अनुकूल है, क्योंकि व्यापकत्व निष्क्रियत्वका व्याप्य होता ही है। अर्थात् जो व्यापक होता है, वह निष्क्रिय होता ही है। अतः निष्क्रियत्वप्रसङ्गके भयसे घटका व्यापक न होना मुझे इष्ट ही है।

"न अव्यापकम्, अविधेयत्वप्रसङ्गात्" यह अष्टम पक्ष भी कहीं इष्ट ही है। अर्थात् अव्यापकत्वके द्वारा यदि किसी देशविशेषमें अविधेयत्वका आपादन करो तो वह इष्ट ही है। क्योंकि घटाभावस्थलमें घटका विधान नहीं होता है। चूँकि घट कहीं (अपने अभावस्थलमें) अविधेय है, इसीसे सिद्ध है कि वह कहीं (घटाधिकरणस्थलमें) विधेय है। इसीकारणसे घटको अव्यापकरूपमें व्यवहृत किया जाता है।

यदि कहो कि—अव्यापकत्वके द्वारा सर्वत्र अविधेयत्वका आपादन किया जा रहा है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अव्यापकत्व और सार्वत्रिक अविधेयत्वमें व्याप्ति ही असिद्ध है तथा दोनोंमें परस्पर विरोध भी है। क्योंकि जो अव्यापक होता है वह सर्वत्र अविधेय होता है;

सर्वत्राविधेयमिति प्रतिबन्धः; । क्वचिदस्तीत्यव्यापकार्थः, सर्वत्र नास्तीति चाविधेयार्थस्तवाभिमतस्तदनयोर्विरोधोऽपि स्यात् ।

यद् विधेयस्वभावं तत् कथं प्रतिषेध्यमिति चेन्न, प्रतिषेध-स्वभावता हि विधेयस्य विरुद्धा न तु प्रतिषेधप्रतियोगिताऽपि । अथ योऽस्ति कथं तस्य प्रतिषेधोऽप्यस्तीति चेत्, को दोषः ? अनयोरविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, प्रकारभेदेन प्रसङ्गो (ङ्गो) ऽपि न दोषमावहति । तदभेदेन तु विधिनिषेधौ केन

ऐसी व्याप्ति नहीं है । साथ ही, कहीं अस्तित्ववाला होना अव्यापकका अर्थ है तथा सर्वत्र न होना अविधेयत्वका अर्थ है, यही तुम्हारा अभिमत है । अतः इन दोनोंमें विरोध भी होगा । अर्थात् जो कहीं स्थलविशेषमें है, उसे कैसे कहा जा सकता है कि वह सर्वत्र ही नहीं है । इस प्रकार आपका आपाद्य-आपादक परस्परका ही विरोधी है ।

यदि कहो कि—जो विधेयस्वभाव है, वह प्रतिषेध्य कैसे हो सकता है ?—तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि विधेयवस्तुकी प्रतिषेधरूपता विरुद्ध है, न कि प्रतिषेधका प्रतियोगी (प्रतिषेध्य) होना भी । अर्थात् भावात्मक वस्तु अभावात्मक नहीं हो सकती है; पर अभावका प्रतियोगी क्यों नहीं हो सकती है ? यदि कहो कि—जो है, उसका प्रतिषेध भी कैसे हो सकता है ?—तो इसमें क्या दोष है ? यदि कहो कि—अस्तित्व और निषेध इन दोनोंमें अविरोधका प्रसङ्ग हो जायगा, यही दोष है—तो प्रकारभेदसे (अवच्छेदकभेदसे) एकहीमें अस्तित्व और निषेधका प्रसङ्ग भी दोषावह नहीं होगा । अर्थात् एक ही वृक्षमें शाखावच्छेदेन वानरका संयोग भी रहता है और मूलदेशावच्छेदेन उसके संयोगका अभाव भी । इस प्रकार एक ही जगह प्रकारभेदसे अस्तित्व और निषेध दोनोंके होनेमें कोई विरोध नहीं है । भिन्न-भिन्न जगहोंमें अस्तित्व और निषेध होनेमें तो विरोधकी गन्ध भी नहीं है ।

किन्तु अवच्छेदकको (प्रकारको) अभिन्नताकी अवस्थामें एक ही जगह विधि और निषेधको कौन मानता है, जिसके प्रति अविरोधका

स्वीकृतौ यं प्रत्यविरोधः प्रसज्येतेति । एतेन कालभेदादिना ऽप्यविरोधो द्रष्टव्यः ।

अस्तु तर्हि स्थूलघाती विरुद्धधर्माध्यासो ग्रहणाग्रहणादिः पञ्चविधः, न, असिद्धः ।

तथाहि, यो येन यत्रैव यदैवोपलभ्यते स तेन तत्रैव तदैव नोपलभ्यत इति नानुभवः, नाप्यभ्युपगमः । एकावयव-सहितस्योपलम्भेऽन्यावयवसहितस्यानुपलम्भ इति चेत्, एवं

प्रसङ्ग दिया जा सके। इसीप्रकार देशभेद या अवच्छेदकभेदके नहीं रहनेपर भी केवल कालभेदसे भी एक ही वस्तुके विधि और निषेधमें कोई विरोध नहीं होता, ऐसा जानना चाहिये। जैसे, घटादिकार्यका एक ही कपालमें उत्पत्तिकालके अनन्तर अस्तित्व रहता है तथा प्रागभाव या प्रध्वंसकालमें नास्तित्व रहता है।

यदि कहो कि—पूर्वोक्त युक्तियोंसे अवयवीका निषेध भले ही न हो सके, परन्तु ग्रहणाग्रहण, आवृतत्वानावृतत्व, कम्पाकम्प, रक्तारक्त तथा संयुक्तासंयुक्तरूप विरुद्धधर्मोंका पञ्चविध अध्यास ही अवयवीका विरोधी होगा। अर्थात् यदि अवयवोंसे भिन्न कोई एक अवयवी होता तो एक ही क्षणमें एक ही वस्तु गृहीत-अगृहीत, आवृत-अनावृत, कम्पमान-अकम्पमान रक्त-अरक्त तथा संयुक्त असंयुक्त नहीं होती, किन्तु होती है, इससे सिद्ध होता है कि अवयवातिरिक्त एक अवयवी नहीं होता—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जो विरुद्ध हैं, उनका अध्यास ही असिद्ध है, तथा जिनका अध्यास है, उनमें विरोध नहीं है। क्योंकि जो वस्तु जिस व्यक्तिके द्वारा जिस स्थलमें जिस क्षण उपलब्ध होती है, वही वस्तु उसी व्यक्तिके द्वारा उसी स्थलमें उसी क्षण अनुपलब्ध रहती है, ऐसा न अनुभव है और न ऐसी किसीकी मान्यता है।

यदि कहो कि—एकावयवके साथ उस वस्तुकी उपलब्धिदशामें ही अन्यावयवोंके साथ उसकी अनुपलब्धि भी होती है। अर्थात् एक ही घट एकही क्षणमें एकही व्यक्तिके द्वारा एक भागमें दिखाई पड़ता है और दूसरे भागमें नहीं दिखाई देता। अतः ग्रहणाग्रहणरूप विरुद्ध

तदवयविन्युपलभ्यमाने कश्चिदवयव उपलभ्यते कश्चिन्नेति वाक्यार्थः, सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत इति न्यायात्। तथा चावयवानामुपलम्भानुपलम्भाववयविनि सञ्चार्य प्रसङ्गस्तदलमनेन।

एतेनावृतत्वानावृतत्वं व्याख्यातम्। अनावरणदशावत् कतिपयावयवावरणेऽपि तथाविधस्थौल्योपलम्भः किं न स्यादिति त्ववशिष्यते। तदप्यसत्। तस्य परिमाणगत-

---

धर्मोंका अध्यास असिद्ध नहीं है—तो ऐसी परिस्थितिमें आपके कथनका यही अर्थ होता है कि अवयवीकी उपलब्धिदशामें कोई अवयव उपलब्ध होता है और कोई नहीं उपलब्ध होता। क्योंकि विशेषणसहित विशेष्य में होनेवाले विधिनिषेध विशेषणमें ही उपसङ्क्रान्त होते हैं। अर्थात् वहाँ फलतः विशेषणका ही विधि या निषेध होता है। इस प्रकार वस्तुतः अवयवगत उपलब्धि और अनुपलब्धिका आपने अवयवीमें सञ्चारित कर अवयवी-निषेधके लिये उक्त प्रकारका प्रसङ्ग दिया है, किन्तु ऐसा प्रसङ्ग न दें।

इससे अवयवीका एकही कालमें आवृतत्व और अनावृतत्वसम्बन्धी अध्यासका भी व्याख्यान हो जाता है। अर्थात् कुछ अवयव ही आवृत होते हैं और कुछ अनावृत। अवयवी तो अनावृत ही रहता है। अतः अवयवीमें आवृतत्व-अनावृतत्व उभयका एक कालमें समावेश नहीं होनेसे विरोध कहाँ होता है? जो अवयवीका बाधक हो।

यहां एक शङ्का अवश्य बच जाती है कि जिस प्रकार सम्पूर्णरूपमें अवयवीकी अनावरणदशामें उसकी द्विहस्तत्व त्रिहस्तत्वादिरूप स्थूलता की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार कुछ अवयवोंका आवरण हो जानेपर भी उसके द्विहस्तत्व-त्रिहस्तत्वादिरूप परिमाणकी उपलब्धि होनी चाहिये। क्योंकि अवयविवादीके मतानुसार वह अवयवी अनावृत ही है। किन्तु यह शङ्का भी ठीक नहीं है। क्योंकि परिमाणगत उस द्विहस्तत्व त्रिहस्तत्वादिरूप जातिविशेषकी—जो उस अवयवीसे भिन्न वस्तु है तथा किसी नियत सामग्रीसे ही जाना जाता है, उस नियत सामग्रीके अभावमें, अवयवीकी और उसके सामान्यपरिमाणकी उपलब्धि होनेपर

सामान्यविशेषस्य ततोऽन्यस्य नियतसामग्रीवेद्यस्य तदभावे तदुपलम्भेऽप्यनुपलम्भात् ।

एतेन कम्पाकम्पसंसर्गो निरस्तः । सामग्रीभेदेनावयवनियतकम्पोत्पादे तस्यां दशायामवयविनो निश्चलत्वात् । एवं तर्हि कम्पाकम्पयोरवयवयोर्विभागात् संयोगनाशे द्रव्यनाशः स्यादिति चेत्, ततः किम् ? अपसिद्धान्त इति चेन्न, एवमपि कचिदभ्युपगमात् । सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति चेत्, तथाप्यवयविनः किमस्याहितम् ? न चैवमपि, कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगप्रती-

---

भी—प्रतीति नहीं होती है । अर्थात् कुछ अवयवोंके आवरणकालमें भी वह अवयवी तथा उसका सामान्यपरिमाण उपलब्ध होता है । किन्तु वह अवयवी दो हाथका है या तीन हाथका है, इसप्रकारके विशेष परिमाणकी उपलब्धि इसलिये नहीं होती है कि उस विशेषपरिमाणकी भी उपलब्धिका कारण एक निश्चित सामग्री है, जो अवयवोंकी आवरणदशामें नहीं है ।

असिद्ध होनेके कारण अवयवोंमें एक कालमें कम्प और अकम्परूप विरुद्ध धर्मोंका समावेश भी खण्डित हो गया । क्योंकि सामग्रीविशेषसे कतिपय अवयवमात्रमें कम्पोत्पाद होनेपर भी उस दशामें अवयवी तो निष्कम्प (निश्चल) ही रहता है ।

यदि कहो कि—कुछ अवयवोंमें कम्पन और कुछ अवयवोंमें अकम्पनके माननेपर उन अवयवोंमें परस्पर विभाग होनेसे संयोगका नाश हो जायगा और संयोगनाश होनेसे द्रव्यका नाश हो जाना चाहिये—तो इससे क्या हुआ ? यदि कहो—अपसिद्धान्त होगा—तो ऐसा नहीं हो सकता । क्योंकि ऐसा भी कहीं स्थलविशेषमें माना ही जाता है । यदि कहो—सर्वत्र ही अवयवी द्रव्यका नाश होने लगेगा—तो इससे अवयवि-सिद्धिमें क्या बाधा हुई ? अर्थात् अवयवसंयोगके नाशसे अवयविनाशकी प्रसक्ति भले ही हो जाय किन्तु अवयवी तो सिद्ध हो ही गया । साथ ही अवयवि-नाशकी प्रसक्ति भी नहीं है । क्योंकि अवयवगत कर्मसे द्रव्यारम्भक संयोगका विरोधीभूत अवयवविभाग अवश्य

द्वन्द्विविभागजननियमानभ्युपगमात् । कारणविशेषात् कस्यचिदेव कर्मणस्तथाभूतविशेषोपलब्धेः ।

एतेन पाणौ चलति तन्मूलभूतः परमाणुरपि चलेत्, ततोऽचलत्तद्भुजपरमाणोर्विभागः, ततो यो येन संयुज्यते विभज्यते वा स तत्कार्यद्रव्येणापीति न्यायेन भुजपाण्योरपि विभागः, ततः संयोगनाशः, ततः शरीरनाश इति निरस्तम् । न हि पाणिपरमाणुक्रिया भुजपरमाणुविभागमारभते नियमेन ।

पैदा हो जायगा, यह नियम अमान्य है । अर्थात् अवयवोंके जिन संयोगोंसे द्रव्यका आरम्भ (उत्पत्ति) होता है, अवयवमें क्रिया होनेपर उन संयोगोंके विरोधी (अवयवीको नष्ट कर देनेवाले) विभागकी उत्पत्ति होती ही है, ऐसा नियम मान्य नहीं है । ऐसा माननेपर विकास होनेपर कमलका नाश होना मानना पड़ जायगा और यह वही कमल है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये । हाँ, विशेषकारणवश कुछ ही कर्म द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधीभूत विभागको पैदा करते हुए पाये जाते हैं, न कि नियमितरूपसे सभी कर्म ।

सभी अवयवकर्मोंमें द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी—विभागजनकत्वका नियम नहीं माननेसे यह आशङ्का भी खण्डित हो जाती है कि—हाथके चल होनेपर उसका मूलभूत परमाणु भी चल हो उठेगा, उसके बाद उस क्रियाशील हस्तपरमाणुका अचल भुजपरमाणुके साथ विभाग हो जायगा । तदनन्तर "जो जिससे संयुक्त होता है या विभक्त होता है, वह उसके कार्यद्रव्यसे भी संयुक्त या विभक्त हो जाता है" इस नियमके अनुसार द्व्यणुकादि-विभागके क्रमसे हाथ और भुजामें भी विभाग हो जायगा । उसके बाद शरीरका आरम्भ करनेवाले हाथ और भुजाका संयोग नष्ट हो जायगा तथा उसके बाद शरीरका भी नाश हो जायगा—कारण, हाथ और उसके परमाणुमें क्रिया होनेसे भुजा और उसके परमाणुके साथ विभाग पैदा हो जायगा, ऐसा नियम नहीं है ।

तदनारम्भकत्वे कर्मलक्षणक्षतिरिति चेन्न, आकाशादिदेशविभागजननादपि तदुपपत्तेः, नुद्यकर्मवत्। कुतोऽयं विशेष इति चेत्, कारणविशेषादित्युक्तम्।

एवं तर्हि यद्यवयवकम्पेऽप्यकम्प एवावयवी, हन्तावयवसंयोगिविभागिभ्यामाकाशादिदेशाभ्यां न संयुज्येत न विभज्येतेति चेन्न, अवयवसंयोगविभागाभ्यामेव तत्सिद्धेः। एतच्च सम्यगवबोद्धुं वैशेषिकमनु[1]सन्धेयम्। तर्हि चलदवयवसमाश्रितोऽप्यचलन्नेवावयव्युपलभ्येतेति चेत्, नेदमनिष्टम्,

यदि कहो कि—उक्तक्रिया यदि उक्त विभागको पैदा न करे तो "संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म" इस कर्मलक्षणकी ही उस क्रियामें अव्याप्ति हो जायगी—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आकाशादिदेशके साथ विभाग पैदा करनेसे भी उसमें कर्मलक्षणकी संगति हो जाती है। जैसे, नुद्य (ठेली जाती हुई) वस्तुमें होनेवाली क्रियासे नोदक (ठेलनेवाले व्यक्ति) के साथ विभाग नहीं पैदा होनेपर भी आकाशादिके साथ विभाग पैदा करनेके कारण ही उस नुद्यनिष्ठ कर्ममें कर्मका लक्षण संगत हो जाता है। यदि पूछो कि—कुछ कर्म द्रव्यारम्भक संयोगका विरोधी विभाग पैदा करता है और कुछ कर्म नहीं, इस प्रकारको विशेषता कर्मोंमें कहाँसे आती है? तो पहले ही बता चुका हूँ कि कारणगत विशेषतासे कर्मोंमें उक्त विशेषता आती है।

यहाँ यह शङ्का भी नहीं हो सकती है कि–इस प्रकार यदि अवयवमें कम्प होनेपर भी अवयवी निष्कम्प ही रहे, तब तो हाय! आपका अवयवी अवयवसंयुक्त आकाशसे न तो संयुक्त ही होगा और न अवयवके साथ विभक्त आकाशसे विभक्त ही होगा—क्योंकि अवयवीके निष्कम्प माननेपर भी आकाशके साथ हुए अवयवके ही संयोग और विभागद्वारा अवयवीका भी संयोग और विभाग सिद्ध हो जायगा। अर्थात् कारणके संयोग और विभागसे कार्यका भी संयोग और विभाग हो जाता है। इस तत्त्वका अच्छी तरह ज्ञान करनेके लिए वैशेषिकशास्त्रका अनुशीलन करना होगा।

१. मवीध्व इति २ पु० पा०।

पाणौ कम्पमाने शरीरं न कम्पत इति प्रत्ययात् ।

अथवा यो यदाश्रिततयोपलभ्यते स तस्मिंश्चलत्यचलोऽपि चल एव विभाव्यते दर्पणमुखवत् जलचन्द्रवच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ।

कृतं प्रतीतिकलहेन, एवमपि सर्वत्र चल एवोपलभ्येतेति चेत्, चलत्स्ववयवे सर्वत्र तथैवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अचले तु कथं तथोपलभ्यताम् ?

तथापि चलाचलाश्रयस्य चलाचलतया प्रतीतौ चलाचलजलचन्द्रवत् द्वैतप्रत्ययोऽपि स्यादिति चेत्, स्यादपि यद्याश्रयविच्छेदः स्यात् । न ह्येकस्मिन्नेव जलेऽविच्छिन्नावयवभेदेन

"तब तो क्रियाशील अवयवोंपर आश्रित भी अवयवी स्वयं निष्क्रिय ही मालूम होना चाहिये" ऐसा दोष दो तो यह मेरे लिये अनिष्ट नहीं है। क्योंकि हाथ कँपनेपर भी शरीर नहीं कँपता है, यह सबको अनुभव है। अथवा, जो जिसके आश्रित होकर उपलब्ध होता है, वह उसके चलते समय अचल होते हुए भी चल ही मालूम होता है। जैसे, चञ्चल दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुख एवं चञ्चल जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्वयं अचल होते हुए भी चलता हुआ मालूम होता है, यह भी देखना चाहिये।

"कहीं चल और कहीं अचल, इस प्रकारकी विभिन्न प्रतीतियोंका कलह क्यों हो ? सर्वत्र चल ही क्यों न प्रतीत हो" यदि ऐसा कहो तो यही उत्तर होगा कि जो-जो अवयव चलते हैं, वहाँ वहाँ सर्वत्र ही वह अवयवी चल ही प्रतीत होता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। किन्तु अचल अवयवोंमें वह चल क्योंकर प्रतीत होगा ?

"तो भी चल-आश्रयमें चल और अचल-आश्रयमें अचलरूपसे अवयवीकी प्रतीति मानी जाय तो, जैसे चञ्चल जलमें चल प्रतीत होते हुए और निश्चल जलमें निश्चल प्रतीत होते हुए चन्द्रमामें द्वैतबुद्धि होती है, अर्थात् चन्द्रमा दो मालूम देता है, वैसे ही चल और अचल अव-

द्विचन्द्रभ्रमो नाम। किन्तु स एवैकश्चले चल उपलभ्यतेऽचले त्वचल इति। वीचिषु सोऽपि सहस्रनिभ इति चेत्, एवमेतत्, तासां विच्छेदेनाकलनात्।

अस्तु तर्हि चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्ग इति चेन्न, स्वयं प्रतिबन्धासिद्धेः। न च प्रसङ्गे व्याप्तावपि पराभ्युपगमः शरणम्। न चैवं पराभ्युपगमोऽपि। वस्त्रोदकादौ दृश्यते तावदयमिति चेन्न, तन्तुवस्त्रादौ विपर्ययस्यापि दर्शनात्।

जलोंमें आश्रित अवयवी भी दो मालूम होना चाहिये" ऐसा कहो तो, यह हो भी सकता है, यदि आश्रयोंका परस्पर विच्छेद हो जाय। क्योंकि जिसका अवयव विच्छिन्न नहीं हुआ है, ऐसे एक ही जलमें दो चन्द्रमाका भ्रम कभी नहीं होता। किन्तु एक ही चन्द्रमा चल जलमें चल प्रतीत होता है और अचल जलमें तो अचल। यदि कहो कि—तरङ्गोंमें तो वह भी हजारके समान मालूम देता है—तो हाँ, ऐसा ही होता है। क्योंकि वहाँ तरङ्गें भी हजाररूपमें विच्छिन्न हुई मिलतीं हैं।

यदि कहो कि—हाथको चलावस्थामें शरीर यदि अचल ही रहे तो हाथ और शरीर दोनोंकी युतसिद्धि होने लगेगी। अर्थात् हाथ और शरीर दोनों परस्पर असम्बद्ध होते हुए भी कायम रहें—तो इस प्रकारका आपादन क्षणिकवादी नहीं कर सकता है। क्योंकि स्वयं क्षणिकवादके अनुसार चलाचलत्व और युतसिद्धत्वमें व्याप्ति ही असिद्ध है। अर्थात् हाथ और शरीरमें युतसिद्धत्वकी सिद्धिके लिए दोनोंको कम से कम तीन क्षण तक स्थायी मानना पड़ेगा। जैसे, प्रथम क्षणमें दोनोंका परस्पर सम्बद्ध होकर रहना, द्वितीय क्षणमें हाथका चल होकर शरीरसे अलग होना और तीसरे क्षणमें दोनोंका असम्बद्ध होकर कायम रहना। किन्तु क्षणिकवादमें एक क्षणसे अधिक किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं रहती, फिर तदनुसार युतसिद्धत्वका आपादन क्षणिकवादी कैसे कर सकता है?

यहाँ ऐसा नहीं कह सकते कि—प्रसङ्ग देनेमें व्याप्तिके बारेमें भी

इदं मिथ्येति चेत्, तत् कथं सत्यम्? अबाधादिति चेत्, इह तर्हि बाधकान्तरं वाच्यम्। चलाचलत्वमेवेति चेन्न, युतसिद्धावपि[1] किमिति नेदं बाधकमिति विपर्ययस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति।

दूसरेकी स्वीकृति से ही काम चल जायगा। अर्थात् चलाचलत्वरूप आपादकद्वारा युतसिद्धत्वरूप आपाद्यका प्रसङ्ग देनेमें क्षणिकवादी उक्त आपादक और आपाद्यमें स्वयं व्याप्तिको न मानते हुए भी नैयायिकद्वारा स्वीकृत व्याप्तिकी ही शरण लेकर आपादन कर देगा—क्योंकि प्रसङ्गरूप तर्कमें दूसरेद्वारा सिर्फ आपादककी ही स्वीकृति अपेक्षित होती है, न कि आपादक और आपाद्यकी व्याप्तिकी भी। अतः व्याप्तिके बारेमें नैयायिककी स्वीकृतिसे काम नहीं चलेगा। क्षणिकवादीको स्वयं व्याप्तिकी सिद्धि चाहिये। किन्तु क्षणिकवादमें वह असम्भव है। साथ ही जो चलाचल होता है, वह युतसिद्ध (असम्बद्ध होते हुए भी विद्यमान) होता है, इस व्याप्तिको नैयायिक भी नहीं मानता, फिर उसकी शरण ली भी कैसे जा सकती है?

यदि कहो कि—वस्त्र और जलमें तो युतसिद्धि देखी जाती है। अर्थात् वस्त्रसे जलके स्खलित हो जानेपर भी दोनों असम्बद्ध होते हुए विद्यमान रहते हैं, अतः उक्त व्याप्तिको अवश्य स्वीकार करना होगा—तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि तन्तु और वस्त्रमें विपरीत भी देखा जाता है। अर्थात् तन्तु और वस्त्रके चलाचल होनेपर भी उनमें असम्बद्ध-विद्यमानता नहीं होती है।

यदि कहो कि—वहाँ तन्तु और वस्त्रमें सम्बद्धताकी अनुभूति मिथ्या है—तो यहाँ वस्त्र और जलकी असम्बद्धताकी अनुभूति कैसे सत्य है? यदि कहो, अबाधित होनेसे सत्य है—तो तन्तुवस्त्रस्थलमें कोई बाधक दिखाना चाहिये। यदि कहो कि—तन्तु और वस्त्रका चल-अचल होना ही उनकी सम्बद्धत्वानुभूतिका बाधक है—तो यहाँ चलाचलत्व तन्तु और वस्त्रके असम्बद्धविद्यमानताका ही बाधक क्यों न होगा? ऐसा विपरीत भी कहा ही जा सकता है। अर्थात् विपक्षमें बाधक दिये बिना केवल

१. युतसिद्धावेव इति ३ पु० पा०

रक्तारक्तविरोध इति चेन्न, भ्रान्तत्वात्। तन्मूलरागिद्रव्यसंयोगासंयोगविरोधोऽस्त्विति चेन्न, परमाणुवादिनं प्रति प्रागेव परिहृतत्वात्। इतरं प्रति का वार्तेति चेत्, सैव तावत्, तथैवाविरोधात्। प्रकारभेदेनापि विरोधाभ्युपगमे व्याप्तेरसिद्धेः, संयोगतदभावयोरेवासिद्धेः।

सहचारमात्रसे चलाचलत्व और युतसिद्धत्व (असम्बद्ध-विद्यमानत्व) में व्याप्ति निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—रक्त और अरक्तका विरोध अवयवीका बाधक होगा। अर्थात् जहाँ पटका कुछ भाग रक्त हो और कुछ भाग अरक्त हो, वहाँ यदि एक अवयवी माना जाय तो एक ही वस्तुमें रक्त और अरक्त दो विरोधी स्वरूपकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु होती है। अतः एक अवयवी मानना असंगत है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ "रक्तः पटः" यह प्रतीति ही भ्रान्त है। अर्थात् पट वस्तुतः अरक्त ही है। उसके अवयवोंमें ही कुछ रक्त होते हैं और कुछ अरक्त। अतः विरोध कहाँ है ?

यदि कहो कि—पटमें रक्तत्वभ्रमका मूल जो रङ्गद्रव्यका संयोग है, उसीको लेकर विरोध होगा। अर्थात् उसी पटमें रङ्गका संयोग भी है, जिससे वह रक्त मालूम पड़ता है। तथा रङ्गका संयोगाभाव भी है, जिससे कुछ हिस्सेमें अरक्त भी है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें रङ्गसंयोग और रङ्गसंयोगाभावके भी होनेमें विरोध होनेसे अवयवीकी सिद्धि नहीं हो सकती है—तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानातिरिक्त-परमाणुवादीके प्रति क्षणभङ्ग खण्डनके अवसरपर ही इस आक्षेपका परिहार किया जा चुका है।

यदि पूछो कि—विज्ञानवादी (परमाणुको भी विज्ञानस्वरूप ही माननेवाले) के प्रति क्या बात है ?—तो उसके प्रति भी वही बात है। क्योंकि प्रकारभेदसे अविरोधकी उपपादिका युक्ति यहाँ भी समान ही है। यदि प्रकारभेदसे भी संयोग और संयोगाभावके होनेमें विरोध मानो, तो स्वयं संयोग और संयोगाभावनामकी वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। फिर यह तुम्हारी व्याप्ति कैसे सिद्ध हो सकेगी कि "पटमें यदि

सिद्धौ वा प्रकारभेदा विरुद्धस्याभावसादेश्यापरित्यागात् । न चैवं पदार्थान्तरवैधर्म्येण संयोग एव निराकर्तव्यः, तद्वैधर्म्येण तेषामेव निराकरणप्रसङ्गात् ।

न चैवमेव न्याय्यम्, नियमवता हि सत्यवैधर्म्येणेतरन्निराक्रियते, असत्यवैधर्म्येण सत्यत्वस्यैव निर्वाहात्, निषेध्य-

---

संयोग और संयोगाभाव दोनों होंगे तो पट एक अभिन्न अवयवी न होकर विभिन्न अवयवोंका समुदायरूप हो जायगा"। अर्थात् संयोग और संयोगाभाव दोनों तभी सिद्ध होंगे जब प्रकारभेदसे दोनोंके रहनेमें कोई विरोध न हो। किन्तु प्रकारभेदसे भी उन दोनोंके रहनेमें यदि विरोध ही हो, तो वे स्वयं असिद्ध हो जायँगे और आपकी उक्त व्याप्ति भी असिद्ध हो जायगी।

यदि तो प्रकारभेदसे संयोग और संयोगाभावकी सिद्धि मानते हो तो प्रकारभेदसे संयोगका अविरोधी जो संयोगाभाव, उसका संयोगके साथ समानदेशमें रहना भी कहाँ छूटा? अर्थात् पटको एक अवयवी मानते हुए उसमें प्रकारभेदसे (अवयवभेदसे) रङ्गसंयोग और रङ्गसंयोगाभाव दोनोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं है।

यहाँ ऐसा भी नहीं कह सकते कि—यद्यपि संयोग संयोगाभावका विरोधी नहीं है किन्तु संयोगाभावका विधर्मी अवश्य है, इसलिये पटमें संयोगका ही निराकरण कर देना होगा—क्योंकि उसी न्यायसे संयोगका विधर्मी होनेसे संयोगाभावका ही निराकरण क्यों न होना चाहिये? अर्थात् वैधर्म्यके कारण वस्तुओंके तादात्म्यका निराकरण होता है न कि उनके स्वरूपका ही। क्योंकि वैसा होनेपर सभी वस्तुओंमें परस्पर वैधर्म्य होनेसे सभी पदार्थोंका निराकरण होकर सर्वशून्यत्वका प्रसङ्ग हो जायगा।

यहाँ ऐसा नहीं कह सकते कि—सब पदार्थोंका निराकरण एवं सर्वशून्यता ही न्यायसंगत है—कारण, जहां सत्यके साथ बिल्कुल साधर्म्य न हो किन्तु नियतरूपसे सत्यका वैधर्म्य ही रहे, वहीं सत्यसे इतर असत्यका निराकरण हो जाता है। असत्यका वैधर्म्य होनेपर तो सत्यता ही सिद्ध हो जाती है। अर्थात् संयोगमें सत्ता, गुणत्व,

प्रतीतिनान्तरीयकत्वाच्च निषेधसिद्धेः । शशविषाणादौ कल्पितेन निषेध्येन निषेधसिद्धिरिति चेन्न, निराकृतत्वात्, संयोगस्य वाङ्मात्रेण काल्पनिकत्वसिद्धावतिप्रसङ्गाच्च । शशशृङ्गन्यायस्य च योग्यानुपलम्भाभावेनासिद्धेः । इत एव बाधकात् तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम् ।

अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि सत्यसाधर्म्य भी हैं, अतः नियमतः सत्य-वैधर्म्य नहीं होनेसे संयोगका स्वरूपतः निराकरण नहीं हो सकता है। तथा उसमें यदि असत्यका वैधर्म्य मानो तो सुतरां सत्यत्व सिद्ध हो जायगा।

एवं, निषेध्यवस्तुकी प्रतीतिके बिना निषेधकी प्रतीति नहीं हो सकती, इसलिये भी संयोगका निषेध करनेके लिये निषेध्यरूपमें संयोगकी सत्ता माननी ही पड़ेगी।

यदि कहो कि—शशशृङ्गके निषेधस्थलमें शशशृङ्गरूप निषेध्यके कल्पित होनेपर भी निषेधकी प्रतीति हो जाती है, वैसे ही संयोगको कल्पित मानते हुए भी उसका निषेध सिद्ध हो सकता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वमें क्षणिकत्वसिद्धिके लिये दिये गये व्यतिरेकी अनुमानके खण्डनप्रकरणमें यह बात खण्डित हो चुकी है। एवं, बिना प्रमाणके केवल वचनमात्रसे यदि संयोग काल्पनिक हो जाय तो सर्वा-नुभूत नीलपीतादि भी काल्पनिक हो जायेंगे। साथ ही योग्यानुपलम्भ नहीं होनेसे शशशृङ्गका न्याय यहाँ नहीं लागू हो सकता है। अर्थात् शृङ्ग तो महिषादिमें प्रत्यक्षयोग्य है, अतः शशमें उसका अनुपलम्भ होनेसे शृङ्गका अभाव सिद्ध हो जाता है। किन्तु प्रत्यक्षयोग्य जो घटादिका संयोग, उसका अनुपलम्भ नहीं होने पर संयोगाभावकी सिद्धि नहीं हो सकती है। तथा जो संयोग प्रत्यक्षके अयोग्य है, जैसे परमाणु आदिका संयोग, उसका अनुपलम्भ होनेपर भी योग्यतारूप विशेषणके नहीं रहनेसे योग्यानुपलम्भ वहाँ भी नहीं हुआ, इसलिये उस संयोगका भी अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है।

यदि कहो कि—संयोगके काल्पनिक होनेसे संयोगाभाव सिद्ध है और इसीसे संयोगका योग्यानुपलम्भ भी सिद्ध हो जायगा—तो यहाँ

शब्दप्रत्यभिज्ञानवत् संयोगप्रतीतेरन्यथोपपत्तिमात्रेण बाधकप्रवृत्तिरिति चेन्न, अनुभवस्य तदनुरूपमुपाधिमुखपिण्डमदत्वा भ्रान्तत्वेनान्यथोपपत्तौ तद्विपरीतानुमानप्रवर्तनेऽग्नावनुष्णत्वानुमाने प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न च प्रत्यभिज्ञानस्य सामान्यवत् संयोगप्रत्ययस्य तदनुरूपमुपाध्यन्तरमस्ति।

अन्योन्याश्रयदोष आ जायगा। क्योंकि संयोगाभाव सिद्ध होनेपर योग्यानुपलम्भ सिद्ध होगा और योग्यानुपलम्भके सिद्ध हो चुकनेपर ही संयोभाव सिद्ध हो सकेगा।

यदि कहो कि—शब्दप्रत्यभिज्ञाके जात्यालम्बन होनेके कारण जैसे शब्दनित्यत्वबाधक प्रमाणकी प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही संयोगप्रतीतिकी भी अन्य प्रकारसे उपपत्ति हो जानेके कारण संयोगबाधक प्रमाणकी प्रवृत्ति हो जायगी। अर्थात् "स एवायङ्गकारः" यह प्रतीति गत्वजातिविषयक होनेसे गकारोंकी अभिन्नताको विषय नहीं बनाती है, इसीलिए शब्दनित्यत्व नहीं सिद्ध हो पाता है, वैसे ही दो द्रव्योंकी अव्यवहितदेशमें उत्पत्ति ही संयोगप्रतीतिका कारण है। अतः संयोगकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अनुभवके अनुरूप किसी उपाधिरूप मुखपिण्डको बिना उपस्थित किये उस अनुभवको भ्रमात्मक बताकर उसकी अन्यथा उपपत्ति की जाय और अनुभवके विपरीत अनुमानकी प्रवृत्ति की जाय तो अग्निके उष्णतानुभवको भी भ्रमात्मक बताकर उसमें अनुभवविरुद्ध अनुष्णत्वका भी अनुमान होने लगेगा। अर्थात् वही अनुभव भ्रान्त समझा जाता है, जिसका प्रकारान्तरसे उपपादक कोई उपाधि हो। 'स एवायं गकारः' इस शब्दाभेदविषयक प्रत्यभिज्ञाका उपपादक उपाधि गत्वादि-जाति है। अर्थात् गकारव्यक्तिके भिन्न होनेपर भी उसकी गत्व-जाति अभिन्न है और वह जाति ही उस प्रत्यभिज्ञामें भासित होती है। इसीलिये वह प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक मानी जाती है तथा शब्दनित्यत्व नहीं सिद्ध हो पाता है। किन्तु उसके समान संयोगप्रतीतिका उपपादक उसके अनुरूप कोई उपाधि है नहीं, जिससे संयोगप्रतीतिको भ्रमात्मक समझा जाय और संयोगकी सिद्धि न हो सके।

एवम्भूतमर्यादातिक्रमे तु त्वदभिप्रेतप्रतिबन्धप्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वेनान्यथासिद्धिप्रसङ्गः कथं वार्यः ? तदवारणे शिथिलमूलस्तर्कः कथं प्रवर्तेत ?

यथालोकव्यवस्थानं चाध्यक्षान्तरवत् संयोगस्यापि शब्दपाकजाद्यर्थक्रिया[1] स्थितेस्तदध्यक्षस्यापि प्रामाण्यसिद्धेर्न भ्रान्तत्वशङ्कावकाश इति ।

अस्तु तर्हि तद्देशत्वातद्देशत्वरूपो विरोधः, न, विरोधल-

इस प्रकारकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेपर तो तुम्हारा अभिमत व्याप्तिज्ञान भी भ्रमात्मक हो जायगा तथा उसमें अन्यथासिद्धिदोषके प्रसंगका वारण कैसे हो सकेगा ? उस दोषका वारण नहीं होनेपर तो व्याप्तिरूपमूलके शिथिल हो जानेसे तुम्हारा तर्क भी कैसे प्रवृत्त हो सकेगा ? अर्थात् जो विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होता है, वह एक नहीं होता, जैसे गो, अश्व, अहि, नकुल आदि । चूँकि घट संयोग और असंयोगरूप विरुद्ध धर्मोंसे युक्त है, इसलिए एक (अवयवी) नहीं हो सकता है—यह तुम्हारा अभीष्ट व्याप्तिज्ञान भी भ्रान्त हो जायगा और व्याप्तिके शिथिल होनेसे तुम्हारे अनुमानका पोषक यह तर्क भी, कि "घट यदि एक होता तो विरुद्ध धर्मोंसे युक्त नहीं होता, जैसे, क्षणिक परमाणु" लागू नहीं हो सकेगा । लोकव्यवस्थाके अनुसार नीलपीतादिप्रत्यक्षके समान संयोगके प्रत्यक्षमें भी प्रामाण्यकी सिद्धि हो जायगी तथा उसमें भ्रमात्मकताकी शंकाका अवसर ही नहीं आ सकेगा । कारण, जैसे अर्थक्रियाकारी होनेके कारण नीलपीतादि सत्य हैं तथा उनका प्रत्यक्ष प्रामाणिक है, वैसे ही दण्डसंयोगद्वारा भेरीमें शब्दात्मक तथा अग्निसंयोगद्वारा घटादिमें पाकजगुणात्मक अर्थक्रियाके किये जानेके कारण संयोग भी सत्य और उसका प्रत्यक्ष भी प्रामाणिक ही होगा ।

"पूर्वोक्त बाधकोंके अभावमें तद्देशत्व और अतद्देशत्वरूप विरोध ही अवयवीका बाधक हो" ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि तद्देशत्व

१. सिद्धेः इति ३ पु० पा०

क्षणाभावात् । न हि तद्देशसंसर्गविधौ नियमेन देशान्तरसंसर्गनिषेधः । तद्देशत्वतद्देशत्वयोस्तु स्यात्, तत्संसर्गस्तु केनेष्यते ।

अध्यक्षमेवैकसंसर्गपरिच्छेदकं तदभावव्यवच्छेदमुखेन तदन्यव्यवच्छेदफलमिमं विरोधमुद्गिरतीति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि नियमेनैकसंसृष्टस्यान्यसंसर्गं प्रतिक्षिपदध्यक्षमुदियात्,

---

और अतद्देशत्वमें विरोध ही नहीं है। कारण, अतद्देशत्वपदका नञ् यदि पर्युदासवाचक हो तो उसका अर्थ होगा "उस देशसे भिन्न देशमें रहना"। किन्तु तद्देशके साथ अवयवीका संसर्ग होनेपर नियमितरूपसे उससे भिन्न देशके साथ संसर्गका निषेध हो ही जाता है, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् एक ही लम्बे पटात्मक अवयवीका एकदेशके साथ संसर्ग और उससे भिन्न दूसरे देशके साथ भी संसर्ग रहता ही है, विरोध कहाँ है ?

यदि अतद्देशत्वपदका नञ् प्रसज्यप्रतिषेध-अर्थमें हो तो अतद्देशत्वका अर्थ हो जायगा "उस देशके साथ संसर्गका अभाव" ऐसी स्थितिमें तद्देशसंसर्ग और तद्देशसंसर्गाभावमें विरोध हो सकता है। किन्तु उस देशके साथ संसर्गाभावदशामें उस देशके साथ संसर्ग मानता ही कौन है कि विरोध होगा। अर्थात् एक ही अवयवीमें एक ही कालमें तद्देशत्व और तद्देशत्वाभावका सम्बन्ध मैं भी नहीं मानता, फिर प्रसज्यपक्षमें भी विरोध कैसा ?

यदि कहो कि—एकदेशके साथ अवयवीके संसर्गका अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष उस देशमें संसर्गाभावका व्यवच्छेद करता हुआ फलतः देशान्तर-संसर्गका भी व्यवच्छेद कर ही देगा। इस प्रकार तद्देशत्व और अतद्देशत्वका विरोध सूचित करता है—तो ऐसा तभी हो सकता है, यदि एकके साथ सम्बद्ध वस्तुका प्रत्यक्ष नियमतः दूसरेके साथ संसर्गको निषिद्ध करता हुआ पैदा हो, किन्तु ऐसा नहीं होता है। प्रत्युत एकसाथ एकका अनेकके साथ संसर्गका अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष होता है, जैसे "तन्तुषु पटः"।

यह प्रत्यक्ष यदि एक तन्तुमें उस पटके संसर्गका अवगाहन करनेके कारण अन्य तन्तुओंमें उस पटसंसर्गका निषेध कर दे तो समानन्यायसे

नत्वेतदस्ति। युगपदेकस्यानेकसंसर्गप्रवृत्तमध्यक्षमविशेषात् सर्वसंसर्गं वा प्रतिक्षिपेत्, न वा कमपि, स्वात्मानमेव वा, सर्वथा न विरोधं दीपयेत्। अन्ततः परमाणोरप्येकस्यानेकैः परमाणुभिः संसर्गस्वीकाराच्चेति।

एतेन वृत्तिविकल्पो निरस्तः, परमाणुवृत्त्याऽवयविवृत्तेस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्।

सभी तन्तुओंसे पटसंसर्गका निषेध करेगा। अथवा वह प्रत्यक्ष भी अनेकविषयक होनेसे अनेकसंसर्गी हुआ, अतः अवयवीके समान अपना भी निषेध कर देगा, किन्तु तद्देशत्व और अतद्देशत्वमें किसी भी हालतमें विरोध नहीं आने देगा। एवं, अन्ततः एक परमाणुका अनेक परमाणुओंके साथ संसर्गको तुम भी मानते ही हो। जैसी कि तुम्हारी उक्ति है—"षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता"। अर्थात् किसी एक परमाणुका चारो तरफ (आगे, पीछे, दोनों बगल तथा नीचे और ऊपर) छः परमाणुओंके साथ युगपत् संयोग होनेसे एक परमाणुका छः भाग सिद्ध होता है।

इससे वृत्तिसम्बन्धी विकल्प भी खण्डित हो गया। अर्थात् "अवयवी अपने प्रत्येक अवयवोंमें कृत्स्न (सम्पूर्ण) रूपसे [illegible] रहे तो एक ही में उस अवयवीकी सम्पूर्णसत्ताकी परिसमाप्ति हो जानेसे अन्य अवयवोंमें वह नहीं रह सकेगा। यदि एकदेशरूपसे रहे तो अवयवोंसे अतिरिक्त कौन सा एकदेश अवयवी का बचा है, जिस रूपसे अवयवी उन अवयवोंमें रहेगा? अतः कृत्स्न या एकदेश दोनों रूपसे अवर्तमान होनेके कारण अवयवी है ही नहीं" ऐसा कहना भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि परमाणुकी वर्तमानताके समान ही अवयवीकी भी वर्तमानताका योगक्षेम है। अर्थात् यही प्रश्न एक परमाणुका अन्य परमाणुओंके साथ संयोग होनेके बारेमें भी किया जा सकता है कि "परमाणु सम्पूर्णरूपसे सम्बद्ध होता है या एकदेशरूपसे? वहां यदि उत्तर दो कि एक परमाणुमें कृत्स्न और एकदेशका विकल्प ही नहीं संभव है, तो वैसे ही एक अवयवीमें भी कृत्स्न और एकदेशका विकल्प नहीं कर सकते।

अस्तु तर्हि चित्रे नीलानीलादिविरोधः। न हि तदेकं रूपम्, चित्रत्वविरोधात्। नाप्यनेकम्, एकावयविसमवायविरोधात्। न चानेकं व्यापकम्, तथानुपलम्भविरोधात्। न चाऽव्यापकम्, स्वाभावविदेशजातीयत्वविरोधात्। अन्यथा विरोधाविरोधव्यवस्थाविरोधात्। न चारूप एवावयवी, चाक्षुषत्वविरोधादिति चेन्न—

चित्रत्वं हि नानात्वं वा मिथोविरुद्धनानाजातिसमवायं

पूर्वपक्ष—विभिन्न वर्णवाले तन्तुओंसे बने चित्रपटमें तो नीलअनील आदि विरुद्ध धर्मोंका समावेश होनेसे वह एक अवयवी नहीं सिद्ध हो सकता[1] है। कारण, उस पटमें एक रूप नहीं है। क्योंकि नानारूप ही चित्रपदार्थ है। एकरूप होनेपर वह चित्र नहीं हो सकेगा। उस चित्र पटमें अनेकरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि एक अवयवीमें नानारूपोंका समवाय (सम्बन्धविशेष) नहीं हो सकता है। यह भी नहीं हो सकता कि उसमें अनेकरूप हैं और वे सभी व्याप्यवृत्ति हैं। अर्थात् सभी अवयवोंमें व्याप्त होकर रहते हैं। क्योंकि वहां अवयवीके सभी अवयवोंमें विजातीयरूपों की उपलब्धि नहीं होती है। यह भी नहीं हो सकता कि उसमें रहनेवाले अनेक रूप अव्याप्यवृत्ति हों। क्योंकि रूप उस वस्तुकी जातिके हैं, जो वस्तु अपने अभाववाले देशसे भिन्न देशमें रहती है। अर्थात् रूप और रूपाभाव दोनों एकत्र नहीं रह सकते इसलिये वह अव्याप्यवृत्ति नहीं हो सकता है। यदि अव्याप्यवृत्ति मानकर रूपाभावके साथ रूपको वर्तमान माना जाय तो संसारमें विरोध और अविरोधकी व्यवस्था ही विलीन हो जायगी। यह भी नहीं हो सकता कि जैसे गुणविरोधके कारण हरीतकी नीरस ही होती है, वैसे ही गुणविरोध होनेसे चित्रपट भी नीरूप ही हो। क्योंकि चित्रपट यदि नीरूप हो तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा।

समाधान—यह आक्षेप नहीं हो सकता है। क्योंकि "चित्रः पटः"

---

१. सामान्यरूपसे अवयवीमात्रके खण्डनके लिए दिये गये पूर्वोक्त पाँच विरोधोंका परिहार कर दिये जानेपर पुनः पूर्वपक्षी चित्रपटरूप विशेष अवयवीके सम्बन्धमें आक्षेप करता है।

वाऽभिप्रेत्य यदि एकत्वाभ्युपगमे विरोध उद्भाव्यते, तदैवमेतत्, न तु तथाऽभ्युपगमः। न खल्वनेकत्वं चित्रत्वम्, शुक्लेष्वप्यनेकेषु चित्रप्रत्ययप्रसङ्गात्। नाप्येकस्मिन् विरुद्धानेकजातिसमवायः, विरोधेनैव निराकृतत्वात्। अपि तु नीलत्वादिवत् चित्रत्वमपि जातिविशेष एव। स चावयववृत्तिविजातीयरूपसमाहाराभिव्यङ्ग्यत्वान्नैकरूपावयवसहितस्यावयविन उपलम्भेऽप्युपलभ्यते। अत एव त्र्यणुके चित्रेऽपि चित्रप्रत्ययो न कदापि।

यह प्रतीति नानारूपोंको विषय करती है, यह मानकर, अथवा नीलत्वपीतत्व आदि परस्पर विरुद्ध नाना जातियोंसे युक्त एक रूपको विषय करती है, यह मानकर यदि मैं एक अवयवीसिद्ध करता और विरोधकी उद्भावना की जाती, तब उक्त आक्षेप हो सकता था। किन्तु मैं वैसा मानता नहीं। अर्थात् मेरी मान्यताके अनुसार चित्रत्व एक स्वयं जाति है। उससे युक्त चित्ररूपवाले अवयवी को ही वह प्रतीति विषय करती है। अतः उसमें विरोधकी गन्ध भी नहीं है। कारण अनेक रूपका होना चित्रत्व नहीं है। वैसा होनेपर केवल अनेक शुक्लोंके रहनेपर भी चित्रप्रतीति होने लगेगी।

एकरूपमें नीलत्वपीतत्व आदि अनेक विरुद्ध जातियोंका समवाय भी चित्रत्व नहीं है। क्योंकि विरोधके कारण ही यह खण्डित है। किन्तु नीलत्व-पीतत्व आदिकी तरह चित्रत्व भी एक जातिविशेष है, और वह जाति अवयवोंमें वर्तमान विजातीयरूपोंके सम्मेलनसे व्यङ्ग्य होती है। इसीलिये जिस अवयवीकी उपलब्धि केवल धवलरूपवाले एकभागके साथ होती है, वहां उस अवयवीमें चित्रत्वकी उपलब्धि नहीं होती है। कारण, धवलसे विजातीयरूपवाले परभागके अवयवकी भी साथ साथ उपलब्धि नहीं होनेसे उस अवयवीमें चित्रत्वजातिकी अभिव्यक्ति ही नहीं हो पाती है। इसीलिये त्र्यणुकके चित्र होनेपर भी उसमें चित्रत्वप्रतीति कभी नहीं होती है। क्योंकि विजातीयरूपवाले उसके अवयवभूत द्वयणुक स्वयं अदृश्य हैं।

तथाप्यचित्रे पार्श्वे चित्रप्रत्ययो मा भूत्, धवलप्रत्ययस्तु कुत इति चेत्, अवयवरूपसञ्चारेणावयविनोऽपि तथा प्रत्ययात्। अत एव यत्रावयवरूपं न प्रत्यक्षं तत्र त्रसरेणावेतदपि नास्ति, दृश्यमेव (वा) ह्यालोकरूपमारोप्य पिञ्जरस्त्रसरेणुरालोक्यते।

स्यादेतत्, यदि चित्रत्वं नाम जातिविशेषः, कथं तर्हि विरुद्धजातीयरूपसमाहारमात्रे चित्रत्वप्रत्यय[1] इति चेत्, न वै नीलधवलारुणेषु पटेषु क्वचिदपि कार्बुरार्थे[2] श्चित्रप्रत्ययः

पूर्वपक्ष--फिर भी जिस अवयवीका एक पार्श्व अचित्र है अर्थात् धवल है, वहां अवयवीमें चित्रकी प्रतीति भले ही न हो परन्तु उसमें धवलत्वकी प्रतीति भी कैसे होगी?

समाधान—इस शङ्काका यही उत्तर होगा कि वहाँ एकभागीय धवल अवयवके धवलत्वका ही सम्पूर्ण अवयवीमें आरोप हो जानेसे एक भागसे देखनेवालेको सम्पूर्ण अवयवी ही धवल मालूम पड़ता है। इसीलिये जहाँ अवयवरूपकी बिल्कुल ही प्रतीति नहीं होती, वहां त्रसरेणुमें अवयवगत धवलरूपका आरोप भी नहीं होता। त्रसरेणुमें जो भूरापन की प्रतीति होती है, वह अवयवगतरूपके आरोपसे नहीं होती, क्योंकि अवयवगतरूप स्वयं अदृश्य है। किन्तु दृश्यभूत आलोकके रूपका ही त्रसरेणुमें आरोप होनेसे वह भूरा मालूम पड़ता है।

"अस्तु, विभिन्नरूपवाले अवयवोंसे उत्पन्न अवयवीमें अभिव्यक्त चित्रत्व यदि एक जातिविशेष है, तो जहाँ किसी अवयवीकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु विरुद्धजातीय रूपोंका समाहार भर है, वहाँ चित्रत्वकी प्रतीति कैसे होती है"? ऐसा यदि प्रश्न करो तो यही उत्तर होगा कि नील, धवल और अरुण पटोंकी ढेर जहां इकट्ठी है, वहाँ कहीं भी किसीको भी कर्बुर-अर्थमें चित्रशब्दका व्यवहार या चित्रकी प्रतीति नहीं ही

---

१. चित्रप्रत्यय इति २ पु० पा०

२. कार्ये वार्य इति ३ पु० पा०

कस्यापि[1]। वैधर्म्यनिमित्तस्तु केन वार्यते ? चित्रशब्दस्याक्षादिपदवदनेकार्थत्वात्।

नीलपीतादिषु मिथः संसृष्टेष्वनारब्धद्रव्येष्वपि कर्बुरप्रत्ययो भवतीति चेत्, सत्यम्, द्रव्यान्तरोत्पादाभिमानात् स्थौल्यातिशयप्रत्ययवदुपपत्तेरिति।

अस्तु तर्हि परमाणुनिवृत्तेः सर्वविलोपः। तथाहि, बहुभिः परमाणुभिः संसृज्यमानः परमाणुः प्रत्येकं किमेकदेशेन संयुज्यते ? कात्स्न्येंन वा ? प्रकारान्तराभावात्।

होती है। वहां पर वैलक्षण्य-अर्थमें चित्रशब्दका प्रयोग या चित्रप्रतीति को कौन रोकता है ? क्योंकि अक्ष आदि पदोंके समान चित्रपद भी अनेकार्थक है।

यदि कहो कि—नीलपीतादि जहां परस्परमें मिले भर हैं किन्तु किसी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हुई है, वहांपर भी कर्बुरपदका प्रयोग तथा कर्बुरकी प्रतीति भी होती ही है—तो ठीक है, वहां द्रव्यान्तरकी उत्पत्तिके भ्रमसे ही वैसा होता है। जैसे, धानकी राशिमें किसी द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं होनेपर भी उसमें स्थूलताका व्यवहार और प्रतीति अन्य स्थूलद्रव्यकी उत्पत्तिके भ्रमसे हो जाती है। अर्थात् उक्त स्थलमें कर्बुरप्रतीति भ्रमात्मक है, यथार्थ नहीं॥

परमाणुनिराकरणखण्डन

यदि कहो कि—उक्त प्रकारसे अवयवीका निराकरण न हो सकनेपर भी परमाणु-निराकरणसे ही अवयवी आदि सभी बाह्यपदार्थोंका खण्डन हो जायगा। अर्थात् अवयवी तभी सिद्ध होगा, यदि उसका मूल कारण परमाणु सिद्ध हो। किन्तु परमाणु ही असिद्ध है। क्योंकि अवयवीके निर्माणार्थ परमाणुओंको परस्परमें संसृष्ट मानना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में बहुत परमाणुओंसे सम्बद्ध होता हुआ एक परमाणु क्या प्रत्येकके साथ अपने एक भागसे संयुक्त होता है ? अथवा सम्पूर्णरूपसे ? कारण,

१. कस्यचिदपि इति २ पु० पा०

न प्रथमः, तस्यैकदेशाभावात्, भावे वा परमाणुत्वव्याघातात्। न द्वितीयः, परमाण्वन्तरेणासंसर्गप्रसङ्गात्। न ह्यस्ति सम्भवः, एकत्रैव परिसमाप्तवृत्तिरन्यत्रापि वर्तत इति।

न, बुद्ध्या समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि, बुद्धिरपि सन्तमसन्तं वाऽनेकं विषयमालम्बमानाऽऽकारं वा बिभ्रती कार्त्स्न्येन वा? एकदेशेन वा? न प्रथमः, पीतादिविषयाकारविलोपप्रसङ्गात्। न ह्यस्ति सम्भवो नील एव विषय आकारे वा परिसमाप्ताऽऽत्मा पीतादिसम्पृक्ताऽऽत्मा चेति।

न द्वितीयः, तदभावात्। एवमनाकारत्वमविषयत्वं च

इन दोनों प्रकारोंसे अतिरिक्त तीसरा प्रकार नहीं हो सकता। इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि परमाणुमें भाग होता ही नहीं है। यदि उसमें भी भाग हो तो वह परमाणु ही नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक परमाणुके साथ अपने सम्पूर्णरूपसे संयुक्त हो चुकनेपर दूसरे परमाणुके साथ उसका संसर्ग नहीं हो सकेगा। कारण, यह संभव नहीं है कि एक ही जगह जिसकी वृत्ति (रहना) परिसमाप्त हो चुकी हो, वह दूसरी जगह भी रहे। अर्थात् उक्त युक्तिसे परमाणु भी असिद्ध ही है और विज्ञानमात्र ही तत्त्व है—

तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि विज्ञानके समान ही इसका भी योगक्षेम है। क्योंकि बुद्धि भी सत् या असत् अनेक विषयको अपना आलम्बन बनाती हुई अथवा अनेक आकारको धारण करती हुई अपने सम्पूर्णरूपसे वैसा करती है? अथवा अपने एक भागसे? यहां प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि नीलावगाहिनी बुद्धि यदि सम्पूर्ण रूपसे नीलालम्बन हो अथवा नीलाकारको धारण करे तो पीतादिविषयरूप आकारोंका विलोप हो जायगा। कारण, यह कथमपि संभव नहीं है कि नील आदि विषय या आकारमें बुद्धिका स्वरूप समाप्त भी हो जाय तथा पीतादि विषयोंसे सम्पृक्त भी रहे।

दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि बुद्धिके निरवयव होनेसे उसका एकदेश ही असंभव है। यदि कहो कि—उक्त प्रकारसे

बुद्धेरिष्यत एवेति चेत्, तत् किं यत् प्रतिभासते तदसत्? आहोस्वित् न प्रतिभासत एव किञ्चित्? नाद्यः, असत्यपि नीलपीतादौ ज्ञानवृत्तिविकल्पस्य तदवस्थत्वात्। नहि कृत्स्नमेव विज्ञानं नीलोल्लेखि, पीताद्यनुल्लेख[1] प्रसङ्गात्। नापि तदेकदेशः, तदभावादित्युक्तत्वात्। न द्वितीयः, बाह्येऽपि वृत्तिविकल्पस्यानुपपत्तेरिति।

स्यादेतत्, निःशेषसमुदायी कृत्स्नशब्दस्यार्थः समुदाये कश्चिदेव समुदाय्येकदेशपदार्थः, न च बुद्धिः समुदायस्वभावा,

---

बुद्धिमें आपादित आकारहीनत्व या विषयशून्यत्व इष्ट ही है—तो बताओ कि बुद्धिमें जो भासित हुआ करता है, वह असत् है? या कुछ भासित ही नहीं होता है? यहां प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि नीलपीतादि विषय यदि असत् भी हो, तो भी उसके साथ ज्ञानके सम्बन्धके बारेमें दिया गया उक्त विकल्प यथापूर्व ही रह जाता है। कारण, सम्पूर्णरूपसे विज्ञान (बुद्धि) नीलविषयका उल्लेख नहीं कर सकता है। क्योंकि विज्ञान नीलका भान करानेमें ही परिसमाप्त रहेगा, अतः पीतादि विषयका भान नहीं हो सकेगा।

यह भी नहीं हो सकता कि—विज्ञान अपने एक भागसे नीलको भासित करे और दूसरे भागसे पीतादिको, क्योंकि निरवयव होनेसे उसमें एक देश ही नहीं होता, यह कहा जा चुका है। विज्ञानमें कुछ भासित ही नहीं होता, यह दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अवयवीरूप बाह्यके बारेमें भी पूर्वोक्त वृत्तिका विकल्प नहीं दे सकोगे। अर्थात् जब बाह्य वस्तु ही असिद्ध है तो "वह सम्पूर्णरूपसे परमाणुमें रहेगा या अपने एक अंशसे? इस प्रकारका पूर्वमें दिया गया विकल्प ही अनुपपन्न होगा।

पूर्वपक्ष—अस्तु, कृत्स्नशब्दका अर्थ है "समुदायान्तर्गत सभी समुदायी" तथा एकदेशपद का अर्थ है "समुदायान्तर्गत कोई एक ही समुदायी"। प्रकृतमें बुद्धि तो समुदायरूप है, कारण, वह एकात्मक

---

१. नुल्लेखित्व इति ३ पु० पा०

तस्या एकरूपत्वात्, तत्[1] कुतः कृत्स्नैकदेशविकल्पोत्थानम्? कथं तर्हि तद्विषयिणी तदाकारवती वा? प्रकारान्तराभावादिति यदि, तदा स्वरूपेणेति ब्रूम इति चेत्—स्फुटं निरटङ्कि तार्किकवेदिकाविटङ्केन केवलमस्मभ्यमभ्यसूयता दूरङ्गत्वेति।

एतेन तदतद्देशत्वं निरस्तम्। तथाहि बुद्धेर्नीलाकारतां परिच्छिन्दद्ध्यक्षं तदभावव्यवच्छेदमुखेन तदविनाभूतां पीताद्याकारतामपि व्यवच्छिन्द्यात्। तथा च कथमेका बुद्धिर्नील-

---

है। अतः बुद्धिके सम्बन्धमें पूर्वोक्त प्रकारसे कृत्स्न (सम्पूर्ण) या एकदेशका विकल्प कैसे उठ सकता है?। यदि पूछो कि—कृत्स्न या एकदेशके अतिरिक्त किसी तृतीय प्रकारके नहीं होने से इन दोनोंके अभावमें बुद्धि नीलादिको अपना विषय कैसे बना सकेगी? अथवा वह नीलादि आकारवाली कैसे हो सकेगी? तो यही कहूँगा कि सम्पूर्ण या एकदेश विकल्पके बिना ही स्वरूपसे ही बुद्धि नीलादि विषयिणी या नीलादि आकारवाली होगी।

उत्तरपक्ष—इस प्रकारसे बौद्ध यदि बुद्धिसम्बन्धी विकल्पका समाधान करे तो निश्चय ही तार्किकोंके स्थानपर पहुँचा हुआ बौद्धधूर्तने हमारे साथ केवल असूयावश दूर जाकर अर्थात् अपने ऊपर आये दोषके निराकरणके अवसरपर यह बात कही। अर्थात् हमारा अवयवी भी कृत्स्न या एकदेश विकल्पके बिना ही स्वरूपसे ही अवयवोंमें रहेगा, इस बातको पहले नहीं समझते हुए बहुत बाद तब समझा, जबकि उसकी बुद्धिके बारेमें भी वही कृत्स्न या एकदेशका विकल्प नैयायिकोंकी ओरसे उपस्थित किया गया।

इससे (पूर्वोक्त बुद्धिरूप प्रतिबन्दिके द्वारा) परमाणु तथा अवयवीमें भी तद्देशत्व और अतद्देशत्वका विरोध खण्डित हो गया। क्योंकि एकदेशमें सम्बद्ध परमाणु और अवयवीका देशान्तरमें सम्बन्ध होनेमें यदि विरोध हो तो बुद्धिमें नीलाकारताका अनुभव करानेवाला प्रत्यक्ष उसके नीलाभावाकारताके निषेधद्वारा नीलाभावसे नियमतः सम्बद्ध

---

१. तदेतत् इति २ पु० पा०

पीताद्याकारा स्यादिति तुल्योऽनुयोगः ।

भवेदेवं यदि नीलाद्याकारतायाः पीताद्याकारत्वाविनाभावः स्यात्, स एव तु कुतः ? नीलपीताद्याकाराया बुद्धेरैकात्म्येनैव निश्चयात् । प्रत्याकारनियतत्वे चित्रप्रतिपत्तेरप्यनुपपत्तिरिति चेत्, तदेतत् तुल्यं परमाण्ववयव्यादिष्वपि । न हि तत्राप्यनेकपरमाणुसंसृष्टस्य परमाणोरनेकावयवसंसृष्टस्यावयविनो वा नैकात्मताऽनुभूयते, तथात्वे वा एकस्यानेकसंसर्गप्रतिपत्तिः कदापि न स्यादिति तुल्यैवार्थगतिः । वाचि वैचित्र्यं तु कोपयुज्यत इति ।

पीताद्याकारताको भी बुद्धिमें नहीं होने देगा। ऐसी परिस्थितिमें एक बुद्धि नील-पीत आदि अनेक आकारवाली कैसे हो सकेगी? इस प्रकार परमाणु और अवयवीके ऊपर दिया गया दोष तुल्यरूपसे आपकी बुद्धि पर भी आ ही जाता है।

यदि कहो कि—बुद्धिमें यह दोष तब आता यदि बुद्धि प्रत्येक आकारके साथ अलग अलग नियत रहती तथा नीलाकारताका पीताकारताके अभावके साथ नियत सम्बन्ध रहता। किन्तु उक्त दोनों ही बातें यहाँ कहाँ हैं? क्योंकि नीलपीत आदि अनेक आकारको एकसाथ धारण करनेवाली बुद्धिमें नील-पीतके भिन्न होनेसे भिन्नता नहीं मानते किन्तु उसमें एकात्मता (एकरूपता) ही मानते हैं। कारण, नीलपीत आदि प्रत्येक आकार के साथ अलग अलग यदि बुद्धिको नियत माना जाय तो चित्राकार प्रतीति ही नहीं हो सकेगी—तो यह बात परमाणु और अवयवीमें भी समान ही है। क्योंकि वहाँ भी अनेक परमाणुओंसे संयुक्त परमाणुमें या अनेक अवयवोंमें आश्रित अवयवीमें एकात्मताका अनुभव न होता हो ऐसी बात नहीं है। यदि उक्त स्थलोंपर परमाणु और अवयवीमें एकात्मताका अनुभव न हो तो एकमें अनेकके साथ संसर्गकी प्रतीति कभी न हो सकेगी। अर्थात् एक सपक्षमें साध्य-साधनरूप अनेकका संसर्ग (सामानाधिकरण्य) भी न हो सकेगा तथा अनुमानमात्रका उच्छेद हो जायगा। इस प्रकार बुद्धि और परमाणु तथा अवयवी आदिकी समान ही गति है। केवल

संयोगव्यवस्थापनेनैव षट्केन युगपद्योगात् दिग्देशभेदाच्छायावृतिभ्याभित्यादयो निरस्ताः ।

कथनमें ही वैचित्र्य है, जिसका कोई उपयोग नहीं है। अर्थात् कथनमात्र की विचित्रतासे दोनोंकी तुल्यगति होनेमें कोई बाधा नहीं है।

बुद्धिके समान परमाणुका भी स्वरूपसे ही अनेक परमाणुओंके साथ संयोगकी व्यवस्था कर देनेसे ही—

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
दिग्देशभेदतश्छायावृतिभ्यां चापि चांशता" ॥

इस कारिकाके अनुसार बौद्धोंद्वारा उपस्थित किये गये परमाणुबाधक प्रमाण भी खण्डित हो जाते हैं[1]।

---

१. एक परमाणुका अपने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे रहने वाले छै परमाणुओंके साथ एकसाथ ही संयोग होनेसे उस परमाणुमें छै भाग सिद्ध होते हैं। एवं, यह पूर्वीय परमाणु है, यह पश्चिमीय परमाणु है, इस प्रकारका दिग्देशका भेद भी परमाणुको सावयव सिद्ध करता है। क्योंकि सर्वत्र सावयव घटपटादिमें ही पूर्वीय पश्चिमीय आदिका व्यवहार होता है। एवं परमाणुके मूर्तिमान होनेसे उसके द्वारा छाया तथा आवरण अवश्य पैदा होंगे, इसलिये भी परमाणु सावयय सिद्ध होता है। क्योंकि लोकमें सावयव द्रव्य ही छाया और आवरण पैदा करते हैं। अतः इन पूर्वोक्त हेतुओंसे परमाणुको भी अवयव होना सिद्ध होता है।

किन्तु बौद्धद्वारा दी गयीं यह परमाणुबाधक युक्तियाँ ठीक नहीं हैं। क्योंकि परमाणुका संयोग अनेक परमाणुओंके साथ नहीं होता किन्तु परमाणुके इर्दगिर्द अनेक दिशाओंके साथ ही होता है। अतः अनेक संयोगके आधारपर परमाणुके सावयन होनेका कोई प्रश्न ही नहीं है। एवं पूर्वीय पश्चिमीय आदि व्यवहार भी दिशाभेदोंके कारण होता है, न–कि परमाणुके सावयव होनेके कारण। क्योंकि किसी बड़े दण्ड आदिमें, उसके सावयव होनेपर भी उसके मध्यभागकी अपेक्षा करके, पूर्वीय पश्चिमीय आदि व्यवहार नहीं होते हैं। इसी प्रकार परमाणु द्वारा छाया और आवरणका होना भी उसके सावयव होनेसे नहीं, किन्तु

परमाणुसिद्ध्यसिद्धिभ्यामेव मूर्तत्वादयो निरवकाशिताः। आकाशव्यतिभेदादयस्त्वसम्भाविता एव ।

सर्वत्र चात्र हेतुदशायां प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातः, कालात्य-

नैयायिकाभिमत परमाणुको भी सावयव सिद्ध करनेवाले मूर्तत्व आदि हेतु भी परमाणुकी सिद्धि या असिद्धि दोनों ही स्थितियोंमें अनुपयुक्त हैं। अर्थात् "परमाणवः सावयवाः, मूर्तत्वात्, रूपवत्त्वात्, स्पर्शवत्त्वात्-घटादिवत्" इस अनुमानद्वारा परमाणुको भी सावयव सिद्ध करनेका यही अभिप्राय है कि निरवयवात्मक परमाणु होता ही नहीं है। किन्तु यदि परमाणु असिद्ध है, तो उक्त अनुमानका पक्ष ही असिद्ध हो गया। अतः आश्रयासिद्धिरूप दोषसे ग्रस्त होनेके कारण मूर्तत्वादि हेतु सावयत्वके साधक नहीं हो सकते। और यदि आश्रयासिद्धिदोषसे बचनेके लिये परमाणुको पक्षरूपमें सिद्ध माना जाय तो लाघव तथा अनवस्थाप्रसङ्गरूप तर्कोंके आधारपर वह निरवयव भी सिद्ध हो जाता है।

परमाणुके भीतर आकाशका सम्बन्ध मानते हुए परमाणुको सावयव सिद्ध करना तो अत्यन्त असम्भव है। अर्थात् "परमाणुके भीतर आकाश है? या नहीं? यदि है तो परमाणु सावयव सिद्ध हो गया। यदि नहीं है तो आकाशकी व्यापकता खण्डित हो जाती है।" यह आक्षेप तो बिलकुल असम्भव है। क्योंकि परमाणुके निरवयव होनेसे उसमें अभ्यन्तर होता ही नहीं, अतः उसके भीतर आकाश कैसे रह सकता है? इससे आकाशकी व्यापकतामें भी कोई क्षति नहीं आती है। क्योंकि "सर्वमूर्तसंयोगित्वं व्यापकत्वम्" इस लक्षणके अनुसार सभी मूर्त द्रव्योंके साथ संयोग होनेके कारण आकाश व्यापक कहाता है। परमाणुमें मध्यभाग नहीं होनेपर भी उसके साथ आकाशका संयोग है ही।

एवं, पूर्वोक्त सभी अनुमानोंकी दशामें "परमाणुः सावयवः" इस प्रतिज्ञावाक्यान्तर्गत परमाणुपद और सावयवपदमें परस्पर विरोध हो

मूर्त होनेके कारण ही है। अतः उक्त हेतु परमाणुको सावयव सिद्ध करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं।

यापदेशश्च। प्रसङ्गदशायामाश्रयासिद्धिर्व्याप्त्यसिद्धिश्च दृष्टान्तासिद्धेः। अनवस्थालक्षणविपरीततर्कस्य तदुपष्टम्भकतया त्रुटेरप्रमेयत्वप्रसङ्गस्य च विद्यमानत्वात्।

न च प्रलयः परमाणोः, असत्त्वसाधकस्य प्रमाणस्याभावात्, सावयवत्वापादकानां च हेतूनामनवस्थोत्थापकत्वा

जाता है। क्योंकि यदि परमाणु है तो उसे सावयव कहना विरुद्ध होगा, और सावयव हो तो उसे परमाणुपदसे नहीं कहा जा सकता है। तथा उक्त अनुमानोंमें कालात्ययापदेश (बाध) दोष भी है। क्योंकि पक्षके रूपमें परमाणुको मानना आवश्यक होगा। अतः धर्मिग्राहक मानके बलसे ही उसका निरवयवत्व भी सिद्ध ही है। इसलिये सावयवत्व सिद्ध करनेवाला अनुमान बाधित है।

एवं प्रसङ्गदशामें आश्रयासिद्धि और व्याप्त्यसिद्धि भी होगी। अर्थात् यह प्रसङ्ग (आपत्ति) दो कि "यदि परमाणु निरवयव हो तो मूर्त नहीं होगा, अनेक परमाणुओंसे एक साथ संयुक्त नहीं हो सकेगा तथा उसकी छाया नहीं हो सकेगी या आवरण नहीं कर सकेगा इत्यादि" तो यहाँ परमाणुरूप आश्रयके नहीं माननेपर उक्त प्रकारके प्रसङ्ग आश्रयासिद्धिदोषसे ग्रस्त हो जाते हैं। एवं दृष्टान्तके सिद्ध न हो सकनेसे व्याप्तिकी भी असिद्धि है। अर्थात् विज्ञानवादीके मतानुसार परमाणुकी असिद्धिके साथ-साथ सभी बाह्य-वस्तु भी असिद्ध है, फिर सावयव वस्तुके रूपमें कोई अन्वयी दृष्टान्त तथा निरवयव वस्तुके रूपमें कोई व्यतिरेकी दृष्टान्त क्या होगा? और दृष्टान्त के अभावमें व्याप्तिका ज्ञान कहाँ हो सकेगा?

एवं अनवस्थालक्षण प्रतिकूल तर्कके सहारे त्रसरेणुमें भी अनन्त अवयवकी सिद्धि हो जानेसे त्रसरेणु और मेरु पर्वत दोनों समान परिमाणवाले हो जायेंगे तथा मेरुके समान त्रसरेणु भी अमेय अर्थात् मापके बाहर हो जायेंगे।

यह भी नहीं कह सकते कि—अवयवधाराकी विश्रान्ति मेरुसर्षपके साम्यप्रसङ्गरूप दोषके कारण, निरवधि भले ही न हो, किन्तु परमाणुमें भी उसकी अन्तिम विश्रान्ति नहीं हो सकती है, तथा परमाणुका विनाश

दिति । तदन्य एवायं परमाणू रक्तबीजो यस्य भागा[1] युक्तिचामुण्डोदरमपि भित्त्वा निष्पतन्तीति ।

न च कल्पिताश्रयाः कल्पितप्रतिबन्धाश्च प्रसङ्गा भविष्य-न्तीति युक्तम्, इ(स्वे)च्छाकल्पितेन व्यवहारेण सर्वविधिनिषेध-

---

ही अवयवधाराको अन्तिम अवधि है। इस प्रकार परमाणुके विनाशी होनेसे भी नैयायिकोंका अभिमत नित्य परमाणु नहीं सिद्ध हो सकेगा—कारण, परमाणुका विनाश सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ध्वंसके प्रति समवायिकारण और असमवायिकारणका नाश निमित्त होता है। यहाँ परमाणुका कोई समवायिकारण ही नहीं होता, जिसके नाशसे परमाणुका नाश हो जाय। समवायिकारण नहीं होनेसे तत्सम्बन्धरूप असमवायिकारण भी सुतरां नहीं हो सकता। अतः असमवायिकारणके नाशद्वारा भी परमाणुका नाश नहीं हो सकता। इसलिये नित्य परमाणु के होनेमें कोई बाधा नहीं है।

यदि कहो कि—मूर्तत्व आदि हेतुओंके द्वारा परमाणु सावयव सिद्ध होगा तथा सावयव होनेके कारण परमाणुमें विनाशित्व सिद्‌ध हो जायगा—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि सावयवत्वको सिद्‌ध करने वाले हेतु अनवस्थाके उत्थापक हो जाते हैं। अर्थात् मूर्तत्व आदि हेतु अनवस्थितरूपसे परमाणुमें अनन्त अवयवकी धारा सिद्‌ध करेंगे न कि परमाणुका विनाश। इस प्रकार यह एक विलक्षण ही परमाणुरूपी रक्त-बीज है, जो तुम्हारी युक्तिरूपी चामुण्डाके उदरका भी भेदन करके पुनः परमाणुरूपमें निकल पड़ता है; अर्थात् चामुण्डादेवीके द्वारा रक्तबीज नामक असुरके निगल लिये जानेपर भी पुनः नहीं पैदा हो सका। किन्तु यह परमणुरूपी रक्तबीज तो उससे बढ़कर है, जिसका खण्डन करनेके लिये तुम्हारी युक्तियाँ जैसे जैसे सावयवत्व सिद्‌ध करती हैं, वैसे वैसे उन युक्तियोंद्वारा सिद्‌ध किया हुआ अवयव ही परमाणु बन बैठता है।

यहाँ यह कहना भी उचित नहीं है कि—असत्ख्यातिसे उपनीत काल्पनिक परमाणु ही उक्त प्रसङ्गोंमें आश्रय होगा तथा काल्पनिक बाह्य पदार्थ ही उक्त प्रसङ्गोंमें अन्वयी एवं व्यतिरेकी दृष्टान्त होंगे। इसलिये

---

१. भेदा इति २ पु० पा०।

व्यवहारविलोप[1] प्रसङ्गात्। लोकव्यवस्थापेक्षणे तु तद्विरोधेनोत्तरस्य निषेध (क) स्यात्मलाभाभावादित्यसकृदावेदितत्वात्।

अन्यथा सर्वमेतद् बुद्धावपि समानम्। सापि हि षट्केन युगपद्योगादिभिः सावयवा प्रसज्येत। तस्यामसिद्धास्त इति चेन्न, अनुमानसिद्धत्वात्।

तथाहि, बुद्धिः षट्केन युगपद्योगिनी मूर्तिमती च,

आश्रयासिद्धि या व्याप्यत्वासिद्धि दोष नहीं आ सकता है—क्योंकि अपनी इच्छाद्वारा कल्पित मनमाने अनुमानव्यवहारसे तो सभी विधि तथा निषेधव्यवहारोंका लोप होने लग जायगा।

यदि कहो कि—विधिनिषेधव्यवहारका भी आधार लौकिक व्यवस्था है, अतः वास्तविकता नहीं होनेपर भी लोकव्यवस्थासे नियन्त्रित होनेके कारण विधि-निषेधव्यवहारोंमें कोई गड़बड़ी नहीं होगी—तब तो लौकिक व्यवस्थासे विरुद्ध होनेके कारण परमाणु अवयवी आदि बाह्यवस्तुओंका भी निषेध नहीं हो सकेगा, यह बात अनेक बार बता दी जा चुकी है। अन्यथा, अर्थात् लोकव्यवस्थाकी उपेक्षा करते हुए यदि बाह्यवस्तुओंका निषेध करो तो उक्त सभी प्रसङ्ग तुम्हारी बुद्धि (विज्ञान) के बारेमें भी समानरूपसे दिये जा सकते हैं। क्योंकि वह भी "षट्केन युगपद्योगात्" इत्यादि हेतुओंसे परमाणुके समान ही सावयव होने लगेगी।

यदि कहो कि—उक्त हेतु बुद्धिमें असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) हैं—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अनुमानद्वारा वे बुद्धिमें सिद्ध हैं। जैसे "बुद्धि छः के साथ एक साथ सम्बद्ध है तथा मूर्तिमती भी है, क्योंकि उसमें सत्ता है या वह व्यवहारका विषय है, जैसे, बोध्यपदार्थ" इस प्रकारका अनुमान किया जा सकता है।

यदि कहो कि—बुद्धिरूप धर्मीका ग्रहण करानेवाला जो प्रमाण है, वही बुद्धिकी सिद्धिके साथ साथ उसके षट्कयोगित्व और मूर्तिमत्त्वके

---

१. व्यवहारविलोप इति ३ पुस्तके नास्ति।

सत्त्वाद् व्यवहर्तव्यत्वाद् वा, बोध्यवदिति शक्यते। विपर्ययस्यापि धर्मिग्राहकमानसाधितत्वादनवकाशमिदमिति चेत्, एवमन्यत्रापि प्रतिसन्दधीथा इत्येषा दिक्॥

अन्यस्तु चक्षुषी निमीलय निर्भयीभवितुमिच्छन्नाह–अस्तु तर्हि बुद्धेरपि विलोप इति।

अत्र तु किं वक्तव्यं यत्र हेत्वादिव्यवहारो नास्ति। अस्तु, परं सांवृत इति चेत्, भवेदेवं यदि संवृतिरपि परमार्थ-

---

अभावकी भी सिद्धि करा देगा। अतः बुद्धिमें षट्कसम्बन्ध और मूर्तिमत्ताका यह अनुमान निरुपयोगी होगा–तो इसी प्रकार परमाणु और अवयवीके बारेमें भी समझो। अर्थात धर्मिग्राहक मानसे परमाणु सिद्ध है। क्योंकि परमाणुरूप धर्मी न हो तो तुम सावयवत्वका अनुमान किस पक्षमें कर सकोगे। इसी प्रकार परमाणुका निरवयवत्व भी लाघव और अनवस्थाप्रसङ्गरूप तर्कके आधारपर साथ ही सिद्ध है। यह परमाणुसम्बन्धी विचारका दिग्दर्शनमात्र हुआ।

शून्यवादका खण्डन

दूसरा बौद्ध माध्यमिक तो आँखें मूँदकर भयसे मुक्त होना चाहता हुआ कहता है कि—बुद्धिरूप प्रतिबन्दिका सहारा लेकर परमाणु और अवयवीके सम्बन्धमें दिये गये विकल्पोंका उद्धार नैयायिक नहीं कर सकता है। क्योंकि सर्वशून्यत्ववादके अनुसार बुद्धिकी भी (विज्ञानकी भी) सत्ताका लुप्त होना ही अभीष्ट है। अर्थात् बाह्यवस्तुओंके समान विज्ञान भी असत् ही है—किन्तु इस मतके सम्बन्धमें क्या कहना है, जहाँ हेतु, पक्ष, दृष्टान्त आदिका व्यवहार भी असत् है। अर्थात् सभी प्रकारके व्यवहारोंका मूल है बुद्धि। इसलिए जब बुद्धि ही असत् होगी तो उसके अधीन होनेवाला हेतु आदिका व्यवहार भी स्वतः असत् हो जायगा। ऐसी स्थितिमें हेतु आदिके अभावमें बुद्धिका भी लोप कैसे सिद्ध हो सकेगा? यदि बुद्धि लोपका साधक हेत्वादिव्यवहार सत् माना जाय तो शून्यवाद खण्डित हो जायगा।

यदि कहो कि—सर्वशून्यत्वका साधक जो हेत्वादिका व्यवहार है, वह सत् तो है, पर वास्तविक सत् न होकर सांवृत (काल्पनिक) सत्

सती स्यात् । अन्यथा तु यथा न वास्तवस्तथा न सांवृतोऽपि । संवृतिरपि संवृतिसतीति चेत्, अस्यासत्त्वे न किञ्चिदधिकमुक्तम् । परसंवृतेस्तु परमार्थसत्त्वस्वीकारे सैव बुद्धिरपरिहेयेति । सती च बाधकवती चेति संवृतिसती चेति चेत, सत्येव यदि तत् कथं बाधकम् ? तथा चेत्, कथं तदालीढस्य सत्त्वमिति ?

दृश्यते तावदेव मिति चेत्, सत्त्वैकार्थसमवायिनो बाधकत्वमेव तर्हि हेयम् । बाधकैकार्थसमवायिनः सत्त्वमेव किं न

है—तो हेत्वादिव्यवहारका सांवृतत्व भी तभी सम्भव है, जब कि संवृति भी स्वयं परमार्थ सत् हो । ऐसा नहीं होनेपर हेत्वादि-व्यवहार जैसे वास्तव नहीं है, वैसे सांवृत भी नहीं हो सकेगा । यदि कहो कि—संवृति भी परमार्थ सत् न होकर सांवृत सत् ही है—तो यह दूसरी संवृति भी यदि सत् हो तो उसीसे शून्यवाद खण्डित हो गया । इस दूसरी संवृतिके भी असत् होनेपर तो कोई नयी बात नहीं कही गयी । अर्थात् हेत्वादिव्यवहारके समान संवृतिका भी सांवृतत्व नहीं सिद्ध हो सकेगा । अन्तिम संवृतिको यदि परमार्थसत् स्वीकार करो तो उसी (संवृतिरूप) बुद्धिके पारमार्थिक होनेसे सर्वशून्यत्व फिर भी नहीं सिद्ध हो सका ।

यदि कहो कि—अन्तिम संवृति भी सत् है, किन्तु बाधकयुक्त होनेसे बाधित है, तथा परमार्थ सत् न होकर सांवृत सत् है—तो यदि वह सत् है तो उसका बाधक कैसे होगा ? क्योंकि सत् अबाध्य होता है । यदि उसका बाधक हो तो बाधकाक्रान्त होनेके कारण वह सत् कैसे होगी ?

यदि कहो कि—सत्त्व और बाधक दोनों ही साथ-साथ देखे जाते हैं, इसलिये दोनोंमें एक भी निश्चयात्मक नहीं हो सकता । अर्थात् दोनों ही मेरे मतानुसार सांवृतिक (काल्पनिक) हैं—तो सत्त्वके साथ रहनेके कारण उसका बाधकत्व ही छोड़ देना पड़ेगा । अर्थात् वह बाधक ही नहीं होगा जो सत्त्वके साथ रहे । यदि कहो कि—बाधकके

हीयत इति चेत्, न बाधकस्यापि त्यागप्रसङ्गात्। उभमप्य-वर्जनीयमेव तर्हि, एवमेतत्। मिथो विरोधस्तु हेयः। न हि विरुद्धयोरेकार्थसमवायस्तथाभूतयोर्वा विरोधः शक्य उपपाद-यितुमृते स्वसमयात्। न च विचारावसरे स्वसमयावतार इति। यथा यथा च बुद्धिनिवारणाय यत्नस्तथा तथोज्ज्वलः प्रकाशः, तन्निवारणमपि बोद्धव्यमेवेति। तदेतदायातम्, प्रदी-

---

साथ रहनेके कारण सत्त्वका ही त्याग क्यों न कर दिया जाय—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि शून्यवादके अनुसार सबकी सत्ताका त्याग कर देनेपर बाधकका भी त्याग कर देना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें बाधकके नहीं रहनेसे सर्वशून्यत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा?

तब यह कहना कि सत्त्व और बाधक दोनोंमें किसीका परित्याग न किया जाय, बल्कि दोनों ही मान लिये जाँय—तो ऐसा हो, किन्तु इन दोनोंमें पारस्परिक विरोधका मानना छोड़ देना पड़ेगा। क्योंकि परस्पर विरुद्धोंकी एकत्र स्थिति युक्तिद्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती, ऐसे ही एकत्र रहनेवालोंमें परस्पर विरोध भी युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता, सिवा इसके कि अपनी परिभाषाका आश्रय लिया जाय। अर्थात् उक्त बात बौद्ध अपनी मनगढ़न्त परिभाषाके बलसे ही मान सकता है, युक्तिद्वारा सिद्ध नहीं कर सकता। किन्तु यह भी ध्यान रखना है कि प्रतिवादीके साथ विचारके अवसरपर मनगढ़न्त परिभाषा काम नहीं देती है। इस प्रकार शून्यवादका आश्रय लेकर जैसे-जैसे बुद्धिका भी लोपकर देनेके लिये यत्न करते हो, वैसे-वैसे और उज्ज्वल प्रकाश होता जाता है। अर्थात् बुद्धिकी सिद्धि होती ही जाती है। क्योंकि बुद्धिनिराकरण भी बाधकज्ञानाधीन है। इसलिये बाधकज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अथवा बुद्धिनिराकरणको भी असत् होनेसे ज्ञानरूप ही मानोगे। अतः बाध्य होकर ज्ञानकी सत्ता माननी ही पड़ेगी।

इस प्रकार आपका बुद्धिविलोपका प्रयास ऐसा ही हुआ, जैसे कोई दूसरे प्रदीपके द्वारा पूर्वप्रदीपको बुझाकर अन्धकार लानेकी चेष्टा करे। वहाँ जैसे-जैसे पूर्वप्रकाशको नष्टकर देनेके विचारसे दूसरा

पान्तरेण प्रदीपं निर्वाप्य तिमिरापादनमिति ।

एतेन हेतुफलभावानुपपत्तेः सर्वविलोप इति निरस्तम् । तन्निराकरणप्रयासस्य साफल्यवैफल्याभ्यां तन्निराकरणानुपपत्तेः, सत्कार्यदूषणस्येष्टत्वात्, असत्कार्यदूषणस्य च प्रत्यक्षबा

दूसरा प्रदीप लाता जायगा, वैसे-वैसे और उज्ज्वल प्रकाश होता जायगा, अन्धकार लाना तो दूर रहा। यही स्थिति बुद्धिनिराकरण की भी है।

इस बुद्धिनिराकरणकी व्यवस्थाके अनुसार यह कथन भी खण्डित हो गया कि—हेतुफलभाव (कार्यकारणभाव) के अनुपपन्न होनेसे सर्व-विलोप (सर्वशून्यत्व) सिद्ध हो जायगा। अर्थात् कार्यकारणभाव यदि प्रामाणिक हो तो अवयविरूप कार्य तथा उसके मूलकारणभूत परमाणुकी सिद्धि हो सके। किन्तु कार्यकारणभाव ही अयुक्त है। इस लिये अवयवी तथा परमाणु आदि की सत्ता तथा कारणके अधीन होनेवाली बुद्धिकी भी सत्ता काल्पनिक ही होगी। इस प्रकार सर्व-विलोप सुतरां सिद्ध है—क्योंकि आपका हेतुफलभावनिराकरणका प्रयास सफल है या निष्फल है ? यदि सफल है तो इसीसे हेतुफलभाव सिद्ध हो गया। यदि आपका उक्त प्रयास निष्फल है तो निष्फल होनेसे ही वह हेतुफलभावका निराकरण नहीं कर सकेगा।

कार्यकारणभावके दूषणसे यदि आपका अभिप्राय यह हो कि—घटादिकार्य सत् है, इसीलिये उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती—तो यह मुझे इष्ट ही है। क्योंकि सत्कार्यकी उत्पत्ति मैं भी नहीं मानता। यदि आपका यह अभिप्राय हो कि—असत् कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती—तो यह कथन प्रत्यक्षबाधित है। क्योंकि घटोत्पत्तिके पूर्व घटकी उपलब्धि किसे होती है ? अर्थात् उत्पत्तिके पूर्व घट असत् ही रहता है और उत्पन्न होकर सत् बनता है।

एवं, "घटो नोत्पद्यतेऽसत्त्वात्" इस दूषणका प्रतिपादन तथा तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला कार्यकारणभावनिराकरणका प्रतिपादन यदि पूर्वमें असत् होकर बादमें उत्पन्न हुआ है तो "असत्की उत्पत्ति नहीं हो

धितत्वात्, तत्प्रतिपादनस्यासत एवोत्पत्तावनैकान्तिकत्वात्, सत्त्वे वा प्रयास वै[1]फल्यादिति ।

स्यादेतत्, मा भूवन्नेतानि दूषणान्यवयविनि[2], अनुपलम्भस्तु स्यात्, न हि परमाणुसञ्चयादपरं किञ्चिदुपलभ्यत इति चेत्, वैलक्ष्यविजृम्भिकेयम्[3], स्थूलैकानुभवस्य सर्वजनसिद्धत्वात् ।

विकल्पमात्रं तदिति चेन्न, स्पष्टप्रतिभासत्वात् । औपाधिकमस्य स्पष्टत्वमिति चेत्, तथाभूतानुभवमन्तरेणोपाधेरप्य-

सकती है" यह तुम्हारा नियम यहीं व्यभिचरित हो गया। यदि तो उक्तदूषण तथा हेतुफलभावनिराकरणका प्रतिपादन भी पूर्वसे ही सत् है तो इस समय प्रतिपादनका तुम्हारा प्रयास व्यर्थ ही है ।

अवयवीके सम्बन्धमें अनुपलम्भका निराकरण ।

शङ्का—अस्तु, अवयवीका खण्डन करनेके लिये दिये गये दूषण भले ही न हों, किन्तु अनुपलम्भ तो दूषण हो सकता है। क्योंकि परमाणुसमूहसे भिन्न अवयवी नामकी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती है ।

समाधान—उक्त कथन भी युक्तिके अभावमें पराजयसे उत्पन्न लज्जाका ही विजृम्भण है। क्योंकि स्थूलात्मक एक वस्तुका अनुभव सर्वजनसिद्ध है। अर्थात् "इदं स्थूलम्" इस प्रत्यक्षसे ही अवयवीकी उपलब्धि सबको होती है। क्योंकि घटादिको अवयवी न मानकर परमाणुका पुञ्ज माना जाय तो परमाणुओंके अनेक होनेसे "एकम्" तथा अणुरूप होनेसे 'स्थूलम्" ये दोनों ही व्यवहार नहीं हो सकते। अतः इस प्रत्यक्ष व्यवहारसे ही अवयवी की उपलब्धि माननी होगी ।

यदि कहो कि–"एकं स्थूलम्" यह प्रतीति अनुभवरूप (निर्विकल्पक) नहीं है, किन्तु सविकल्पात्मक है, अतः प्रमाण नहीं है। क्योंकि बौद्धनयानुसार निर्विकल्पात्मक ज्ञान ही अनुभव होता है और

१. वैयर्थ्यादिति ३ पु० पा० २. बाधकान्यवयविनि इति १ पु० पा०
३. विजृम्भिकेयम् इति १ पु० पा०

भावात्। अन्यथा नीलादिविकल्पानामपि तथैव स्पष्टत्वोपपत्तौ सर्वप्रत्यक्षोच्छेदप्रसङ्गात्, गृहीतनिश्चित एवार्थे प्रत्यक्ष-[1]प्रामाण्यात्, निश्चयोपप्लवे तस्याप्युपप्लवादिति।

न च परमाणव एव स्थूलाः, तत्त्वव्याघातात्। न च

प्रमाण होता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त प्रतीति साक्षात्कारात्मक है, अतः अवश्य अनुभवरूप होगी और प्रमाण होगी। यदि कहो कि—उक्त प्रतीति स्वयं साक्षात्कारात्मक नहीं है किन्तु उपाधिकृत उसकी साक्षात्कारात्मकता है, अतः वह प्रमाण नहीं हो सकती—तो यहाँ उस प्रतीतिके समानाकार निर्विकल्पात्मक अनुभवके सिवाय दूसरी उपाधि भी नहीं हो सकती है। अर्थात् "एकं स्थूलम्" इस सविकल्पक ज्ञानके साक्षात्कारात्मक होनेमें उसका मूलभूत समानाकार निर्विकल्पक अनुभव ही उपाधि है। ऐसी अवस्थामें यदि उक्त सविकल्पक प्रतीतिको अवयवीकी सिद्धिमें प्रमाण न भी मानो तो भी उपाधिभूत उस निर्विकारमक अनुभवसे ही एक स्थूल अवयवीकी सिद्धि हो जायगी। अन्यथा नीलादिप्रतीतियोंकी भी साक्षात्कारात्मता इसी प्रकार उपाधिकृत हो जायगी और वे प्रमाण न हो सकेंगी। इस प्रकार सभी प्रत्यक्षोंकी प्रामाणिकता उच्छिन्न हो जायगी और प्रत्यक्षके प्रति लोगोंकी आस्था ही उठ जायगी।

एवं, निर्विकल्पकद्वारा गृहीत तथा सविकल्पकद्वारा निश्चित किये गये विषयमें ही प्रत्यक्षकी प्रमाणता है। अतः सविकल्पकके अप्रामाणिक होनेपर निर्विकल्पक भी आस्थाके योग्य नहीं रह सकेगा। क्योंकि निर्विकल्पकज्ञानके अतीन्द्रिय होनेसे सविकल्पक ज्ञान ही उसके प्रामाण्य का तथा उसकी नियत विषयताका उपपादक है।

यह नहीं कह सकते कि—स्थूलताप्रतीतिके विषय परमाणु ही हैं न कि कोई अवयवी—क्योंकि परमाणुको यदि स्थूल माना जाय तो उसका परमाणुत्व ही खण्डित हो जायगा। अर्थात् वह परमाणु (परम=अणु) नहीं कहा जा सकेगा।

---

१. प्रत्यक्षस्य इति १ पु० पा०

तत्समुदायस्तथा, तस्य समुदितस्थानस्य त्वयाऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वाऽवयविना किमपराद्धम्। न च समुदिता एव तथा प्रतिभासितुमर्हन्ति, तेषां[1] प्रत्येकमस्थूलत्वात्। न च नानादिग्देशव्यापितैव स्थौल्यम्, परमाणुषु प्रत्येकमसम्भवात्। न च नानात्वैकार्थसमवायिन्येव सा स्थौल्यमिति साम्प्रतम्, स्थूल एक इति प्रत्ययनियमात्।

यह भी नहीं हो सकता कि—परमाणुओंके समुदायमें ही स्थूलताका व्यवहार होता है, क्योंकि समुदित परमाणु ही हैं स्थान (आश्रय) जिसका, ऐसे समुदायको तुम मानते ही नहीं हो। यदि मानो तो अवयवीने क्या अपराध किया है कि वैसे ही अनेक परमाणुरूप अवयवोंमें आश्रित उसे (अवयवीको) नहीं मानते। अर्थात् उक्त प्रकारका समुदाय ही तो अवयवी है।

यह नहीं कह सकते कि—समुदित परमाणु ही स्थूलरूपसे भासित होते हैं - क्योंकि वे प्रत्येक परमाणु अस्थूल हैं। वहां यह नहीं कह सकते कि—स्थूलता कोई परिमाणविशेष नहीं हैं, जो अवयवीमें या समुदायमें रहता हो, किन्तु नानादिग्देशमें व्याप्त रहना ही स्थूलता है। अर्थात् नाना दिग्देशमें सम्बद्ध परमाणुओंमें भी स्थूलताका व्यवहार हो सकता है—क्योंकि परमाणुओंमें कोई भी परमाणु ऐसा नहीं है, जो नाना दिग्देशमें व्याप्त हो सके। यह भी कहना युक्त नहीं है कि—प्रत्येक परमाणुके नाना दिग्देशव्यापी न हो सकनेपर भी परस्परमें सटकर अवस्थित नाना परमाणु तो नानादिग्देशव्यापी हो ही सकते हैं। अर्थात् उक्तरूपमें अवस्थित नाना परमाणुओंके लिये ही स्थूलता की प्रतीति होती है—क्योंकि "एकः स्थूलः" यही प्रतीति होती है। अर्थात् उक्त रूपमें अवस्थित नाना परमाणुओंमें स्थूलता मानो तो उसे "एकः" कहना असङ्गत होगा। तात्पर्य यह है कि एक परमाणुके लिये स्थूलताका व्यवहार असङ्गत होगा तथा अनेक परमाणुके लिये एकताका व्यवहार असङ्गत होगा। अतः अनेक अवयवोंसे उत्पन्न एक अवयवी मानना आवश्यक है, जिसके लिये "एकः स्थूलः" ऐसा लोकमें व्यवहार हुआ करता है।

---

१. तेषामस्थूलत्वादिति १ पु० पा०

न च भागेष्वेवारोपितेनैकत्वेनेदमुपपत्तिमत्, तदसंभवात्। न हि करचरणचिबुकनासिकादिपरमाणूनामैक्यं कश्चित् क्वचि[1]दारोपयति। न च[2] तेषु भेदेन प्रथमानेषु न स्थूलप्रत्ययः। न च तत्रै स्फुरत्येव[3] तद्विपरीतातत्त्वसमारोपसम्भवः।

अपि चैवमेकपरमाण्वात्मना परमाणुकोटिरप्यारोपिता परमाणुमात्रतयैव परिस्फुरेत्, न स्थूलतया।

यह भी नहीं कह सकते कि—भागी (अवयवी) को स्वीकृत नहीं करनेपर भी भागों (अवयवों) में ही एकत्वका आरोप होनेसे "एकः" प्रतीति बन सकती है—क्योंकि वैसा आरोप असंभव है। अर्थात् परस्पर भिन्नरूपसे प्रतीत होने वाले अवयवोंमें एकत्वारोप कैसे होगा? क्योंकि परस्पर भिन्न हाथ, पैर, चिबुक (ओष्ठके नीचेका भाग) और नासिका आदिके परमाणुओंमें कोई भी कभी एकत्वका आरोप नहीं करता है। फिर भी ऐसा नहीं होता कि परस्पर भिन्नरूपसे भासित होनेवाले उन कर-चरणादिकोंमें एकत्वारोप नहीं होनेके कारण स्थूलत्वकी प्रतीति न होती हो। और यह भी संभव नहीं है कि कर-चरणादिकोंमें अनेकत्वके स्फुरणकालमें ही उसके विपरीत एकत्वका आरोप हो सके।

एवं, एक परमाणुके रूपमें यदि करोड़ों भी परमाणु आरोपित हो तो वह परमाणुमात्ररूपसे ही स्फुरित होगा न कि स्थूलरूपसे। अर्थात् दस बीस परमाणुको कौन कहे करोड़ों परमाणुओंमें भी यदि एकत्वका आरोप होगा तो अन्ततः वह परमाणु ही रहेगा, स्थूल कैसे हो जायगा? तात्पर्य यह है कि परमाणु समुदायमें एकत्वारोप होनेसे "एकः" यह प्रतीति भले ही बन जाय किन्तु परमाणु (परम + अणु) में "स्थूलः" यह प्रतीति कैसे हो सकेगी?

१. कश्चिदारोपयेत् इति १ पु० पा०

२. न च तेष्वभेदेन प्रथमानेषु स्थूलप्रत्यय इति २ पु० पा०

३. परिस्फुरत्येव इति १ पु० पा०

न च नानादिग्देशव्यापित्वस्यैव महिमेति साम्प्रतम्, विरोधात् । यदि हि नानादिकाः परमाणवो देशतयाऽवभासेरन् नैकतया देशितया चारोप्येरन् । तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता ? देशिनोऽपरिस्फूर्त्तेः ।

अथ तथात्वेनारोप्येरन्, न नानात्वेन देशत्वेन वाऽवभासेरन्, तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता ? देशिनोऽ-

---

यह भी कहना समुचित नहीं है कि—परमाणु-समूहके नाना दिग्देशमें व्याप्त होनेकी ही यह महिमा है कि वह परमाणुरूपमें न भासित होकर एक स्थूलरूपमें भासित होने लगता है—क्योंकि नानादिग्देशव्यापित्व और स्थूलत्वमें भी परस्पर विरोध ही है। कारण, आधारभूत दिग्देश भी आपके मतानुसार परमाणुसमूह ही है। ऐसी परिस्थितिमें आधारभूत वे नाना दिग्देशात्मक परमाणु यदि अपने नानात्वके साथ देशरूपमें भासित हों तो उनमें एकत्व और स्थूलात्मक देशित्वका आरोप हो नहीं सकता। तथा वहाँ देशीके रूपमें अर्थात् उस नाना दिग्देशरूप आधारमें व्याप्त रहनेवाले आधेयके रूपमें किसी अन्यका भान होता नहीं है। इसलिए नानादिग्देशव्यापित्वकी प्रतीति किसमें होगी ?

यदि आधारभूत नानादिग्देशात्मक परमाणुओंमें ही एकत्व और स्थूलात्मक देशित्व (आधेयत्व) का आरोप हो तो भी नानादिग्देशव्यापित्व किसमें गृहीत हो सकेगा ? क्योंकि वहाँ नानादेशरूपमें किसीका भान ही नहीं होता है। कारण, देश तो देशीके रूपमें भासित हो रहा है।❀ इसलिए परमाणुसमुदायमें एकत्वारोप करनेपर भी उसमें

---

१. देशानामपरि इति २ पु० पा०

❀ यहाँ घटादि-परमाणुको देशी और भूतलादि-परमाणुको देश नहीं कह सकते, क्योंकि भूतलादिमें भी तो एकत्व और स्थूलत्वकी प्रतीति घटके समान ही होती है। अतः उसके लिए पृथक् देश-देशीकी कल्पना आवश्यक हो जायगी। यदि उक्त दोषके कारण नानादिग्देशव्यापित्वको एक परिमाणविशेष मानो तो वह परिमाणविशेष एक परमाणुमें नहीं रह सकता। अतः उसका आश्रयभूत अवयवी सिद्ध ही हो गया।

परिस्फूर्त्तेः। तस्मादेकत्वारोपे परमाणुमात्रा[1]वभास एव स्यादिति।

एवं तर्ह्यनारब्धद्रव्यराशिषु का वार्तेति चेत्, न तावद्देश-व्याप्ति[2] साम्येन तावत्परिमाणद्रव्यत्वा[3]रोपः। न चेहापि तथा स्यात्, अन्यत्राप्यसिद्धेः। न चासन्नेवैकः स्थूलः परि-स्फुरति, बाधकानामपास्तत्वात्।

एतेन प्रतिभासधर्मोऽपि निरस्तः। सोऽपि ह्यसन् बौद्धो

परमाणुमात्रत्वका ही भान हो सकेगा न कि स्थूलत्वका। अर्थात् बिना अवयवी माने "एकः स्थूलः" यह प्रतीति असम्भव है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि—जहाँ किसी अवयवीका आरम्भ नहीं होता, ऐसी धान्यादि-राशियोंमें "एको महान् धान्यराशिः" ऐसी एकत्व और स्थूलत्वकी प्रतीति कैसे होती है?—किन्तु ऐसा प्रश्न नहीं कर सकते। क्योंकि कोई अवयवी द्रव्य जितनी जगह घेरता है, उतनी ही जगहमें व्याप्त होनेके कारण उतने ही परिमाणवाले द्रव्यका वहाँ आरोप होता है। इसलिए वहाँ वास्तविक अवयवीके न होनेपर भी "एकः स्थूलो राशिः" यह आरोपात्मक प्रतीति होती है, न कि वास्तविक।

यह नहीं कह सकते कि—यहाँ भी अर्थात् परमाणु-समूहमें भी आरोपात्मक ही "एकः स्थूलः" प्रतीति हो जायगी—क्योंकि आरोपके लिए आरोप्य वस्तुकी कहीं अन्यत्र प्रसिद्धि होनी चाहिये। तुम्हारे मतमें तो कहीं भी स्थूल अवयवी प्रसिद्ध ही नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि—असत्ख्यातिके अनुसार असत् ही एकत्व और स्थूलत्व भासित होता है—क्योंकि अवयवीके सत् होनेमें जितने भी बाधक दिये जा सकते हैं, उन सभीका निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है। साथ ही असत्-ख्यातिवाद भी खण्डित हो चुका है।

अवयवीके बारेमें बाधकोंका निराकरण कर दिये जानेके कारण यह

१. परमाणुमात्रत्वावभास इति २ पु० पा०

२. तावद्देशव्यापित्वसाम्येन इति २ पु० पा०

३. °द्रव्यवत्त्वारोप इति २ पु० पा०

वास्तवो वेति त्रयीं गतिं नातिवर्तेत इति। अतीन्द्रियाश्च परमाणवः कथं मिलिता अपि दृश्येरन्? अतीन्द्रियसमूहस्याप्यतीन्द्रियत्वात्। विशिष्टोत्पादादैन्द्रियकत्वमिति चेत्, किमद्यापि स्वप्ने हस्तं प्रसारयसि।

अस्तु वैवम्, तथापि क्षणभेदाज्जातिभेदो निराकृतः,

मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि—ज्ञानका ही धर्म एकत्व और स्थूलत्व है। अर्थात् ज्ञान ही स्थूलरूपसे भासित होता है, अवयवी नहीं। तात्पर्य यह है कि स्थूलत्वादि ज्ञानका ही एक आकारविशेष है—क्योंकि वह आकार भी असत् है? या बौद्ध है? अथवा वास्तव है? इन तीनके सिवाय अन्य गति नहीं हो सकती। यदि असत् हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। यदि वह भी बौद्ध अर्थात् बुद्धि-धर्म हो तो अनवस्थादोष आ जाता है, यदि वास्तव हो तो आकारके वास्तव होनेसे उसका विषय स्थूलत्व भी अपने आप वास्तव सिद्ध हो जायगा। और स्थूलत्वके वास्तव होनेसे अवयवी भी अनायास सिद्ध हो जायगा।

एवं, जब कि प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय हैं, तब वे मिलितरूपमें भी कैसे दिखाई पड़ेंगे? क्योंकि अतीन्द्रियका समूह भी अतीन्द्रिय ही होगा। यदि कहो कि—समुदित अवस्थामें वे इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य पैदा होते हैं, इसलिए उनका प्रत्यक्ष होता है—तो क्यों अभी भी स्वप्नमें हाथ फैला रहे हो। अर्थात् अतीन्द्रिय परमाणुओंसे ऐन्द्रियक परमाणु-समूह तभी पैदा हो सकता है, यदि पदार्थ क्षणिक हों। किन्तु क्षणिकवाद तो खण्डित हो चुका है। अतः ऐसा कहना सपनेमें मिथ्या द्रव्य लेनेके लिए हाथ फैलानेके समान है।

अथवा क्षणिकत्व रहे, फिर भी वह परमाणुसमूह अग्रिम क्षणमें प्रत्यक्ष होनेके योग्य कुर्वद्रूपत्व नामक जातिविशेषसे विशिष्ट होकर पैदा होगा—ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि जातिसाङ्कर्यदोषसे कुर्वद्रूपत्व जातिका पूर्वमें निराकरण हो चुका है। यदि तो उक्त (कुर्वद्रूपत्व) जातिविशिष्ट पैदा न होकर अभिन्नरूपसे पैदा हो, तो भी वही पैदा हो अथवा उसके सदृश पैदा हो, इसमें तत्त्वदृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है।

जातिसंकरप्रसङ्गात्। तदभेदेन[1] तूत्पादेऽपि तद्वा तादृग्वेति तत्त्वदृशा न कश्चिद् विशेषः।

भवतु वा जातिविशेषोऽपि, तथापि स्थूलत्वमेवैन्द्रियकत्वं प्रति प्रयोजकं मन्तव्यम्[2]। अन्यथा स्थूलतामनाप्नुवन्नेकोऽपि परमाणुः कदापि तथोत्पन्नः प्रत्यक्षतामियात्। नियमेन तु तद्विपरीतस्य प्रत्यक्षता तथाविधस्या[3]प्रत्यक्षतायामेव विश्राम्यति, अन्वयव्यतिरेक[4]फलत्वाद्धेतुफलभावस्य।

न च सञ्चिता अपि स्थूलतयोत्पन्नाः। न च बहुत्वमेव

अर्थात् अतीन्द्रिय परमाणुसमूहसे पुनः अग्रिम क्षणमें वही पैदा हो तो वह अतीन्द्रिय ही रहेगा। अथवा यदि उससे उसीके समान पैदा होता हो तो भी अतीन्द्रिय ही रहेगा, कोई अन्तर नहीं आ सकता है।

अथवा कुर्वद्रूपत्वनामक जातिविशेष भी भले ही हो, फिर भी ऐन्द्रियक (प्रत्यक्ष) होनेके लिये स्थूलत्व ही प्रयोजक है। नहीं तो स्थूलता (महत्त्व) को नहीं प्राप्त किया हुआ एक परमाणु भी कदाचित् कुर्वद्रूपत्वजातिसे विशिष्ट पैदा हुआ प्रत्यक्ष हो जाय। नियमपूर्वक परमाणु-अवस्थासे विपरीत स्थूलावस्थामें प्रत्यक्ष होना इसी निष्कर्षपर पहुँचाता है कि परमाणु-अवस्थामें कथमपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि कहीं भी कार्यकारणभावका ज्ञान अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा ही होता है। अर्थात् जहाँ स्थूलता है, वहाँ प्रत्यक्षत्व है—यह अन्वय हुआ। तथा जहाँ स्थूलता नहीं है, वहाँ प्रत्यक्षत्व भी नहीं है—यह व्यतिरेक हुआ। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षत्वके प्रति स्थूलत्व ही कारण है। एकत्र सञ्चित होनेपर भी वे परमाणु स्थूलरूपमें तो उत्पन्न नहीं हुए, जिससे कि उनका प्रत्यक्ष हो सके।

यह भी नहीं कह सकते कि—परमाणुओंका बहुत होना ही स्थूलता

---

१. तदभेदेऽपि तत्त्वदृशा न कश्चिद् विशेष इति २ पु० पा०

२. प्रयोजकमास्थेयम् इति १ पु० पा०

३. तथाविधस्य प्रत्यक्षता(या)म् इति १ पु० पा०

४. अन्वयव्यतिरेकगम्यत्वाद्धेतुफलभावस्य इति १ पु० पा०

स्थौल्यं तद्विपर्यय एव सूक्ष्मता, विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यमपि विवक्षितमिति चेन्न, तस्य प्रकृतेऽप्यसंभवात्, रूपपरमाणूनां रसादिपरमाणुभिरन्तरितत्वात्। न चारोप्येत नैरन्तर्यम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्, नैरन्तर्यारोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप इति।

तस्मादैन्द्रियकत्वे स्थूलतायाः प्रयोजकत्वात्, अप्रयोजकत्वे विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, तेषां च प्रत्येकमस्थूलत्वादतीन्द्रिया एव परमाणवः। तथा च सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति।

है और बहुत्वका विपर्यय ही सूक्ष्मता है—क्योंकि तब छिटपुट जगहोंमें फैले हुए भी परमाणुओंका प्रत्यक्ष होने लगेगा। यदि कहो कि—प्रत्यक्षके लिये परमाणुओंका नैरन्तर्य भी (बिना व्यवधानके परस्पर सटे रहना भी) अपेक्षित है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रकृतमें वैसा होना भी असम्भव है। कारण, रूपके परमाणु अवश्य ही रसादिके परमाणुओंसे अन्तरित (व्यवहित) होंगे। एवं उनमें नैरन्तर्यका आरोप भी नहीं हो सकता है। क्योंकि तब अन्योन्याश्रयदोषका प्रसङ्ग हो जायगा। जैसे—नैरन्तर्यका आरोप हो तो उनमें स्थूलताका ग्रहण हो और स्थूलताका ग्रहण होनेपर ही नैरन्तर्यका आरोप हो सकेगा।

इसलिये ऐन्द्रियक होनेमें स्थूलता प्रयोजक है। यदि स्थूलता प्रयोजक न हो तो छिटफुट जगहोंमें फैले हुये भी परमाणुओंका प्रत्यक्ष होने लगेगा। वे प्रत्येक परमाणु अस्थूल हैं, इसलिये वे अतीन्द्रिय ही हैं। इसी बातको परमर्षि गौतमने न्यायदर्शनके "सर्वाग्रहणम् अवयव्यसिद्धेः" इस सूत्रसे दृढ किया है। इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि—यदि अवयवी न माना जाय तो संसारकी सभी वस्तु अप्रत्यक्ष हो जायगी और जगत्‌में आन्ध्य फैल जायगा।

अस्तु तर्हि क्षणमात्रस्थायी स्थूलोऽर्थ इति चेन्न, भागभागिनोर्युगपदुपलम्भबाधितत्वात्, घटपटादिभङ्गे तन्तुकपालादीनामुत्पादे समानोपादानतया सप्रतिघत्वव्याघाताच्चेति।

सोऽयमधिकरणसिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ क्षणभङ्गभङ्गः।

यदि कहो कि—प्रत्यक्षत्वकी उपपत्तिके लिये स्थूल वस्तु रहे किन्तु यह भी क्षणिक ही होगी—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अवयव और अवयवी दोनोंकी एककालमें उपलब्धि होनेसे क्षणिकत्वका बाध हो जाता है। अर्थात् जिस कालमें स्थूल अवयवीका प्रत्यक्ष होगा, उस काल तक उसका अवयव भी साथ-साथ विद्यमान रहेगा, अतः दो क्षणपर्यन्त उस अवयवके अनुवर्तमान रहनेके कारण क्षणिकवाद वहीं खण्डित हो गया। एवं उत्पत्तिके अग्रिम क्षणमें ही जो घटपटादि नष्ट हो गया, उसका उपादान कारण तन्तु और कपालादि हैं। तथा वही तन्तुकपालादि घटपटादिकी भङ्गावस्थामें उत्पन्न तन्तुकपालादिका भी उपादानकारण है, क्योंकि तुम्हारे मतमें विसदृश सन्तान और सदृश सन्तान दोनों ही मान्य हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही तन्तुकपालादिमाला घटपटादिका और भङ्गावस्थामें उत्पन्न होनेवाली तन्तुकपालादिमालाका भी उपादानकारण होगी, किन्तु यह अनुचित है। क्योंकि समानदेशमें दो मूर्तोंका रहना व्याहत है।

इस प्रकार स्थूलत्वकी सिद्धि हो जानेपर अधिकरणसिद्धान्तके न्यायसे क्षणभङ्ग (क्षणिकत्व) का भी अनायास भङ्ग (खण्डन) हो जाता है। अर्थात् स्थूलत्व सिद्ध होता हुआ स्थैर्यको लेकर ही सिद्ध होता है। क्योंकि पूर्वोक्तरीतिसे अवयव और अवयवीकी एक साथ उपलब्धिकी दशामें जो स्थूलत्वकी उपलब्धि है, वही स्थिरत्व-सिद्धिमें पर्यवसित हो जाती है। यद्यपि जहाँ अनुमानद्वारा किसी वस्तुकी सिद्धि करते समय पक्षधर्मताबलसे अन्य वस्तुकी सिद्धि हो जाती है, वहीं अधिकरणसिद्धान्त लागू होता है, यहाँपर तो स्थूलत्वका प्रत्यक्षद्वारा व्यवस्थापन किया गया है, अतः यहाँ अधिकरणसिद्धान्त नहीं लागू होगा। फिर भी उसके तुल्य तो इसे कहा ही जा सकता

एतेन यत् सत् तन्निरवयवं यथा विज्ञानम्, संश्च विवादास्पदीभूतो घटादिरिति निरस्तम्। विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्त्यसिद्धेः। यत् सत् तत्सावयवं यथा घटः, सच्च विज्ञानमिति चार्वाकपरिवर्तस्याप्यवकाशाच्च। समो वा समाधिः।

ननु निरवयवमेव विज्ञानं स्वसंविदितरूपम्, घटस्य च सावयवतायामद्यापि विवाद एव, तत्कथं परिवर्तं? कथं वा समः समाधिरिति चेत्, शुष्कविवादस्य विज्ञानेऽपि दुर्वारत्वात्। न हि कश्चित् कण्ठौष्ठपार्श्वजठरादिपरिहीनं पिठरमनुभवति।

है। इसीलिये आचार्यने मूलमें "अधिकरणसिद्धान्तन्यायेन" यहाँ न्यायशब्दका प्रयोग तुल्यता सूचित करनेके लिये किया है।

इस स्थूलत्व-व्यवस्थापनके द्वारा—जो सत् है वह निरवयव होता है, जैसे विज्ञान, प्रकृतमें विवादका विषय घटादि भी सत् है, इसलिये वह भी निरवयव होगा। अर्थात् अवयवहीन होनेसे अवयवी नहीं हो सकेगा—यह अनुमान भी खण्डित हो गया। क्योंकि विपर्ययमें कोई बाधक नहीं होनेसे "जो सत् है वह निरवयव है" यह व्याप्ति ही असिद्ध है। अर्थात् सत् होते हुए भी निरवयव नहीं होगा किन्तु सावयव हो सकता है, इसमें कोई बाधक नहीं है।

एवं, जो सत् है वह सावयव है, जैसे घट, विज्ञान भी सत् है, इसलिये वह भी सावयव होगा—इस प्रकार चार्वाक भी परिवर्त (करवट) बदल सकता है। यदि चार्वाक का यह अनुमान अनुकूल तर्कके अभावमें असाधक है, तो तुम्हारा अनुमान भी अनुकूल तर्क नहीं रहनेसे साधक नहीं होगा। इस प्रकार दोनों अनुमानोंकी समान गति है।

यदि कहो कि—स्वयंप्रकाशरूप विज्ञान तो निरवयव ही है, और घटके सावयव होनेमें तो अभी भी विवाद ही है। अतः उक्त प्रकारका चार्वाकका उलटा अनुमान कैसे हो सकेगा? और दोनों अनुमानोंकी समान गति कैसे होगी?—इसपर मेरा कहना है कि उक्त प्रकारका शुष्क विवाद विज्ञानके बारेमें भी बेरोक होगा। कोई भी कण्ठ, ओष्ठ, पार्श्व

अस्तु वा सत्त्वात् सप्रतिघत्वसिद्धिर्बुद्धावप्रतिघत्वं वा घटादाविति।

अपि च स्वतन्त्रसाधनमिदं प्रसङ्गो वा? न प्रथमः, घटादिशब्देन स्थूलेतराणां रूपादीनां परमाणूनां वा पक्षीकरणे सिद्धसाधनात्, स्थूलमेकमभ्युपगम्य पक्षविधौ कालात्ययापदेशात्, अनभ्युपगमे त्वाश्रयासिद्धेरिति।

ननु प्रामाणिकेऽभ्युपगमे बाधः स्यात्, सर्वथाऽनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः स्यात्। नचैवमत्रेति चेत्, तदेतन्नभःस्थलकमलपरिमलसाधनस्यापि साश्रयतामापादयदाश्रयासिद्धिदोषमोषायेत्यलमनेन।

(पसली) तथा जठर आदि अवयवोंसे रहित पिठर (देहपिण्ड) का अनुभव नहीं करता है। अर्थात् देहादिके समान घटादि भी सावयव ही है, इसमें कोई भी विवाद नहीं है। अन्यथा उसी सत्त्व-हेतुसे बुद्धिमें (विज्ञानमें) मूर्तत्वकी सिद्धि या घटमें अमूर्तत्वकी सिद्धि हो जाय।

एवं, 'घट निरवयव है, सत् होनेसे, जैसे विज्ञान' यह स्वतन्त्र अनुमान है? अथवा "घट यदि सत् होता तो निरवयव होता, जैसे विज्ञान" इस प्रकारका तर्क है? इसमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि घट आदि शब्दोंसे यदि स्थूलसे इतर रूपादि गुण या परमाणुओंको पक्ष करो तो सिद्धसाधन दोष हो जायगा। क्योंकि रूपादिको या परमाणुको हम भी निरवयव मानते ही हैं। यदि घट-शब्दसे किसी स्थूलका पक्ष बनाओ तो बाध दोष हो जायगा। क्योंकि जो स्थूल होगा, उसमें निरवयवत्व बाधित है। यदि घटरूप पक्षको स्थूल भी न मानो तो इसका अर्थ होगा—वह कुछ नहीं है। ऐसी परिस्थितमें आश्रयासिद्धि (पक्षासिद्ध) दोषसे आपका अनुमान ग्रस्त हो जायगा।

यदि कहो कि—घटादिकी स्थूलताको प्रामाणिक मानेंगे तभी बाध होगा तथा घटादिको सर्वथा न मानें तभी आश्रयासिद्धि होगी। यहाँ तो ऐसा मानते नहीं, अतः उक्त अनुमान निर्दोष है—तब तो इस

पर्वतादिवल्लोकप्रसिद्धिसिद्धान् घटादीनुपादाय निरवयवत्वानुमानं स्यात्, अन्यथा ब्रह्मविवर्तादिविप्रतिपत्तिविहततया दहनानुमानमपि पर्वतादौ न स्यादिति चेत्, नैवम्, अविरोधात्। न हि ब्रह्मविवर्तादिसिद्धावप्याश्रयादयोऽन्यप्रकाराः सम्भवन्ति[1]।

तथा हि, सर्वत्रैव स्वप्नपर्वते स्वप्नधूमेन स्वप्नवह्निरेव साध्यते, केवलं सांवृतेऽपि व्यवहारे सत्यानृतव्यवस्थाऽस्तीति तस्यां निर्भरः कर्तव्यः। इह तु घटादिव्यपदेशेन स्थूल एव यदि पक्षीकृतः, कथं निरवयवत्वेन साध्येन न विरोधः ?

रीतिसे आकाशकमलमें सुगन्धका अनुमान भी साश्रय हो जायगा। और संसारसे आश्रयासिद्धिनामक दोष ही उठ जायगा। अतः ऐसा न कहो।

यदि कहो कि—जैसे, लोकव्यवहारसे सिद्ध पर्वतादिको लेकर उसमें अग्निका अनुमान होता है, वैसे ही लोकव्यवहारसे सिद्ध घटादिको लेकर उसमें निरवयवत्वका अनुमान होगा। नहीं तो ब्रह्मविवर्तवाद आदि विभिन्न मान्यताओंसे प्रतिहत होनेके कारण पर्वत भी गगन-कमलके समान ही हो जायगा और उसमें अग्निका अनुमान भी न हो सकेगा—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि पर्वतादिके ब्रह्मविवर्तादिरूप होनेपर भी अग्निरूप साध्यके साथ कोई विरोध नहीं है। कारण, ब्रह्मविवर्त आदि पक्षमें भी आश्रय (पक्ष) दूसरे प्रकारका हो और साध्य तथा साधनादि दूसरे प्रकारके हों, ऐसा नहीं होता। अर्थात् ब्रह्मविवर्तरूप पर्वतमें ब्रह्मविवर्तरूप ही अग्निका अनुमान किया जाता है। अतः पक्ष और साध्यादिमें कोई विरोध नहीं है।

जैसे, स्वाप्न-पर्वतमें स्वाप्न-धूमसे स्वाप्न-अग्निका ही साधन किया जाता है। इस प्रकार केवल सांवृत (काल्पनिक) व्यवहारमें भी सत्य और अनृतकी व्यवस्था है ही। अतः उस व्यवस्थाका आश्रय लेना ही चाहिए। तुम्हारे अनुमानमें तो यदि घटादि-शब्दसे स्थूल

---

१. सन्ति इति १ पु० पा०

अथ परमाणुरेव[१], कथं न सिद्धसाधनम् ? विप्रतिपन्नं प्रति न तथेति चेत्, न वै कश्चित् परमाणूनां निरवयवत्वे विप्रतिपद्यते। लोकव्यामोहनिबर्हणाय साधनमिति चेत्, तथापि यं लोकः स्थूलमेकमुपलब्धवान् तस्य पक्षत्वे विरोध एव, ततोऽन्यस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनमेव। एकः स्थूलोऽयमिति मिथ्येति चेत्, एतदेव तर्हि साध्यताम्, किमनेनाजागलस्तनकल्पेन सत्त्वेन। न च तत्रैवेदं शक्यमुपसंहर्तुम्, व्यधिकरण-

---

पक्ष करते हो तो निरवयवत्व-साध्यके साथ क्यों न विरोध होगा ? यदि घट-शब्दसे परमाणु ही पक्ष हो तो सिद्धसाधन दोष क्यों न होगा ?

यदि कहो कि—घटपदवाच्य (परमाणु) के निरवयव होनेमें जिसको विप्रतिपत्ति है, उसके प्रति सिद्धसाधन नहीं होगा—तो परमाणुओंके निरवयव होनेमें किसीको भी विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः उन्हें निरवयव सिद्ध करनेमें सिद्धसाधन होगा ही। यदि कहो—परिक्षकोंको भले ही विप्रतिपत्ति न हो, किन्तु लौकिकोंको तो है ही। अतः घटपदवाच्यके सावयव होनेका जो व्यामोह लौकिकोंमें है, उसे मिटानेके लिये यह निरवयवत्वका साधन किया जा रहा है। इसलिये सिद्धसाधन नहीं होगा—तो भी लोकने जिसे (घटको) एक स्थूलके रूपमें जाना है, उसे यदि पक्ष करो तो निरवयव सिद्ध करनेमें विरोध ही (बाध ही) होगा। यदि स्थूलसे भिन्न (परमाणु) को पक्ष करो तो सिद्धसाधन होगा ही।

यदि कहो— लौकिकोंका "एकः स्थूलोऽयम्" यह ज्ञान भ्रम है। अतः प्रमात्मक नहीं होनेके कारण उसके द्वारा निरवयवत्वानुमान बाधित नहीं होगा—तो उस लौकिकज्ञानका मिथ्यात्व ही सिद्ध करो। अर्थात् मिथ्यात्वका साधक जो हेतु हो उसीका उपन्यास करो। अजागलस्तनके तुल्य निरर्थक इस सत्त्व-हेतुसे क्या लाभ ? यदि कहो—"स्थूलप्रत्ययो मिथ्या, सत्त्वात्" इस अनुमानद्वारा लौकिक स्थूल-प्रतीतिको मिथ्या सिद्ध करनेमें ही सत्त्व-हेतुका उपयोग कर लिया जा सकता है—तो यह

---

१. परमाण्वादिरेव इति १ पु० पा०

त्वात् । तस्माद् येन रूपेण यस्य पक्षत्वं विवक्षितम् तेन सिषाधयिषितधर्मविरोधविवादाभ्यां तत्रानुमानप्रवृत्तिर्नातोऽन्यथेति ।

नापि द्वितीयः, विपर्ययापर्यवसानात् । न च विवादविषयो निरवयवस्तस्मान्न सन्निति विपर्ययः, न चैवं सावयवत्वं पक्षस्यानिच्छता प्रवर्तयितुं शक्यते । न च तत् त्वयेष्यते । न च तस्येष्टौ तेनासत्त्वं शक्यसाधनम्, आश्रयासिद्धेर्विरो-

---

भी नहीं हो सकता। क्योंकि तुम्हारे द्वारा प्रमा माने गये निर्विकल्पक ज्ञानमें भी सत्त्व-हेतुके रहनेसे यह हेतु व्यभिचारी है। इसलिये जिस रूपसे जो पक्ष हो, उस रूपसे जहाँ सिषाधयिषित धर्म (साध्य) का बाध न हो तथा संशय हो, वहीं अनुमानकी प्रवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

प्रसङ्गरूप (तर्करूप) द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि तर्कमें विपर्ययमें पर्यवसान होना आवश्यक है, किन्तु यहां विपर्ययमें पर्यवसान नहीं हो सकता है। जैसे, "घट यदि सत् हो तो निरवयव हो" इस तर्कका पर्यवसान इसी विपर्ययमें होगा कि—विवादका विषय घट निरवयव नहीं है, इसलिये सत् भी नहीं है। किन्तु जो बौद्ध घटरूप पक्षको सावयव नहीं चाहता, वह इस प्रकारके विपर्ययको नहीं प्रवृत्त कर सकता है। तुझे तो घटका सावयवत्व इष्ट नहीं है। यदि इष्ट भी हो तो उससे (सावयवत्वके द्वारा) उसमें (घटमें) असत्त्वका साधन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि वहां आश्रयासिद्धि, विरोध और असाधारण्य दोष उपस्थित हो जायेंगे।

अर्थात् "घटः असन् सावयवत्वात्" इस विपर्ययसिद्धिमें सावयवत्व-हेतुका आश्रय ही तुम्हारे मतसे असत् है, अतः आश्रयासिद्धि दोष हुआ। यदि उस दोषसे बचनेके लिये आश्रयको सत् मानो तो "असन्" इस साध्यके साथ विरोध हो जाता है। साथ ही सावयवत्व-हेतुके असत्-रूपमें प्रसिद्ध शशशृङ्गादिरूप सपक्ष और सत्-रूपसे प्रसिद्ध विज्ञान, परमाणु आदि विपक्ष, दोनों ही से व्यावृत्त होने तथा घटादिरूप पक्ष-मात्रमें वर्तमान होनेके कारण असाधारण्य दोष हो जाता है। एवं,

धादसाधारण्याद्वा । न च विपर्ययोऽपि परेच्छया प्रवर्तत इति ।

कः पुनरवयविनि न्यायः ? तत् किं प्रत्यक्षान्न्यायो गरीयान् ? यद्येवम्, बुद्धावेव[1] कोऽसौ ? तस्मादसारमेतत् ।

तथापि, यन्निरस्तसमस्तविरुद्धधर्माध्यासं तदेकमेव व्यवहर्तव्यं, यथा विज्ञानम् । तथा च विवादाध्यासित एकस्थूलोऽनुभवगोचर इति स्वभावहेतुः, तावन्मात्रानुबन्धित्वादेकताव्यवहारस्य । न ह्ययमेकव्यवहारो निर्निमित्तोऽनियमप्रस-

---

घटको मैं सावयव मानता हूँ, इस आधारपर भी तुम विपर्ययका उपन्यास नहीं कर सकते। क्योंकि दूसरेकी मान्यताके आधारपर विपर्ययकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती है।

अवयवीकी सिद्धिमें न्यायप्रदर्शन

प्रश्न—अवयवीके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष-अनुभव प्रमाणके रहनेपर भी उसमें अनुमान प्रमाण क्या है ? बताओ।

उत्तर—क्या प्रत्यक्षसे अनुमान श्रेष्ठ है ? यदि है तो तुम्हारे विज्ञानमें भी क्या अनुमान है ? क्योंकि विज्ञानको तुम अनुमानके विना ही स्वसंवेद्य मानते हो। अतः उक्त प्रश्न सारहीन है। अर्थात् अवयवीके बारेमें प्रत्यक्ष-अनुभवको सर्वथा दोषरहित सिद्ध कर चुका हूँ। साथ ही अनुमानका अङ्गभूत-व्याप्तिका ग्राहक प्रत्यक्ष ही है। इसलिये अवयवीमें प्रत्यक्ष-अनुभव प्रमाणके रहते अनुमान-प्रमाणकी जिज्ञासाका कोई महत्त्व नहीं है।

तथापि इसमें अनुमान भी यह है कि—जो समस्त विरुद्ध धर्मोंके अध्याससे रहित है वह एक ही है, ऐसा व्यवहार करना चाहिये, जैसे तुम्हारा विज्ञान। वैसे ही विवादका विषय तथा एक स्थूलके रूपमें अनुभवका गोचर (विषय) घट भी विरुद्धधर्माध्याससे रहित है। इस प्रकार घटमें विरुद्धधर्माध्यासरहितत्व हेतु स्वभावतः है। क्योंकि एकत्वका व्यवहार विरुद्धधर्माध्यासराहित्यमात्रको अपेक्षा करता है। कारण,

---

१. बुद्धावपि कोऽसौ इति १ पु० पा०

ङ्गात् । नाप्यन्यनिमित्तः, द्रवकठिनशीतोष्णादावपि तथाऽव्यवहारप्रसङ्गात् ।

अस्तु तर्हि बाह्येष्वर्थेषु नित्यसन्देहः तथ्यातथ्यविभागस्याशक्यत्वादिति चेत्, न तावत् सर्वस्य यथार्थत्वादेव विभागोऽनुपपन्नः, उत्तरविरोधात् । तथाहि, विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी प्रतिपत्तिः, अन्यथाख्यातिरिति च वैनयिकी यथार्था न[1] वा ? उभयथाऽप्युत्तरेण न सर्वथाथार्थ्यसिद्धिः ।

घटमें यह एकत्व-व्यवहार बिना निमित्तका नहीं है । क्योंकि निर्निमित्त होनेपर अनियमका प्रसङ्ग हो जायगा । अर्थात् सर्वत्र एकत्व-व्यवहार होने लगेगा । साथ ही एकत्व-व्यवहारमें विरुद्धधर्मराहित्यके सिवा कोई दूसरा निमित्त हो भी नहीं सकता । क्योंकि तब परस्पर विरुद्ध द्रव और कठिन तथा शीत और उष्ण आदिमें भी एकत्व-व्यवहार होने लगेगा । अर्थात् जब यह सिद्ध है कि घटादिमें एकव्यवहारका कारण विरुद्धधर्मका राहित्य ही है, तो इसीसे यह भी सिद्ध हो गया कि घट नाना परमाणुरूप नहीं है, किन्तु एक अवयवीरूप है ।

यदि कहो कि—बाह्य विषयोंके बारेमें नित्य सन्देहात्मक ही ज्ञान रहे । क्योंकि ज्ञानके प्रमात्व और अप्रमात्वका विभाग तथा विज्ञानके प्रामाणिकत्व और अप्रामाणिकत्वका विभाग ही नहीं किया जा सकता है—तो यहाँ यह नहीं कह सकते कि सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, इसलिये यथार्थ-अयथार्थका विभाग अनुपपन्न है । क्योंकि मेरे प्रश्नका जो उत्तर दोगे, उसीसे तुम्हारे इस कथनका विरोध हो जायगा । जैसे—विपरीतमवगतं मया (मैंने विपरीत समझ लिया) यह लौकिकज्ञान (अपने ज्ञानकी विपरीतताका ज्ञान) अन्यथाख्याति (भ्रम) रूप है ? अथवा शास्त्राध्ययनसे उत्पन्न जो विनय अर्थात् विवेक, उसपर व्यवस्थित होनेसे यथार्थ है ? इस प्रश्नका दोनोंमें कोई भी उत्तर दो तो उससे सब ज्ञानकी यथार्थता नहीं सिद्ध हो सकेगी । अर्थात् "विपरीतमवगतं मया" यह ज्ञान यदि मिथ्या हो तो सुतरां सिद्ध हो गया कि सभी ज्ञान यथार्थ नहीं है, यदि यह ज्ञान यथार्थ हो और पूर्ववाला ज्ञान

---

१. अन्यथा वा इति १ पु० पा०

शब्दसंलापमात्रमेतन्न प्रतीतिरिति चेन्न, विवादानुपपत्तेः। न हि व्यवहारमात्रे परीक्षकाणां विवादः, न च नायमस्तीति। शब्दार्थे विवाद इति चेत्, एवं सत्यप्रतीतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् पराभिप्रायनिषेधार्थत्वाच्च विवादस्य, अभ्युपगन्तृप्रतिषेद्ध्रोः प्रतिषेध्यप्रतीतिः कथं नास्तीति ?

न चान्यज्ञानादन्यत्र प्रवृत्तिसम्भवोऽतिप्रसङ्गात्। न च

सचमुच ही विपरीत हो तो भी सुतरां सिद्ध हो गया कि अयथार्थ ज्ञान भी होता है। ऐसी स्थितिमें सभी ज्ञानको यथार्थ मानकर तुम्हारा तथ्यातथ्यके विभागको असंभव बताना असंगत है।

यदि कहो कि—"विपरीतमवगतं मया" यह वाङ्मात्र है, कोई प्रतीति नहीं है। अतः उसके यथार्थत्व—अयथार्थत्वका विकल्प नहीं किया जा सकता है। अर्थात् विपरीतावगति (अन्यथाख्याति) यह शाब्दिक व्यवहारमात्र है न कि कोई प्रतीतिरूप है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि तब ख्यातियोंके सम्बन्धमें वादियोंका परस्पर विवाद ही अनुपपन्न हो जायगा। कारण, शाब्दिक व्यवहारमात्रमें तो परीक्षकोंको कोई विवाद नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि ख्यातिसम्बन्धी विवाद परीक्षकोंमें है ही नहीं।

यदि कहो—'अन्यथाख्याति' शब्दमें तो सचमुच ही कोई विवाद नहीं है, केवल उसके अर्थमें विवाद है। अर्थात् कोई उसे विशिष्ट ज्ञान (रजतत्वविशिष्ट शुक्तिज्ञान) मानता हुआ भ्रमरूप बताता है, तथा कोई अगृहीत है भेद जिसमें ऐसा दो ज्ञान मानता है, एक पुरोवर्तीका (शुक्तिका) अनुभवात्मक और दूसरा रजतका स्मरणात्मक तो ऐसी स्थितिमें जिसकी प्रतीति नहीं होगी उसका निषेध नहीं किया जा सकता। और दूसरेके अभिप्रायका निषेध करना ही विवादका प्रयोजन है। अतः भ्रमरूप विशिष्टज्ञानका समर्थन करनेवाले नैयायिक तथा प्रतिषेध करनेवाले मीमांसक, दोनोंको ही विशिष्टज्ञानकी प्रतीति क्यों नहीं है ? अर्थात् बिना ज्ञान हुए उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अतः प्रतिषेध्यरूपमें भ्रमात्मक विशिष्टज्ञान मानना ही पड़ेगा।

एवं, अन्यज्ञानसे अन्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा होनेपर

तज्ज्ञानसान्निध्यं नियामकमतिप्रसङ्गादेव। न च तत्सहितो भेदाग्रहः, अग्रहप्राधान्ये भेदाविवक्षायां निवृत्तेरपि प्रसङ्गात्, तद्धेतोरभेदाग्रहस्यापि विद्यमानत्वात्। नासौ निवर्तकः, अपि तु भेदग्रह इति चेन्न, रजत एव नेदं रजतमिति कृत्वा न निवर्तेत, भेदग्रहस्य तत्कारणस्याभावात्। भावे वा विपरीत-

---

घटज्ञानसे पटमें प्रवृत्ति होने लगेगी। अतः प्रकृतमें रजतज्ञानसे पुरोवर्ती शुक्तिमें होनेवाली प्रवृत्ति तभी उपपन्न होगी, जबकि वहां केवल रजतज्ञान न मानकर रजतत्वविशिष्ट-शुक्तिज्ञान माना जाय। इसप्रकार अन्यथाख्याति (भ्रम) सिद्ध ही हो गयी। यदि कहो—वहां शुक्तिमें प्रवृत्तिका कारण है रजतज्ञानका शुक्तिज्ञानके सन्निहित होना। अर्थात् रजतार्थी व्यक्ति शुक्तिमें इस कारण प्रवृत्त हो जाता है कि वहाँ रजतज्ञान शुक्तिज्ञानके सहित है—तो अतिप्रसङ्गदोष हो जायगा। क्योंकि कदाचित् पटज्ञानके सहित घटज्ञान हो तो घटार्थी व्यक्तिकी पटमें प्रवृत्ति होने लगेगी।

यदि कहो कि—रजतज्ञानसे शुक्तिमें प्रवृत्तिका कारण केवल शुक्तिज्ञानका सान्निध्य ही नहीं है, किन्तु उसके साथ-साथ शुक्तिमें रजतका भेदाग्रह भी नियामक है। इसीलिये पटमें घटका भेदग्रह रहनेसे घटार्थी व्यक्ति पटमें नहीं प्रवृत्त होगा—तो भेदाग्रहमें यदि अग्रह ही मुख्य हो और भेद गौण हो तो वहां भेदकी जगह अभेदका अग्रह मानकर रजतार्थीकी वहांसे निवृत्ति भी होने लगेगी। क्योंकि निवृत्ति का कारण है, शुक्तिमें रजतका अभेदाग्रह, सो वहां अभेदका भी अग्रह है ही। इस प्रकार शुक्तिरजत-स्थलमें भेदका अग्रह होनेसे यदि प्रवृत्ति मानो तो अभेदका भी अग्रह होनेसे निवृत्ति भी माननी पड़ेगी।

यदि कहो कि—अभेदका अग्रह निवृत्तिका कारण नहीं है, किन्तु भेदका ग्रह निवृत्तिका कारण है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि रजतमें ही 'नेदं रजतम्'' इस ज्ञानके कारण जो निवृत्ति होती है, वह नहीं हो सकेगी। क्योंकि निवृत्तिका कारण जो रजतभेदग्रह, उसका वहां अभाव है। यदि वहां रजतमें रजतभेदग्रहका भाव मानो तो

ख्यातिरभिन्ने भेदप्रत्ययात्। तस्मात् प्रवर्तकवन्निवर्तकोऽप्य-ग्रह एव तेषां स्वीकर्तुमुचितः। तथा च स दोषस्तदवस्थ एव।

अथ भेदः प्रधानम्, अङ्गमग्रहः, तदा सत्यरजतज्ञानाद् रजते न प्रवर्तेत, इदमंशरजतांशयोर्भेदाभावादिति स्वय-मूहनीयम्।

प्रवृत्तिवत् प्रतिपत्तावप्युभयाग्रहस्तुल्य इति चेन्न, अग्र-हस्याविवक्षितत्वात्, सामग्रीविशेषादेव तत्सिद्धेः। तत्त्वे-

---

विपरीतख्याति आ ही गयी। क्योंकि अभिन्नमें भेदकी प्रतीति हुई है। इसलिये प्रवर्तकके समान निवर्तक भी अग्रहको ही मानना उचित है। अर्थात् जैसे, भेदके अग्रहको प्रवर्तक मानते हैं, वैसे ही अभेदके अग्रहको निवर्तक भी मानना चाहिए। इस प्रकार शुक्ति-रजतस्थलमें उक्तदोष पूर्ववत् रह ही गया। अतः भेदके अग्रहके साथ अभेदका भी अग्रह होनेसे प्रवृत्तिके साथ ही निवृत्ति भी होने लगेगी।

यदि कहो कि—भेदाग्रहमें भी भेद ही मुख्य है और उसका अग्रह गौण है और ऐसा ही भेदाग्रह प्रवृत्तिका कारण है। अर्थात् जहां वास्तविक भेद हो वहाँ उसके अग्रहसे प्रवृत्ति होगी, जैसे शुक्ति-रजत स्थलमें। अतः पूर्वमें दिया गया निवृत्तिका प्रसङ्गः नहीं होगा, क्योंकि अग्रहकी प्रधानता है नहीं—तो इस पक्षमें सत्य रजतज्ञानसे रजतमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि वहाँ इदमंश और रजतांशमें वास्तविक भेद कहाँ है कि उसके अग्रहसे प्रवृत्ति हो सकेगी। यह तो स्वयं विचार कर सकते हो।

यदि कहो कि—भेदके अग्रहसे होनेवाली प्रवृत्तिके साथ ही जैसे अभेदके अग्रहके कारण निवृत्तिका भी प्रसङ्ग दिया जा रहा है, वैसे ही उक्त दोनों अग्रहोंके कारण परस्पर-विरोधी आरोपात्मक ज्ञान भी एक साथ होना चाहिये। अर्थात् जैसे भेदका अग्रह होनेसे शुक्ति-रजतमें अभेदका आरोप हो जाता है, वैसे ही उसी कालमें अभेदका भी अग्रह होनेसे भेदारोप भी होने लगेगा और वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं हो सकेगी—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आरोपका कारण भेदका अग्रह नहीं है किन्तु सामग्रीविशेषसे ही आरोप होता है। अर्थात् शुक्ति-रजतमें

ऽपरिस्फुरतीति तु नियमः। न च क्वचिदपि भेदाभेदावुभावपि तत्त्वं यतस्तथा स्यादित्येषा दिक्।

नापि सर्वस्यायथार्थत्वात्, तद्ग्राहकस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यामुत्तरविरोधात्। तत् किञ्चित् प्रमाणं किञ्चिद्-प्रमाणमिति विभाग एव वस्तुगतिः। न चासौ प्रतीतिगतिमवधूय व्यवहारगोचरः॥

अभेदारोपके प्रति दोष कारण है तथा उनमें भेदज्ञानके प्रति दोषाभाव कारण है। अतः जब दोष और दोषाभावरूप कारण एक साथ नहीं रह सकते तो अभेदारोप और भेदज्ञानरूप कार्य भी युगपत् कैसे होने लगेंगे? हां, आरोपके लिये यह नियम अवश्य है कि दोषके साथ-साथ वहाँ वस्तुतत्त्वका अस्फुरण भी रहना चाहिये। इसीलिये जहाँ शुक्तित्व का ज्ञान रहेगा, वहाँ चाकचिक्यादि-दोषके रहनेपर भी अभेदारोप नहीं होगा। एवं शुक्ति-रजतका भेद तात्त्विक है, इसलिये भेदका अस्फुरण (अग्रह) भी अभेदारोपके लिये अपेक्षित है। किन्तु शुक्ति-रजतका अभेद तो अतात्त्विक है, इसलिये उसका अस्फुरण (अग्रह) भेदज्ञानके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। अतः अभेदका अग्रह होनेसे पूर्वोक्त भेद-ज्ञान (भेदारोप) का प्रसङ्ग नहीं दे सकते। क्योंकि कहीं भी भेद और अभेद दोनों तात्त्विक नहीं होते, जिससे कि वैसा प्रसङ्ग दिया जा सके। इसका दिङ्मात्र निर्देश किया गया।

"सभी ज्ञान अयथार्थ होते हैं, इसलिये तथ्यातथ्यका विभाग अनुपपन्न है" यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि अयथार्थत्वका ग्राहक जो ज्ञान है, वह स्वयं यथार्थ है या अयथार्थ है? इन प्रश्नोंका जो भी उत्तर दोगे उससे तुम्हारे उक्त कथनका विरोध हो जायगा। अर्थात् अयथार्थत्वका ग्राहक ज्ञान यदि स्वयं यथार्थ हो तो वही एकज्ञान यथार्थ हो गया, फिर सभी ज्ञान अयथार्थ कहाँ हुए? यदि अयथार्थत्वका ग्राहक ज्ञान स्वयं अयथार्थ है तो उसका विषयभूत पूर्वज्ञान यथार्थ सिद्ध हो गया। इस प्रकार सब ज्ञान अयथार्थ कहां हुए? इसलिए कुछ ज्ञान प्रमाण (यथार्थ) होते हैं और कुछ अप्रमाण (अयथार्थ) होते हैं, यही वस्तुस्थिति है। साथ ही इस प्रकारका प्रमाण-अप्रमाणका विभाग वैसी प्रतीतिके

कथन्ता तु निरूप्यते स्वतः परतो वेति । आद्ये स्वयं स्वग्राहकेणेति[1] वा । तत्र न प्रथमः, स्वसंवेदनस्यासिद्धेः, प्रकाशत्वस्यासाधारणत्वात्, शब्दसाम्येनानुमानाप्रवृत्तेः । न

बिना व्यवहारका विषय नहीं हो सकता। इसलिये यह पूर्वोक्त कथन खण्डित हो गया कि—तथ्यातथ्य-विभाग नहीं होनेसे बाह्यवस्तु नित्य सन्दिग्ध है।

ज्ञानप्रामाण्यका स्वतस्त्वनिराकरण

अब ज्ञानप्रामाण्यकी कथन्ताका विचार किया जाता है कि ज्ञानका प्रामाण्य कैसे गृहीत होता है? स्वतः या परतः। स्वतःपक्षमें भी उस ज्ञानका प्रामाण्य स्वयं उस ज्ञानके द्वारा गृहीत होता है? या उस ज्ञानकी ग्राहिका सामग्रीके द्वारा? उसमें प्रथम कल्प नहीं हो सकता। क्योंकि स्वका संवेदन ही असिद्ध है। अर्थात् ज्ञान अपना ही ग्रहण नहीं कर सकता, स्वगत-प्रामाण्यका ग्रहण तो दूरकी बात है। आशय यह है कि धर्मिग्रहके बिना उसके धर्मका ग्रहण असंभव है। यदि अपना ग्रहण करे भी तथापि स्वधर्म (प्रामाण्य) का ग्रहण सर्वथा असंभव है। यदि स्वमें और स्वधर्ममें अभेद मानकर स्वग्रहणसे स्वधर्मका भी ग्रहण हो तो प्रामाण्यके समान अप्रामाण्य भी स्वतोग्राह्य होने लगेगा। किन्तु अप्रामाण्यको परतोग्राह्य मानते हो।

यदि अनुमानसे सिद्ध करो कि—ज्ञानं स्वप्रकाशं, प्रकाशत्वात्, प्रदीपवत्—तो यहां प्रकाशत्व-हेतुका अर्थ तेजस्त्व मानो तो ज्ञानरूप पक्षमें उसके नहीं होनेसे वह हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा। यदि प्रकाशत्वका अर्थ ज्ञानत्व लो तो वह पक्ष (ज्ञान) मात्रमें रहनेके कारण असाधारण हेत्वाभास हो जायगा। यदि प्रकाशत्वका अर्थ प्रकाशशब्द-वाच्यत्व लो तो उस न्यायसे गोपदवाच्य होनेके कारण गौके समान वाणी भी विषाणी (सींगवाली) हो जायगी। इसलिए शब्दके साम्यके आधारपर अनुमान नहीं हो सकेगा।

यदि कहो कि—'ज्ञानवानहं जानामि' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव ही ज्ञानके प्रकाश होनेमें प्रमाण है। क्योंकि उक्त अनुभवमें ज्ञान विषय-

१. स्वग्राहकेण वेति १ पु० पा०

चाध्यक्षमेवात्र प्रमाणम्, सन्दिग्धभेदत्वात्।

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति, परेण परवेदनेऽनवस्था स्यात्। न च क्रिया स्वसजातीयक्रियाकर्मभावमश्नुते छिदावदिति तर्कपुरस्कारान्नैष दोष इति चेन्न—

उपलम्भापरपर्यायाया दृष्टेः सिद्धिर्निष्पत्तिर्वा स्यात् प्रतीतिर्वा। आद्येऽनागतोपलम्भवेदनप्रसङ्गः, अनुपलब्धस्यानि-

---

रूपमें भासित होता है—तो उक्त अनुभव ग्राह्यज्ञानसे भिन्नरूप है? या ग्राह्यज्ञान ही है? यह सन्दिग्ध होनेसे ज्ञानका स्वप्रकाशत्व भी सन्दिग्ध ही है। अर्थात् "घटोऽयम्" इस ज्ञानसे उसका ग्राहक "जानामि" यह ज्ञान भिन्न है, इसलिये "घटोऽयम्" इत्यादि ज्ञान स्वतोग्राह्य न सिद्ध होकर परतोग्राह्य ही सिद्ध होता है।

यदि कहो कि—ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होनेसे अर्थदृष्टि ही (विषयज्ञान) असिद्ध हो जायगी और विषयमें प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं हो सकेगी। यदि दूसरे ज्ञानके द्वारा ज्ञानकी प्रतीति मानी जाय तो उस दूसरे ज्ञानकी प्रतीति किसी तीसरे ज्ञानसे और तीसरेकी किसी चौथेसे, इस प्रकार अनवस्था-दोष होनेसे वह प्रथम भी ज्ञान (घटोऽयम् इत्यादि) सर्वथा असिद्ध हो जायगा और ज्ञानके बिना विषयकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। एवं कोई भी क्रिया अपनी सजातीय क्रियाका कर्म नहीं होती है। जैसे, छिदाक्रियाका कर्म छिदा क्रिया नहीं होती किन्तु काष्ठ ही कर्म होता है। क्योंकि "छिदां छिनत्ति" यह व्यवहार नहीं होता है। इस तर्कके आधारपर ज्ञानक्रिया भी किसी अन्य ज्ञानक्रियाका अर्थात् अनुव्यवसायादिका कर्म नहीं हो सकेगी। इसलिये "जानामि" यह अनुभव ग्राह्यज्ञानसे अभिन्न ही है, ऐसा मानना चाहिये। अतः पूर्वमें जो "जानामि" अनुभव तथा ग्राह्यज्ञानमें भेदको सन्दिग्ध बताकर दोष दिया गया था, अर्थात् ज्ञानको परतोग्राह्य सिद्ध किया था, वह दोष नहीं है—

तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अर्थदृष्टिका मानी है—अर्थका उपलम्भ। अतः अर्थदृष्टिकी सिद्धिसे आपका क्या अभिप्राय है? अर्थोपलम्भकी उत्पत्ति या अर्थोपलम्भकी प्रतीति। प्रथम अभिप्राय

त्पत्तेः । न चाविद्यमानेनाविद्यमानस्योपलम्भ[1] इति स्वसंवित्त्यावसंवित्तिरेवेति ।

द्वितीये तु सिद्धसाधनम् । न ह्यनुपलब्ध उपलब्धो भवति । न चैवं सत्यर्थोऽपि नोपलभ्येत । न ह्युपलम्भप्रतीतिरर्थवेदनमपि तूपलम्भनिष्पत्तिः । उपलम्भादृष्टावुपलम्भनिष्प-

---

लेनेपर जो उपलम्भ अभी अनागत है (अभी उत्पन्न नहीं हुआ है), उसका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा । क्योंकि आपके अभिप्रायानुसार उपलम्भका प्रत्यक्ष हुए बिना उपलम्भकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। अर्थात् विषयज्ञानकी उत्पत्तिके लिये पूर्वमें विषयज्ञानका प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, जो सर्वथा असंगत बात है। क्योंकि जो ज्ञान अभी पैदा ही नहीं हुआ है, उसका पहले ही प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? कारण, जिस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना है, वह ज्ञान अभी अविद्यमान है तथा स्वतोग्राह्यत्ववादीके मतानुसार उस अविद्यमान ज्ञानका ग्राहक भी स्वयं वही है। अतः अविद्यमान (स्वयं) से अविद्यमान (स्वयं) का ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिए स्वतोग्राह्य माननेमें सर्वथा अग्राह्य हो जानेकी स्थिति आ जाती है ।

द्वितीय अभिप्रायमें तो सिद्धसाधनदोष हो जायगा। अर्थात् अर्थदृष्टिकी सिद्धिसे आपका अभिप्राय अर्थोपलम्भकी प्रतीतिसे हो तो "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य" इस कथनका यह अर्थ होगा कि--जब तक उपलम्भका प्रत्यक्ष (प्रतीति) नहीं होगा, तब तक अर्थोपलम्भकी प्रतीति नहीं होगी—तो इसे मैं भी मानता ही हूँ। इस प्रकार सिद्धसाधनदोष आ जाता है। क्योंकि अनुपलब्ध को हम भी उपलब्ध नहीं बताते हैं। अर्थात् प्रतीतिकी दशामें ही हम भी प्रतीति मानते हैं, न कि अप्रतीतिकी दशा में। यहाँ यह नहीं कह सकते कि—अर्थज्ञानका ज्ञान हुए बिना अर्थका भी ज्ञान नहीं हो सकेगा—क्योंकि ज्ञानका ज्ञान होना अर्थज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) होना अर्थज्ञान है।

यदि कहो कि—ज्ञानका ज्ञान हुए बिना ज्ञानोत्पत्ति हुई है, यह व्यवहार ही कैसे होगा ?—तो ज्ञानकी उत्पत्तिका जो व्यवहार होना है,

---

१. वेदनमिति अस्वसम्वित्त्याविति १ पु० पा०

त्तिरित्येव व्यवहारः कुत इति चेत्, मा भूत्, न ह्यव्यवहारादेव निष्पन्नस्य वस्तुनो निवृत्तिः। तथा च तन्निबन्धनोऽर्थव्यवहारो दुर्वार एव[1]।

न चानवस्था, अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमात्, निश्चयवत्। अन्यथा त्वनिश्चितनिश्चयस्यार्थनिश्चयोऽपि न सिध्येत्। न

वह भले ही मत हो, उससे कोई हानि नहीं है। क्योंकि केवल अव्यवहारके कारण उत्पन्न वस्तुकी निवृत्ति नहीं हो जाती है। अर्थात् ज्ञानका ज्ञान नहीं होनेसे उस ज्ञानकी उत्पत्तिमें कोई रुकावट नहीं आती तथा अर्थज्ञान उत्पन्न होनेके बाद होनेवाले अर्थसम्बन्धी ग्रहण या परित्यागरूप व्यवहारमें भी कोई रुकावट नहीं हो सकती है। अर्थात् अर्थसम्बन्धी व्यवहारके लिए भी अर्थज्ञान ही अपेक्षित है न कि अर्थज्ञानकी प्रतीति। यदि ज्ञात ज्ञान ही अर्थसम्बन्धी व्यवहारके योग्य माना जाय तो भी ईश्वरद्वारा ज्ञात होनेसे ही काम चल जायगा, हम लोगोंके द्वारा ज्ञानका ज्ञात होना व्यवहारके लिये आवश्यक नहीं है।

ज्ञानको परतो-ग्राह्य माननेमें जो अनवस्था दोष दिये हो, वह भी दोष नहीं हो सकता है। क्योंकि "सभी ज्ञान अवश्य वेद्य ही हैं" यह मैं नहीं मानता।[2] एवं ज्ञानका ज्ञान हुए बिना यदि अर्थका ज्ञान भी असिद्ध हो जाय तो निश्चयका निश्चय नहीं होनेसे अर्थका भी निश्चय नहीं हो सकेगा। क्योंकि स्वप्रकाशवादीके मतमें भी निश्चयात्मक ज्ञान अपने निश्चयत्वका निश्चय नहीं करता है। अर्थात् स्थाणु-पुरुषादिके सन्देहस्थलमें स्थाणुत्व-सूचक विशेषका दर्शन होनेपर जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह अपने निश्चयत्वका निश्चय नहीं कराता

---

१. इति इति २ पु० पा०

२. यद्यपि स्वसंयुक्तसमवायरूप-प्रत्यासत्तिके रहनेसे ज्ञानके अवश्य वेद्य होनेमें कोई बाधा नहीं है, फिर भी सुखादि-सामग्रीके बलवती होनेसे सदा ज्ञानका ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि हो तो सुखादिका अनुभव ही कभी न हो पायेगा। एवं, जैसे रूपादि विशेषगुण उद्भूत और अनुद्भूत दोनों होते हैं, वैसे ही ज्ञान भी विशेषगुण होनेके कारण उद्भूत (ज्ञात) और अनुद्भूत (अज्ञात) दोनों ही होगा।

चासौ स्वात्मन्यपि निश्चय इति बधूमाषमापनवृत्तान्त-मनुहरति ।

छिदादिवदिति तु दृष्टान्तमात्रेण नास्मदवधानम् । "ज्ञानं न ज्ञानान्तरकर्म, तज्जातीयक्रियात्वात्, या यज्जातीया क्रिया नासौ तत्क्रियाकर्म, यथा छिदा छिदान्तरस्ये"ति तु न्याय-विप्लवः । छिदावत् सर्वथा सजातीयाकर्मत्वे साध्ये बाधित-विषयत्वात्, पुरुषान्तरज्ञानस्य च पुरुषान्तरज्ञानवेद्यत्वात्,

है, यह बात स्वप्रकाशवादी भी मानता है। ऐसी परिस्थितिमें वहाँ ज्ञानके दृष्टान्तसे अर्थनिश्चय भी नहीं हो सकेगा। यह बात स्वतो-ग्राह्यत्ववादीको नहीं सूझती है। इस प्रकार यह उड़द मापनेवाली वधूके वृत्तान्तके तुल्य है। अर्थात् जैसे उड़द तौलनेमें व्यग्र कोई वधू अपने गुप्ताङ्गको ढकने का खयाल न रखे, वैसे तुम भी ज्ञानको स्वप्रकाश सिद्ध करनेकी व्यग्रतामें अपने ऊपर आनेवाले दोषोंके समाधानका भी खयाल नहीं रखते हो।

जो तो छिदा-क्रियाका दृष्टान्त दिये हो, उस दृष्टान्तमात्रसे हमें सन्तोष नहीं हो सकता है। क्योंकि बिना हेतु दिये केवल दृष्टान्तमात्रसे कुछ सिद्ध नहीं होता।

यदि कहो कि—ज्ञान अन्यज्ञानका कर्म नहीं हो सकता है, उसी जातिकी क्रिया होनेके कारण, जो जिस जातिकी क्रिया होती वह उस क्रियाका कर्म नहीं होती, जैसे छिदाक्रिया अन्य छिदाक्रियाका कर्म नहीं होती है—तो यह न्याय नहीं है, न्यायाभास है। क्योंकि छिदाक्रियाके दृष्टान्तसे ज्ञानमें भी सर्वथा सजातीय (ज्ञान) क्रियाका अकर्मत्व सिद्ध करनेमें बाध नामक हेत्वाभास हो जाता है। क्योंकि अन्य पुरुषका ज्ञान अन्यपुरुषीय ज्ञानका विषय होता है तथा अपना ज्ञान भी अपने ही स्मरणात्मक आदि ज्ञानका विषय होता है। अर्थात् पूर्वमें उत्पन्न अपने ही ज्ञानका बादमें अपनेको ही स्मरण आदि होता है। अतः ज्ञानके परतोग्राह्य होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यदि ज्ञानमें स्वकर्मत्व (स्वविषयत्व) सिद्ध करो तो छिदा आदि सभी दृष्टान्तभूत क्रियायें स्वविषयत्वरूप साध्यसे रहित हैं, इसलिये

स्वयमपि स्मृत्यादिगोचरत्वाच्च । स्वकर्मत्वे साध्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलतया हेतोर्विरुद्धत्वादिति ।

नापि स्वग्राहकेण, विवेचनानुपपत्तेः । न हि प्रमाणग्रहणं यथार्थत्वैकनियतम्, अप्रमाणेऽपि प्रमाणाभिमानात् । अन्यथा विपर्ययज्ञानादप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च ।

ततो यदि प्रामाण्यमापाततः स्फुरेदपि, तथापि नियमहेतोरभावात् प्रमाणमेवेदमिति निश्चयः कुतः ? स च मृग्यते,

---

इसलिये वहाँका हेतु विरुद्धनामक हेत्वाभास हो जायगा। अर्थात् वह ज्ञान उसी ज्ञानका विषय है, क्रिया होनेसे, छिदाके समान। इस अनुमानमें दिया गया 'क्रियात्व' हेतु साध्यके विरुद्ध है। क्योंकि कोई भी क्रिया अपना ही कर्म (विषय) नहीं होती है। जैसे, अपने ही कन्धेपर कोई नहीं चढ़ सकता। इसलिये ज्ञान स्वप्रकाश (स्वतोग्राह्य) नहीं हो सकता है।

यदि कहो कि—ज्ञानका ग्राहक जो अनुव्यवसाय या ज्ञाततारूप लिङ्ग है, उसीके द्वारा ज्ञानगत प्रामाण्यका भी ग्रहण होता है-तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि अनुव्यवसायके द्वारा अथवा ज्ञाततारूप लिङ्ग के द्वारा ज्ञानका ग्रहण होनेपर भी "वह ज्ञान प्रमाण ही है" ऐसा निश्चयात्मक विवेचन नहीं हो सकता है। यदि कहो कि—अनुव्यवसाय या ज्ञाततारूप हेतुसे उत्पन्न होनेवाली अनुमिति ही ज्ञानको प्रमाके रूपमें भासित करायेगी-तो यह कोई नियम नहीं है कि जिस ज्ञानको हम प्रमारूपमें समझेंगे, वह वस्तुतः यथार्थ ही हो, क्योंकि अप्रमामें भी प्रमाका अभिमान हो जाया करता है। यदि ऐसा न होता तो भ्रमात्मक ज्ञानसे कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञानमें जब प्रमात्वका निश्चय हो जाता है तब वहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि अप्रमामें प्रमात्वका अभिमान असंभव होता तो उक्त भ्रमस्थलमें प्रवृत्ति होती ही नहीं। अतः ज्ञानग्राहक सामग्रीके द्वारा प्रामाण्यका निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि ज्ञानग्राहक सामग्रीसे प्रामाण्यका आपाततः स्फुरण हो भी जाय

पारलौकिकव्यवहाराङ्गत्वात्[1]। शङ्कानिवर्तनेन तदप्रत्यूहं निश्चितमेवेति चेत्, तन्निवृत्तिरेव कुतः? प्रमाणान्तरादिति चेत, तदपि निश्चयफलमन्यथा वेति। अन्यथात्वे न शङ्काविच्छेदो निश्चयसाध्यत्वात्तस्य। निश्चयफलत्वे तु यो मृग्यते नासौ स्वत इति।

स्फुरणमात्रमपि तावदस्तु स्वत इति चेत्, किं तेन? न चैतदपि, अननुसंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगात्। न च

तो भी प्रामाण्य-नियामक हेतुके बिना "यह प्रमात्मक ही है" यह निश्चय कैसे होगा? और प्रामाण्य-निश्चयकी ही अपेक्षा है। क्योंकि प्रामाण्य-निश्चय ही पारलौकिक व्यवहारोंका अङ्ग है। अर्थात् लौकिक प्रवृत्ति जैसे-तैसे (प्रामाण्य-सन्देहमें भी) भले ही हो जाय; किन्तु पारलौकिक प्रवृत्ति, जो बहुत व्यय और आयाससे साध्य है, प्रामाण्य-निश्चयके बिना कैसे हो सकेगी?

यदि कहो कि–ज्ञानग्राहक सामग्रीसे ही प्रामाण्यका ज्ञान होगा, तथा जिस-किसी प्रकारसे अप्रामाण्यशङ्काकी भी निवृत्ति हो जानेसे निर्विघ्न-रूपसे प्रामाण्य भी निश्चित ही हो जायगा—तो बताओ, अप्रामाण्य-शङ्का की निवृत्ति ही कैसे होगी? यदि कहो—दूसरे प्रमाणसे—तो वह शङ्का-निवर्तक प्रमाणान्तर प्रामाण्यका निश्चय करायेगा या नहीं? यदि नहीं कराये तो शङ्काकी निवृत्ति भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि प्रामाण्य-निश्चय होनेपर ही अप्रामाण्य-शङ्का निवृत्त हो सकती है। यदि तो वह प्रमाणान्तर ज्ञान-प्रामाण्यका निश्चय कराये तो स्पष्ट ही है कि जिस प्रामाण्य-निश्चयकी अपेक्षा है, वह स्वतः (ज्ञानग्राहक सामग्री, अनुव्यवसाय या ज्ञाततालिङ्गक अनुमानसे) न होकर प्रमाणान्तरसे होता है।

यदि कहो कि—प्रामाण्यका निश्चय न हो सकनेपर भी प्रामाण्यका स्फुरणमात्र भी स्वतः हुआ, उतनेसे ही प्रामाण्यमें स्वतोग्राह्यत्व सिद्ध हो गया—तो उस प्रामाण्य-स्फुरणसे क्या लाभ है? जब कि उससे निष्कम्प प्रवृत्ति नहीं होती है। साथ ही यह स्फुरण भी नहीं हो सकता है।

विषयोपधानमात्रं प्रामाण्यम्, तदाभाससाधारण्यात्, अपि त्वनुभवस्य सतो भूतार्थानुसन्धानम्। न चार्थानुसन्धानेऽपि तस्य भूतत्वमनुसन्धीयते, आरोपितत्वव्यावर्तकविशेषणाननुसन्धानात्, अननुसंहितस्य चारोपसाधारण्यात्।

क्वचिद् विशेषोऽप्यनुसन्धीयत इति चेत्, न क्वापि प्राथमिकेन। अन्यथाऽनभ्यासदशायां तत्रापि संशयो न स्यात्। अभ्यासदशोत्पन्ने तु अनुसन्धानं व्याप्तिग्रहजनितसंस्कार-

---

क्योंकि ज्ञानके प्रमात्मक होनेमें विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्व (विशेष्यमें नहीं रहने वाला जो धर्म, उसका ज्ञानमें प्रकार नहीं होना) उपाधि है। अतः उस उपाधिका भान हुए बिना प्रामाण्योपहित ज्ञानका भान नहीं हो सकता है। केवल विषयका भान हो जाना ही प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि विषयके अभावमें भी विषयका भान हो जाया करता है। किन्तु अनुभव होते हुए यथार्थभान होना ही प्रामाण्य है। केवल अर्थ का (विषयका) भान होनेपर उसके वास्तविकत्वका भान तब तक नहीं होता है, जब तक कि उसकी अवास्तविकताको दूर करने वाले विशेषणों (विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्व आदि) का भान नहीं हो जाता। विशेषणका भान हुए बिना तो वह आरोपात्मक मिथ्याज्ञानके तुल्य है।

यदि कहो कि—कहीं करतलादिज्ञानमें विशेष (वास्तविकत्व) भी भासित ही हो जाता है—तो कहीं भी प्राथमिक ज्ञानके द्वारा अर्थात् अनुव्यवसाय या ज्ञातता-लिङ्गक अनुमानके द्वारा नहीं भासित होता। अन्यथा (प्राथमिकज्ञानसे ही यदि प्रामाण्यका भान हो तो) अनभ्यासदशामें (पहले पहल) उत्पन्न ज्ञानमें भी प्रामाण्यका संशय नहीं होना चाहिये। अर्थात् जिस व्यक्तिको अग्निका परिचय बिल्कुल न है, उसको किसीके कहनेपर जब अग्निज्ञान होता है, तब उसे उस ज्ञानके प्रामाण्यका भी स्वयं ज्ञान हो जाना चाहिये। तथा उसे "यह ज्ञान प्रमा है या अप्रमा है" ऐसा संशय नहीं होना चाहिये।

यदि कहो कि—अभ्यासदशामें उत्पन्न जो करतलादि उसमें तो प्रामाण्यका स्वतः ही निश्चय हो जाता है न कि प्रामाण्यका संशय होता

समुद्भवस्मरणबलेन भवत् प्रमाणान्तरशरीर एव प्रविशतीति परत एवावशिष्यते।

तत्राप्यनवस्थेति चेत्, न तावदसौ दृष्टान्तद्वारिका, प्रागेव तन्निश्चयात्। फलद्वारिका तु स्यादपि, यदि प्रामाण्य-

---

है—तो वहाँ भी बार-बार सहचारदर्शनसे उत्पन्न जो व्याप्तिज्ञान, उससे उत्पन्न जो संस्कार, उसके द्वारा होने वाले व्याप्तिस्मरणके बलसे ही प्रामाण्यका निश्चय होता है अर्थात् वहाँ भी तज्जातीयत्व-हेतुसे ही प्रामाण्यका ग्रहण होता है। जैसे, अयं पृथिवीत्वेनानुभवः, पृथिवीत्ववति पृथिवीत्वप्रकारकः, गन्धवद्विशेष्यकपृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयजातीयत्वात्, पूर्वपृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयवत्, इत्यादि। क्योंकि तद्वति प्रकारक अनुभव ही तो प्रमा है। अतः वह भी अनुमानप्रमाणमें ही अन्तर्भूत हो जाता है। इससे यही निष्कर्ष आता है कि प्रामाण्य परतोग्राह्य ही है, स्वतोग्राह्य नहीं।

यदि कहो कि—तज्जातीयत्वरूप लिङ्गसे प्रामाण्यका ज्ञान (अनुमान) करनेमें भी तो अनवस्थानामक दोष आ जाता है—तो क्या यहाँ दृष्टान्तके द्वारा कारणमुखी अनवस्था होगी? या अनुमितिरूप फलके द्वारा फल-मुखी? यहाँ दृष्टान्तको लेकर अनवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि दृष्टान्तमें तो प्रामाण्यका निश्चय वर्तमान अनुमितिसे पूर्व ही हो चुका है। तभी तो वह दृष्टान्त बना है। अतः पक्षभूत ज्ञानमें प्रमाणकी अनुमिति करनेके समय दृष्टान्तभूत ज्ञानमें प्रामाण्यानुमितिकी अपेक्षा ही नहीं रहती है कि उसमें भी प्रामाण्यानुमिति करनी पड़े और उसके लिये जो दूसरा दृष्टान्त दिया जाय, उसमें भी प्रामाण्यानुमिति करनी पड़े। तथा ऐसे ही अनवस्थितरूपसे जो जो दृष्टान्त बनता जाय, उन सभीमें प्रामाण्यानुमिति करनी पड़ जाय। अर्थात् दृष्टान्तभूत ज्ञानमें पूर्वसे ही प्रामाण्यज्ञान हुए रहनेसे दृष्टान्तकृत अनवस्था नहीं हो सकती है।

अनुमितिरूप फलको लेकर तो तभी अनवस्था होती यदि जिस अनु-मितिसे वर्तमान ज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय करते हैं, उस अनुमितिमें भी प्रामाण्यका निश्चय करना आवश्यक माना जाय। अर्थात् अनुमिति-

मवश्यनिश्चयमभ्युपेयते। अज्ञातप्रामाण्येन कथं परप्रामाण्य-वेदनमिति चेत्, यथा विषयसंवेदनम्।

अस्तु तर्हि धर्मिलिङ्गद्वारिका, ताभ्यामनिश्चिताभ्याम-नुमानात्, तन्निश्चयस्य च प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणानुपपत्तेः,

---

द्वारा वर्तमान ज्ञानमें प्रामाण्य निश्चय कर लेनेपर पुनः उस अनुमितिमें प्रामाण्य-निश्चय करने के लिये अनुमानान्तर करना कोई आवश्यक नहीं है।

यदि कहो कि—उस अनुमितिमें प्रामाण्यका ज्ञान हुए बिना उसके द्वारा वर्तमान ज्ञानमें प्रामाण्यका कैसे निश्चय हो सकता है? क्योंकि जो स्वयं अप्रमाण है वह दूसरेको प्रमाण कैसे सिद्ध कर सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार "अयं घटः" यह व्यवसायात्मक ज्ञान अपना प्रामाण्य-निश्चय हुए बिना ही घटवस्तुका निश्चय करा देता है, वैसे ही अनुमिति भी अपना प्रामाण्य-निश्चय हुए बिना ही पक्षभूत ज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय करा देती है।

यदि कहो कि—दृष्टान्तको या फलको लेकर भले ही अनवस्था न हो किन्तु धर्मी और लिङ्ग (हेतु) को लेकर तो अनवस्था होगी ही। क्योंकि धर्मी (पक्ष) का तथा लिङ्ग (हेतु) का निश्चय हुए बिना प्रामाण्यानुमिति नहीं हो सकती है। एवं धर्मी और लिङ्गका निश्चय तभी होगा जबकि धर्मिविषयक और लिङ्गविषयक ज्ञानमें भी प्रामाण्य का निश्चय हो जाय। और वह प्रामाण्य-निश्चय भी न्यायमतानुसार स्वतः न होकर अनुमानान्तरसे होगा। तथा उस अनुमानान्तरमें भी जो पक्ष और हेतु होगा, उसके निश्चयके लिये उसके ज्ञानमें भी प्रामाण्यका निश्चय उसे अपेक्षित होगा तथा उस प्रामाण्यके निश्चयार्थ भी नैयायिकको पुनः अनुमानान्तरकी शरण लेनी पड़ेगी। इस प्रकार पक्ष और हेतुके निश्चयको ही लेकर अनवस्थादोष पहुँच जाता है—यह आक्षेप नहीं दे सकते। क्योंकि प्रामाण्यानुमितिमें हर जगह ज्ञान ही पक्ष और हेतु रहता है तथा उस ज्ञानका ज्ञान अनुव्यवसायरूप है और अनुव्यवसायमें प्रामाण्य-अप्रामाण्यका द्वैत होता ही नहीं है। अर्थात् अनुव्यवसाय सदा प्रमाण ही होता है। अतः उस अनुव्यवसायमें

न, द्वैताभावात् । यत्र हि लिङ्गज्ञाने धर्मिज्ञाने वा तथ्यातथ्यभावेन द्वैतमुपलभ्यते तत्र तथात्वानिश्चये लिङ्गमाभासशङ्काक्रान्ततया न निश्चीयते । यत्र तु तज्ज्ञानं तदेकनियतं तत्र तावतैव लिङ्गनिश्चयः, तदाभासशङ्कानुत्थानात् । एककोटिनियतो ह्यनुभवो निश्चयः । ज्ञानतद्धर्मग्राहिणि च ज्ञाने न द्वैतमिति व्यवस्थितिरेव । प्रामाण्यनिश्चयस्तु तस्यापि परत एवेति न्यायसंप्रदायः । इत एव विशेषात् तादृशस्य स्वत एवेति तात्पर्याचार्याः ।

अप्रामाण्यकी आशङ्का ही नहीं रहती है । इसीलिये उसमें न प्रामाण्यग्रहकी अपेक्षा होती है और न उसके लिये अनुमानान्तर करनेकी ही आवश्यकता पड़ती है । अतः अनवस्थादोष नहीं है ।

जहाँपर लिङ्गज्ञान या धर्मिज्ञानमें प्रामाण्य-अप्रामाण्यका द्वैत होता है, जैसे धूमादिज्ञानसे अग्निविषयक अनुमानस्थलमें, वहीं पर लिङ्गादिज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय नहीं रहने पर अप्रामाण्यकी शङ्कासे ग्रस्त होनेके कारण वहां लिङ्गका निश्चय नहीं हो पाता है । अतः वहा लिङ्गादिके निश्चयार्थ प्रामाण्यानुमिति करनी पड़ेगी । किन्तु जहांपरां लिङ्गादिज्ञान नियतरूपसे प्रमाण हो रहता है, जैसे, ज्ञानपक्षक-प्रामाण्यानुमिति स्थलमें ज्ञानविषयकज्ञानरूप अनुव्यवसाय सदा प्रमाण ही रहत है, वहाँपर उस अनुव्यवसायसे ही लिङ्गका निश्चय हो जाता है, क्योंकि वहाँपर अप्रामाण्यकी शङ्का ही नहीं उठती है । कारण, एक कोटिसे नियत जो अनुभव, वही तो निश्चय है । ज्ञानको और उसके धर्म (प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, शाब्दत्व, स्मृतित्व आदि) को ग्रहण करने वाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञान (प्रत्यक्षयामि, अनुमिनोमि, शाब्दयामि, स्मरामि इत्यादि) में प्रामाण्य-अप्रामाण्यरूप दो कोटियां नहीं होती हैं, यह व्यवस्थिति ही है । वहाँ भी यदि हठात् प्रामाण्यका निश्चय करना चाहें तो परतः ही अर्थात् अनुमानके द्वारा ही होगा न कि स्वतः, यह न्यायका सिद्धान्त है । न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार श्रीवाचस्पतिमिश्रने जो अनुमानको स्वतः प्रमाण कहा है, उसका भी यही आशय है कि

स्यान्मतम्, एतदेव तु कथं निश्चेयं यदेवम्भूतमेककोटिनियतमेव, यावता तत्राप्यनवस्थितिरिति चेन्न, व्याप्तिज्ञानस्य साक्षादात्मन्यप्रवृत्तावपि सर्वोपसंहारेण यमुपाधिमादाय प्रवृत्तिस्तद्धर्मत्वात्। तज्जातीयत्वं हि तत्रोपाधिस्तच्च तत्राप्यविशिष्टमनुव्यवसायत्वात्।

जहाँ अप्रामाण्यकी आशङ्का ही न रहे, वहां प्रामाण्यानुमितिकी आवश्यकता नहीं है।

यदि कहो कि--उक्त सिद्धान्त रहे, किन्तु यही कैसे निश्चय है कि अनुव्यवसायमें एकमात्र प्रमाणकोटि ही नियत रूपसे है, उसमें अप्रामाण्य कभी नहीं रहता। इसलिए अनुव्यवसाय सदा प्रमाण ही होता है, इस व्याप्तिकी सिद्धि भी किसी अन्य अनुमानसे ही करनी होगी। तथा उस अनुमानके लिए पुनः व्याप्तिज्ञान-लिङ्गज्ञानादिकी आवश्यकता पड़ेगी। एवं उस व्याप्तिज्ञान आदिमें भी बिना प्रामाण्यानुमिति किये काम नहीं चल सकता, इस प्रकार पुनः अनवस्थादोष आ ही जाता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि व्याप्तिज्ञानकी साक्षात् (सीधे) अपने बारेमें प्रवृत्ति नहीं होनेपर भी सबको संगृहीत करनेवाले जिस धर्मको लेकर प्रवृत्ति होती है, वह धर्म स्वयं उस व्याप्तिज्ञानमें भी है। तज्जातीयत्व ही तो वहाँ उपाधि (धर्म) है और वह उसमें भी समान ही है। क्योंकि अन्य अनुव्यवसायोंमें रहनेवाला अनुव्यवसायत्व-धर्म उस व्याप्तिज्ञानमें भी है। इस प्रकार अन्य अनुव्यवसायोंमें नियतरूपसे एकमात्र प्रामाण्यकोटिको सिद्ध कराता हुआ अनुव्यवसायत्व-धर्म अनुव्यवसाय होनेके नाते अपनेमें भी वह नियम लागू कर लेगा। अर्थात् जो-जो अनुव्यवसाय होता है, वह सब प्रमाण ही होता है, ऐसी व्याप्ति अनुव्यवसायत्वावच्छेदेन[1] गृहीत है। तथा वह अनुव्यवसायत्व-जाति स्वयं इस व्याप्तिज्ञानमें भी है, अतः अन्य अनुव्यवसायोंमें प्रामाण्यानुमिति कराता हुआ अपनेमें भी प्रामाण्यग्रह करा ही लेगा, उसके लिए अतिरिक्त अनुमितिकी आवश्यकता नहीं है। अतः अनवस्थादोष नहीं आता।

१. अनुव्यवसायमात्र में।

न च सामान्यतो नियमनिश्चये तदालिङ्गिते विशेषे द्वैत-शङ्कावकाशः। यथा वाचकः शब्द इति स्वात्मनो वाचकत्वं न साक्षाद् विधत्ते वृत्तिविरोधात्, तथापि सामान्येन यमुपाधिमधिकृत्य प्रवृत्तः शब्दस्तद्वत्त्वात् शब्दशब्दो वाचको न वेति शङ्कया न परिभूयते, नाप्यनवस्थेत्येवमिहापीति।

तर्काश्चात्र भवन्ति—यदि धर्मिज्ञानं व्यभिचरेत्, निरालम्बनमसदालम्बनं वा भवेत्, निषिद्धं च तत्। यद्यनुव्यवसायो व्यभिचरेत्, तदार्थकर्मकोऽपि न स्यात्, ज्ञानेतरस्यार्थ-

---

सामान्यरूपसे प्रामाण्यकी व्याप्तिका निश्चय हो जानेपर सामान्यान्तर्गत विशेषमें प्रामाण्य अप्रामाण्यरूप द्वैतकी शङ्काका अवसर ही नहीं रहता है। जैसे, 'शब्द वाचक होता है' यह नियम अपने ('शब्द' इस शब्दके) वाचकत्वके बारेमें साक्षात् विधान नहीं करता है, क्योंकि अपनेमें अपनी वृत्ति (स्थिति) का होना विरुद्ध है। फिर भी सामान्यरूपसे जिस उपाधिको (शब्दत्वको) लेकर घटपटादिशब्द वाचक होता है, वही शब्दत्वरूप उपाधि स्वयं शब्दशब्दमें भी है, इसलिये "शब्दशब्द वाचक है या नहीं" यह शङ्का नहीं उठती और न अनवस्था ही आती है। वैसे ही सभी अनुव्यवसाय प्रमाण ही होता है, इस नियममें भी अप्रामाण्य की शङ्का नहीं होगी तथा इस नियमकी सिद्धिके लिये अलग व्याप्तिज्ञा और अनुमितिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनवस्था भी नहीं होगी।

यहां उक्त व्याप्तियोंके पोषक तर्क भी हैं। अर्थात् धर्मिज्ञान (ज्ञानरूप पक्षका ज्ञान) प्रमाण ही है, अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण ही है तथा सजातीयज्ञान भी प्रमाण ही है, इन व्याप्तियोंके अनुकूल तर्क भी हैं। जैसे, यदि धर्मिज्ञान व्यभिचारी (अप्रमाण) हो तो वह निर्विषयक (बिना विषयका) होगा या असद्विषयक होगा। किन्तु ये दोनों ही प्रकार पूर्वमें खण्डित हो चुके हैं। क्योंकि बिना विषयका कोई ज्ञान होता ही नहीं है। तथा सर्वथा अलीकविषयक भी ज्ञान नहीं होता। अन्यथा शशशृङ्गका भी ज्ञान होने लगेगा।

एवं, अनुव्यवसाय यदि व्यभिचारी (अप्रमाण) हो तो वह अर्थ-

प्रावण्याभावात् । यदि तज्जातीयं व्यभिचरेत्, अव्यभिचारो न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत । तदव्यवस्थितौ व्यभिचारोऽपि न स्यात्, अन्यथाख्यातिरूपत्वात्तस्य । तत्त्वस्थितौ च न्यथ त्वं स्यात, तदवधिकत्वात् ।

एतेन स्वप्नजागरावस्थयोरविशेष इति निरस्तम् । असत्ख्यातेश्च निराकृतत्वात्[1], अन्यथाख्यातेश्च तत्त्वख्यातिव्यव-

कर्मक भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् वह घट आदि बाह्यविषयोंको भासित नहीं कर सकेगा। क्योंकि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान मानस है और व्यवसायात्मक ज्ञानके बिना मनकी सीधी पहुँच बाह्य-विषयतक नहीं है। अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षसे उत्पन्न व्यवसायात्मक ज्ञान अर्थको विषय बनाता है और उस व्यवसायात्मक ज्ञानको विषय करनेके कारण ही अनुव्यवसाय भी अर्थविषयक हो जाता है। अन्यथा अनुव्यवसाय में अर्थभान होता ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अनुव्यवसाय ज्ञान व्यवसायात्मक ज्ञानको अपना विषय बनानेके सम्बन्धमें सर्वथा अव्यभिचारी है। एवं, सजातीय ज्ञान भी यदि व्यभिचारी (अप्रमाण) हो जाय तो अव्यभिचारनामकी वस्तु ही संसारसे उठ जायगी। और अव्यभिचारके अव्यवस्थित हो जाने पर व्यभिचार भी समाप्त हो जायगा। क्योंकि अन्यथाख्याति ही तो व्यभिचार है। अतः जब तक कहीं तात्त्विकता (अव्यभिचार) नहीं होगी, तब तक अन्यथात्वरूप व्यभिचारका भी व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि अन्यथात्व तत्त्वसापेक्ष होता है।

इस पूर्वोक्त तथ्यातथ्य-विभागके व्यवस्थापनसे—स्वप्न और जागर अवस्थाओंमें कोई भेद नहीं है—यह कथन भी खण्डित हो गया। अर्थात् "जागरज्ञानं भ्रान्तं ज्ञानत्वात् स्वप्नज्ञानवत्" यह अनुमान भी खण्डित हो गया। क्योंकि असत्ख्याति और आत्मख्यातिका निराकरण किया जा चुका है। अतः अन्यथाख्याति ही बच जाती है। तथा वह भी तत्त्वख्यातिकी व्यवस्थाके बिना अनुपपन्न है। इसलिये तत्त्वख्याति (तथ्यज्ञान)

१. प्रतिषेधात् इति १ पु० पा०

स्थामन्तरेणानुपपत्तेरिति । सा च यदि जागरेऽपि न स्यात्, न स्यादेवेति ।

तथापि कथमनयोरवस्थयोर्विभागः कर्तव्य इति चेन्न, लोकसिद्धत्वात् । किमनयोर्लक्षणमिति चेत्, कर्तृकर्मकरण-कालप्रबन्धबाधः काकतालीयसंवादवान् स्वप्नस्य, प्रबन्धे

को भी मानना आवश्यक है। अतः यदि वह तत्त्वख्याति जागर-अवस्था में भी न हो तो वह कभी होगी ही नहीं। अर्थात् अन्यथाख्यातिकी उपपत्तिके लिये जागरदशामें तत्त्वख्यातिका होना आवश्यक है। एवं उक्त अनुमानके द्वारा क्या कुछ जागर-ज्ञानको भ्रान्त सिद्ध कर रहे हो ? या सभी जागर-ज्ञानको ? यदि कुछको भ्रान्त सिद्ध करो तो ऐसा हम भी मानते हैं। अतः उक्त अनुमानमें सिद्धसाधनदोष आ जाता है। यदि सभी जागर-ज्ञानोंको भ्रान्त सिद्ध करो तो स्वयं यह तुम्हारी अनुमिति ही जागरकालीन होनेसे भ्रमात्मिका हो जायगी। ऐसी स्थितिमें जो अनुमिति स्वयं भ्रमात्मक है, वह जागर-ज्ञानोंको भ्रान्त कैसे सिद्ध कर सकेगी ?

यदि कहो कि—यह अनुमिति भ्रान्त नहीं है—तो भी तुम्हारी यह प्रतिज्ञा कि "सभी जागर-ज्ञान भ्रान्त ही होते हैं" इसीसे समाप्त हो गयी।

फिर भी यदि पूछो कि—इन स्वप्न-जागर अवस्थाओंमें भेद कैसे किया जा सकेगा ?—तो यह नहीं पूछ सकते। क्योंकि स्वप्न-जागरका भेद तो लोकसे ही सिद्ध है। यदि पूछो कि—इन दोनोंका लक्षण क्या है ?—तो सुनो, कर्ता-कर्म-करण-देश-काल आदि प्रबन्धों (उपकरणों) का बाध होना और काकतालीय-न्यायसे कुछका सही हो जाना यह स्वप्नका लक्षण है। यहाँ काकतालीय इसलिये कहा कि सबका बाध हो जाय तो स्वप्नकालमें निर्विषयक ज्ञान कैसे होगा ? उसके लिये कोई विषय चाहिये। अन्यथाख्याति कैसे होगी ? उसके लिये कोई तत्त्व भी चाहिये। आरोप कैसे होगा ? कोई आधार चाहिये। तथा जागने पर कहीं कुछ सही भी क्यों निकल आता है ? इसी आशयसे काकतालीय कहा।

काकतालीयः कस्यचिदेव विषयस्य बाधो जागरस्येति ।

एतेन बाध्यप्रबन्धोऽवस्थाविशेषः स्वप्नः, प्रबन्धबाधका-दिर्बाध्यमानप्रबन्धान्तो जागरितमित्यपि द्रष्टव्यमित्येषा दिक् ।

तस्मात् तथ्यमेव विश्वम्, मन्दप्रयोजनत्वात्तु सत्वरैर्मुमुक्षुभिरुपेक्षितमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

तर्हि नैयायिकानां जगत्परिरक्षणे कोऽयमभिनिवेशातिशय इति चेत्, सहसैव तदुपेक्षायां न्यायाभासावकाशे प्रमाण-

---

एवं, प्रायः सभी कुछ सही होना और काकतालीयन्यायसे कर्ता-कर्म आदि उपकरणोंमें किसीका कभी बाध हो जाना—यह जागर-अवस्थाका लक्षण है। यहां भी काकतालीयपद शुक्ति-रजत रज्जु-सर्प आदि भ्रमों के अभिप्रायसे कहा।

इसी प्रकार—जिसमें कर्ता-कर्म आदि प्रबन्ध बाधित हों, ऐसी विशेष अवस्था स्वप्न है। और पूर्व स्वप्नोपकरणोंका बाधक है आदिमें जिसके, तथा भावी स्वप्नोंका प्रबन्ध बाध्यमानरूपसे है अन्तमें जिसके, ऐसी विशेष अवस्था जागरित है—यह भी लक्षण समझना चाहिये। इस प्रकार यह दिङ्मात्र निर्देश किया गया। (किसी किसी के मतानुसार नाडी और मनके संयोगसे उत्पन्न ज्ञान स्वप्न है तथा उससे भिन्न ज्ञान जागर है। अथवा स्वप्नत्व मानसत्व-व्याप्य एक जाति है, ऐसे ही जागरत्व भी एक जाति-विशेष है।)

इसलिये निष्कर्ष यही हुआ कि संसार तथ्य ही है। उपनिषदभ्यास-के द्वारा जिन्हें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया है, ऐसे वेदान्ती तो मोक्षकी शीघ्रतामें प्रपञ्चविचारको मन्द-प्रयोजन मानते हुए उससे उदासीन हो गये—यह हम उचित समझते हैं। यदि पूछो कि—नैयायिक भी मोक्षाभिलाषी हैं, फिर उनका जगत्की वास्तविकता सिद्ध करनेमें यह विशेष आग्रह क्यों है?—तो यह आग्रह इस भयसे है कि एक व एक विश्वकी उपेक्षा कर देनेपर असत् न्यायोंको अवसर मिल

मात्र[1]विप्लवो भवेत्। तथा च न्यायरुचिः प्रेक्षावान् न तत्त्वमधिगच्छेदिति भियेति ॥

॥ इति बाह्यार्थभङ्गवादः ॥

जायगा और मननका आधारभूत प्रमाणमात्र ही विलुप्त हो जायगा। तथा श्रवणके बाद मनन करनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् जन तत्त्वज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

। इति बाह्यार्थभङ्गवादनिरासः ।

---

१. न्यायमार्गविप्लवो इति १ पु० पा०

अथ गुणगुणिभेदभङ्गवादः

अस्तु तर्हि गुणगुणिनोरभेदान्नैरात्म्यम्, क्षणिकज्ञानमात्रपरिशेषादिति चेत्, उच्यते। अस्ति तावदिह दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थानुसन्धानम्। तदिदमेकैकविषयं वा स्यात्?

गुणगुणिभेदभङ्गवाद खण्डन

पूर्वपक्ष—यदि क्षणभङ्गवादके आधारपर अथवा बाह्यार्थभङ्गवादके आधारपर नैरात्म्य नहीं हो सकता तो गुण और गुणीमें अभेदके कारण ही नैरात्म्यकी सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् गुणसे अतिरिक्त गुणीकी सत्ता ही नहीं है। अतः ज्ञानरूप गुणसे भिन्न कोई गुणी भूत आत्मा नहीं है। यही नैरात्म्यवादका अभिप्राय है। एवं, स्वयंप्रकाश क्षणिक विज्ञानोंके अलावे वेदान्तियोंके नित्यविज्ञानमें भी कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये क्षणिकविज्ञानको ही आत्मा कह सकते हैं। उससे अतिरिक्त ज्ञानादिका आधारभूत आत्मा नहीं है, यह पर्यवसित हुआ।

समाधान—दर्शनक्रिया और स्पर्शनक्रियाके द्वारा एक ही वस्तुकी उपलब्धि होती है, यह बात हम व्यवहारमें पाते हैं। जैसे, पहले देखकर हम कहते हैं "यह घट है" वैसे ही बादमें छू कर भी कहते हैं कि "यह घट है"। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानरूप-गुणसे भिन्न दर्शन-स्पर्शन-रूप उभयविध ज्ञानोंका आश्रयभूत एक अतिरिक्त आत्मा है। क्योंकि यदि ज्ञान ही आत्मा होता तो वहां दो प्रकारका ज्ञान होनेसे आत्मा भी दो होता। क्योंकि वहां एक आत्माने देखा और दूसरेने स्पर्श किया। ऐसी स्थितिमें दूसरेके देखनेका प्रतिसन्धान दूसरेको नहीं हो सकता। अतः "जिसे मैंने देखा उसे ही मैं छू रहा हूँ" इस प्रकारका वस्तुकी एकताका भान यहां नहीं होता। अतिरिक्त आत्मा माननेपर तो ज्ञानोंमें भेद होनेपर भी चूँकि स्थायी आत्मा एक है, इसलिये वही दर्शनकालमें भी था और स्पर्शनकालमें भी है। अतः उसे यह प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) हो सकता है कि जिसे देखा था उसे अभी छू रहा हूँ।

यह जो दर्शन-स्पर्शनरूप भिन्न क्रियाओंके द्वारा एक वस्तुका ग्रहण

समुदायविषयं वा ? तदतिरिक्तविषयं वा ? वस्त्वनुरोध्याकार-विषयं वा ? अलीकविषयं वा ?

न तावदाद्यः, न हि यदेव रूपं तदेव स्पर्श इति। न च रूपं त्वगिन्द्रियग्राह्यम्, अन्धस्यापि नीलादिप्रत्ययप्रसङ्गात्। न चैकमेव वस्तु करणभेदेनान्यथा प्रथत इति युक्तम्, अनात्मकत्वप्रसङ्गात्, भेदाभेदव्यवस्थानुपपत्तेश्च।

होता है, उसके सम्बन्धमें पूछना है कि यह चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष केवल रूपको या केवल स्पर्शको विषय बनाता है ? अथवा रूप और स्पर्श दोनोंके समुदायको ? अथवा इन दोनोंसे अतिरिक्त अवयवी को ? अथवा वस्तुसे रहित ज्ञानका आकारविशेष वहां भासित होता है ? या शशश्रृङ्गवत् अलीकको विषय बनाता है ?

इनमें प्रथम कल्प नहीं हो सकता है। क्योंकि जो ही रूप है, वही स्पर्श नहीं है, जिससे कि चाक्षुष और स्पार्शन उभयविध प्रत्यक्षावस्थामें केवलरूपका ही या केवल स्पर्शका ही भान हो सके। क्योंकि रूप त्वगिन्द्रियका विषय नहीं है और स्पर्श चक्षुरिन्द्रियको विषय नहीं है। यदि वैसा होता तो अन्धेको भी नील पीतादिका ज्ञान हो जाता और दूरसे किसी वस्तुके शुक्लादिरूपके ग्रहणकालमें विना छूये नेत्रसे ही उसके उष्णत्व आदि का भी ज्ञान हो जाता।

यह भी ठीक नहीं है कि—एक ही वस्तु इन्द्रियभेदसे भिन्न स्वरूपमें भासित होती है। अर्थात् एक ही वस्तु चक्षुरिन्द्रियके द्वारा रूपत्वेन और त्वगिन्द्रियके द्वारा स्पर्शत्वेन भासित होती है—क्योंकि रूपत्व और स्पर्शत्व परस्पर विरोधी धर्म हैं, वे एक वस्तुमें साथ रह नहीं सकते, बारी बारीसे रहेंगे—इसका कोई नियामक नहीं है। इसप्रकार उभयस्वरूपसे रहित होकर वह वस्तु शून्यात्मक हो जायगी। एवं, यदि परस्पर विरोधी धर्म एक जगह रहे तो वह धर्मी भी भिन्न हो जायगा। फिर भी यदि धर्मी अभिन्न ही रहे तो संसारसे भेदमात्रका उच्छेद हो जायगा और भेद-अभेदकी व्यवस्था ही समाप्त हो जायगी।

नापि द्वितीयः, स हि एकदेशतया वा ? एककालतया वा ? एककार्यतया वा ? एककारणतया वेति ?

न तावदुपादानरूपैकदेशसंभवः, तयोः प्रतिनियतोपादानत्वात्। संभवे वा तदेव द्रव्यमिति पर्यवसितं विवादेन। नाप्यधिकरणीभूतभूतलाद्याधारतया तत्संभवः, चक्षुषा ह्युपलभ्यमाने भूतले रूपविशेषे घटोऽपि चक्षुषैवोपलभ्यमानो रूपविशेषस्तदाधार इति शक्यते निश्चेतुम्, तयोरधरोत्तरभाव-

यह भी नहीं हो सकता कि—उक्त दर्शन-स्पर्शन क्रियाद्वारा एक अर्थके ग्रहणका अभिप्राय है "रूप और स्पर्शके समुदायका ग्रहण" अर्थात् उक्त प्रतीतियोंमें रूप और स्पर्शका समुदाय ही विषय बन रहा है–कारण, यहाँ रूप और स्पर्शका समुदाय बन ही नहीं सकता है। क्योंकि वह समुदाय उपादानरूप एकदेशके कारण होगा ? या एक कालके कारण ? या उपादेयरूप एक कार्यके कारण होगा ? अथवा एक समुदाय इसलिये होगा कि रूप और स्पर्श दोनोंका एक ही कारण है।

इन कल्पोंमें प्रथम कल्प कि—उपादानरूप एकदेशके कारण रूप-स्पर्शका एक समूह बन जायगा—नहीं हो सकता। क्योंकि दोनोंके भिन्न भिन्न उपादान नियत हैं। अर्थात् तुम्हारे मतमें रूपका रूप ही और स्पर्शका स्पर्श ही उपादान होता है, अतः दोनोंका एक उपादान असंभव है। यदि दोनोंका एक उपादान मेरे ही समान तुम्हारे मतमें भी हो तो फिर वही गुणी द्रव्य सिद्ध हो गया। इस प्रकार गुणातिरिक्त गुणी होनेमें विवाद ही समाप्त हो गया।

यदि कहो कि—एक उपादानके कारण नहीं, किन्तु भूतलादिस्वरूप एक अधिकरणके कारण रूप और स्पर्शका एक समुदाय बन जायगा—तो यह भी नहीं संभव है। क्योंकि तुम्हारे मतमें गुणातिरिक्त गुणी नहीं होनेसे चक्षुद्वारा उपलभ्यमान भूतल पृथक् गुणी न होकर रूपविशेष है, और उसपर चक्षुद्वारा उपलभ्यमान घट भी पृथक् गुणी न होकर रूप-विशेष ही है। इसप्रकार "रूपविशेषात्मक भूतलमें रूपविशेषात्मक घट आश्रित है" इसका निश्चय चक्षुद्वारा कर सकते हैं, क्योंकि आश्रयाश्रयि-

नैकज्ञानसंसर्गित्वात् , तदधिकरणाः स्पर्शादयोऽपीति तु कस्य प्रमाणस्य विषयः ? न हि स्पर्शादयश्चाक्षुषे चेतसि चकासति । त्वचोऽयं व्यापार इत्यपि नास्ति, तथापि भूतलघटस्पर्शयो राधाराधेयभावप्रतीतेः ।

न च समुदाययोस्तत्संभवः, परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात् । एकाधारतायां हि समुदायानुसन्धानं समुदायानुसन्धाने चैकाधारतानुसन्धानसम्भव इति । अनवस्थाप्रसङ्गाच्च, भूतल-

---

भावसे दोनों ही एक चाक्षुष-ज्ञानमें सम्पृक्त हैं। किन्तु "उसी भूतल-रूप अधिकरणमें स्पर्शादि भी है" यह किस प्रमाणसे जान सकोगे ? क्योंकि चाक्षुषज्ञानमें स्पर्शादिका भान हो ही नहीं सकता है। अतः भूतलरूप एकाधिकरणको लेकर रूप-स्पर्शका एक समुदाय नहीं बन सकता है।

यदि कहो कि—स्पर्शका भान त्वचाका व्यापार है—तो इससे भी काम नहीं चलेगा। क्योंकि त्वचाके द्वारा भी भूतल और घटके स्पर्शों का ही अर्थात् स्पर्शविशेषात्मक भूतल और स्पर्शविशेषात्मक घटका ही परस्पर आधाराधेयभाव प्रतीत होगा, न कि उनके रूपोंका भी। क्योंकि रूपग्रहणमें त्वचा असमर्थ है। इसप्रकार पुनरपि रूप-स्पर्शका एक समुदाय नहीं बन सका।

यदि कहो कि—रूप-स्पर्शादिका समुदायात्मक भूतल एवं रूप-स्पर्शादिका समुदायात्मक घटमें परस्पर आधाराधेयभाव बन जायगा—तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि तब अन्योन्याश्रयदोषका प्रसङ्ग हो जायगा। कारण, एकाधारताकी प्रतीति होनेपर ही रूप-स्पर्शका समुदाय हो प्रतीत सकेगा और उक्त कथनानुसार जब रूप-स्पर्शका समुदाय प्रतीत हो लेगा तभी एकाधारताकी प्रतीति होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष हो जाता है। साथ ही अनवस्थादोषका भी प्रसङ्ग हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार भूतलात्मक एक आधारके कारण आधेयभूत घटको रूप-स्पर्शादिका समुदायात्मक सिद्ध करते हो, उसी प्रकार भूतलको भी रूप-स्पर्शादिका एक समुदाय मानते हो, सो किस आधारको लेकर वह (भूतल)

स्यापि समुदायत्वं किङ्कृतमित्यनुयोगानिवृत्तेः ।

अत एव नैककालतयाऽपि, तयोरेककालतायां प्रमाणाभावात् । भावे वा रासभकरभयोरप्येककालतया समुदायत्वप्रसङ्गः, भेदाग्रहस्य प्रकृतेऽप्यसंभवात् ।

अतएव नैककार्यतयाऽपि, उपादेयरूपस्यैककार्यस्याभावात् । एकोदकाहरणलक्षणार्थक्रियेत्याद्यपि न युक्तम्, रूपा-

---

समुदायात्मक बनेगा ? यह प्रश्न रह ही जाता है। इसी प्रकार उस आधारको भी रूप-स्पर्शादिका एक समुदाय होनेके लिये पुनः किसी अन्य आधारकी अपेक्षा होगी। इस प्रकार आधार-कल्पनाका कहीं अन्त न होनेसे अनवस्थादोष हो जायगा।

इसीलिये एककाल होनेके कारण भी रूप-स्पर्शका समुदाय नहीं बन सकेगा, क्योंकि रूप-स्पर्शादिके एककालिक होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि वे कदाचित् एककालिक हों भी तथापि एककालिक होनेके कारण समुदाय माननेपर रासभ और करभको भी एककालिक होनेके कारण समुदायात्मक मानना पड़ेगा। यदि कहो कि—समुदायात्मक होनेके लिये भेदाग्रह अपेक्षित है, परन्तु रासभ और करभमें भेदग्रह रहनेसे वे समुदायात्मक नहीं हो सकते—तो रूप-रसादिमें भी भेदका अग्रह नहीं है, इसलिये उनका भी समुदाय नहीं सिद्ध हो सकता। अर्थात् वे समुदायात्मक नहीं हो सकते हैं।

इसीलिये एक-कार्यताके कारण भी रूप-रसादिका समुदाय असंभव है। क्योंकि रूप-रस-स्पर्शादिका कोई एक कार्य (उपादेय) तुम्हारे या मेरे मतमें नहीं होता। अर्थात् रूपादिको उपादान मानकर इनसे कोई एक उपादेय (कार्य) नहीं उत्पन्न होता है। यदि कहो कि—रूपादिका कोई एक उपादेयरूप कार्य भले ही न हो किन्तु घटके रूपमें समुदित जो रूपरसादिक हैं, उनको निमित्त मानकर उनसे पानीका लानारूप एक कार्य तो होता ही है—तो यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि तुम्हारे मतमें उदक (पानी) भी रूपादिसे अतिरिक्त कोई एक वस्तु नहीं है। यदि कहो कि—इसीलिये रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मक जल ही

व्यतिरिक्तस्योदकस्यानभ्युपगमात्, एकैकस्यानेकाहार्यत्वे प्रमाणाभावात्, समुदायस्य चासिद्धेः।

अतएव नैककारणतयाऽपीति। निमित्तमन्तरेण तु समुदायव्यवहारेऽतिप्रसङ्गः। तृतीये न विवादः।

नापि चतुर्थः, स हि विज्ञाननयमाश्रित्य वा स्यात्? द्विचन्द्रादिवद् विसंवादाद् वा? आद्ये तु रूपादिषु कः पक्षपातः?

रूपाद्यात्मक-घटके द्वारा लाया जाता है—तो वहाँ एक-एक कर अर्थात् केवलरूपात्मक जल या केवल रसात्मक, गन्धात्मक अथवा स्पर्शात्मक-जल रूप रस-स्पर्शाद्यनेकात्मक घटका आहार्य (आनेय) नहीं हो सकता है। क्योंकि जो रूपका कार्य है वह स्पर्शादिका कार्य कैसे हो सकता है? यदि कहो कि—एक-एक कर नहीं किन्तु रूपादिसमुदायात्मक जल रूपादिसमुदायात्मक घटका आहार्य होगा—तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि इसी समुदायकी सिद्धिके लिये तुम्हारा सारा प्रयास चल रहा है, और वह अभी सिद्ध ही नहीं हो सका है।

इसीलिये एक कारणकी वजहसे भी रूपरसादिकोंका एक समुदाय नहीं बन सकता है। क्योंकि रूप आदि चारोंका कोई एक कारण ही नहीं है। उक्त परिस्थितियोंमें यदि बिना किसी निमित्तके ही रूपादिका समुदाय-व्यवहार मानो तो अतिप्रसङ्गदोष हो जायगा। अर्थात् भिन्न-कालीनों और भिन्नदेशीयोंमें भी समुदायव्यवहार होने लगेगा।

यदि तृतीय पक्षका आश्रयण करते हुए दर्शन-स्पर्शनके द्वारा रूपादि-गुणोंसे अतिरिक्त वस्तुका ग्रहण मानो तो उसमें मुझे कोई विवाद नहीं है। क्योंकि वह वस्तु ही तो गुणातिरिक्त गुणी है।

यदि चतुर्थ पक्षका आश्रयण करते हुए वस्तुरहित ज्ञानके आकार-विशेषको ही उक्त चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्षोंका विषय मानो तो वह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि वह भी क्या विज्ञानवादको लेकर होगा? या द्विचन्द्रादिके समान विसंवादी (अर्थशून्य) ज्ञान मानकर होगा?

यदि प्रथम (विज्ञानवाद) को स्वीकार करो तो रूपादिगुणोंके प्रति

प्राप्तेरर्थक्रियास्थितेश्च न द्वितीयोऽपि। ते द्वे रूपादीनामिति चेत्, न तेषाम्, किन्तु तस्यैवेति किं न स्यात्? बाधकादिति चेत्, न तावत् क्रमयौगपद्यविरोधो रक्तारक्तविरोधो वा बाधकम्, निषिद्धत्वात्, क्षणिकपरमाणुरूपद्रव्येणाक्रान्तेश्च। सम्बन्धाभाव इति चेत्, असम्बन्धस्तावदस्तु। कथं तद्वत् प्रतीयत इति चेत्, तेषां तथोत्पादादिति परिहारोऽस्तु, तवैव यथा शरीरं चेतनावदिति।

क्यों पक्षपात है? अर्थात् जैसे गुणी कोई वस्तु नहीं है, वैसे रूपादि गुण भी कोई वस्तु नहीं हैं। इस प्रकार गुणीके साथ-साथ गुणोंका भी विलोप ही तुम्हें मानना पड़ेगा।

वस्तुकी प्राप्ति और उससे अर्थक्रिया (प्रयोजनसिद्धि) के होनेके कारण द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता है। यदि कहो कि—प्राप्ति और अर्थक्रिया रूपादिगुणोंकी ही होती है—तो यहाँ यही क्यों न माना जाय कि प्राप्ति और अर्थक्रिया रूपादिगुणोंकी नहीं होती है, किन्तु गुणी द्रव्यकी ही होती है। यदि कहो कि—बाधकके कारण प्राप्ति और अर्थक्रिया द्रव्यकी नहीं हो सकती—तो वह बाधक क्रमयौगपद्यका विरोधरूप या रक्त-अरक्तका विरोधरूप नहीं हो सकता। क्योंकि इन दोनों बाधकोंका पहले ही खण्डन किया जा चुका है। साथ ही जो स्थिर है, उसमें क्रमयौगपद्यका विरोध तथा जो अवयवी होगा, उसमें रक्त अरक्तका विरोध भले हो सम्भव हो किन्तु क्षणिक और निरवयव रूपादिगुणवान् परमाणुमें ये दोनों ही बाधक नहीं हो सकते हैं।

यदि कहो कि—गुणी तभी होगा, जब कि उसमें रूपादिगुण समवाय-सम्बन्धसे रहे। किन्तु यहाँ समवाय-सम्बन्धका अभाव है। अतः यही गुणी-द्रव्य होनेमें बाधक है—तो यहाँ सम्बन्धाभाव भले ही रहे, इससे कोई क्षति नहीं है। यदि कहो कि—सम्बन्धके अभावमें रूपादिविशिष्टकी प्रतीति कैसे होगी?—तो इसका उत्तर यही होगा कि रूपादि गुणोंकी वैसी ही उत्पत्ति होती है, जिसमें सम्बन्धके बिना ही रूपादिविशिष्ट बुद्धि हो जाती है। जैसे, तुम्हें ही शरीरमें चैतन्यका समवाय नहीं रहनेपर भी "शरीरं चेतनावत्" यह प्रतीति होती है।

रूपादिभिरेव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं तदतिरिक्तद्रव्य-कल्पनयेति चेन्न, तावन्मात्रेणैव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं रूपादिकल्पनयेत्यस्यापि वाचाटवचसोऽवकाशप्रसङ्गात्। प्रतीयमानत्वादिति चेत्, तुल्यम्।

एतेनालीकविषयतापि निरस्ता।

अभेदसाधनं बाधकमिति चेत्, किं तत्? सहोपलम्भ-नियम इति चेन्न, समसहोपलम्भनियमस्यासिद्धेः, पीतशङ्खोप-लम्भादौ श्वैत्यानुपलम्भेऽपि शङ्खोपलम्भात्।

यदि कहो कि—रूपादिगुणोंसे ही सम्पूर्ण अर्थक्रियायें (प्रयोजन) सिद्ध हो जायेंगी, अतः उनसे अतिरिक्त गुणी द्रव्यकी कल्पनाकी क्या आवश्यकता है?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि गुणातिरिक्त द्रव्यसे ही समस्त अर्थक्रियायें सिद्ध हो जायेंगी, अतः रूपादिगुणोंकी कल्पनाकी क्या आवश्यकता है? ऐसा भी किसी वाचालको कहनेका अवसर मिलने लगेगा। अर्थात् रूपादिगुणोंकी सत्ता भी लुप्त हो जायगी। यदि कहो कि—गुणोंकी सत्ता तो उनकी प्रतीति होनेके कारण सिद्ध है—तो वैसे ही गुणी द्रव्यकी भी प्रतीति होती ही है, इसलिए द्रव्यकी भी सत्ता सिद्ध ही है।

इससे पूर्वोक्त पञ्चम पक्ष भी खण्डित हो गया। अर्थात् उक्त चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष यदि शशशृङ्गके समान अलीक (अत्यन्तासत्) को विषय करें तो द्रव्यके समान ही रूपादिगुण भी अलीक ही हो जायेंगे और गुणीके साथ-साथ गुणोंकी भी सत्ता लुप्त हो जायगी।

यदि कहो कि—अभेदका साधन ही गुणगुणिभेदका बाधक है—तो वह (अभेदसाधन) क्या वस्तु है? यदि कहो—गुण और गुणीकी नियमतः एक साथ उपलब्धि ही उनके अभेदका साधन है—तो यह नहीं कह सकते। कारण, समानरूपसे नियमतः सहोपलब्धि असिद्ध है। क्योंकि दोषवशात् जब पीतके रूपमें शङ्खकी उपलब्धि होती है, तो वहाँ श्वेतगुणकी अनुपलब्धि होनेपर भी शङ्खद्रव्यका उपलम्भ

नासौ शङ्खः, किन्तु शङ्ख इव, तैमिरिककेशवदिति चेत्, अहो गुणवद्विद्वेषः! यत् तैमिरिककेशाः करतलपरामर्शनियतार्थक्रिययोरपायान्न सम्भवन्तीति व्यवस्थापयति, इह तु तत्सम्भवेऽपि शुभ्रतामात्रानुपलम्भादिति।

व्यापकत्वादिति चेत्, वस्तुनोर्व्याप्तिः? उपलम्भयोर्वा? आद्ये न विप्रतिपत्तिः। न च व्यापकानुपलब्धिमात्रेण व्याप्यतदुपलब्धी निवर्तेते, दहनानुपलब्धौ धूमतदुपलब्ध्योरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्रापि किं न परिकल्पयसि 'धूम इवासौ

होता है। इस प्रकार गुण और गुणीकी समनियत रूपसे सहोपलब्धिका नियम कहाँ रहा?

यदि कहो कि—पीतताकी प्रतीतिदशामें वह शङ्ख ही नहीं है, किन्तु शङ्खजैसा है। जैसे कि तैमिरिक केश वास्तविक केश नहीं रहता है, किन्तु तिमिर ही केशजैसा प्रतीत होता है—तो यह कैसा तुम्हारा गुणवान्से विद्वेष है कि तैमिरिक केशोंकी सत्ता इसलिए नहीं है कि वे करतलसे पकड़े नहीं जाते और केशों द्वारा होनेवाली प्रतिनियत अर्थक्रिया उनसे नहीं होती है, ऐसी व्यवस्था तुम्हीं करते हो तथा यहाँपर उस शङ्खका करतलसे परामर्श एवं उससे अर्थक्रियाके होनेपर भी केवल श्वेतताकी उपलब्धि नहीं होनेके कारण शङ्खको असत् कह रहे हो।

यदि कहो—शुभ्रता शङ्खकी व्यापिका है। अर्थात् शङ्खमें शुभ्रता अवश्य रहेगी, इसलिये दोषवशात् या जैसे भी हो शुभ्रताकी अनुपलब्धि होनेपर शङ्खकी भी निवृत्ति हो जायगी, तो यहाँ व्याप्ति-सम्बन्ध शुभ्रता और शङ्ख इन दोनों वस्तुओं में मानते हो अथवा शुभ्रताकी उपलब्धि और शङ्खकी उपलब्धिमें? पहले पक्षमें तो हमें कोई विवाद नहीं है। अतः व्यापककी निवृत्तिसे व्याप्यकी निवृत्ति भले ही हो किन्तु व्यापककी अनुपलब्धि मात्रसे व्याप्यकी और उसकी उपलब्धिकी निवृत्ति नहीं हो हो सकेगी। क्योंकि वैसा होनेपर अग्निकी अनुपलब्धि होनेपर धूमकी और उसकी उपलब्धिकी निवृत्ति होने लगेगी। अथवा शङ्खके समान वहां भी क्यों नहीं कल्पना करते हो कि अग्निके नहीं दीखनेपर भी जो

न धूम' इति, पावकवत्तानुपलब्धेरिति ।

तस्मान्न व्यापकानुपलब्धेर्व्याप्यनिवृत्तिः, किन्तु व्यापकनिवृत्तेः । सा चात्रासिद्धेति वाच्यम्, तदेतत्तुल्यं प्रकृतेऽपि । उपलब्धेस्तु व्याप्तिरिहैव भग्ना, श्वैत्यानुपलम्भेऽपि शङ्खोपलम्भादित्युक्तम् ।

स्यादेतत्, पीत एव शङ्ख उत्पन्न इति चेन्न, पुरुषान्तरेण श्वैत्यस्यैवोपलब्धेः । नाप्यसम एव सहोपलम्भनियमो

धूम दिखाई पड़ता है, वह धूमजैसा है न कि वास्तविक धूम है। क्योंकि वहां अग्निमत्ताकी उपलब्धि नहीं हो रही है।

इसलिये तुम्हें यही कहना होगा कि "व्यापककी अनुपलब्धि होनेसे व्याप्यकी निवृत्ति नहीं हो जाती है, किन्तु व्यापककी निवृत्ति होनेसे ही व्याप्यकी निवृत्ति हो सकती है। किन्तु यहां अग्निकी अनुपलब्धि भर है, उसकी निवृत्ति (अभाव) तो असिद्ध है। अतः अग्निकी अनुपलब्धिमात्रसे धूमकी निवृत्ति नहीं होगी" तो यही बात शङ्खके सम्बन्धमें भी समझो। अर्थात् श्वेतताकी अप्रतीतिमात्रसे शङ्खकी निवृत्ति नहीं हो जायगी। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार व्यापक और व्याप्यकी उपलब्धियोंमें व्याप्ति-सम्बन्ध कहो, तो यह व्याप्ति भी यहीं टूट गयी। क्योंकि श्वेतताकी उपलब्धि नहीं होनेपर भी शङ्खकी उपलब्धि होती है। यह बात पहले कही जा चुकी है।

यदि कहो कि—यही हो कि पाण्डुरोगकी दशामें श्वेत-शङ्खकी सचमुच ही निवृत्ति हो जाती है और वहाँ नया ही पीला शङ्ख उत्पन्न हो जाता है—तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरे पुरुषको, जिसे कि पाण्डुरोग नहीं हुआ है, वह उजला ही शङ्ख उपलब्ध होता है।

यह भी नहीं हो सकता कि—गुण-गुणीका समनियतरूपमें नहीं किन्तु असमनियतरूपमें ही साथ साथ उपलब्धिका जो नियम है, वही गुण-गुणीमें अभेद-सिद्धिका हेतु है—क्योंकि यह नियम भी व्यभिचरित

हेतुः, अनैकान्तात्। अभास्वरं रूपं भास्वरेण सह नियमेनोपलभ्यते भिन्नं चेति।

देशाविच्छेद इति चेन्न, असिद्धेः देहदेहिभ्यामनैकान्ताच्च। न तयोरविच्छेदस्तदनुपलम्भेऽप्युपलम्भादिति चेत्, तुल्यम्, रूपाद्यनुपलम्भेऽपि तद्वतामुपलब्धेः।

है। जैसे, घटका अभास्वर (नहीं चमकनेवाला) रूप आलोकके भास्वर (चमकनेवाले) रूपके साथ ही नियमतः उपलब्ध होता है, फिर भी घटका रूप और आलोकका रूप परस्परमें अभिन्न नहीं बल्कि भिन्न ही हैं।

यदि कहो कि—सहोपलम्भ के साथ साथ देशका भी विच्छेद नहीं होना चाहिये। इसलिये घटरूप और आलोकरूपका सहोपलम्भ होनेपर भी उनका देश भिन्न भिन्न है। अर्थात् घटरूपका देश (आश्रय) घट है और आलोकरूपका देश आलोक है। अतः भिन्न देश होनेके कारण सहोपलम्भ होनेपर भी घटरूप और आलोकरूप परस्पर अभिन्न नहीं होंगे। गुण-गुणीका तो सहोपलम्भके साथ साथ देश भी एक है, इस लिये इनके अभेदमें कोई बाधा नहीं है—तो देशाविच्छेद भी यहाँ असिद्ध है। क्योंकि गुणका देश (आश्रय) द्रव्य है और गुणीका (द्रव्यका) देश उसका अवयव है। इस प्रकार देशका विच्छेद (भेद) होनेके कारण गुण-गुणीमें अभेद नहीं सिद्ध हो सकेगा। एवं, देशाविच्छेद हेतु भी देह-देहीमें व्यभिचरित है। अर्थात् देह और देहीकी एक देशमें प्रतीति होनेपर भी अप्रकाशात्मक देह भिन्न है और स्वप्रकाशज्ञानात्मक देही भिन्न वस्तु है। इस प्रकार देशाविच्छेद होनेसे अभिन्न होनेका नियम यहीं व्यभिचरित हो गया।

यदि कहो कि—देह-देहीको लेकर उक्त नियम व्यभिचरित नहीं होगा, क्योंकि देह-देहीमें अविच्छेद ही नहीं है। कारण, देहका अनुपलम्भ होनेपर भी "अहम्" रूपमें स्वप्रकाशज्ञानात्मक देहीका उपलम्भ होता रहता है, इसलिये इनमें भेद होनेपर भी हमारे पूर्वोक्त नियममें व्यभिचार नहीं है—तो यह बात गुण-गुणीके लिये भी तुल्य है। क्योंकि रूपादिकी अनुपलब्धि होनेपर भी आधारभूत गणीकी

तथापि न विपर्ययः कदापीति चेत्, तुल्यम्। न हि देहाद्यनुपलम्भे देह्युपलम्भवद् देह्यनुपलम्भेऽपि देहस्योपलम्भसंभवस्तव दर्शने। प्रतिपत्तिनिष्पत्तिसामग्रीसाहित्यनियमेन सहोपलम्भो वा देशाविच्छेदो वा स्यात्, नियमेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदश्चेति को विरोधः ?

उपलब्धि होती है। जैसे, शङ्खके श्वेतरूपकी उपलब्धि नहीं होनेपर भी शङ्खकी उपलब्धि होती है। अर्थात् गुण-गुणीमें अविच्छेद नहीं हुआ, अतः उनका अभेद नहीं सिद्ध हो सकता।

यदि कहो कि—यद्यपि गुणकी अनुपलब्धि होनेपर भी गुणीकी (शङ्खकी) उपलब्धि होती है, तथापि उसका विपर्यय कदापि नहीं होता है। अर्थात् गुणीकी अनुपलब्धि होनेपर गुणकी उपलब्धि तो कदापि नहीं होती है। अतः इस दृष्टिसे गुण-गुणीमें अविच्छेद रहनेसे अभेद-में कोई बाधा नहीं है—तो यह बात देह-देहीके लिये भी तुल्य ही है, फिर देह-देहीमें अभेद क्यों नहीं मानते हो? क्योंकि देहका अनुपलम्भ होनेपर भी जैसे देहीकी उपलब्धि होती है, वैसे देहीकी अनुपलब्धि होनेपर भी देहकी उपलब्धि हो, यह तुम्हारे दर्शनमें सम्भव नहीं है। कारण, तुम्हारे दर्शनमें देही (आत्मा) ज्ञान ही है, और ज्ञान स्वप्रकाश है, इसलिये जब देहज्ञान (देहोपलम्भ) होगा तो वह स्वप्रकाश होनेके कारण अपनेको भी, जो ज्ञानरूप होनेसे आत्मा ही है, लेकर ही देहको विषय करेगा, अन्यथा नहीं। अर्थात् दृष्ट्यन्तरसे देह-देहीमें भी अविच्छेद होनेसे इनमें भी तुम्हें अभेद मानना चाहिये। नहीं तो तुल्यन्यायसे गुण-गुणीमें भी अभेद नहीं सिद्ध हो सकेगा।

एवं, जहां प्रतीतिकी सामग्री नियमतः एक साथ होगी, वहां वस्तुओंका सहोपलम्भ भले ही हो, तथा जहां वस्तुओंकी उत्पत्तिकी सामग्री नियमतः एक साथ होगी, वहां वस्तुओंमें देशाविच्छेद (समानदेशता) भले ही हो, फिर भी नियमतः विरुद्ध-धर्मोंकी स्थितिसे वे ही वस्तु परस्पर भिन्न भी रहेंगी, इसमें विरोध क्या है? अर्थात् गुण-गुणीका सहोपलम्भ एवं देशाविच्छेद कथञ्चित् मान भी लिया जाय, तो भी विरोधी-धर्मों के कारण गुण-गुणी परस्पर भिन्न ही होंगे।

धर्मविरोध एव कोऽत्रेति चेत्, तदुपलम्भेऽप्यनुपलम्भः, तदभिधानेऽप्यनभिधानं, तन्निषेधेऽप्यनिषेध इत्यादि। नील-मुत्पलं चलतीत्यादौ च व्यावृत्तिभेदनिराकरणे पूर्वक एव न्यायोऽनुसन्धेयः, अन्यत्रोपाधिभेदात्।

अभेदे च धर्मधर्मिणोर्दूरादूरतया ग्रहणे पटुत्वपटुनी कुतः?

यदि पूछो कि – गुण-गुणीमें विरोधी धर्म ही कहाँ हैं? तो यही उत्तर होगा कि इनमें एकका उपलम्भ होनेपर भी दूसरेका अनुपलम्भ होना, एकका कथन होनेपर भी दूसरेका अकथन होना तथा एकका निषेध होनेपर भी दूसरेका अनिषेध होना आदि ही विरोधी धर्म हैं। अर्थात् रूपगुणका ग्रहण नहीं होनेपर भी शङ्खका ग्रहण होता है, शङ्ख कहनेपर भी उसका रूप नहीं कहा जाता तथा रूपका निषेध होनेपर भी शङ्खका निषेध नहीं होता। ये सब बातें गुण-गुणीके भेदपक्षमें ही बन सकती हैं।

एवं, "नीलमुत्पलं चलति" यह व्यवहार होता है। इसमें गुण, जाति और क्रियाका सामानाधिकरण्य सूचित होता है, और वह समान अधिकरण द्रव्य ही है इस प्रकार गुणसे पृथक् गुणी-द्रव्यकी सत्ता सिद्ध होती है। यह नहीं कह सकते कि—उस व्यवहारमें अनीलादि-व्यावृत्ति ही सूचित होती है – क्योंकि व्यावृत्तिविशेषके खण्डनमें पहले ही बहुतसे न्याय दिये जा चुके हैं, उन्हें ही स्मरण करना चाहिये। हाँ, जहाँ उपाधिविशेषसे विशिष्ट व्यवहार होता है, वहाँ अतद्व्यावृत्तिका निराकरण नहीं करते। जैसे, कार्यत्व-उपाधिसे अवश्य ही अकार्यकी व्यावृत्ति समझी जाती है तथा नित्यत्व-उपाधिसे अवश्य ही अनित्यकी व्यावृत्ति समझी जाती है।

एवं, धर्म और धर्मीमें यदि परस्पर अभेद है तो दूरसे किया गया प्रत्यक्ष अपटु (अस्पष्ट) होता है तथा निकटसे किया गया प्रत्यक्ष पटु (स्पष्ट) क्यों होता है? अर्थात् धर्मीके अधिकांश धर्मोंका ग्रहण पटुत्व है तथा अल्प धर्मोंका ग्रहण अपटुत्व है। यदि धर्मी और धर्म अभिन्न ही हैं तो धर्मीका ग्रहण तो दूर और निकट दोनों दशाओंमें

न च पुरुषभेदेन तथैवान्यस्योत्पादः, एकस्य द्वैरूप्याभावात् । न चान्यान्य एवासौ, एकदेशतया तत्त्वेन प्रतिसन्धानात् । न च सा भ्रान्ता, भिन्नदेशस्य तथाभूतस्य प्रत्यासीदताऽप्यनुपलम्भात् । न च निरालम्ब एव तदुपलम्भः, वृक्षादिदेशप्रतिनियमानुपपत्तेः ।

होता ही है, इसलिये उससे अभिन्न सभी धर्मोंका ग्रहण भी हो ही जायगा। ऐसी स्थितिमें ज्ञानोंमें पटुत्व-अपटुत्वका भेद नहीं होना चाहिये ।

यदि कहो कि—पुरुषभेदसे वृक्षादि वस्तु (धर्मी) ही किसी व्यक्ति के लिये पटुरूपमें तथा किसी व्यक्तिके लिये अपटुरूपमें उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् पटुत्व-अपटुत्व वस्तुका धर्म है और उसका ग्राहक होनेसे ज्ञानमें भी पटुत्व-अपटुत्वका व्यवहार हो जाता है। इसलिये एक ही वस्तु निकटवर्ती पुरुषके प्रति पटरूपमें तथा दूरवर्ती पुरुषके प्रति अपटुरूपमें उत्पन्न होती है। अतः पटुत्वअपटुत्वका कारण धर्म-धर्मीका भेद नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि एक वस्तु पुरुषभेदसे भी दो नहीं हो सकती।

यदि कहो कि—एक ही दो नहीं हो जाता, किन्तु एक पटु और दूसरा अपटु, इसप्रकार भिन्न भिन्न दो वृक्ष ही पैदा होते हैं—तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि एक ही जगह पर अभिन्नरूपमें उस वृक्षकी प्रत्यभिज्ञा होती है। अर्थात् निकट जानेपर जिसे दूरसे देखा था, वही यह वृक्ष है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा निकटस्थ व्यक्तिको होती है। यह बात भी नहीं है कि एकदेशता की और अभिन्नता की प्रतीति भ्रमात्मिका हो, क्योंकि दूरी और नजदीकीके कारण अपटु और पटु मालूम पड़ने वाला भी वह वृक्ष निकटस्थ होनेपर भी भिन्न देशस्थ नहीं मालूम पड़ता किन्तु उसी स्थानमें और वही मालूम पड़ता है। यह भी नहीं हो सकता कि पटुत्व-अपटुत्वकी उपलब्धि निर्विषयक (शशविषाणज्ञानके समान असद्विषयक) हो, क्योंकि वैसा होनेपर वृक्षादि-देशके साथ पटुत्व-अपटुत्वका कोई प्रतिनियम नहीं बन सकेगा। अर्थात् नियतरूपसे वृक्षादिमें ही पटुत्व-अपटुत्वकी प्रतीति होती है। सर्वथा निर्विषयक

न चाधिपतिप्रत्ययत्वात्तस्येति युक्तम्, अनुभवानां तद्देशोल्लेखाननुरोधात्। उल्लेखे वा स एवालम्बनप्रत्ययः, तावन्मात्रानुबन्धित्वादवलम्बनव्यवहारस्य। न च देशोऽस्त्वालम्बनं न तु वृक्षादिरिति साम्प्रतम्, अनुपलब्धविशेषतया देशदेशिनोरविशेषात्।

शशविषाणादि-प्रतीतिमें तो पटुत्व-अपटुत्वका कभी भान ही नहीं होता है।

यदि कहो कि—वृक्षादिदेशके साथ नियतरूपसे होनेवाला पटुत्व-अपटुत्वका उपलम्भ अनादिवासनारूप अधिपतिके कारण होता है। सभी विकल्पोंका कारण होनेसे अनादिवासना ही अधिपति कही गयी है। इसलिये वही प्रतिनियत देशमें पटुत्व-अपटुत्वके उपलम्भका प्रत्यय अर्थात् कारण है—तो यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि अनुभवों में जब तुम प्रतिनियत देशका उल्लेख नहीं मानते हुए उन्हें निरालम्बन कहते हो तो उससे होनेवाली वासनामें भी देशका उल्लेख नहीं हो सकेगा। यदि अनुभवोंमें देशका उल्लेख मानो तो फिर वही आलम्बन-प्रत्यय (विषय) सिद्ध हो गया। इसप्रकार वृक्षादि-देश और उसमें पटुत्व-अपटुत्वका ग्रहण सिद्ध हो जाता है। अतः पटुत्व-अपटुत्वज्ञान को निरालम्बन (निर्विषयक) नहीं बता सकते हो। क्योंकि अनुभव-का विषय होनेसे ही वस्तु में आलम्बनत्व-व्यवहार होता है।

यह भी कथन उचित नहीं है कि—पटु-अपटु ग्रहणका विषय देश ही है, वृक्षादि नहीं है—क्योंकि पटु-अपटु ग्रहण वृक्षादिके समान ही उस देशमें भी उसके विशेषधर्मोंकी उपलब्धि और अनुपलब्धिके कारण ही होता है। अर्थात् देशमें भी दूरवर्ती व्यक्तिको विशेषधर्मोंकी अनुपलब्धिके कारण अपटु (अस्पष्ट) तथा निकटवर्तीको विशेषधर्मोंकी उपलब्धिके कारण पटु (स्पष्ट) ग्रहण होता है। यह बात भी तभी हो हो सकती है, जब धर्म-धर्मीमें भेद होगा। इस प्रकार देश (भूतलादि) और देशी (वृक्षादि) दोनोंकी अविशेष (समान) ही गति है।

न च दवीयांसोऽपि विशेषाः स्फुरन्त्येव न तु निश्चीयन्त इति युक्तम्, न हि योगविमलाञ्जनधौतदृष्टेरन्यस्य ताराव्यूह-गतयः प्रतिभान्तीति शक्यं प्रतिपादयितुम्।

अनिश्चयानुपपत्तेश्च। अनुभूतो ह्यात्मा न निश्चीयत इत्यत्र हेतुर्वाच्यः। वासनानुद्भव इति चेन्न, निःशेषविशेष-वन्तं धर्मिणमुपलभ्य विदूरवर्तिनस्तदखिलस्मरणेऽपि अनुभव-व्यापारानुसारिनिश्चयानुदयात्।

यह भी कथन युक्त नहीं है कि—अतिदूरस्थ भी विशेषधर्म स्फुरित (निर्विकल्पकज्ञानके विषय) होते ही हैं किन्तु निश्चय (सविकल्पकज्ञान) भर नहीं हो पाता। अर्थात् ग्रहणोंमें पटु-अपटुका विरोध नहीं है। क्योंकि अपटु-ग्रहण होता ही नहीं है। किन्तु सभी ग्रहण पटु (स्पष्ट) ही होते हैं। इसलिये पटु-अपटु ग्रहणके विरोधके आधारपर धर्म (गुण) और धर्मी (गुणी) में भेदका साधन नहीं हो सकता है—क्योंकि ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है कि योगरूपी निर्मल अञ्जनसे जिनकी दृष्टि पवित्र हो चुकी है, ऐसे योगियोंके अतिरिक्त दूसरे व्यक्तिको भी तारासमूहकी गतियोंका ज्ञान होता हो, केवल निश्चय भर न होता हो। अर्थात् दूरवर्तीको विशेषधर्मोंका अग्रहण होता ही है और वह ज्ञान भी अस्पष्ट होता ही है, इसमें सन्देह नहीं है।

यह जो कहा कि-निर्विकल्पक ज्ञान तो होता है, किन्तु उस विषयका सविकल्पात्मक निश्चय नहीं होता—तो यह अनिश्चय कहना भी अनुप-पन्न है। क्योंकि सूक्ष्म आत्माका अनुभव तो तुम्हें हो रहा है, किन्तु उसका निश्चय नहीं होता, इसका कारण तुम्हें कहना चाहिये। यदि कहो कि—संस्कारका उद्बुद्ध न होना ही अनिश्चयका कारण है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि सम्पूर्ण विशेषधर्मोंके साथ धर्मीको जान लेनेके बाद जब कोई व्यक्ति विशेष दूर चला जाता है, उस अवस्थामें उसके सम्पूर्ण विशेष-धर्मोंका स्मरण करा देने वाली वासनाके उद्बुद्ध रहने पर भी पूर्वोत्पन्न अनुभव-व्यापारके अनुसार निश्चय

तथापि चानुभवकल्पनायां सर्वः सर्वदा सर्वं जानाति न तु निश्चिनोतीति किं न स्यात्? भ्रान्तिवशात् तद्विपरीत-विशेषनिश्चयेऽनुभूतविशेषानिश्चय इति चेन्न, अनुभववैपरीत्ये निश्चयस्य सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्र च विपरीतस्याप्य-निश्चयस्तत्र का वार्ता? यथा पराचीनैर्भागैरर्वाचीनानां संयोग-

---

(साक्षात्कारी ज्ञान) नहीं होता है। अतः वासनाका उद्भव निश्चयका हेतु नहीं हो सकता।

एवं अनुभवानुरूप निश्चय नहीं होनेपर भी यदि अनुभवकी कल्पना की जाय तो यह भी क्यों न हो जाय कि—सभी सर्वदा सबको जानते हैं, किन्तु उसका केवल निश्चय भर नहीं करते। अर्थात् सभी सर्वज्ञ हो जायँगे। यदि कहो कि—अनुभवके बाद निश्चय होता ही है, यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभवके अनन्तर भ्रमवश जहाँ विपरीत निश्चय हो जाता है, वहाँ अनुभूत विषयका निश्चय नहीं होता है। जैसे, शुक्तिविषयक निर्विकल्पक अनुभवके बाद रजतका भ्रमात्मक निश्चय हो जानेपर शुक्तिविषयक सविकल्पक निश्चय नहीं होता—तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि अनुभव कुछ और निश्चय कुछ, इस प्रकार निर्विकल्पक अनुभवके विपरीत भी सविकल्पक निश्चय हुआ करे तो सर्वत्र निर्विकल्पक अनुभवोंके प्रति अविश्वास हो जायगा। क्योंकि निर्विकल्पकके स्वयं अतीन्द्रिय होनेसे उसकी कल्पनाका एकमात्र सवि-कल्पक ही आधार होता है। इसलिये ज्ञापक ही जब विपरीत हो जायगा तब उसके आधारपर अतीन्द्रिय निर्विकल्पकका ज्ञान कैसे हो सकेगा? अपने पक्षमें जो शुक्ति-रजतका दृष्टान्त दिये हो, वह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि रजतभ्रमस्थलमें शुक्तिका निर्विकल्पक अनुभव पहले हुआ ही नहीं रहता है, बल्कि धर्मी—इन्द्रियके सन्निकर्ष होते ही स्मर्यमाण रजतका एक ब एक विपरीत निश्चय ही उत्पन्न हो जाता है।

एवं, जहाँ अनुभवानन्तर विपरीतका भी निश्चय नहीं हुआ, वहाँपर अनुभवानुरूप निश्चयके नहीं उत्पन्न होनेका क्या हेतु बताओगे? जैसे,

विभागयोरिति ॥

॥ इति गुणगुणिभेदभङ्गवादः ॥

किसी पदार्थके परवर्ती भागोंके साथ अर्वाग्वर्ती भागोंका जो संयोग-विभाग होता है, वह प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-वस्तुवृत्ति होनेके कारण वायु-वनस्पतिके संयोग-विभागके समान अप्रत्यक्ष होता है तथा उसका निर्विकल्पक ग्रहण तुम मानते हो, साथ ही वहाँ कोई विपरीत निश्चय भी नहीं होता है। ऐसी परिस्थितिमें उस संयोग-विभागका अनुभवानुरूप निश्चय क्यों नहीं होता है ? अतः पूर्वोक्त अनुभवोंके द्वारा गुण-गुणिभेदके निश्चित हो जानेसे गुण-गुणिभेदभङ्गके आधारपर आत्माकी सत्ताका खण्डन नहीं किया जा सकता है ॥

इति गुण-गुणिभेदभङ्गवादनिरासः

अथानुपलम्भवादः

अस्तु तर्हि नैरात्म्यम्, अनुपलब्धेरिति चेन्न—
सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः।
दृश्यत्वविशेषणान्नैवमिति चेन्न, तदसिद्धेः। परोपगम-

अनुपलम्भवादका खण्डन

आशङ्का—पूर्वोक्त तीनों हेतुओंसे आत्माका अभाव भले ही सिद्ध न हो सके फिर भी अनुपलब्धि-हेतुसे ही आत्माका अभाव सिद्ध हो जायगा। अर्थात् आत्मा नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती है, जैसे उपलब्धि नहीं होनेसे शशविषाणका अभाव होता है।

समाधान—अनुपलब्धिसे भी आत्माका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि यहाँ अनुपलब्धिसे सब व्यक्तियोंकी अनुपलब्धि विवक्षित है? अथवा पुरुषविशेष (बौद्धादि) की? यदि प्रथमकल्प हो तो अनुपलब्धि-हेतु सन्दिग्धासिद्ध हो जायगा। क्योंकि सभीको आत्माकी अनुपलब्धि है—यह निश्चय कैसे हो सकेगा? कारण, दूसरेके ज्ञान-अज्ञानको दूसरा नहीं समझ सकता है। यदि दूसरा कल्प हो तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, पुरुष विशेषकी अनुपलब्धि व्यभिचारी है। अर्थात् व्यक्तिविशेषको अनुपलब्ध होनेसे भी वस्तुका अभाव नहीं हो जाता है। कारण, सम्भव है, इन्द्रिय-दोषादिके कारण उसे उपलब्धि नहीं होती हो।

यदि कहो कि—दृश्यत्व-विशेषणके साथ अनुपलब्धिको हेतु माननेसे उक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा। अर्थात् प्रत्यक्षद्वारा देखने योग्य होनेपर भी जिस वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है, उसका निश्चित ही अभाव होता है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि तुम्हारे मतमें आत्माका दृश्यत्व असिद्ध है। अर्थात् तुम आत्माको दृश्य नहीं मानते हो। यदि दृश्य मानो तो वह सिद्ध ही हो गया, उसका अभाव कहाँ हुआ?

सिद्धेरदोष इति चेन्न, स्वतन्त्रसाधनत्वात्। यदि परः सहसैव नैवमभ्युपगच्छेत्, नूनं साधनमिदं मूर्छेत्। यदि च परो दृष्टिमवधूय दृश्यं तमभ्युपगच्छेत्, एवमपि सम्भवेत्। न चैवं शक्यम्; तस्य तदुपहितरूपत्वादिति संक्षेपः। विस्तरस्त्व-सन्तोऽक्षणिका इतिवदूहनीयम्।

यदि कहो कि—नैयायिक आत्माको दृश्य मानते हैं, इसलिये उनके अभ्युपगमको लेकर दृश्यत्व विशेषण होनेसे कोई दोष नहीं है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि अनुमान एक स्वतन्त्र साधन है, अतः दूसरेके अभ्युपगमके आधारपर उसकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। तर्क ही ऐसी वस्तु है, जो दूसरेके अभ्युपगमके आधार पर प्रवृत्त होता है। क्योंकि उसके द्वारा दूसरेके अभ्युपगममें अनिष्टका आपादान (प्रसङ्ग) किया जाता है। इसका कारण यह है कि यदि दूसरेके अभ्युपगमके आधारपर अनुमान किया जाय तो कदाचित् वह दूसरा व्यक्ति वैसा अभ्युपगम ही न करे तो निश्चय ही वह हेतु मूर्च्छित हो जायगा, अर्थात् स्वरूपासिद्ध हो जायगा।

एवं, यदि दूसरा (नैयायिक) दृष्टिके (उपलब्धिके) अभावमें भी आत्माको दृश्य माने तो "दृश्यत्वे सति अनुपलब्धेः" इस हेतुको नैयायिकके अभ्युपगमके आधारपर ही सिद्ध मानकर उक्त अनुमान संभव होता। किन्तु नैयायिक भी दृष्टि (उपलब्धि) के अभावमें अर्थात् अनुपलब्धिकी दशामें तो आत्माको दृश्य मान ही नहीं सकता है। क्योंकि दृश्य वही है जो दृष्टिसे उपहित हो। अर्थात् जिसका दर्शन (उपलम्भ) होगा, वही दृश्य कहा जा सकता है। इसलिये यदि आत्मा दृश्य होगा, तो उसकी अनुपलब्धि नहीं हो सकती और यदि अनुपलब्धि होगी तो उसमें दृश्यत्व-विशेषण नहीं सिद्ध हो सकता। इस प्रकार "दृश्यत्वे सति अनुपलब्धेः" यह हेतु सर्वथा असिद्ध है। यह संक्षेपमें कहा गया। विशेष विस्तारको तो पूर्वमें कहे गये "जो क्षणिक नहीं है अर्थात् स्थिर है, वह असत् है" इस अनुमानके समान ही स्वयं समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वहां कहा गया है कि "यदि स्थिर-वस्तुरूप पक्ष सिद्ध है, तो उसमें असत्त्व-साध्यका बाध हो जायगा,

अथात्मसद्भावे किं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमेव तावत्, अहमिति विकल्पस्य प्राणभृन्मात्रसिद्धत्वात्। न चायमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, अशाब्दत्वादप्रतिक्षेपाच्च। न च लैङ्गिकः, अननुसंहितलिङ्गस्यापि स्वप्रत्ययात्। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदनुपपत्तेः।

यदि असिद्ध है तो आश्रयासिद्धि हो जायगी" वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये कि "आत्मा नास्ति, अनुपलब्धेः" इस अनुमानमें आत्मारूप पक्ष यदि सिद्ध है तो आत्माका अस्तित्व ही सिद्ध हो जाता है, इससे "नास्ति" इस साध्यका बाध हो गया। यदि आत्मारूप पक्ष सिद्ध नहीं है तो पक्षके असिद्ध होनेसे उक्त अनुमान ही नहीं हो सकेगा॥

आत्माके सद्भावमें साधक प्रमाण

इसके बाद प्रश्न उठता है कि—आत्माके सद्भावमें पूर्वोक्त बाधक भले ही न हो सके, किन्तु उसके सद्भावका (अस्तित्वका) साधक प्रमाण क्या है ? अर्थात् आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण नहीं होनेसे भी नैरात्म्यवाद स्वतः सिद्ध हो जायगा—तो इसका उत्तर यही है कि आत्माकी सत्तामें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। क्योंकि "अहम्" ऐसा सविकल्पक प्रत्यक्ष प्राणीमात्रको होता है, जिसमें विषयरूपमें आत्मा ही भासित होता है। यह नहीं कह सकते कि—उक्त "अहम्" यह प्रतीति वस्तुके बिना ही होती है, अथवा सन्दिग्ध वस्तु ही उसका विषय बनता है—क्योंकि "अहम्" यह प्रतीति न तो शाब्द ही है और न तो आगे चलकर कभी बाधित ही होती है, जिससे वह प्रतीति अवस्तुक हो या सन्दिग्धवस्तुक हो। अर्थात् यदि अबाधित होनेपर भी "अहं-प्रत्यय" अवस्तुक हो तो सभी नीलादि-प्रत्यय अवस्तुक होने लगेंगे।

"अहं-प्रत्यय" लैङ्गिक (अनुमान) भी नहीं है, क्योंकि लिङ्ग (व्याप्य) का अनुसन्धान हुए बिना भी "अहम्" ऐसी अपनी प्रतीति सबको हुआ करती है। अहम्-प्रतीति स्मृतिरूप भी नहीं है, क्योंकि पूर्वमें अनुभव हुए बिना स्मृति नहीं हो सकती है।

यदि कहो कि—आधुनिक-वासनाके प्रभावसे जो स्मृति होती है,

अनादिवासनावशादनादिरयमवस्तुको विकल्प इत्यपि न युक्तम्, नीलादिविकल्पसाधारण्यात्। इह वासनामुपादायानाश्वासे प्रमाणान्तरेऽपि कः समाश्वासो यतो नीलादिविकल्पेषु समाश्वासः स्यात्।

तस्माद् वासनामात्रवादं विहायागन्तुकमपि किञ्चित् कारणं वाच्यम्, तच्चाप्तानाप्तशब्दौ वा लिङ्गतदाभासौ वा प्रत्यक्षतदाभासौ वेति। तत्र यथा प्रथममध्यमप्रकाराभावान्नीलविकल्पश्चरमं कल्पमालम्बते, तथाऽहमिति विकल्पोऽपि।

उसके लिये मूलभूत अनुभवकी अपेक्षा है। किन्तु अनादिवासनाके कारण होनेवाला "अहम्" यह विकल्प अनादि है और वस्तुशून्य है—तो यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि अनादि वासनाको मानकर यदि 'अहम्' प्रतीतिको वस्तुशून्य और अविश्वसनीय माना जाय तो और प्रमाणोंका भी क्या विश्वास कि उनके द्वारा होनेवाली नीलादि-प्रतीतियों पर विश्वास किया जा सके। अर्थात् प्राणीमात्रको होने वाली "अहम्" इस प्रत्यक्ष-प्रतीतिको अविश्वसनीय माननेपर नीलादिविषयक सभी प्रतीतियाँ अविश्वसनीय हो जायेंगी और हमारा सम्पूर्ण व्यवहार लुप्त हो जायगा।

इसलिये "उक्त प्रतीतियोंका कारण वासनामात्र है" इस बातको छोड़कर कुछ आगन्तुक भी कारण मानना होगा। और वह आगन्तुक कारण आप्त और अनाप्त शब्द हो या लिङ्ग और लिङ्गाभास हो अथवा प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास हो। इन आगन्तुक कारणोंमें जैसे प्रथम और द्वितीय प्रकारोंको छोड़कर नीलादि-प्रतीतिका आधार प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासरूप अन्तिम प्रकार है, वैसे ही "अहम्" प्रतीतिका भी आधार निर्विकल्पात्मक प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षाभास होगा। इन दोनोंमें भी यदि "अहम्" प्रतीतिको निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अव्यवहित उत्तरकालमें उत्पन्न माना जाय तो उस निर्विकल्पके समान ही "अहम्" यह सविकल्पक प्रतीति भी साक्षात् ही सवस्तुक सिद्ध हो जाती है। यदि तो "अहम्" प्रतीतिका मूल निर्विकल्पक प्रत्यक्षको न मानकर प्रत्यक्षा-

तत्रायं प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः, तदाभासे तु मूलेऽस्य पारम्पर्यात् सवस्तुतेति ।

न च बाह्यप्रत्यक्षनिवृत्तावेव निर्मूलत्वम्, बुद्धिविकल्पस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । तत्र स्वसंवेदनं मूलमिहापि मानसप्रत्यक्षमिति न कश्चिद् विशेषः ।

शरीरादिवस्तुको भविष्यतीति चेन्न, निरूपाधिशरीरेन्द्रिय-

भासको माना जाय तो भी परम्परया "अहम्" प्रतीति सवस्तुक सिद्ध हो जाती है । क्योंकि किसी भी भ्रमात्मक ज्ञानके मूलमें प्रमात्मक ज्ञान भी अवश्य होता है । जैसे, मिथ्यासर्पका ज्ञान तभी होता है, जबकि वास्तविक सर्पज्ञान भी कहीं है ।

यह भी नहीं कह सकते कि—यदि आत्मा होता तो नीलादिके समान बहिरिन्द्रियोंके द्वारा जाना जाता । किन्तु आत्मविषयक बाह्यप्रत्यक्षकी निवृत्ति होनेसे ही यह समझा जाता है कि "अहम्" यह विकल्प सर्वथा निर्मूल है । अर्थात् परम्परया भी कोई निर्विकल्पकज्ञान इसका मूल नहीं है । अतः मूलभूत निर्विकल्पकके अभावमें 'अहम्' प्रतीति वस्तुशून्य है—क्योंकि आपका बुद्धि-विकल्प (बुद्धिकी प्रतीति) भी तब निर्मूल हो जायगा और बुद्धिकी भी सत्ता नहीं सिद्ध हो सकेगी । कारण, उसका भी बाह्य-प्रत्यक्ष नहीं होता है ।

यदि कहो कि—बुद्धि स्वप्रकाश है, इसलिये अपनी सत्तामें वह स्वयं प्रमाण है । आत्मा तो जड़ होनेसे अपनी सत्तामें अपने आप प्रमाण नहीं हो सकता, अतः बुद्धि-प्रतीतिका मूल है उसका स्वप्रकाश होना—तो "अहम्" प्रतीतिका भी मूल आत्माका मानस-प्रत्यक्ष ही है । इस प्रकार दोनोंके समूल होनेमें कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् आत्माकी सत्तामें मानस-प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ।

यदि कहो कि—'अहम्' प्रतीतिका विषय शरीर आदि होगा न कि अतिरिक्त चेतन आत्मा—तो यह नहीं कह सकते । क्योंकि बिना किसी उपाधि (विशेषण) के शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि या इनका समुदाय यदि "अहम्" प्रतीतिका विषय हो तो अतिव्याप्ति हो जायगी । अर्थात् दूसरे

बुद्धितत्समुदायालम्बनत्वेऽतिप्रसङ्गात् स्वसम्बन्धिशरीरादावयं स्यादिति वाच्यम्, तत्र कः स्वार्थ इति वचनीयम्। अनन्यत्वं स्वत्वं सर्वभावानाम्, तथा च यदा तेनैव तदनुभूयते तदा प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादव्यतिरेकादहमिति स्यात्। अतएव घटादयो न कदाचिदनन्यानुभवितृका इति न कदाप्यहमास्पदमिति चेत्, एवन्तर्हि त्वन्मतेऽप्यहंप्रत्ययः शरीरादावारोपरूप एव, ततः प्रत्येतुरन्यत्वात्।

के शरीरादिके लिये भी "अहं गौरः काणः" आदि प्रतीति होने लगेगी। अतः इस दोषसे बचनेके लिये स्वसम्बन्धी जो शरीरादि, उसे ही इस 'अहम्' प्रत्ययका विषय कहना होगा। अतः उसमें स्वशब्दका क्या अर्थ है ?—यह कहना चाहिये। अर्थात् वहां स्वशब्दका अर्थ आत्मा ही कहना होगा। इसलिए जिस आत्मा का जो शरीर सम्बन्धी होगा, उस आत्माको उस शरीरमें "अहं गौरः" यह प्रतीति होगी। इस प्रकार शरीरसे अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि हो गयी।

यदि कहो कि—अनन्य (अभिन्न) होना ही सभी भाव-पदार्थोंका स्वत्व है। अर्थात् अभिन्नमें स्वशब्दका प्रयोग होता है। यद्यपि सामान्यतः अभिन्न कहनेमें भी अतिप्रसङ्गदोषसे छुटकारा नहीं हो पाता है, फिर भी विशेषरूपसे यों कहा जायगा कि जब उसीके द्वारा उसीका अनुभव होता है, तब अनुभविता और अनुभूयमानके अभिन्न होनेसे उस अनुभविताके लिये वह अनुभूयमान पदार्थ 'स्व' कहा जायगा तथा उसमें 'अहं' की प्रतीति होगी। यही कारण है कि घट आदि कभी भी अनन्यसे अर्थात् अपने आप अनुभूयमान नहीं होते, इसीलिये कभी भी वे अहं-प्रतीतिके आस्पद (विषय) नहीं होते हैं—तो इस प्रकार तुम्हारे मतमें भी शरीरादिमें अहंप्रत्यय आरोपात्मक ही है, वास्तविक नहीं। क्योंकि घटादिके समान शरीरादिका भी अनुभविता दूसरा ही है, स्वयं शरीर नहीं है। इसलिये अहं-प्रतीतिका विषय शरीर आदि को कहना असङ्गत है।

बुद्धौ मुख्य एवेति चेन्न, तस्याः क्रियात्वेनानुभूयमानाया भिन्नस्य कर्तुरहं छिनद्मीतिवत् अहं जानामीत्यनुभवात् । नीलादि-प्रत्येतव्याकारवत् प्रतिपत्त्या[1]कारोऽपि प्रतिपत्तेरेवायमात्मा तथा भासत इति चेत्, तर्हि प्रत्येतव्यप्रतिपत्त्या[1]कारयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् सिद्धं नः समीहितम् ।

अस्तु स्वोपादानमात्रमिति चेन्न, तत्प्रतिभासने तदाकारस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्, आकारमन्तरेणाकारिणोऽनवभासात् ।

यदि कहो कि—बुद्धिरूपविषयमें 'अहं' प्रत्यय मुख्य ही है। अर्थात् 'अहं' प्रत्ययका विषय बुद्धि है, अतः अतिप्रसङ्गदोष भी नहीं होगा—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि बुद्धि तो छिदा आदिके समान क्रियारूपमें ही अनुभूयमान होती है। इसलिये जैसे 'छिनद्मि' इस व्यवहारमें छिदाक्रियासे भिन्न कर्ताका अनुभव होता है, वैसे ही "जानामि" इस व्यवहारमें भी ज्ञानक्रियासे भिन्न कर्त्ताका अनुभव होता है, और वही ज्ञानका आधारभूत आत्मा है।

यदि कहो कि—जैसे, नीलादिरूप प्रत्येतव्यका आकार प्रतिपत्ति (ज्ञान) का ही आत्मा है, उसी प्रकार प्रतिपत्ताका आकारभूत अहन्त्व भी प्रतिपत्तिका ही आत्मा होता हुआ "जानामि" इति व्यवहारमें भासित होता है—तब तो नीलादि प्रत्येतव्य-आकार और अहंरूप प्रतिपत्ता-आकार इन दोनोंका तुल्य योगक्षेम होनेसे हमारा अभीष्ट सिद्ध ही हो गया। अर्थात् जैसे, नीलादि विषय प्रतीतिसे भिन्न है, वैसे ही प्रतिपत्ता (आत्मा) भी प्रतीतिसे भिन्न ही प्रतीतिका आकार भासित होता है, यह सिद्ध हो गया। नीलका प्रतीतिसे भिन्नत्व द्वितीय प्रकरणमें सिद्ध किया जा चुका है।

यदि कहो कि—अहमाकार प्रतिपत्तिका उपादानकारणभूत जो प्रतिपत्त्यन्तर है, वही अहंरूपसे भासित होता है, अतिरिक्त आत्मा नहीं—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि उपादानभूत उस प्रतिपत्तिके भासित होनेपर उसके नीलादि-आकारका भी अहं-प्रतीतिमें भान होने लगेगा।

---

१ प्रतिपत्त्राकार इति पाठ उचितः ।

प्रवृत्तिसन्तानान्यो बुद्धिसन्तानः प्रतिपत्ता, वयं तमालयविज्ञानमाचक्ष्महे इति चेत्, अस्तु तर्हि प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमनादिनिधनः प्रतिपत्ता । स किं सन्तन्यमानज्ञानरूपस्तद्विपरीतो वेति चिन्ताऽवशिष्यते, निःशेषिता चासौ प्रागिति ॥

कः पुनरत्र न्यायः ? प्रतिसन्धानम् ॥

क्योंकि आकारको छोड़कर आकारीका भान नहीं होता है। अर्थात् अहमाकार प्रतिपत्तिका उपादानकारणभूत प्रतिपत्त्यन्तर यदि नीलादिविज्ञान हो और वही अहं-प्रतीति में भासित होता हो तो नीलादिविज्ञानके साथ साथ नीलादि-विषयका भी अहं-प्रतीतिमें नियमतः उल्लेख होना चाहिये।

यदि कहो कि—नीलादिविज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है, अतः प्रवृत्तिविज्ञानकी धारासे भिन्न जो विज्ञानधारा है, वही अहं-प्रत्ययका उपादानकारण है तथा वही प्रतिपत्ताके रूपमें अहं-प्रतीतिमें भासित होता है। उस विज्ञानधाराको हम आलयविज्ञानकी धारा कहते हैं। एवं उस आलयविज्ञानका आकार अहन्त्वमात्र होनेसे अहं-प्रतीतिमें नीलाकारका भानप्रसङ्ग नहीं होगा—तो जिस प्रकार प्रवृत्तिविज्ञान अनादि अनन्त होता है, वैसे ही उसका उपादानकारणभूत आलयविज्ञानसन्तान भी अनादि अनन्त ही होगा। ऐसी स्थितिमें वह आलयविज्ञानका सन्तान (धारा) सन्तन्यमान-विज्ञानरूप होगा या उससे भिन्न होगा ? यह चिन्ता शेष रह जाती है और उसे भी क्षणभङ्गका निराकरण करते समय प्रथम प्रकरणमें ही दूर कर चुका हूँ। अर्थात् आत्माका ज्ञानरूपत्व और क्षणिकत्व खण्डित किया जा चुका है, इसी लिये सन्तन्यमान ज्ञानसे अतिरिक्त अनादि-अनन्त स्थिर आत्माकी सिद्धि हो जाती है ॥

आत्मसिद्धिमें अनुमानप्रमाण

(प्रश्न)—क्षणभङ्ग सिद्ध हो या नहीं, स्थिर आत्माकी सिद्धिमें अनुमान क्या है ?

(उत्तर)—प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) ही वह अनुमान प्रमाण है,

तथ्यमिदमित्यसिद्धमतथ्यञ्च विरुद्धम्, अविशिष्टमनैकान्तिकमिति चेन्न, हेत्वर्थानवबोधात्। न हि प्रत्यभिज्ञानमात्रमत्र विवक्षितम्। तत् किं कार्यकारणयोरेकसन्तानप्रतिनियमः? सोऽपि विरुद्ध इति चेत्, एषोऽपि न विवक्षितो नः। कस्तर्हि?

जिसके द्वारा स्थिर आत्माकी सिद्धि होती है। अर्थात् प्रतिसन्धान भी यद्यपि प्रत्यक्ष-प्रमाण ही है, फिर भी उसका प्रयोग अनुमानकी छायासे ही करना चाहिये। जैसे, "योऽहं रूपमद्राक्षं स एवाहमधुना स्पृशामि" इस अहम्-प्रतीतिका विषय कोई स्थिर आत्मा है, क्योंकि पूर्वकाल और परकालमें "अहम्" यह प्रत्यभिज्ञा होती है। जिस प्रकार "वही यह घट है, जिसे कल देखा था" इस प्रत्यभिज्ञाका विषय घट स्थिर होता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञारूप हेतुसे अनुमानद्वारा भी स्थिर आत्माकी सिद्धि हो जाती है।

यदि यह कहो कि—तथ्य (प्रमात्मक) प्रत्यभिज्ञाको हेतु माना जाय तो वह स्वरूपासिद्ध होगा। क्योंकि क्षणिकविज्ञानको आत्मा मानने वालेकी दृष्टिमें आत्माविषयक उक्त प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) तथ्य नहीं है। कारण, उक्त प्रतिसन्धानद्वारा आत्माका स्थिरत्व प्रतिपादित हो जाता है, जो उसे अमान्य है। यदि उक्त प्रतिसन्धान अतथ्य हो तो वह विरुद्ध हेतु होगा। कारण, जो प्रतिसन्धान स्वयं अतथ्य (भ्रम) है, उससे स्थिर आत्मा कैसे सिद्ध होगा? यदि उक्त प्रतिसन्धान न यथार्थ हो और न भ्रम ही हो, किन्तु अविशिष्ट अर्थात् भ्रम-प्रमा उभय-साधारण हो तो वह व्यभिचारी हेतु होगा। अर्थात् जैसे, "सैवेयं दीपकलिका" यह प्रत्यभिज्ञा क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील दीपज्वालाके स्थिरत्वमें प्रमाण नहीं होती है, वैसे ही उक्त प्रत्यभिज्ञा भी आत्माके स्थिरत्वमें प्रमाण नहीं हो सकती है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि तुम हमारे प्रत्यभिज्ञारूप हेतुका अर्थ नहीं समझ सके हो। कारण, यहां हेतुके रूपमें प्रत्यभिज्ञानमात्र नहीं विवक्षित है किन्तु "योहं रूपमुपलब्धवान् सोऽहं स्पृशामि" इन पूर्वापर प्रतीतियोंका एक सन्तान (धारा) गत होना ही विवक्षित है। अर्थात् इससे एक-धारावाही स्थिर वस्तुका नियमतः रहना सूचित होता है।

यदि कहो कि—यह भी हेतु विरुद्ध ही है। अर्थात् पूर्व-प्रतीतिसे पर-

पूर्वापरधियामेककर्तृतया विनिश्चयः। एषोऽपि तासामुपादानोपादेयभावेनाप्युपपद्यत इति चेन्न, स्थैर्यास्थितौ तदभावात्। क्षणिकत्वेऽपि नैकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरेवोपादानोपादेयभावः, शिष्याचार्यधियामपि तथाभावप्रसङ्गात्।

भेदाग्रहे सतीति चेन्न, प्रकृतेऽपि तदभावात्। शरीरभेदाग्रह-

प्रतीति नियमतः भिन्न होती है। इसलिये पूर्वापर प्रतीतियोंके सन्तानसे भी एक अभिन्न स्थिर आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता है—तो यह भी मेरा विवक्षित नहीं है। किन्तु "योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामि, योऽहं घटमन्वभवं सोऽहं स्मरामि" इत्यादि व्यवहारोंमें पूर्वापर प्रतीतियोंका एककर्तृकत्व-निश्चय ही स्थिर आत्माकी सिद्धिमें हेतु है। अर्थात् उक्त पूर्वापर प्रतीतियोंका विषय एक स्थिर आत्मा है, क्योंकि उनका अनेक कर्ता नहीं होनेसे एक ही कर्ता निश्चित होता है। कारण, चैत्रके अनुभवसे मैत्रको कदापि स्मरण नहीं होता।

यदि कहो कि—यह भी उन प्रतीतियोंमें परस्पर उपादानोपादेयभाव होनेसे भी बन सकता है। अर्थात् पूर्वापर ज्ञानोंमें जो एककर्तृकत्वका निश्चय होता है, वह इसलिये भी हो सकता है कि उत्तरज्ञानके प्रति पूर्वज्ञान नियमतः उपादानकारण होता है। इसलिये पूर्वापर ज्ञानोंका आश्रयभूत एकस्थिर आत्माकी कल्पना करना व्यर्थ है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि भावोंका स्थिरत्व सिद्ध किया जा चुका है। अतः स्थिर-पक्षमें पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानका उपादान कारण नहीं हो सकता है, बल्कि स्थिर आत्मा ही पूर्वापरज्ञानोंका उपादान होगा। क्षणिकवादमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि "सजातीयसे सजातीयकी उत्पत्तिका होना ही उपादानोपादेयभाव है" क्योंकि तब शिष्य और आचार्यके ज्ञानोंमें भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा। कारण, आचार्यके ज्ञानसे शिष्यका ज्ञान उत्पन्न होता है और वह उसके सजातीय भी होता है।

यदि कहो कि—भेदाग्रहके साथ साथ सजातीयसे सजातीयकी उत्पत्ति जहां होती है, वहीं उपादानोपादेयभाव होता है। शिष्याचार्यमें तो भेदका ग्रह होनेसे उनके ज्ञानोंमें साजात्य होनेपर भी उपादानोपादेयभावका प्रसङ्ग नहीं होगा—तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि

स्तावदस्तीति चेन्न, भिन्नजन्मज्ञानाव्याप्तेः। अनुपलब्धपितृकेणापि बालेनातिप्रसङ्गात्, घटकपालक्षणयोरतथाभावप्रसङ्गाच्च। एकाधारतया नियम[1] इति चेन्न, तस्य वास्तवस्य क्षणिकत्वपक्षे-

पूर्वापर प्रतीतियोंमें भी भेदका अग्रह नहीं रहता किन्तु भेदका ग्रह ही रहता है। इसलिए उनमें भी आपका अभिमत उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकेगा। यदि कहो कि—बुद्धि-सन्तानमें भी शरीरभेदका तो अग्रह है ही। अर्थात् बुद्धियोंमें भेदग्रह होनेपर भी उपाधिभूत शरीर तो अभिन्न ही रहता है। अतः पूर्वापर प्रतीतियोंमें उपादानोपादेयभाव होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। शिष्याचार्यमें ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहां उपाधिभूत शरीर भिन्न भिन्न हैं, अतः उनकी बुद्धियोंमें उपादानोपादेयभावका प्रसङ्ग नहीं हो सकेगा—तो यह भी नहीं कह सकते हो। क्योंकि भिन्न जन्मकी ज्ञानधारामें उपादानोपादेयभावकी अव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् जातिस्मरताके अनुरोधसे अन्य जन्मकी ज्ञानसन्ततिमें भी तुम उपादानोपादेयभाव मानते हो किन्तु वहां पूर्वजन्मके शरीरका इस जन्मके शरीरके साथ भेदका ग्रह होनेसे उन बुद्धियोंमें उपादानोपादेयभाव नहीं हो सकेगा।

एवं, जिस बालकके पिताका प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, वहां पिता-पुत्रके शरीरोंमें भेदका अग्रह सुतरां सिद्ध है। फिर भी पिता-पुत्रके ज्ञानोंमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता है, किन्तु तुम्हारे नियमानुसार शरीरमें भेदका अग्रह रहनेसे वहाँ भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा। यदि वहाँ उपादानोपादेयभाव इष्ट मानो तो पिताके अनुभवसे पुत्रको स्मरण होने लगेगा। एवं, सजातीयमें ही उपादयोपादेयभाव माननेपर घट और कपालमें साजात्य नहीं होनेसे वहां उपादानोपादेयभावकी अव्याप्ति भी हो जायगी।

यदि कहो कि—एकाधारताके साथ साथ जहां कार्यकारणभाव हो, वहीं उपादानोपादेयभावका नियम है। इसके अनुसार घट-कपालका तथा अपनी बुद्धिधाराका एक आधार होते हुए कार्यकारणभाव होनेसे उनमें तो उपादानोपादेयभाव होगा। किन्तु शिष्याचार्य एवं पिता-पुत्रकी

१ तथा नियम इति २ पु० पा०

ऽपि विषमसमयानां क्षणानामभावात्, काल्पनिकस्य त्वतिप्रसञ्जकत्वात्, शरीरबुद्ध्योरपि समानदेशताभिमानात् । एतेन—

"अभ्रान्तसमतैकावसायः प्रकृतिविक्रिये ।
ततौ हेतुफलस्योपादानोपादेयलक्षणम् ॥"

इति निरस्तम् ।

बुद्धियोंका एक आधार नहीं होनेसे उनमें उपादानोपादेयभावका प्रसङ्ग नहीं हो सकेगा—तो यह भी नहीं कह सकते । क्योंकि क्षणिकवादमें असमानकालिक वस्तुओंका वास्तविक एक आधार नहीं हो सकता । अर्थात् घट-कपालमें देशकृत एकाधारता नहीं हो सकती तथा कालकृत भी एकाधारता नहीं हो सकती है । क्योंकि तुम्हारे मतमें देशकालके क्षणिक होनेसे घट-कालमें कपालका देश और काल दोनों ही नष्ट हो गया रहेगा । ऐसी स्थितिमें दैशिक और कालिक दोनों प्रकारकी एकाधारता नहीं होनेसे घट-कपालमें भी उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकेगा ।

यदि घटकपालमें काल्पनिक एकाधारता मानो तो अतिप्रसङ्गदोष हो जायगा । अर्थात् तन्तु-घट और कपाल-पटमें भी कदाचित् एकाधारताका भ्रम हो सकनेसे तन्तु और घटमें तथा कपाल और पटमें भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा । इसी प्रकार शरीर और बुद्धिमें भी एकदेशताका भ्रम होनेसे शरीर-बुद्धिमें भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा । क्योंकि शरीरके अवयवमें शरीर और बुद्धि दोनोंके आश्रित होनेका भ्रम हो सकता है ।

उक्त दोषके कारण यह कथन भी खण्डित हो गया कि—कारण और कार्यकी सन्ततिमें (परम्परामें) दो प्रकारका उपादानोपादेयभाव होता है । प्रथम, कारण और कार्यमें समानताके कारण अभ्रमात्मक एकाकारताकी प्रतीति और दूसरा, प्रकृति-विकृतिभाव । अर्थात् जहाँ प्रकृति-विकृतिभाव होता है, वहां कारण-कार्यमें उपादानोपादेयभाव होता है । जैसे, काष्ठ और अङ्गारमें । एवं, समानरूपसे होनेवाली भ्रमरहित नीलाद्याकार बुद्धिकी सन्तति (धारा) में भी उपादानोपादेयभाव होता है—क्योंकि घट-कपालमें एकाकारताकी प्रतीति नहीं होनेसे तथा

काष्ठस्य तु[1] प्रकृतेर्विकृतिरङ्गार इति कुतो निश्चितं भवता, यावता वह्नेरेवायं विकारः किं न स्यात् ? वह्निसम्बन्धिकाष्ठादेव तदुत्पत्तेरिति चेन्न, काष्ठसम्बन्धेन वह्नेरेव तदुत्पत्तिरित्यपि किं न कल्प्येत ? पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति निश्चयादिति चेत्, कुत एतत् ? सभागेषु स्वलक्षणेषु[2] तथा दर्शनादिति चेत्, एतदपि कुतः ?

अभ्रान्तसमतैकावसायादिति चेत्, अथ केयं समता नाम ?

विज्ञानसन्ततिमें प्रकृति-विकृतिभाव नहीं होनेसे उक्त दोनों ही लक्षण एक दूसरेके लक्ष्यमें अव्याप्त हैं। एवं, समस्त लक्ष्यमें वर्तमान नहीं होनेसे उक्त दोनों लक्षण अननुगत भी हैं। लक्षणका लक्ष्यमात्रमें अनुगत होना आवश्यक है।

अननुगमके साथ साथ दूसरा दोष यह भी है कि—काष्ठरूप प्रकृतिका अङ्गार विकार है—यही आपने कैसे निश्चय कर लिया है ? जब कि अग्निका ही विकार अङ्गार क्यों न हो सकता है ? यदि कहें कि—अग्निसम्बद्ध काष्ठसे ही अङ्गारकी उत्पत्ति होती है, इसलिये काष्ठका ही विकार अङ्गार है—तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि काष्ठसम्बद्ध अग्निसे ही अङ्गारकी उत्पत्ति होती है, यही कल्पना क्यों न कर ली जाय ? यदि कहें कि—पार्थिव वस्तुका उपादान पार्थिव ही वस्तु होती है, यह निश्चित है। अतः अङ्गारके पार्थिव होनेसे वह पार्थिव काष्ठसे ही उत्पन्न हो सकता है, न कि तेज (अग्नि) से—तो यह भी क्यों है ? अर्थात् सजातीयका सजातीय ही उपादान कारण होता है, यह निश्चय भी आपको कैसे है ? यदि कहें कि—सजातीय वस्तुओंमें वैसा ही देखा जाता है। इसलिये काष्ठ-अङ्गार आदि स्थलमें साजात्य ही उपादानोपादेयभावका नियामक है—तो वैसा देखे जानेका भी क्या कारण है ?

यदि कहें कि—सजातीय कारण-कार्यकी सन्ततिमें समताके कारण अभ्रमात्मक एकाकारताकी प्रतीति होनेसे ही वैसा देखा जाता है—

---

१. च इति दीधितिसम्मतः पाठः। २. लक्षणेषु इति २ पु० पा०

यदि साजात्यं सादेश्यं वा, तत् प्राङ्निरस्तम् । एकसन्तानत्वं चेत्, तदपि तदुत्पत्तिमात्रं चेत्, निमित्तनैमित्तिकयोरपि तथाभावप्रसङ्गः[1] । उपादानोपादेयभावश्चेत्, कथं तेनैव तद्व्यवस्थाप्येत ? ज्ञानेषु तत्प्रतिसन्धानमेवोपादानोपादेयलक्षणमिति चेन्न, आत्माश्रयप्रसङ्गात् ।

तो बतावें कि यह समता क्या वस्तु है ? यदि कहें कि—साजात्य या समानदेशत्व ही समता है—तो यह दोनों पूर्वमें खण्डित हो चुका है । अर्थात् यदि साजात्य समता है तो साजात्यसे ही साजात्यका निरूपण किये जानेसे आत्माश्रय-दोष हो जायगा । एवं, यदि समानदेशत्व समता हो तो पूर्वोक्त एकाधारताके खण्डनसे ही खण्डित है ।

यदि कहो कि—एक-सन्तान (एकधारा) रूप होना ही समता है—तो उसका भी अभिप्राय यदि उस कारणसे उस कार्यका उत्पन्न होना हो तो निमित्तनैमित्तिकमें भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा । अर्थात् निमित्तकारणसे भी कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिये निमित्त भी उपादान होने लगेगा । यदि कहें कि—एक सन्तानका अभिप्राय उत्पत्तिमात्र नहीं है किन्तु उससे उपादानोपादेयभाव विवक्षित है—तो उपादानोपादेयभावसे ही उपादानोपादेयभावका व्यवस्थापन कैसे हो सकेगा ?

यदि कहें कि—ज्ञानोंके सम्बन्धमें उनका प्रतिसन्धान ही उपादानोपादेयभाव है । अर्थात् घट-कपालादिके सम्बन्धमें जैसा भी उपादानोपादेयभाव हो किन्तु ज्ञानोंके सम्बन्धमें तो उन्हीं ज्ञानोंमें उपादानोपादेयभाव होगा, जिनमें एककी प्रत्यभिज्ञा (प्रतिसन्धान) अन्य ज्ञानके द्वारा होती है । क्योंकि क्षणिकविज्ञानवादके अनुसार क्षणिक विज्ञानधाराओंमें पूर्वविज्ञानका प्रतिसन्धान उससे उत्पन्न होने वाले उत्तरविज्ञानके द्वारा ही होता है । इसीलिये पूर्वविज्ञान और उत्तरविज्ञानमें उपादानोपादेयभाव होता है—तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तब आत्माश्रय दोष हो जायगा । अर्थात् प्रतिसन्धानका नियामक उपादानोपादेयभावको मानते हो और उपादानोपादेयभावका स्वरूप प्रतिसन्धानको बताते

---

१. प्रसङ्गात् इति २ पु० पा० ।

तद्योग्यतेति चेत्, सैव केति चिन्त्यम्। शक्तिविशेष इति चेत्, स तावन्न प्रतिक्षणनियतः। यथा हि तेन तत्कर्तव्यं तथा तादृशापि तत्कर्तव्यमित्यपि नियम एव। अन्यथा तेन तत्कृतमित्यपि न निश्चीयेत, क्षणस्य दुरुन्नेयत्वात्। तथा च निरीहं

हो। इस प्रकार स्वयं स्वयंका ज्ञापक होनेसे आत्माश्रय दोष स्पष्टतः हो जाता है।

यदि कहें कि—प्रतिसन्धानकी योग्यता उपादानोपादेयभावका लक्षण है—तो प्रतिसन्धानकी योग्यता ही तो विचारणीय है कि वह क्या वस्तु है ? अर्थात् जो स्वयं विचारकोटिमें है, वह किसीका लक्षण (परिचायक) कैसे हो सकता है? यदि कहें कि—बुद्धियोंकी विशेषप्रकारकी शक्ति ही प्रतिसन्धान-योग्यता है। अर्थात् बुद्धियोंमें एक विशेष शक्ति होती है, जिससे कार्यकारणभावापन्न बुद्धियोंमें प्रतिसन्धानका नियम रहता है। किन्तु शिष्याचार्यकी बुद्धियोंमें या पिता-पुत्रकी बुद्धियोंमें वह शक्ति-विशेष नहीं रहता है, इसीलिये वहां प्रतिसन्धान नहीं होता है—तो वह शक्तिविशेष प्रतिक्षण नियत नहीं हो सकता है। क्योंकि शक्तिविशेष कारणत्वरूप ही है तथा उसके अननुगत होनेसे प्रत्येक क्षणिक-व्यक्तिमें उसका ज्ञान होना असंभव है।

एवं, जैसे उस व्यक्तिके द्वारा वह कार्य होता है, वैसे ही उस व्यक्तिकी जातिके द्वारा भी वह कार्य होता है—यह भी नियम ही है। अर्थात् जो व्यक्तिविशेष कारण होता है, उस जातिका दूसरा व्यक्तिविशेष भी कारण होता ही है—यह भी नियम ही है। अतः शक्तिविशेष (कारणता) प्रति-व्यक्ति नियत ही होता है—यह कथन असंगत है। क्योंकि उक्त रीतिसे कारणता व्यक्तिके समान जातिसे भी नियत होती है। यदि कारणता जातिनियत न मानी जाय, अर्थात् कारणतावच्छेदक कोई जाति न मानी जाय, तो "अमुक कार्य अमुक व्यक्तिके द्वारा किया गया है" यह भी निश्चय करना असंभव हो जायगा। क्योंकि क्षणका या अनागतादि क्षणिकव्यक्तिका ज्ञान ही कठिन है। ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण जगत् चेष्टा-रहित हो जायगा। क्योंकि कारणताका ज्ञान नहीं होनेसे वस्तुओंमें इष्ट-साधनता या अनिष्टसाधनताका ज्ञान नहीं होगा तथा उसके बिना प्रवृत्ति

जगज्जायेत, आकस्मिकञ्च कार्यस्य तादृशत्वमापद्येत । तथा च न नियम उपलभ्येत[१] । नापि प्रतिसन्ताननियतः (शक्तिविशेषः), विशेषाभावात् ।

अस्तु वैजात्यमिति चेन्न, अनुपलब्धिबाधितत्वात् । न हि

या निवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकेगी। एवं कारणकी नियत जाति नहीं माननेपर कार्यकी नियतजातीयता भी आकस्मिक (निर्मूल) हो जायगी। ऐसी स्थितिमें "धूमजातीय वह्नि-जातीयका कार्य (जन्य) है" यह नियम नहीं बन सकेगा। आशय यह है कि कारण और कार्यकी नियत-जाति अवश्य माननी होगी। अतः प्रतिसन्धानके प्रति भी बुद्धित्वरूप से ही कारणता माननी पड़ेगी। इसप्रकार शिष्याचार्यके बुद्धियोंमें भी बुद्धित्वजातिके होनेसे परस्पर प्रतिसन्धातृ-प्रतिसन्धेयभाव होने लगेगा।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि—उक्त शक्तिविशेष प्रतिसन्तान-नियत है। अर्थात् कार्यकारणभाव (उपादानोपादेयभाव) अथवा प्रतिसन्धातृप्रतिसन्धेयभाव न प्रतिक्षण (प्रतिव्यक्ति) नियत है और न जातिनियत है, किन्तु प्रत्येक बुद्धि-सन्तान (बुद्धिधारा) में अलग अलग है। इसलिये आचार्यके नीलविषयक बुद्धिसन्तानसे शिष्यका नील-विषयक बुद्धिसन्तान दूसरा ही है। अतः शिष्याचार्यके बुद्धिसन्तानोंमें न उपादेयोपादानभावका और न प्रतिसन्धातृप्रतिसन्धेयभावका ही प्रसङ्ग होगा—क्योंकि आचार्यके नीलबुद्धिसन्तानसे शिष्यके नीलबुद्धिसन्तानमें पार्थक्यकी नियामिका कोई भी विशेषता नहीं है। ज्ञानत्व या सन्तानत्व तो दोनोंकी बुद्धियोंमें समान ही है। इसप्रकार आचार्यबुद्धिका प्रति-सन्धान शिष्यको भी होना चाहिये—यह आपत्ति क्षणिकविज्ञानवादमें यथापूर्व स्थिर ही रह गयी।

यदि कहो कि—वैजात्य ही दोनोंमें विशेषताके रूपमें है। अर्थात् वैजात्य एक जातिविशेष है, जो भिन्न भिन्न बुद्धिसन्तानोंमें भिन्न भिन्न है—तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि उस प्रकारकी कोई जाति

---

१. उपपद्यते इति १ पु० पा०

शिष्याचार्यनीलधियोर्मात्रयाऽपि जातिकृतं विशेषमुपलभामहे। अदृश्यत्वादयमदोष इति चेन्न, दृश्यसमवायिन्या जातेरदृश्यत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा धूमादावपि अवकाशप्रसङ्गात्। तथा चावान्तरसत्त्ववदवान्तरधूम एव वह्नेः कार्यः स्यात् इति शङ्काकलङ्कितत्वात् न (च) धूमसामान्यमग्निं गमयेत्।

एवमेतत्, आद्यस्यैव तथाभावादिति चेन्न, तत्रापि शङ्काया-

उपलब्ध नहीं होती है। कारण, शिष्य और आचार्यकी नीलविषयक-बुद्धियोंमें लेशमात्र भी जातिकृत-विशेषता अर्थात् वैजात्यको हम नहीं पाते हैं। यदि कहो कि—दृश्य वस्तु ही अनुपलब्धिके कारण बाधित हो जाती है। यहाँपर शिष्याचार्य बुद्धियोंमें जो वैजात्य है, वह अदृश्य है, इसलिये अनुपलब्धिके कारण वह बाधित नहीं हो सकता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि दृश्यमें समवायसम्बन्धसे रहने वाली जाति कभी भी अदृश्य नहीं हो सकती है। कारण, दृश्यवर्ती जाति यदि अदृश्य हो तो धूम आदिमें भी अदृश्यजाति रहने लगेगी। ऐसी स्थितिमें क्षणिकविज्ञानरूप अवान्तर आत्माके समान कोई अवान्तर धूम ही वह्निका कार्य होगा—ऐसी आशङ्का उठ जानेसे धूमसामान्यसे अग्निसामान्यकी अनुमिति नहीं हो सकेगी। अर्थात् जैसे, कारणभूत दृश्यज्ञानोंमें प्रतिसन्धानकी प्रयोजिका अदृश्यभूत अवान्तर जाति मानते हो, वैसे ही धूमादि दृश्यकार्योंमें भी वह्निजन्यतावच्छेदिका किसी अवान्तरजातिकी संभावना होनेके कारण धूमसामान्य वह्निसामान्यका कार्य नहीं हो सकेगा और उस धूमसामान्यसे वह्निसामान्यका अनुमान भी नहीं हो सकेगा।

यदि कहो कि—ऐसी ही बात है। अर्थात् अवान्तर-जातिविशेषसे युक्त धूमविशेषसे ही अग्निका अनुमान होता है न कि धूमसामान्यसे। क्योंकि आद्यक्षणवाला धूम ही अग्निसे जन्य है न कि सभी धूम। उत्तर-क्षणवर्ती धूम तो बौद्धमतमें धूमजन्य ही माना गया है—तो धूममें भी वह शङ्का वैसे ही अवस्थित रहेगी। अर्थात् उसमें भी किसी अवान्तर जातिकी शङ्का होनेसे वह भी अग्निका अनुमापक नहीं हो सकेगा।

स्तदवस्थत्वात् । तस्मात् कारणस्य वैजात्ये प्रमाणसिद्धे कार्यस्य सौसादृश्येऽप्यवान्तरजातिभेदः कल्प्यते, हेतुवैजात्यस्य फलवैजात्यं प्रति प्रयोजकत्वात्, अप्रयोजकत्वे तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । कारणसाजात्येऽपि कार्यस्य वैजात्यं सहकारिवैजात्ये पर्यवस्यतीति युक्तमुत्पश्यामः ।

अन्यथा प्रकृते परलोकोऽपि न सिध्येत् । अचेतनोपादानकमपि ज्ञानमवान्तरजातीयं स्यात्, अचेतनमप्यवान्तरजातीयं

इसलिये यदि कारणमें वैजात्य प्रमाणद्वारा सिद्ध हो तो कार्यमें पूर्ण सादृश्य रहनेपर भी अवान्तरजातिभेदकी कल्पना की जाती है। क्योंकि कारणगत वैजात्य कार्यगत वैजात्यके प्रति प्रयोजक होता है। यदि कारणवैजात्यको कार्यवैजात्यका प्रयोजक न माना जाय तो कार्यगत वैजात्य आकस्मिक हो जायगा, जो ठीक नहीं है। यदि तो कारणमें साजात्य होनेपर भी कार्यमें वैजात्य दीख पड़े अर्थात् सजातीय कारणसे भी विजातीय कार्य उत्पन्न हो तो वहां सहकारियोंके वैजात्यके कारण वैसा होता है, यह मेरी कल्पना बिल्कुल ठीक है।

अन्यथा, कारणवैजात्य होनेपर ही यदि कार्यवैजात्यकी कल्पना न की जाय तथा कार्यवैजात्यके प्रति कारणवैजात्यको प्रयोजक न माना जाय तो परलोककी भी सिद्धि न हो सकेगी। अर्थात् प्रमाणके बिना ही यदि वैजात्यकी कल्पना करके कार्यकारणभाव माना जाय तो जन्मान्तरस्वरूप परलोक भी सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि अनियमके कारण इसी जन्ममें अकस्मात् ज्ञान-सन्तान (ज्ञानधारा) का विश्राम हो जा सकता है। ऐसी स्थितिमें अविच्छिन्नरूपसे ज्ञानधाराकी परम्पराके भविष्यमें भी जारी रहनेके कारण आपके द्वारा माना गया जन्मान्तरग्रहणस्वरूप परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकेगा? मूलोक्त 'अपि' शब्दसे सामान्यव्याप्तिके आधारपर होनेवाले अनुमानकी भी असिद्धि सूचित होती है।

एवं, उक्त अनियमकी दशामें कोई ऐसा भी विलक्षण ज्ञान संभव होने लगेगा, जो ज्ञानरूप उपादानकारणसे न उत्पन्न होकर अचेतन घटादिरूप उपादानकारणसे उत्पन्न होता हो। इसी प्रकार अचेतन कोई

ज्ञानोपादानं भवेत्, दृश्यजात्यभेदेऽपि किञ्चिदेव निमित्तं भविष्यतीति शङ्कायाः समुत्थापयितुं शक्यत्वादिति ।

अस्तु तर्हि सहकारिभेदान्नियम इति चेत् , स एवैकः कर्तेति गीयते । अथैक एव कर्ता न तु तादृक्सहकारिपरम्परेति कुतो विशेषादिति चेत्, (न,) तत्कर्तृकत्वं भिन्नकर्तृकेभ्यो व्यावर्तते न तु तादृक्सहकारित्व[1]मित्यतो विशेषात् । कुतश्चिदेवमपि स्यादिति

विजातीय घटादि भी कपालरूप उपादानकारणसे न पैदा होकर ज्ञानरूप उपादानकारणसे पैदा होने लगेगा। एवं, दृश्यमान धूमत्व-जातिके एक होनेपर भी कोई धूम अग्निसे होगा और कोई किसी अन्यसे होगा—ऐसी आशङ्का बराबर उठायी जा सकती है, तथा कभी भी धूमसे वह्निका अनुमान नहीं हो सकेगा।

यदि कहो कि—सहकारि-विशेष ही प्रतिसन्धानका नियामक रहे तथा शिष्याचार्यकी बुद्धियोंमें उस सहकारि-विशेषके नहीं रहनेके कारण अतिप्रसङ्ग भी नहीं होगा—तो वह सहकारि-विशेष ही तो एक कर्ता (आत्मा) कहा जाता है। अर्थात् वह सहकारि-विशेष ही पूर्वापर बुद्धियोंका एक प्रतिसन्धाता (प्रत्यभिज्ञान करनेवाला) आत्मा है। यदि पूछो कि—ऐसा क्यों माना जाय कि एक ही कर्ता पूर्वसे लेकर अन्ततक प्रतिसन्धानकर्ताके रूपमें स्थित रहता है न कि वैसे सहकारियों की परम्परा जारी रहती है—तो यह इस कारण माना जाता है कि पूर्वापर-बुद्धियोंका एक कर्ता माननेपर ही भिन्न कर्ताओंकी व्यावृत्ति हो सकेगी न कि वैसे सहकारियोंकी परम्पराको कर्ता माननेपर। अर्थात् यदि भिन्न-भिन्न सहकारियोंकी परम्परा ही पूर्वापर-बुद्धियोंका कर्ता होकर उनका प्रतिसन्धान (स्मरण) करनेवाली हो तो चैत्रने जिसे देखा है, उसका स्मरण मैत्रको भी हो जाय। किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसीकारण एक ही कर्ता माना गया है, सहकारियोंकी परम्पराको नहीं।

यदि कहो कि—एक कर्ताके न माननेपर भी किसी विशेषताके कारण ही तथाविध सहकारियोंकी परम्पराको प्रतिसन्धानका नियामक मानने-

१. सहकारित्वपरम्परेति २ पु० पा०

चेत्, ननु स एव विशेषश्चिन्त्यते ।

स च[1] तत्स्वभावत्वं वा, तज्जातीयत्वं वा, तत्सहकारित्वं वा, तादृक्सहकारित्वं वेत्यतो नातिरिच्यते । तत्र प्रथमोऽसंभवी । द्वितीयोऽतिप्रसञ्जकः । चतुर्थे नियामकाभावः । ततस्तृतीय एव परिशिष्यते, गत्यन्तराभावादिति ।

अथवा सम्भवन्नपि नायमुपाधिः, तत्र तावन्मात्रस्यानिबन्ध-

पर भी शिष्याचार्य-बुद्धियोंमें या चैत्रमैत्रकी बुद्धियोंमें अतिप्रसङ्ग नहीं होगा—तो उस विशेषताका ही यहाँ विचार किया जा रहा है कि वह विशेषता क्या वस्तु है ?

क्या पूर्वापर-बुद्धियोंका एकस्वभावका होना विशेषता है ? या एक-जातीय होना विशेषता है ? या बुद्धिसन्तानके साथ-साथ एक-एक सहकारिकी अपेक्षा होना विशेषता है ? अथवा उस निश्चित सहकारीकी जातिका होना वह विशेषता है ? क्योंकि इससे अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं हो सकती है ।

इनमें प्रथमपक्ष असंभव है । क्योंकि अत्यन्त भिन्न पूर्वापर-बुद्धियोंका एक स्वभाव नहीं हो सकता है । द्वितीयपक्षमें अतिप्रसङ्ग दोष आ जायगा । क्योंकि शिष्य और आचार्यकी बुद्धियां भी एक जातिकी हैं, इसलिये आचार्यकी बुद्धिका स्मरण शिष्यको भी होने लगेगा । चतुर्थपक्षमें कोई नियामक नहीं है । अर्थात् जिस सहकारिके कारण चैत्रको अपनी पूर्वापर-बुद्धियोंका प्रतिसन्धान होता है, उस जातिका सहकारी मैत्रको भी संभव है, इसलिये चैत्रके देखेका मैत्रको भी स्मरण होने लगेगा । इसलिये तृतीय ही पक्ष बच जाता है । क्योंकि उसके सिवाय अन्यगति नहीं है । अर्थात् प्रतिसन्धानके नियामकके रूपमें बुद्धिसन्तानोंसे भिन्न एक सहकारी मानना होगा, जो मेरे मतानुसार प्रतिसन्धानकर्ता आत्मा है ।

अथवा यदि बुद्धिसन्तानोंमें परस्पर उपादानोपादेयभाव संभव भी हो तो भी वह प्रतिसन्धानका प्रयोजक नहीं हो सकता है । क्योंकि

१. न च इति १ पु० पा०

नत्वात् । तथाहि सर्वज्ञः स्वप्रत्ययानेककर्तृकतया प्रतिसन्धत्ते न वा ? आद्ये तत्प्रतिसन्धानादेव प्रतिन्धातुरेकत्वं सिद्धं ज्ञानाद् भेदश्च, धियामस्थैर्यस्य सर्वैरेव प्रतीतेः, प्रतिसन्धातुः क्षणिकतायाः सर्वज्ञेनाप्यनाकलनात् ।

अथ न प्रतिसन्धत्ते, न तर्हि कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानम् । न ह्यस्ति सम्भवो, यदन्वयेऽपि यस्यानन्वयस्तत्तावन्मात्रनिबन्धनमिति ।

प्रतिसन्धानके प्रति इतरनिरपेक्ष केवल उपादानोपादेयभाव कारण नहीं है। कारण, आपका सर्वज्ञ अपने पूर्वापर विभिन्न प्रत्ययोंको एककर्तृकरूपमें प्रतिसन्धान करता है या नहीं ?

आद्यपक्षमें उस प्रतिसन्धानसे ही प्रतिसन्धाताका एकत्व सिद्ध हो गया। साथ ही ज्ञानसे उस प्रतिसन्धाताका (आत्माका) भेद भी सिद्ध हो गया। क्योंकि "जो मैं पूर्वमें अनुभव करनेवाला था, वही मैं अब स्मरण कर रहा हूँ" इस प्रतीतिमें अनुभव और स्मरणज्ञानसे भिन्नरूपमें ही अहमास्पद प्रतिसन्धाताका स्फुरण होता है। ज्ञानोंका अस्थिरत्व एवं पारस्परिक भेद तो सबको प्रतीत होता है। क्योंकि उक्त प्रतीतिमें अनुभवको अतीत और स्मरणको वर्तमान समझता हुआ ज्ञानोंको अवश्य ही अस्थिर एवं परस्पर भिन्न समझता है। किन्तु प्रतिसन्धाता (अहमास्पद) तो वही का वही स्थिर रह जाता है। तथा प्रतिसन्धाता (आत्मा) की क्षणिकता तो सर्वज्ञ भी नहीं समझ सकता है। क्योंकि प्रतिसन्धाता यदि क्षणिक होता तो "योऽहमनुभूतवान् सोऽहं स्मरामि" यह प्रतिसन्धान ही नहीं बन सकता।

यदि द्वितीयपक्ष कहो कि—प्रतिसन्धाता व्यक्ति पूर्वापर-ज्ञानोंको एककर्तृक नहीं प्रतिसन्धान करता है—तो तुम्हारा पूर्वकथन स्वतः खण्डित हो गया कि केवल कार्यकारणभाव (बुद्धिसन्तानोंका परस्पर उपादानोपादेयभाव) होनेसे ही "योऽहं दृष्टवान् सोऽहं स्पृशामि" इत्यादि प्रतिसन्धान हो जाता है। क्योंकि यह कथमपि संभव नहीं कि जिसका अन्वय (सत्ता) होनेपर भी जिसका अन्वय न हो, उसीके कारण वह पैदा होता हो।

प्रतिसन्धत्ते, न तु सत्यं तत्प्रतिसन्धानमतो न तावन्मात्रादेक[1]कर्तृकत्वसिद्धिरिति चेत्, तत् किं सर्वज्ञस्यापि ? आहार्यो न दोषावह इति चेत्, न, निबन्धनाभेदेऽपि कथमेक आहार्योऽन्यस्तु स्वरसवाहीति वाच्यम् ।

भेददर्शनादर्शनाभ्यामिति चेन्न, प्रवृत्तिविज्ञानानां भेदस्यासर्वज्ञैरपि दर्शनात् । विषया एव भिन्नाः प्रतिभान्ति न बुद्धय इति चेन्न, तासामपि भेदनिश्चयात्, विषयभेदाप्रथनेऽपि ज्ञाना-

---

यदि कहो कि—सर्वज्ञ अपने पूर्वापर-ज्ञानोंमें एककर्तृकत्वका प्रतिसन्धान तो अवश्य करता है, किन्तु वह प्रतिसन्धान वास्तविक नहीं है। अतः केवल प्रतिसन्धानके आधारपर एक स्थिर कर्ताकी सिद्धि नहीं हो सकती है—तो क्या सर्वज्ञको भी विपर्यय (मिथ्याज्ञान) होता है ? यदि कहो कि—सर्वज्ञको अन्य लोगोंके समान स्वाभाविक भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है किन्तु आहार्य (इच्छापूर्वक) विपर्ययज्ञान होनेमें कोई दोष नहीं है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि समान प्रयोजक होनेपर भी क्यों किसी का प्रतिसन्धान आहार्य होगा और दूसरेका स्वभावतः भ्रमात्मक होगा ? यह तुम्हें बताना चाहिये।

यदि कहो कि—असर्वज्ञ व्यक्ति बुद्धियोंका भेद नहीं जानता है, इसलिये उसका प्रतिसन्धान भ्रमात्मक है तथा सर्वज्ञ व्यक्ति बुद्धियोंका भेद समझता है, इसलिये उसका अभेद-प्रतिसन्धान जानबूझकर होनेके कारण आहार्य होता है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि नीलपीतादिविषयक प्रवृत्तिविज्ञानोंका भेद तो असर्वज्ञ व्यक्ति भी जानते हैं।

यदि कहें कि—असर्वज्ञोंको नीलपीतादि-विषयोंमें ही भेदका भान होता है, बुद्धियोंमें नहीं—तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि बुद्धियोंमें भी भेदका निश्चय होता ही है। अन्यथा "अज्ञासिषम्-जानामि-ज्ञास्यामि" इसप्रकार कोई बुद्धि अतीत, कोई वर्तमान, तथा कोई अनागत नहीं प्रतीत होती। बल्कि धारावाहिक बुद्धि-स्थलमें विषयभेदकी प्रतीति नहीं होनेपर भी ज्ञानोंमें भेदकी प्रतीति होती है। ऐसे ही "प्रभाद्वारा जिसका अनुमान किया था, उसीको देख रहा हूँ और

---

१. ०न्मात्रादनेककर्तृ इति १ पु० पा०

भ्यासदर्शनात् । यदि च भेदग्रहेऽपि बुद्धितामात्रेण तदग्रहोऽभेदारोप उपपद्यते,[1] पार्थिवतया वृक्षात् काष्ठं, काष्ठादङ्गारस्ततो[2] भस्माप्यभेदेन प्रतिसन्धीयेत, न चैवम् ।

स्यादेतत् , आलयभेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति चेत्, न, स ह्यहमास्पदं प्रवृत्तिसन्तानादन्य एव वा स्यात् ? तदन्तःपातिकादाचित्कानेकाहंप्रत्ययरूपो वा ? न तावदाद्यः, न ह्यहमहमिकया मिथः स्वतन्त्रं सन्तानद्वयमनुभूयते । सत्यपि वा परस्परमनुपादोपादेयभावान्न परस्परं प्रत्याकलितार्थानुसन्धानबन्धः ।

देखूँगा" इत्यादि स्थलोंमें विषयभेद तो नहीं भासित होता किन्तु ज्ञानोंका भेद स्पष्ट ही भासित होता है ।

यदि कहो कि—उक्त बुद्धियोंमें भेदग्रह होनेपर भी बुद्धित्वेन रूपेण भेद अगृहीत है, इसीलिये वहाँ असर्वज्ञोंको होता हुआ अभेद-प्रतिसन्धान आरोपित अर्थात् भ्रमात्मक है—तो यदि बुद्धित्व-सामान्यके कारण बुद्धियोंमें अभेदारोप हो तो पार्थिवत्व-सामान्यके कारण वृक्षसे काठ, काठसे अङ्गार तथा अङ्गारसे भस्म भी अभिन्नरूपमें भासित होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है ।

अस्तु, विषयभेदसे प्रवृत्तिविज्ञानोंमें भेदग्रह भले ही हो किन्तु "अहम्" इत्याकारक निर्विषयक आलयविज्ञानोंमें भेदका अग्रह होनेसे भ्रमात्मक अभेद-प्रतिसन्धान हो जायगा—तो ऐसा भी नहीं कह सकते । क्योंकि अहमास्पद वह आलयविज्ञानसन्तान प्रवृत्तिविज्ञानसे भिन्न ही है ? या प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानके अन्तर्गत ही कदाचित् होनेवाला अनेक अहमित्याकारक-प्रत्यय (प्रतीति) रूप है ? इन दोनों पक्षोंमें आद्य पक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि स्पर्धाके साथ आपसमें स्वतन्त्र द्विविध विज्ञान-सन्तानोंका अनुभव नहीं होता है । यदि स्वतन्त्ररूपसे दो विज्ञानसन्तान (आलयविज्ञानसन्तान और प्रवृत्तिविज्ञानसन्तान) हों भी तथापि उन दोनोंमें परस्पर उपापानोपादेयभाव नहीं होनेसे एक दूसरेके द्वारा ज्ञात-विषयका अनुसन्धान (प्रतिसन्धान या स्मरण) एक दूसरेको नहीं हो

---

१. उपयुज्यत इति १ पु० पा०   २. तस्मादिति भगीरथसम्मतः पाठः ।

तथात्वेऽपि वा चैत्रमैत्रादिष्वपि प्रसङ्गः। उभयोर्वा उभयोपादानत्वे एकमप्यनेकाश्रयमिति किमपराद्धमवयविसंयोगादिभिः ?

न चालयविज्ञानोपात्तं प्रवृत्तिविज्ञानं न किञ्चिदुपादत्त इति युक्तम्, तथात्वे निमित्ततामपि न यायात्, उपादानत्वव्याप्त-

---

सकता। यदि हो तो चैत्र-मैत्रादिमें भी अतिप्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् चैत्रद्वारा दृष्ट पदार्थका मैत्रको भी स्मरण होने लगेगा।

उक्त अनुसन्धानकी उपपत्तिके लिये यदि दोनों विज्ञानोंमें परस्पर उपादानोपादेयभाव मानो अर्थात् प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञानका उपादान कारण हो और आलयविज्ञान भी प्रवृत्तिविज्ञानका उपादानकारण हो तो एकको भी यहाँ अनेकमें आश्रित मान ही लिया तो फिर अवयवीने और संयोगने क्या अपराध किया है कि अवयवीको अनेक अवयवोंमें तथा संयोगको अनेक संयोगी-द्रव्यमें तुम आश्रित नहीं मानते। क्योंकि उक्त मान्यताके अनुसार प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानके प्रति प्रवृत्तिविज्ञान तो उपादानकारण है ही, आलयविज्ञानको भी उपादानकारण मान रहे हो। इस प्रकार एक प्रवृत्तिविज्ञानसन्तान प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान उभयपर आश्रित हो गया। ऐसे ही आलयविज्ञान भी आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान उभयपर आश्रित हो जाता है।

यह भी कहना युक्त नहीं है कि—आलयविज्ञानका उपादेय (कार्य) प्रवृत्तिविज्ञान किसीके प्रति उपादान कारण नहीं होता है। अर्थात् प्रवृत्तिविज्ञान आलय-विज्ञानका उपादेय ही होता है, उपादानकारण तो किसीका भी नहीं होता, न प्रवृत्तिसन्तानका और न आलयसन्तानका। अतः एक अनेकाश्रित नहीं हुआ—तो वैसा होनेपर वह निमित्तकारण भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि तुम्हारे मतानुसार उपादान ही निमित्त हो सकता है।

यदि बिना उपादान हुए भी निमित्तकारण रहे तो केवल निमित्तता-मात्रका अनुभव करके बिना किसी उपादेयको पैदा किये ही कोई प्रवृत्तिविज्ञान निवृत्त (नष्ट) हो जायगा और उसी दृष्टान्तसे सभी प्रवृत्तिविज्ञान बिना कुछ पैदा किये ही नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार सभी

त्वान्निमित्ततायाः। अन्यथा निमित्ततामात्रमुपगम्य एकस्य निवृत्तौ सर्वसन्तानोच्छेदः, अविशेषात्। ओमिति ब्रुवतश्चरमक्षणानाम-किञ्चित्करणे शक्तिविहतेरसत्त्वप्रसङ्गः। तथा च पूर्वक्षणानाम-पीत्यनेन पर्यायेणाकिञ्चित्करं जगदापद्येत इति साधु कार्यकारण-भावः प्रतिसन्धाननिबन्धनं समर्थितः स्यात्। तस्मादन्यदेव निमित्तं किञ्चिदुपाददीत, तथा च न प्रतिसन्धानमपूर्वानन्तसन्तान-

---

विज्ञान-सन्तानोंका उच्छेद हो जायगा। क्योंकि कोई नियामक नहीं है। एवं, इसका भी कोई नियामक नहीं है कि केवल प्रवृत्तिविज्ञान ही निमित्तमात्र बनकर रह जायगा अन्य उपादानजातीय नहीं। अर्थात् नियामक नहीं होनेसे सभी उपादानजातीय कपालादि वस्तु बिना कुछ पैदा किये ही केवल निमित्ततामात्रका अनुभव करके नष्ट हो जायेंगे, जैसे कि आपका प्रवृत्तिविज्ञान बिना कुछ पैदा किये ही केवल निमित्त बनकर ही नष्ट हो जाता है। इसप्रकार विज्ञान ही नहीं, सभी कार्यसन्तानोंका उच्छेद हो जायगा। क्योंकि निरुपादनक कार्योत्पाद असम्भव है।

इसे यदि 'ओम्' कहते हुए स्वीकार करो तो अन्तिम क्षण कुछ पैदा नहीं करनेके कारण अर्थक्रियाशक्तिसे रहित होकर असत् हो जायगा। अर्थात् अन्तिम क्षण उपादान तो नहीं ही हुआ, निमित्त भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि उपादानसे उत्पन्न होनेवाले कार्यमें ही निमित्तकी अपेक्षा होती है। इसलिये अन्तिम-क्षण उपादानत्व-निमित्तत्व उभय-विहीन होनेसे सर्वथा अर्थक्रियाशक्तिरहित होकर असत् हो गया। और उसी दृष्टान्तसे उसके पूर्व-पूर्व क्षण भी अर्थक्रियाशक्तिसे रहित होकर असत् हो जायेंगे। इस प्रकार एक-एक कर सम्पूर्ण जगत् अकिञ्चित्कर (कुछ न करनेवाला) बन जायगा। अर्थात् संसारसे कार्यकारणभाव ही उठ जायगा। इसप्रकार आपने कार्यकारणभावको प्रतिसन्धानके प्रति अच्छा नियामक सिद्ध किया।

इसलिये निमित्तताके अनुरोधसे प्रवृत्तिविज्ञानसे अतिरिक्त किसी दूसरे ही ज्ञानको आलयविज्ञान अपना उपादेय बनायेगा। इस तरह पुनः प्रतिसन्धान नहीं बन सकेगा। अर्थात् प्रवृत्तिविज्ञानके साथ

प्रवृत्तिश्च प्रसज्येतेति ।

एवञ्च—

अशक्तिरनुपादानादन्यादानादनन्तता ।
मिथो न प्रतिसन्धिश्च सङ्करेऽनेकसंश्रितिः ॥

इति संग्रहः ।

नापि द्वितीयः, तस्यापि भेदाग्रहः स्वरूपतो वा स्यात् ? विषयतो वा ? आद्ये पूर्वाहमिति प्रत्ययमात्राद्वा ? प्रवृत्तिविज्ञाने-भ्योऽपि वा ? न प्रथमः, अहमित्यज्ञासिषमहमिति जानाम्यहमिति

आलयविज्ञानका उपादानोपादेयभाव नहीं होनेसे प्रवृत्तिविज्ञानके विषय-का आलयविज्ञानद्वारा प्रतिसन्धान (स्मरण) नहीं हो सकेगा। एवं, सभी आलयविज्ञान निमित्तताके अनुरोधसे दूसरे-दूसरे ज्ञानोंको ही अपना उपादेय (कार्य) बनायेगा और वे भी प्रत्येक दूसरे ही दूसरेको। इस प्रकार नये नये अनन्त सन्तानोंकी प्रवृत्ति भी होने लगेगी।

ऐसी दशामें आये दोषोंका सङ्ग्रह यों है—प्रथम दोष अशक्ति है। अर्थात् प्रवृत्तिविज्ञान यदि किसीका उपादान न हो तो निमित्त भी नहीं हो सकेगा तथा अर्थक्रियासामर्थ्यके अभावमें वह असत् हो जायगा। यदि वह अन्य (विजातीय) सन्तानका उपादान हो तो वह भी किसी अन्य का होगा, इस प्रकार अनन्त सन्तानोंका प्रसङ्ग हो जायगा। प्रवृत्तिविज्ञान एवं आलयविज्ञानका परस्परमें उपादानोपादेयभाव नहीं होनेपर परस्परद्वारा ज्ञात-विषयका स्मरण भी नहीं हो सकेगा। यदि दोनोंमें उपादानोपादेयभाव हो तो सङ्कर होनेसे एक अनेकाश्रित (अनेकोपादेय) हो जायगा, जिससे अवयवी और संयोग आदि भी मानने पड़ जायँगे।

"प्रवृत्तिविज्ञानसन्ततिके अन्तःपाती कादाचित्क (कभी-कभी होनेवाला) अहंप्रत्यय ही आलय विज्ञान है" यह द्वितीयपक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका भी भेदाग्रह स्वरूपतः होगा ? या विषयकी दृष्टिसे ? आद्यपक्षमें पूर्वमें उत्पन्न "अहम्" इस प्रतीतिमात्रसे भेदाग्रह होगा ?

ज्ञास्यामीति त्रैकाल्योल्लेखस्य भेदनिश्चयमन्तरेणानुपपत्तेः। कथञ्चिदुपपत्तौ तदर्थस्यैव प्रतिसन्धिरुचितो न प्रवृत्तिविज्ञानार्थानामपि, न च तेभ्योऽपि भेदाग्रह इति चोक्तमेव।

नापि विषयतः, स हि आकारो वा ? वस्त्वन्तरं वा ?

या प्रवृत्तिविज्ञानोंसे भी ? इसमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता। क्योंकि "मैंने यह जाना था, मैं यह जानता हूँ, मैं यह जानूँगा" इस प्रकारका त्रिकालका उल्लेख पूर्वापरज्ञानोंमें भेदनिश्चयके बिना हो नहीं सकता। अर्थात् अतीतत्व, वर्तमानत्व और भविष्यत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंका ग्रह ही तो भेदग्रह है। अतः उनका ग्रह होनेपर कभी भी अभेदका ग्रह नहीं हो सकता है। एवं क्रिया और कर्ताके स्वरूपसे भी भेदग्रह है।

पूर्वोक्त तीनों प्रतीतियाँ अहमास्पद हैं, इसलिए अहमास्पदत्वेन रूपेण अभेदग्रह यदि हो भी जाय तो भी उस अहमर्थका ही स्मरण होना चाहिये न कि प्रवृत्तिविज्ञानके अर्थों (विषयों) का भी। यद्यपि यहाँ प्रवृत्तिविज्ञानके विषय-घटपटादिके प्रतिसन्धानकी बात नहीं उठी है, किन्तु विभिन्न ज्ञानोंके एककर्तृत्वप्रतिसन्धानकी ही बात पूर्वमें उठी है। अतः पूर्वकथनके साथ "न प्रवृत्तिविज्ञानार्थानामपि" इस वचनका विरोध प्रतीत होता है—तथापि यहाँ प्रवृत्तिविज्ञानसे अभिप्रेत है उसका अन्तःपाती आलयविज्ञान। और उसका विषय स्वयं वही है, क्योंकि आलयविज्ञान स्वप्रकाश होनेसे अपने आपको ही विषय बनाता है। अतः यहाँ सिद्धान्तीके कथनका यह अभिप्राय है कि जिसमें भेदका अग्रह होगा उसीका प्रतिसन्धान होना चाहिये। इसलिए "अहमज्ञासिषम्" इत्यादि विभिन्न प्रतीतियोंमें अहमर्थमें ही भेदका अग्रह होनेसे अहमर्थका ही प्रतिसन्धान होना चाहिये न कि पूर्वापर-विभिन्न आलयविज्ञानोंमें एककर्तृत्वका प्रतिसन्धान होगा।

यहाँ यह नहीं कह सकते कि—विज्ञानोंमें भी भेदका अग्रह है—क्योंकि भेदनिश्चयके बिना त्रैकाल्यका उल्लेख नहीं हो सकता है, यह बात कह ही दी गई है।

विषयकी दृष्टिसे भी भेदाग्रह तथा उसके द्वारा प्रतिसन्धानका उपपादन नहीं होगा। क्योंकि वह विषय उक्त आलयविज्ञानका आकार

अलीकं वेति ? नाद्यो, दूषितत्वात् । न द्वितीयः, स्वयमनभ्युपगमात् । योऽप्यभ्युपगच्छेत् सोऽपि विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदमिच्छेत्, तन्निवृत्तौ च तन्निवृत्तिम् ।

न तृतीयः, अहमिति विकल्पस्य सवस्तुकतायाः प्रागेव प्रसाधनात् । अवस्तुकत्वेऽपि न तत्र प्रकृतोपयोगिभेदाऽग्रहसंभवः, सदसदारोपितसत्त्वारोपितासत्त्वव्यधिकरणाव्यपदेश्यभेदेन षड्विध-

---

है, या उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है, अथवा अलीक (मिथ्या) है ? इनमें आद्यपक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि विज्ञानवादका खण्डन करते हुए पूर्वमें उसका भी खण्डन किया जा चुका है । द्वितीय भी नहीं होगा । क्योंकि विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुकी सत्ता तुम स्वयं नहीं मानते हो । यदि मानो तो विज्ञानसे अतिरिक्त एवं विज्ञानका विषयभूत वह वस्तु ही आत्मा सिद्ध हो जाती है । जो भी विज्ञानसे अतिरिक्त विषयकी सत्ता मानता है, वह भी उस विषयमें विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेपर ही भेद स्वीकार कर सकता है और अध्यासके अभावमें अभेद । अर्थात् उक्त अहम्प्रतीतियोंका विषय जो विज्ञानातिरिक्त अहमर्थ है, उसमें विरुद्ध-धर्मोंकी प्रतीति नहीं होनेसे वही एक पूर्वापरमें अभिन्न आत्मा सिद्ध हो जाता है ।

विषयदृष्टिवाला तीसरा अलीकपक्ष भी नहीं हो सकता है । क्योंकि "अहम्" इस विकल्पकी सवस्तुकता पहले ही अर्थात् "प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः" इत्यादि वचनसे ही सिद्ध की जा चुकी है । यदि वह विकल्प अवस्तुविषयक हो तो भी वहाँ अभेद-प्रतिसन्धानमें उपयोगी जो भेदका अग्रह, वह नहीं हो सकेगा । क्योंकि सत् भेद, असत् भेद, जिसमें सत्ता आरोपित है ऐसा भेद, जिसमें असत्ता आरोपित है ऐसा भेद, व्यधिकरण भेद तथा अव्यपदेश्य भेद ये छहों प्रकारके भेदका अग्रह नहीं हो सकेगा, जो कि अभेदारोप करा सके । यह बात भी द्वितीय-परिच्छेदमें ही कही जा चुकी है । अर्थात् सत्भेदका अग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि जो अलीक हैं, उनमें सत्भेद रह ही नहीं सकता, जिसका अग्रह हो । यदि भेदको असत् मानो तो असत्भेदके अग्रहसे अभेदका ग्रह माननेपर अतिव्याप्तिदोष आ जायगा । अर्थात् जहाँ अभेदग्रह नहीं होना चाहिये वहाँ

स्यापि भेदस्याग्रहोऽभेदारोपौपयिकतया तत्र न सम्भवतीत्युक्तत्वादिति ॥

अथवा इहानुभवः[1] कालान्तरभाविनीं स्मृतिं जनयेत् ? तज्जनितो वा संस्कारः ? सोऽप्यतीन्द्रियः ? प्रत्यक्षसिद्धो वा ? अतीन्द्रियोऽपि तावत्कालावस्थायी[2] ? सन्तन्यमानो वा ? अध्यक्षसिद्धोऽपि तदुत्तरबुद्धिधारारूपः ? तदन्यो वा ? तद्विशेषो

भी अभेदग्रह होने लगेगा। यदि भेदमें सत्त्व आरोपित हो तो उसका अग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि जब आरोप है तो अग्रह कैसा ? भेदमें असत्त्वका आरोप रहते हुए उसका अग्रह कहो तो भेदमें पारमार्थिकत्व आ जायगा, क्योकि उसमें असत्त्वको आरोपित मानते हो। इस प्रकार वह अलीक नहीं हो सकता।

यदि व्यधिकरण अर्थात् दूसरेके भेदके अग्रहसे अभेदका आरोप मानो तो जिस किसीके भेदके अग्रहसे घटपटादिमें भी अभेदारोप होने लगेगा। एवं सत्-असत् आदि कोटियोंसे रहित अनिर्वचनीय भेदके अग्रहसे अभेदारोप माननेमें सर्वत्र अभेदारोपका प्रसङ्ग होने लगेगा॥

स्थिर-आत्मसाधनमें अन्य प्रकार

अथवा यह बताओ कि कालान्तरमें होनेवाली स्मृतिके प्रति अनुभव कारण है ? या अनुभवसे उत्पन्न संस्कार ? वह संस्कार भी अतीन्द्रिय है ? या प्रत्यक्ष-सिद्ध है ? यदि अतीन्द्रिय हो तो स्मृति उत्पन्न होनेके समय तक स्थायी है ? अथवा क्षणिक होनेके कारण सन्तन्यमान अर्थात् धारारूप है ? यदि प्रत्यक्ष-सिद्ध वह संस्कार हो तो वह अनुभवके बाद होने वाली बुद्धियोंकी धारारूप है ? या उससे भिन्न है ? अथवा अनुभवोत्तरकालिक बुद्धिधारागत कोई विशेष (धर्म) है ? वह विशेष भी अनुभवप्रभवत्वमात्र है ? या अनुभवितृसन्तानगत वैजात्य है ? अर्थात् नीलानुभवके बाद जिन बुद्धियोंका सन्तान जारी रहता है, सान्तानिकभूत उन बुद्धियोंमें ही रहने वाला वैजात्य अभिप्रेत

१. किं स्मृ इत्यपि क्वचित् पाठः। २. तत्कालावस्थायी इति क्वचित् पाठः।

वा ? विशेषोऽप्यनुभवप्रभवत्वमात्रं वा ? अनुभवितृसन्तान-वैजात्यं वा ?

तत्र न प्रथमः, अनुत्पन्नानन्वयध्वस्तयोरविशेषात् । नापि दृश्योऽन्यः, तस्यानुपलब्धिबाधितत्वात् । नाप्यनुभवप्रभवत्व-मात्रं विशेषः, न हि कर्मकरकरोपनीतमेव बीजं क्षितिमासाद्याङ्कुरं कुरुते न तु प्रमादपतितम् । तथा नीलाद्यनुभवप्रभवसन्तानः[1]

है। इसीलिये जिस सन्तानमें पहले नीलानुभव नहीं हुआ है, उसीसे वैजात्य यहाँ विवक्षित है। अतः जो अननुभूत है, उसका स्मरण-प्रसङ्ग यहाँ नहीं होगा। यह अन्तिम विकल्पका अभिप्राय है।

उपर्युक्त पक्षोंमें प्रथमपक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि नहीं उत्पन्न होना या निरन्वयध्वस्त हो जाना, इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् चिरकाल पूर्वमें उत्पन्न होकर नष्ट हुआ अनुभव बहुत कालके बाद होनेवाली स्मृतिका कारण नहीं हो सकता, जो वस्तु अपना प्रति-निधिस्वरूप कोई दूसरी वस्तु पैदा किये बिना ही विलीन हो जाती है, वह स्वयं भी नहीं पैदा हुएके समान है। अतः पूर्वोत्पन्न नीलानुभवका निरन्वय-ध्वंस हो जानेके कारण नहीं उत्पन्न हुएके बराबर होनेसे वह कालान्तरमें नीलकी स्मृति नहीं करा सकेगा। अनुभवके बाद होने-वाली बुद्धिधारासे अन्य दृश्यभूत संस्कार भी स्मृतिका कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उपलब्धि नहीं होनेसे उक्त संस्कार ही बाधित है।

"अनुभवोत्तरकालिक बुद्धिधारागत जो अनुभवप्रभवत्वमात्रस्वरूप विशेष है, वही संस्कार है, जो भावी स्मृतिका जनक है" यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह नियम नहीं है कि श्रमिकके हाथसे समझ बूझकर डाला हुआ बीज ही पृथ्वीमें पहुँचकर अङ्कुर पैदा करता हो और प्रमादसे गिरा हुआ न करता हो। वैसे ही नीलानुभव सन्तान (नील-बुद्धिधारा) पीतानुभवसे ही उपनीत हो या नीलानुभवसे ही उपनीत, इसमें स्मृति पैदा करनेके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् जैसे

१. नीलाद्यनुभवसन्तानः इति क्वचित् पाठः।

पीताद्यनुभवेनैवोपपद्यतां नीलाद्यनुभवेनैव वेति न कश्चिद् विशेषः। एवं चाऽननुभूतेऽपि स्मरणप्रसङ्गो न चानुभूतेऽपीति।

शालिप्रभवस्य बीजस्य शालित्व[1]प्रतिसन्धानवन्नियम इति चेत्, न, क्षीर-जम्बूरसपायिनील-धवलकलरवजनितविपरीतपारावतवदनियमदर्शनेन तस्याप्रयोजकत्वात्। वैजात्यं तु विशेषो भवेत्, यथा क्षीरावसेकादम्लत्वं परिहृत्य माधुर्यमुपादायानुवर्त-

अङ्कुर पैदा करनेमें बीजत्वमात्र प्रयोजक है, और वह किसी भी प्रकार पृथ्वीमें पहुँचकर अङ्कुर पैदा कर देता है, वैसे ही नीलादिविषयकी स्मृतिमें भी अनुभवप्रभवत्वमात्र ही प्रयोजक है, उसे नील या पीत विषयविशेषकी अपेक्षा नहीं है। अतः नीलादिविषयक या पीतादिविषयक जिस किसी अनुभवसे उपनीत होनेमात्रसे ही स्मृतिका प्रयोजक हो जायगा। ऐसी स्थितिमें नीलविषयक अनुभवके न होनेपर भी नीलविषयकी स्मृति होने लगेगी। क्योंकि आप उस स्मृति-प्रयोजक अनुभवमें विषयविशेषकी अपेक्षा मानते नहीं हैं। यदि स्मृतिके प्रति अनुभवप्रभवत्वको प्रयोजक न मानें तो अनुभूत विषयकी भी स्मृति नहीं होनी चाहिये।

यदि कहो कि—जैसे, शालि (धान) प्रभव ही बीज शालि उत्पन्न करता है, न कि दूसरे यवादिसे उत्पन्न बीज शालि उत्पन्न करता, वैसे ही नीलानुभवप्रभव ही नीलानुभवसन्तान नीलस्मरणका कारण होगा न कि पीतानुभवप्रभव भी अनुभवसन्तान कारण होगा। अतः पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग या अप्रसङ्ग-दोष नहीं होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि "तत्प्रभवत्व तादृश प्रतिसन्धानका जनक है" यह नियम व्यभिचरित है। कारण, क्षीरपान करनेवाले नीले कबूतरसे भी धवल कबूतरका तथा जामुनका रस पीनेवाले धवल कबूतरसे भी नीलरङ्गके कबूतरका उत्पन्न होना देखा जाता है। अतः तत्प्रभवत्वमात्र तादृश प्रतिसन्धानका प्रयोजक नहीं हो सकता है।

अनुभवितृसन्तानगत वैजात्यनामक विशेष तो प्रतिसन्धानका नियामक हो सकता है। अर्थात् जिस सन्तानमें नीलानुभव पहले नहीं हुआ

१. शालिप्रतिसन्धानवत् इति क्वचित् पाठः।

मानाऽऽमलकी कालान्तरेऽपि फले माधुर्यमुन्मीलयति, लाक्षारसावसेकाद् वा धवलिमानमपहाय रक्ततामनुवर्तमानं कार्पासबीजं कुसुमेषु रक्तताम्। न चैवं प्रकृतेऽपि, जपा[1] कुसुमाद्युपधानसन्निधानेऽपि[2] तद्रूपतामनादाय धवलिमानमेव सन्दधानस्य स्फटिकस्येव विज्ञानस्य विषयोपधानमपगम्य[3] चिद्रूपतामात्रेणानुवृत्तेः।

सर्वाकारत्वमेव सर्वज्ञानानां, किन्तु कश्चिदाकारः पटुरन्ये

है, उससे वैजात्य ही नीलस्मरणका नियामक होगा। पीतानुभवसन्तान ऐसा ही सन्तान है, जिसमें पहले नीलानुभव नहीं हुआ रहता है। अतः उसका विजातीय सन्तान नीलानुभवसन्तान ही होगा। इसलिये पीतानुभवके बाद नीलस्मरणका प्रसङ्ग नहीं होगा। जैसे कि दूधसे सींचनेके कारण अम्लता (खट्टापन) को छोड़कर मधुरताको लिये हुई आमलकी (आँवला) बादमें होनेवाले फलमें भी मधुरताकी अभिव्यक्ति करती है तथा लाक्षा-(लाह) रससे सींचनेके कारण उजलापनको छोड़कर लालिमाको ग्रहण किया हुआ कपासका बीज बादमें होनेवाले फूलोंमें भी लालिमाको अभिव्यक्त करता है, अर्थात् बादमें होनेवाले फूल लाल उत्पन्न होते हैं।

किन्तु प्रकृतमें ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, जैसे जपाकुसुमका सान्निध्य होनेपर भी स्फटिकपत्थर कुसुमकी लालिमाको नहीं ग्रहण करता बल्कि अपने स्वाभाविक उजलापनको ही धारण किये रहता है, वैसे ही विज्ञानमें भी स्वरूपतः वैजात्य नहीं होता है। क्योंकि विषयका सान्निध्य हटनेपर सभी विज्ञान चिद्रूपसे ही अनुवर्तमान रहते हैं। अतः स्वरूपतः ज्ञानोंमें वैजात्य नहीं कह सकते, जिससे अतिप्रसङ्गका निवारण हो सके।

यह कहो कि—यदि ज्ञानोंकी नीलादि-विषयाकारता औपाधिक होती तो विषयका सान्निध्य हट जाता और विज्ञानकी चिद्रूपमात्रसे अनुवृत्ति

१. जवाकुसुम इति क्वचित् पाठः। २. कुसुमाद्युपधाने इति क्वचित् पाठः।
३. मपगमय्य इति क्वचित् पाठः।

त्वपटत्र इति स्वदर्शनश्रद्धावतो विरुद्धधर्माध्यासादपि न भीः। न हि स एव पटुरपटुश्चेति सम्भवति। न च स्वसंविदितरूपस्या-पाटवार्थं पश्यामः।

निराकारपक्षेऽपि यावानर्थो बुद्धेर्विषयस्तावति स्फुटैव सा। यत्र चास्फुटा, नासौ तस्य (तस्या) विषयः। तथात्वे वा विषयेतरव्यवस्था

होनेसे उसमें वैजात्य नहीं होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। बल्कि सभी ज्ञान स्वभावसे ही सर्वविषयाकार होते हैं। और उनमें किसी आकारके पटु होनेसे स्पष्टरूपसे उस आकारका उल्लेख होता है तथा किसीके अपटु होनेसे उल्लेख नहीं होता है। अर्थात् ज्ञानोंमें विषयकृत ही वैजात्य होता है। इसीलिये पीतानुभवसे नीलप्रतिसन्धान तथा नीला-नुभवसे पीतप्रतिसन्धानका प्रसङ्ग भी नहीं होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यदि सभी ज्ञान सर्वविषयाकार हों तो प्रत्येक अनुभवमें नीलादिका उल्लेख होना चाहिये। इसके समाधानके लिये अनुभवको नीलपीतादि विषयभेदसे पटु और अपटु (विषयोल्लेख करनेमें असमर्थ) कहनेको तो यही कहा जायगा कि अपने दर्शनके प्रति अन्धश्रद्धा रखने-वालेको विरुद्ध धर्मों के प्रसङ्गसे भी भय नहीं है। क्योंकि वही पटु भी हो और अपटु भी हो, ऐसा नहीं हो सकता है। एवं, तुम्हारे मतमें सभी ज्ञानके साकार एवं स्वप्रकाश होनेसे सदा वह अपनेको नील-पीतादि आकारोंसे युक्त ही प्रकाशित करेगा। ऐसी स्थितिमें उसे अपटु कहनेका कोई अर्थ हम नहीं देखते हैं।

जो (नैयायिक) ज्ञानको निराकार मानते हैं, उनके मतमें भी दूरसे देखनेपर जितनी वस्तु ज्ञानका विषय बनती है, उतनी वस्तुकी दृष्टिसे वह ज्ञान स्फुट (पटु) ही होता है तथा जिस वस्तुके सम्बन्धमें वह अस्फुट होती है, वह वस्तु उसका विषय भी नहीं बनती है। अतः ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही ज्ञान एक ही विषयके सम्बन्धमें स्फुट भी हो और अस्फुट भी हो। यदि अस्फुटकी दशामें भी वस्तु ज्ञानका विषय बने तो विषय और अविषयकी व्यवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् सब ज्ञान सर्वविषयक होने लगेगा। जो वस्तु सांश (सावयव) है, उसमें एक अवयवका स्फुट रहना तथा एक अवयवका अस्फुट रहना

न स्यात् । सांशे त्वथं युक्तमेतदिति दर्शितं प्राक् । तस्मादतीन्द्रियः संस्कारः परिशिष्यते । स च न सन्तन्यमानः, तत्रैव स्मृत्यादिप्रसङ्गे प्रवृत्तिसन्ताने फलानवकाशप्रसङ्गात् । अन्यत्र संस्कारेऽन्यत्र फलेऽतिप्रसङ्गात् । परम्परयैकोपादनतया नियमे संस्कारान्तरसन्तानेऽपि स्मृति[1] प्रसङ्गात् ।

युक्त है। क्योंकि उस वस्तुको हम सावयव मानते हैं। साथ ही अवयवोंमें परस्पर भेद होनेसे मेरे मतमें विरुद्धधर्मका संसर्ग-दोष भी नहीं होगा। क्योंकि भिन्न अवयवको स्फुट कहा जाता है और भिन्न अवयवको अस्फुट कहा जाता है, न कि एक ही अवयवको स्फुट और अस्फुट कहते हैं।

अतः अनुभवसे उत्पन्न जो अतीन्द्रिय संस्कार, वही स्मृतिके नियामकके रूपमें बच जाता है। किन्तु उस सन्तन्यमान (अस्थायी) संस्कारको अर्थात् संस्कारके सन्तानको स्मृतिनियामक नहीं मान सकते। क्योंकि तब संस्कारोंके सन्तानमें ही स्मृति और स्मृतिजन्य इच्छा आदि फल हो सकेगा तथा प्रवृत्तिविज्ञानके सन्तानमें स्मृत्यादिरूप फल नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थितिमें "अहं घटं स्मरामि" इत्यादि प्रतीति नहीं हो सकेगी। क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञानधाराका अन्तःपाती ज्ञान ही अहमास्पद होता है, संस्कार नहीं।

यदि भिन्न सन्तानोंमें संस्कार मानो और भिन्न सन्तान (प्रवृत्तिविज्ञानसन्तान) में स्मृतिरूप फल मानो तो अतिप्रसङ्गरूप दोष हो जायगा। अर्थात् नीलसंस्कारसे भी पीतस्मरण होने लगेगा।

यदि यह नियम करो कि—परम्परया समान उपादानकारणसे उत्पन्न संस्कार ही स्मृत्यादि फल उत्पन्न कर सकेगा, अतः अतिप्रसङ्ग दोष नहीं होगा। अर्थात् एक ही नीलानुभवरूप उपादान-कारणसे संस्कारोंका भी सन्तान उत्पन्न होता है और प्रवृत्तिविज्ञानोंका भी सन्तान उत्पन्न होता है। अतः यहाँका संस्कार अपने समान उपादान-कारणसे उत्पन्न होने वाले प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानमें स्मृति पैदा करेगा, दूसरे सन्तानमें

---

१. तदुत्पत्तिप्रसङ्गादिति क्वचित् पाठः ।

तस्मात् स्वोपादान एव स्मृतिं करोतीति गत्यन्तराभावादापाततिक्तमप्युपेयमेव[1]। तथा च स्मृतेः कालान्तरसम्बन्धात् संस्कारतदुपादानयोः स्थैर्यमयत्नसिद्धमवर्जनीयश्चेति[2]।

एतेन धर्माधर्मरूपः[3] संस्कारो व्याख्यातः। तथा च यो यः संस्कारः क्वचित् सन्तान आहितः[4] स तत्रैव फलाधानयोग्यो

नहीं। अतः यहाँ कोई अनुपपत्ति या आपत्ति नहीं होगी – तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि पीतसंस्कारसन्तानका उपादानकारण जो पीतानुभव है, वह परम्परया पीतानुभवके बाद कदाचित् होनेवाले नीलानुभवजन्यनीलसंस्कारसन्तानका भी उपादानकारण होगा। अतः नीलसंस्कारसन्तानमें भी पीतस्मरण होने लगेगा।

इसलिए संस्कार अपने उपादानमें ही स्मृति पैदा करेगा—यह बात आपाततः कटु होनेपर भी दूसरा चारा नहीं होनेके कारण माननी ही पड़ेगी और वह उपादान ही आत्मा है। तथा स्मृतिका, संस्कारके बहुत बाद, कालान्तरसे सम्बन्ध होनेके कारण संस्कार और उसके उपादानका स्थैर्य (स्थायित्व) भी विना प्रयासके ही सिद्ध हो गया और वह अनिवार्य भी है। अर्थात् अनुभवके अनन्तर वर्षों बाद भी होती हुई स्मृति संस्कारकी और उसके उपादानकारण-आत्माकी स्थिरताको पक्षधर्मताबलसे स्वतः सिद्ध कर देती है।

इसीसे धर्माधर्मरूप संस्कारकी भी व्याख्या हो गयी। अर्थात् यज्ञ और हिंसा आदिसे उत्पन्न जो धर्म-अधर्मरूप संस्कार, वे भी स्वयं के और अपने उपादानकारण (आत्मा) के स्थिरत्वके विना कालान्तरमें होनेवाले स्वर्ग-नरकादि फलके जनक नहीं हो सकते हैं। अतः उस दृष्टिसे भी स्थिर आत्माकी सिद्धि होती है।

इसी प्रकार "जो जो संस्कार जिस किसी सन्तानमें आश्रित रहता है, वह उसीमें स्मृतिरूप फलको उत्पन्न करनेके योग्य होता है, अन्यत्र नहीं" इत्यादि कथन भी खण्डित हो गया। क्योंकि बुद्धिधारासे अति-

---

१ अभ्युपेयमिति क्वचित् पाठः २ च इति क्वचित् पाठः

३ धर्माधर्मलक्षण इति २ पु० पा० ४ संतानेनोपहित इति २ पु० पा०

नान्यत्रेत्याद्यपि निरस्तम्। अतिरिक्तसंस्कारपक्षे हेतोर्व्यधिकरणत्वात्, विशेषलक्षणस्य च स्वरूपासिद्धत्वात्, अविशिष्टोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्य च विरुद्धत्वादिति।

न चातीन्द्रियोऽपि संस्कारः सौगतनये संभवति। तस्य ज्ञानत्वे परोक्षत्वानुपपत्तेः, अज्ञानत्वे ज्ञानोपादानकत्वायोगात्, सन्तानान्तरत्वे ज्ञानस्यापि पारोक्ष्ये तदन्तःपातिनः स्मृतिसुखादे-

---

रिक्त संस्कारपक्षमें संस्कारत्व-हेतु व्यधिकरण (आश्रयासिद्ध) हो जायगा। अर्थात् "संस्कारः, स्वसन्ताने स्मृतिजनकः, संस्कारत्वात्" इस अनुमानमें संस्काररूप आश्रय (पक्ष) असिद्ध है। क्योंकि तुम संस्कारको मानते नहीं हो। अथवा यहां हेतुके व्यधिकरण होनेका अभिप्राय यह है कि स्वसन्तानगत संस्कार स्वसन्तानमें ही स्मृति उत्पन्न कर सकता है, न कि प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानमें, क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञानसन्तान संस्कारका अधिकरण नहीं है।

यदि संस्कारत्वको ज्ञानगत-जातिविशेषस्वरूप मानो तो संस्कारत्वहेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा। क्योंकि तुम्हारे मतमें कोई भी जाति होती ही नहीं है और मेरे मतमें भी ज्ञानमें संस्कारत्व-जाति नहीं होती है। यदि संस्कारका अर्थ अनुभवके बाद होनेवाला अविशिष्ट (सामान्यतः) कार्यप्रवाहमात्र लो तो वह विरुद्ध होगा। अर्थात् नीलानुभवोत्तरकार्यप्रवाहके अन्तर्गत नीलानुभवके बाद होनेवाला घटपटादिका सन्तान भी गृहीत होने लगेगा, किन्तु घटपटादिका सन्तान स्मृतिरूप फल उत्पन्न करता नहीं है। अतः उक्त प्रकारका संस्कार स्मृतिरूप फलके विरुद्ध है।

एवं बौद्धमतमें अतीन्द्रिय स्थिर संस्कार प्रतिसन्धानका नियामक नहीं हो सकता है। क्योंकि उस संस्कारको ज्ञानस्वरूप मानें तो वह परोक्ष (अतीन्द्रिय) नहीं हो सकता है। कारण, बौद्धमतमें सभी ज्ञान स्वप्रकाश होनेसे प्रत्यक्ष होते हैं। यदि उस संस्कारको ज्ञानसे भिन्न मानें तो उसका उपादान-कारण ज्ञान नहीं हो सकेगा।

यदि उस संस्कारको ज्ञानका सन्तानरूप मानें तथा उस ज्ञानको भी परोक्ष मानें, अर्थात् वह संस्कार ज्ञानधारारूप हो तो उस अतीन्द्रिय

रपि तथाभावप्रसङ्गादिति । तदिदमुक्तरूपं प्रतिसन्धानं निमित्तवत्तया व्याप्तम्, अनिमित्तकत्वे नियमानुपपत्तेः । तच्चानेककर्तृकत्वे नास्तीति व्यापकानुपलब्ध्या विपक्षान्निवर्तमानं निमित्तवत्त्येककर्तृकत्वे विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः ।

एवञ्च सति अन्वयोऽपि नर्तकीभ्रूलताक्षेपादौ द्रष्टव्यः । सैव हि भ्रूलता, त एव वा परमाणवः प्रतिसन्धीयमाना नानाज्ञाननिमित्तत्वेऽवस्थिताः । विरुद्धधर्मविरहिविषयत्वेन तु विशेष-

---

ज्ञानसन्तानके अन्तःपाती स्मृति-सुख आदि भी अतीन्द्रिय होने लगेगा और उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ।

इस प्रकार पूर्वापर प्रतीतियोंके एकाश्रयत्वका अवगाहन करनेवाला तथा पूर्वानुभूत अर्थका अवगाहन करने वाला प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण) निमित्तवत्तासे व्याप्त है अर्थात् उक्त प्रतिसन्धानका अवश्य कोई निमित्त है । बिना निमित्तका हो तो प्रतिसन्धानका कोई नियम नहीं रह जायगा । और वह प्रतिसन्धान अनेक कर्ता (अनेक आश्रय) होनेपर नहीं संभव है, इसलिये वह व्यापकीभूत निमित्तके अभावमें अनेककर्तृकत्वरूप विपक्षसे निवृत्त होता हुआ निमित्तवाले एककर्तृकत्वमें ही विश्रान्त होता है, इस प्रकार प्रतिसन्धान और एककर्तृकत्वमें व्यतिरेकव्याप्तिकी सिद्धि होती है । अर्थात् वह निमित्त स्थिर संस्कार का आश्रयभूत स्थिर आत्मा ही है ।

इसी तरह नर्तकीभ्रूलताक्षेप आदिमें अन्वयव्याप्ति भी जाननी चाहिये । क्योंकि रङ्गस्थ पुरुषोंको अपने-अपने नाना ज्ञानोंमें "यह वही भ्रूलता है, या ये वे ही परमाणु हैं" इस प्रकारका प्रतिसन्धान होता है । अर्थात् जैसे एक ही भ्रूलताक्षेप विषयरूपमें नाना ज्ञानोंका निमित्त माना जाता है, वैसे ही एक ही स्थिर आत्मा आश्रयरूपमें नाना ज्ञानोंमें एकाश्रयत्वप्रतिसन्धानका तथा पूर्वकालिक अनुभव एवं परकालिक स्मृतिज्ञानोंका भी निमित्त है ।

अभेद-प्रतिसन्धान ही विषय या स्वाश्रयीभूत आत्माके अभिन्न होनेमें प्रमाण है । किन्तु जहाँ विरुद्ध धर्म होगा, वहाँ उस प्रतिसन्धानसे

णीयमत्र प्रतिसन्धानम् । अन्यथा य एव बालस्त्वया दृष्टः, स एव युवा मया दृश्यत इत्यनेनानैकान्तात् ।

[1]न चासिद्धमिदं विशेषणं देहस्यैव चेतनत्वात् । मैवं । देहत्वमूर्तत्वभूतत्वरूपादिमत्त्वादिभ्यः । न च भूतानां समुदाये पर्यवसिते चैतन्यम्, प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्यास्मरणप्रसङ्गात् ।

अभेदकी सिद्धि नहीं होगी। अतः अभेदसाधक प्रतिसन्धानमें विरुद्धधर्मरहितविषयकत्वरूप विशेषण देना चाहिये। यदि ऐसा विशेषण नहीं दिया जायगा तो—जिसे तूने बालक देखा था, उसे ही मैं युवा देख रहा हूँ—यहां भी अभेद-प्रतिसन्धान होनेसे विषय तथा दोनों आत्माओं में अभेद-सिद्धि होने लगेगी। अर्थात् यहाँ दृश्यांशमें बालत्व और युवत्वरूप विरुद्धधर्मका अध्यास होनेसे विषयांशमें अभेद नहीं होता है तथा द्रष्टाके अंशमें भी त्वया और मयाके रूपमें विरुद्ध धर्मका अध्यास होनेसे द्रष्टाके अंशमें भी अभेद नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि "योऽहं घटमद्राक्षम् सोऽहं स्पृशामि" यह प्रतिसन्धान ही स्थिर आत्माकी सत्तामें प्रमाण है, क्योंकि यहाँ विरुद्ध-धर्म आदि कोई बाधक नहीं है।

यदि कहो कि—विरुद्धधर्मरहितविषयत्वरूप विशेषण आत्माके सम्बन्धमें असिद्ध है, क्योंकि देह ही चेतन आत्मा है, और उसमें परिमाणभेदसे प्रतिदिन विरुद्धधर्मोंका अध्यास हुआ करता है—तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि देहत्व, मूर्तत्व भूतत्व तथा रूपवत्त्व आदि हेतुओंसे देहमें चैतनत्वका अभाव ही सिद्ध होता है। अर्थात् "देहो न चेतनः, मूर्तत्वात्, भूतत्वात्, रूपवत्त्वात्, रसवत्त्वात् पृथिव्यादिवत्" इत्यादि अनुमानोंसे शरीर अचेतन ही सिद्ध होता है। अतः देहको चेतन आत्मा नहीं कह सकते।

एवं देहको चेतन माननेमें देहगत-भूतसमुदायमें चैतन्य नहीं हो सकता, क्योंकि देहगत-भूतसमुदायके प्रतिदिन बदलते रहनेके कारण पूर्वदिनमें अनुभूत वस्तुका दूसरे दिन स्मरण नहीं हो सकेगा। क्योंकि

---

१ नन्वसिद्धम् इति पाठो युज्यते।

नापि प्रत्येकपर्यवसितम्, करचरणाद्यवयवविशेषे तदनुभूतस्य स्मरणायोगात्। देहस्य चैतन्ये बालस्य प्रथममप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च, इच्छाद्वेषावन्तरेण प्रयत्नानुपपत्तेः। इष्टाभ्युपायता-प्रतिसन्धानं विना चेच्छानुपपत्तेः। इह जन्मन्यननुभूतस्य प्रतिबन्धस्यास्मृतौ प्रतिसन्धानायोगात्, जन्मान्तरानुभूते चानुभवितरि भस्मसाद्भूतेऽन्येन स्मरणायोगात्, अनुभवादीनां च

अनुभव करनेवाला समुदाय दूसरा था और स्मरणके समय अब दूसरा समुदाय उत्पन्न हो गया है।

देहगत प्रत्येक अवयवमें भी चैतन्य नहीं कह सकते। क्योंकि हाथपैर आदि किसी अवयवके देहसे अलग हो जानेपर हाथ-पैरद्वारा अनुभूत वस्तुका स्मरण नहीं हो सकेगा। कारण, अनुभव करनेवाला अवयव अब है नहीं। एवं देहको चेतन माननेमें जन्मके बाद प्रथम स्तन्यपान आदिमें बालककी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि इच्छा या द्वेषके बिना प्रवृत्ति नहीं होती और इष्टसाधनताका ज्ञान हुए बिना इच्छा नहीं हो सकती, तथा इष्टसाधनताका ज्ञान अनुमानद्वारा होगा। किन्तु वह अनुमान भी व्याप्तिका स्मरण हुए बिना नहीं हो सकता। और वह व्याप्तिस्मरण भी बालकको इसलिये नहीं हो सकता कि उसे इस जन्ममें भूयोदर्शनद्वारा व्याप्तिका अनुभव नहीं होनेसे व्याप्तिस्मरणका हेतुभूत संस्कार नहीं पैदा हुआ है। इसप्रकार स्तन्यपानमें प्रवृत्तिका हेतु इष्टसाधनताका प्रतिसन्धान कथमपि नहीं हो सकता है।

यदि दूसरे जन्ममें बालकको व्याप्तिका अनुभव हुआ मानो तो तुम्हारे मतानुसार पूर्वजन्मका शरीर ही चेतन अनुभवकर्ता था। किन्तु वह तो उसी जन्ममें भस्म हो चुका था, अतः उसकेद्वारा अनुभूत स्तन्यपानमें इष्टसाधनताका स्मरण वर्तमान भिन्न शरीरके द्वारा हो नहीं सकता। क्योंकि अनुभव और संस्कार तथा व्याप्तिस्मरण, व्याप्तिस्मरण और इष्टसाधनताज्ञान, इष्टसाधनताज्ञान और इच्छा, तथा इच्छा और प्रवृत्तिमें कार्यकारणभावका निश्चय इसी जन्ममें सबको है। अतः तत्तत् कारणके अभावमें तत्तत् कार्यका भी अभाव होना स्वतः सिद्ध है। अर्थात् व्याप्तिके अनुभवके अभावमें

प्रवृत्त्यन्तानां कार्यकारणभावस्य इहैव जन्मनि निश्चितत्वात्, तथा च तदभावे तदभावस्य सुलभत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्।

अतएव नेन्द्रियाणि[1] चैतयन्ते, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाच्च।

न च मनस्तथा, तस्य करणत्वेनैवानुमानादिति प्रतिबन्ध-

संस्कारका अभाव, उसके अभावमें व्याप्तिस्मरणका अभाव, उसके अभावमें इष्टसाधनतानुमितिका अभाव, उसके अभावमें स्तन्यपानकी इच्छाका अभाव, तथा इच्छाके अभावमें प्रवृत्तिका अभाव न्यायसिद्ध है। यदि कारणके अभावमें भी कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो सर्वत्र कार्योत्पत्ति होने लगेगी तथा सभी कार्य आकस्मिक होने लगेंगे।

उक्त प्राथमिक-प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिसे ही इन्द्रियां भी चेतन आत्मा नहीं हो सकती हैं। अर्थात् इन्द्रियोंको चेतन माननेपर जन्म होनेके बाद प्रथम-प्रथम देखने, सुनने, छूने या कुछ पकड़ने आदिमें जो बालक की प्रवृत्ति होती है, वह नहीं हो सकेगी। क्योंकि इस जन्ममें उस इन्द्रियको कुछ अनुभव नहीं होनेसे प्रवृत्तिका हेतु इष्टसाधनताज्ञान अभी हुआ नहीं है। एवं दर्शन और स्पर्शनकेद्वारा एक ही वस्तुका ज्ञान होनेसे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ चेतन नहीं हैं, किन्तु उनसे अतिरिक्त नित्य आत्मा ही चेतन है। अर्थात् जिसे मैंने देखा था, उसे छू रहा हूँ, अथवा जिसे छूआ था, उसे देख रहा हूँ—इस प्रकार नेत्रसे दृष्ट वस्तुका त्वचासे और त्वचासे छूई गयी वस्तुका नेत्रसे प्रतिसन्धान होता है, यह प्रतिसन्धान इन्द्रियोंसे अतिरिक्त स्थिर चेतन माने बिना संभव नहीं है। कारण, दूसरेसे दृष्टका दूसरेद्वारा प्रतिसन्धान नहीं हो सकनेसे नेत्रसे दृष्टका त्वचासे कथमपि प्रतिसन्धान नहीं हो सकेगा। स्थिर चेतन आत्मा माननेपर तो नेत्रसे देखनेवाला भी वही है और त्वचासे छूनेवाला भी वही है। इसलिये उक्त प्रतिसन्धानके होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

एवं मनको भी चेतन (ज्ञानका कर्त्ता) नहीं कह सकते। क्योंकि

---

१ इन्द्रियाणि न चेतयन्ते इति क्वचित् पाठः।

सिद्धिः, परलोक्यात्मसिद्धिश्च। अनादिश्चासौ वीतरागजन्मादर्शनात्।

अनन्तश्च सतोऽनादित्वात्। द्रव्यं च समवायिकारणत्वात्। विभुश्च नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्। अमूर्तश्च निष्क्रियत्वात्। निष्क्रियश्च नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षधर्माश्रयत्वाच्चेति।

अनुमानद्वारा मनकी सिद्धि ज्ञानके प्रति करणके रूपमें ही होती है न कि ज्ञानके कर्ताके रूपमें, इसप्रकार देहत्व, इन्द्रियत्व और मनस्त्वमें अचैतन्यकी व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। साथ ही पूर्वजन्मके अनुभवके बिना प्रथम प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिके कारण पूर्वजन्ममें रहनेवाले परलोकी आत्माकी भी सिद्धि हो जाती है। एवं, वह चेतन आत्मा अनादि भी सिद्ध होता है। क्योंकि रागशून्य कोई भी प्राणी उत्पन्न नहीं होता है। अर्थात् जन्मते ही विषयमें राग पूर्वजन्मके अनुभवके कारण होता है और उस जन्ममें जन्मते ही जो राग होता है, वह उससे भी पूर्वजन्मके अनुभवके कारण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व जन्ममें आत्माकी सत्ता सिद्ध होनेसे वह अनादि भी सिद्ध हो जाता है।

एवं, वह चेतन आत्मा अनन्त भी है। क्योंकि वह भाव-वस्तु होते हुए अनादि है। और वह ज्ञान इच्छा आदिका समवायिकारण होने से द्रव्य भी है। क्योंकि द्रव्य ही किसीका समवायिकारण होता है। वह चेतन आत्मा विभु (व्यापक) भी है। क्योंकि वह नित्य द्रव्य होते हुए अमूर्त है। और वह अमूर्त भी इसलिये है कि वह क्रिया रहित है। क्योंकि जिसमें क्रिया होती है, वही मूर्त होता है। और निष्क्रिय भी इसलिये है कि वह नित्य होते हुए हम लोगोंके प्रत्यक्षका विषय है तथा प्रत्यक्षगुणोंका आश्रय है। अर्थात् आत्माका और उसमें रहनेवाले ज्ञान-सुखादि गुणोंका हमलोगोंको प्रत्यक्ष होता रहता है और वह आत्मा नित्य भी है। क्योंकि जो नित्य होता है और जिसका तथा जिसके गुणोंका प्रत्यक्ष होता है, वह निष्क्रिय होता है—ऐसा नियम है॥

तर्काश्चात्र भवन्ति—आदिमत्त्वे प्रथमप्रवृत्त्यनुपपत्तौ सर्वथैवाप्रवृत्तिप्रसङ्गः। सान्तत्वेऽनादेः सत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गः। अद्रव्यत्वे निर्गुणत्वप्रसङ्गः। अविभुत्वे दहनपवनादेः क्रियानुपपत्तिप्रसङ्गः[1]।

न च संयुक्तसंयोगात्तदुत्पत्तिः, साक्षात् क्रियावद्द्वारकस्य तस्याभावात्। अतथाभूतस्य च तद्धेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात्।

उक्त अनुमानोंमें विपक्षबाधक तर्क

उक्त अनुमानोंमें विपक्षबाधक तर्क भी हैं। जैसे, आत्मा यदि आदिमान् हो तो जन्मकालिक प्रथम प्रवृत्ति नहीं हो सकनेके कारण उसमें सर्वथा ही प्रवृत्तिका अभाव होने लगेगा। आत्मा यदि सान्त हो तो अनादि होते हुए सान्त होनेके कारण वह भाव वस्तु नहीं हो सकेगा, जैसे प्रागभाव। आत्मा यदि द्रव्य न हो तो वह निर्गुण हो जायगा। यदि अव्यापक हो तो अग्नि-पवन आदिमें क्रियाकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् नानादिग्वर्ती पवनादिमें अदृष्टवाले आत्माके संयोगसे ही एकसाथ क्रियाकी उत्पत्ति होती है। आत्मा के अव्यापक होनेपर न सबमें एक साथ आत्माका संयोग हो सकेगा और न उनमें एक साथ क्रियाकी उत्पत्ति हो सकेगी। किन्तु देखा यह जाता है कि एक ही साथ अग्नि, पवन, जल आदिमें क्रिया होती रहती है। अतः सबमें एक साथ संयोग होनेके लिये आत्माका व्यापक होना अनिवार्य है।

यदि कहो कि—साक्षात् संयोग नहीं होनेपर भी संयुक्तसंयोगसे पवनादिमें क्रियाकी उत्पत्ति हो जायगी। अर्थात् शरीरवृत्ति अविभु आत्मासे संयुक्त आकाश और उससे संयुक्त होनेसे पवनादिमें क्रिया होगी—तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि साक्षात् क्रियावान्के द्वारा वह क्रिया नहीं हो रही है। अर्थात् संयुक्त-संयोगसे जहां क्रिया होती है, वहाँ क्रियावान्के द्वारा ही होती है। जैसे, सँडसीको क्रियासे लोहेमें क्रिया होती है। देहसंयुक्त होनेपर भी पवनादिमें क्रिया नहीं हो सकेगी। क्रिया रहितके साथ संयोग भी यदि क्रियाका जनक हो तो शरीरसंयुक्त आकाशके संयोगसे जहाँ तहाँ क्रिया होने लगेगी।

---

१ क्रियानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति क्वचित् पाठः।

मूर्तत्वे नित्यस्यास्मदादिप्रत्यक्षधर्मानाधारत्वप्रसङ्गः, विशेषगुणवतामारम्भकत्वप्रसङ्गश्च । सक्रियत्वे मूर्तत्वप्रसङ्ग इति शास्त्रार्थसंग्रहः ।

अणुरेवासौ, विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वान्मनोवत् । अणीयांसमणोरपीति बाधप्रतिरोधाविति[1] कश्चित् । तदयुक्तम्, आत्मन्यविभौ मनसोऽणुत्वासिद्धेः, तत्संयोगक्रमादेव क्रियाक्रमोपपत्तेः । आगमस्तु 'महतोऽपि महीयांसम्' इति प्रथमपादमप-

एवं आत्मा यदि मूर्त हो तो नित्य होते हुए मूर्त होनेके कारण हम लोगोंसे प्रत्यक्ष होने योग्य सुख-ज्ञान आदि गुणोंका वह आश्रय नहीं हो सकेगा। जैसे, नित्य एवं मूर्त परमाणुओंके गुणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है। साथ ही मूर्त होते हुए विशेषगुणवान् होनेके कारण द्रव्यका आरम्भक भी होने लगेगा। जैसे, पृथिवी आदिका परमाणु द्वयणुकादिका आरम्भक होता है।

किसीका मत है कि—वह आत्मा अणु है, न कि विभु। क्योंकि ज्ञानका असमवायिकारण जो संयोग, उसका वह आधार है, जैसे मन। अर्थात् ज्ञानका असमवायिकारण आत्म-मनःसंयोग होता है, अतः उस संयोगका आश्रयभूत मन जैसे अणु है, वैसे ही उसका आश्रयभूत आत्मा भी अणु ही है। इस अनुमानसे विभुत्वानुमानका प्रतिरोध हो जायगा। एवं "अणीयांसमणोरपि" इस श्रुतिद्वारा बाध भी हो जायगा—किन्तु उक्त मत अयुक्त है। क्योंकि आत्मा यदि विभु न हो तो मनका अणुत्व ही नहीं सिद्ध हो सकेगा। कारण, आत्माके विभु होनेके कारण युगपत् अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति होने लगेगी, वैसा न हो, इसीलिये मनकी सिद्धि की जाती है, ताकि अणु-मनके क्रमिक संयोगके कारण ज्ञान भी क्रमसे ही हो। यदि आत्मा ही अणु हो तो आत्माके क्रमिक-संयोगसे ही क्रमिक ज्ञान-क्रियाकी उपपत्ति हो जायगी, फिर मन को अणु सिद्ध करना ही असंभव हो जायगा। एवं उक्त आगमका जो प्रमाणके रूपमें उपन्यास किये हो वह भी "महतोऽपि महीयांसम्" इस

[1] 'बाधविरोधाविति' इति क्वचित् पाठः।

हायोपन्यस्तस्तदलमनेन ।

स्यादेतत्, सिद्धोऽप्ययमीदृशो हेय एव । आत्मदर्शी हि तदुपकारिणि रज्यते, तदपकारिणं च द्वेष्टि । रागद्वेषौ च मूलं संसारस्य । यस्तु न तं पश्येत्, नासौ तदुपकारापकारिणमपि । ततो न रज्येत, न द्विष्यात्, न संसरेदिति जाङ्गलिकेन (विषविद्यावता) नैर्विष्यवत् मुमुक्षुणापि नैरात्म्यमेव भावनीयमिति चेत्—न, अनात्मदर्शिनो मुमुक्षुत्वव्याघातात् । न ह्यात्मानमप्रतिसन्धाय कश्चिद् दुःखं हातुमिच्छेत् सुखं वाऽवाप्तुम् । मया [1]स्वर्गापवर्गफलभागिना भवितव्यमित्यभिप्रायस्य यावदभियोगमनु-

---

प्रथमपादको छोड़कर किये हो, किन्तु ऐसा न करो । अर्थात् प्रथमपादस्थ आगमसे विरोध होनेके कारण अणुत्वप्रतिपादक आगम आत्मा की दुर्बोधता सूचित करनेके लिये है ।।

आत्माका उपादेयत्वनिरूपण

(पूर्वपक्ष) अस्तु, प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ भी इस तरहका आत्मा हेय (त्याज्य) ही है । क्योंकि आत्माका ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति उसके उपकारीके प्रति राग रखेगा और उसके अपकारीके प्रति द्वेष करेगा और ये राग और द्वेष ही संसारके मूल हैं । जो तो ऐसे आत्माका ज्ञान नहीं करेगा, वह उसके उपकारी और अपकारीको भी नहीं जानेगा और न उसमें राग करेगा, या न द्वेष करेगा और न आवागमनरूप संसारमें बँधेगा । अतः जिस प्रकार विषवैद्य विषमें भी नैर्विष्य (औषध) की भावनासे ही चिकित्सा करता है, वैसे ही मोक्षकी कामनावाले व्यक्तिको भी नैरात्म्य (आत्माका अभाव) की ही भावना करनी चाहिये ।

समाधान—इस तरहकी बात नहीं कह सकते । क्योंकि जो आत्मदर्शी नहीं होगा वह मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) भी नहीं हो सकता है । अर्थात् जो दुःखयुक्त आत्माको जानेगा, वही उसके दुःखनाशरूप मोक्षकी इच्छा करेगा । आत्माका प्रतिसन्धान किये विना न कोई दुःखको

---

१. स्वर्गापवर्गपदे सुखदुःखाभावपरे इति आधारग्रन्थ टिप्पणी ।

वृत्तेः। अननुवृत्तावभियोगनिवृत्तौ फलासिद्धेः।

इत्थञ्च नैरात्म्यदृष्टिर्नास्तिक्यं द्रढयेत्। तच्च प्रबलविषय-तृष्णानिष्णात[1] मनर्थमनन्तं प्रसुवीत। न चेदेवम्, कुतो "याव-ज्जीवेदि"त्यादयो निःशङ्कमुल्लापाः[2]।

यदुक्तमुपकारिणि रज्येत अपकारिणं द्विष्यादिति, तदेवमेतत्। यो हि मोक्षमुपकारं मनुते, स तद्धेतौ रक्तः, तमुपाददानः तत्परिपन्थिनं द्वेषादलंप्रत्ययाद्वा परिहरन्नेव समीहितं समासाद-

छोड़नेकी इच्छा करेगा और न सुखको पानेकी। मैं स्वर्ग और अपवर्ग फलका भागी बनूँ यह इच्छा तबतक बनी रहती है, जबतक कि सुख पाने और दुःख छोड़ने का प्रयत्न जारी रहता है। उक्त इच्छाकी अनुवृत्ति नहीं रहनेपर प्रयत्न की भी निवृत्ति हो जायगी और प्रयत्नके अभावमें स्वर्गादि फल भी नहीं सिद्ध हो सकेगा। अर्थात् उक्त फलेच्छासे सिद्ध होता है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान अनिवार्य है।

एवं, यह नैरात्म्यबुद्धि नास्तिक्यको अर्थात् 'न परलोक है और न कर्मफल होता है' इस तरहके निश्चयको और दृढ़ करेगा तथा वह नास्तिक्य प्रबल विषय-तृष्णासे भरे हुए अनन्त अनर्थोंको उत्पन्न करेगा। यदि ऐसा न करता तो क्यों—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।"

इत्यादि निःशङ्क प्रलाप होते? अर्थात् नास्तिक्यके कारण उत्पन्न विषय-तृष्णाकी वजहसे ही उक्त प्रलाप नास्तिकोंकी ओरसे किये जाते हैं।

और जो यह कहा कि—आत्माका प्रतिसन्धान करनेवाला व्यक्ति आत्माके उपकारीके प्रति राग करेगा और अपकारीके प्रति द्वेष करेगा—तो यह ऐसा ही है। अर्थात् उक्त कथन ठीक ही है। क्योंकि जो मोक्षको उपकारके रूपमें मानता है, वह मोक्षके हेतुमें रागवान् होकर उसे ग्रहण करता हुआ तथा उसके बाधकको (भोगेच्छाको) द्वेषबुद्धि

१. सम्प्लुतमिति १ पु० पा०। २. निःशङ्कप्रलापाः इति १ पु० पा०

येत्, न तु विपर्ययात् । यस्तु भोगम्, सोऽपि तथा, इत्यनुकूलमेव प्रतिकूलत्वेन गृहीतं मन्दैः । अन्यत्रानुरज्येत, अन्यत्रापि द्विष्यादिति न दृष्टं गोवैद्यकेऽपीति ।

तथापि दुःखहेतुत्वादिन्द्रियादिवदसौ हीयतामिति चेत्, यादृशो दुःखहेतुस्तादृशो हेय एव, सोपाधिश्च तथा । निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्, न, अशक्यत्वात् , निष्प्रयोजनत्वाच्च । न

या अलंबुद्धिसे दूर करता हुआ अपने अभीष्ट (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है, न कि इसके विपरीत भोगोंके सेवनसे ।

एवं, जो तो भोगको अपने उपकारके रूपमें मानता है, वह भी वैसा ही करता है । अर्थात् भोगानुकूलमें राग करता हुआ तथा भोगमें बाधकका परिहार करता हुआ ही अपने अभीष्ट भोगको प्राप्त कर सकता है । अतः यह राग और द्वेष तो अभीष्टके ही साधक हैं । किन्तु मन्दबुद्धियोंने अनुकूलको ही प्रतिकूलके रूपमें समझ लिया है । अन्यत्र अर्थात् जो अभीष्ट नहीं है उसमें यदि राग हो तथा जो अभीष्ट हो उसीमें द्वेष हो तो वह राग और द्वेष प्रतिकूल हो सकता है । किन्तु ऐसा तो गो-चिकित्सकमें भी नहीं देखा जाता है । क्योंकि गौका चीरना फाड़ना महान् अनर्थका कारण है, फिर भी चिकित्सक उसे रोगसे मुक्त करनेके उद्देश्यसे उसकी शल्य-चिकित्सा करता ही है और उसका पाप उस चिकित्सकको नहीं लगता है । उसी प्रकार राग-द्वेष भी स्वरूपतः अनर्थका हेतु नहीं होता है, यदि उसका उद्देश्य कल्याणमय हो । अतः मुक्तिमें राग करना और उसके प्रतिबन्धकमें द्वेष करना उचित ही है ।

फिर भी दुःखका हेतु होनेके कारण इन्द्रिय-विषय तथा देहादिके समान वह आत्मा त्याज्य होगा, ऐसा यदि कहो तो जिस तरहका आत्मा दुःखका हेतु है, वैसा त्याज्य ही है । और शरीर-इन्द्रिय आदि उपाधिसे युक्त ही आत्मा दुःखका हेतु है । यदि कहो कि—उपाधि-विहीन शुद्ध आत्मा भी त्याज्य होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि उपाधिरहित आत्माका त्याग असंभव है और निष्प्रयोजन भी है । क्योंकि

हि तस्य हानं विनाशो, नित्यत्वात्। नापि विप्रयोगो, व्यापकत्वात्। नाप्यप्रतिपत्तिः, यथा यथा तदर्थं यत्नः, तथा तथा प्रतिपत्तेः। उपेक्षात इति चेत्, कृतैवैतावन्तं कालमुपेक्षा, तथापि तद्धानासिद्धेः।

निष्प्रयोजनं चैतत्, सोपाधेर्हि त्यागो दुःखहानाय, निरुपाधेस्तु किमर्थम्? पुनः सोपाधित्वशङ्कया इति चेत्, न, बीजाभावादिति। कुतः पुनरुपादेयः? तथा सति भावनाक्रमेण

उसके त्यागका अर्थ उसका विनाश नहीं है, क्योंकि वह नित्य है। त्याग का अर्थ दूर हो जाना या व्यवहित हो जाना भी नहीं है, क्योंकि आत्मा व्यापक है। अप्रतीतिको भी आत्माका त्याग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अप्रतीतिरूप त्यागके लिये जैसे जैसे यत्न किया जायगा, वैसे वैसे उसकी प्रतीति ही होती जायगी। यदि कहो कि—उपेक्षासे अप्रतीति की सिद्धि हो जायगी, अर्थात् आत्माकी प्रतीतिके लिये कोई यत्न ही नहीं किया जायगा, अतः उसकी अप्रतीति स्वतः हो जायगी—तो आपने इतने समय तक आत्मज्ञानके प्रति उपेक्षा की ही, फिर भी आत्माका हान (अप्रतीति) नहीं सिद्ध हुआ। अर्थात् "अहं गौरः अहं सुखी" इत्यादि ज्ञानकी धारा चलती ही रहती है। अतः आत्माका त्याग किया जाना प्रत्येक दृष्टिसे अशक्य है।

एवं निरुपाधिक आत्माका हान निष्प्रयोजन भी है। क्योंकि सोपाधिक आत्माका त्याग दुःखसे छुटकारा पानेके लिये अपेक्षित है, किन्तु निरुपाधिक आत्माका त्याग किसलिये अपेक्षित है? यदि कहो कि—सोपाधिककी आशङ्कासे अर्थात् शरीर-इन्द्रिय आदि उपाधिका भविष्यमें पुनः संसर्ग हो जानेकी आशङ्कासे निरुपाधिक आत्माका भी त्याग अपेक्षित है—तो यह नहीं कह सकते। धर्माधर्म या मिथ्याज्ञानरूप बीजका अभाव हो जानेसे ही आत्माको पुनः शरीरग्रहणकी आशङ्का नहीं रहेगी।

यदि यह पूछो कि—आत्मा यदि हेय नहीं है तो उपादेय (ग्राह्य) भी क्यों है?—तो इसका उत्तर यह है कि न्यायके अनुसार आत्माका

निःश्रेयससिद्धेः। किमस्योपादानम्? विवेकः। कुतः? अनात्मनः शरीरादेः।

किं पुनरत्र प्रमाणम्? न्यायः, आम्नायश्च। शरीरमेव हि तावन्मूर्धाभिषिक्तमनात्मानं मन्यमानस्य तदुपादाय तदनुकूलत्रैलोक्यविषया तृष्णा विजृम्भते, तथा तत्प्रतिकूलविषयो द्वेषः। न चैतत् केवलात्मदर्शिनः सम्भवति, निरुपाधेः पुत्रवित्तलोभाभावात्, तैरनुपकार्यत्वात्, छेदक्लेददाहशोषाद्यनुपपत्तेः विधि-

---

मनन कर लेनेपर निदिध्यासनद्वारा शरीरादिसे भिन्न आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे मोक्षकी सिद्धि होगी। इसीलिये आत्मा उपादेय है। यदि पूछो कि-आत्माके उपादानका क्या अभिप्राय है? तो उत्तर होगा—विवेक अर्थात् भिन्नरूपमें ज्ञान। यदि पूछो—किससे? तो कहूँगा, अनात्मभूत शरीर-इन्द्रिय आदिसे। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन तथा विषय आदिसे भिन्नरूपमें आत्माका ज्ञान ही उसका उपादान है।

यदि पूछो कि–शरीरादिसे भिन्नरूपमें आत्माका ज्ञान करना चाहिये, इसमें क्या प्रमाण है?—तो यही उत्तर है कि न्याय और आम्नाय (श्रुति) दोनों ही प्रमाण हैं। क्योंकि शरीरको ही, जो सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं पूर्णरूपसे अनात्मा है, आत्मा माननेवाले व्यक्तिको शरीर पाकर उसके अनुकूल संसारविषयक तृष्णा जगती है तथा शरीरके प्रतिकूल विषयके प्रति द्वेष जगता है। इसप्रकारकी तृष्णा और द्वेष निरुपाधिक-आत्मज्ञानीको नहीं हो सकता है। क्योंकि उपाधिविहीन आत्माको पुत्र-धन आदिका लोभ नहीं होता है। कारण, उपधि-हीन आत्माका पुत्रवित्तादिसे कोई उपकार नहीं है। एवं निरुपाधि आत्माको छेदन, क्लेदन, दाह या शोषण आदिका कुछ भी अनुभव नहीं होता है। इसलिये छेदनादिके हेतुओंके प्रति द्वेष भी नहीं होता।

एवं विधि-निषेधोंमें निरुपाधि आत्माका अधिकार भी नहीं है। अर्थात् वैदिक यज्ञादि-विधियोंमें तथा हिंसादि-निषेधोंमें शरीरवान् आत्मा ही अधिकारी है। अतः निरुपाधि आत्माको विहितानुष्ठान या निषिद्ध-परित्यागकी दृष्टिसे भी तृष्णा या द्वेषकी संभावना नहीं है। क्योंकि

निषेधानधिकाराच्च । जन्मजातिवयोवित्तसंस्काराद्युपग्रहेण तत्प्रवृत्तेः ।

ततोऽनात्मन्यात्मग्रहो निदानं संसारस्य, मिथ्याज्ञानं च तत्त्वज्ञानान्निवर्तते । तच्च श्रवणमननादिक्रमेणोत्पद्यते । कारणनिवृत्तौ च कार्यं न जायते । उत्पन्नश्च धर्माधर्मप्रचयो भोगेन क्षीयत इति न्यायार्थसारसंक्षेपः । आम्नायसारसंक्षेपस्त्वशरीरं वाव सन्तमित्यादि ।

जन्म (शरीरग्रहण), ब्राह्मणत्वादि-जाति, दीर्घायुष्ट्वरूप वय, यज्ञसम्पादनके लिये समुचित द्रव्य तथा उपनयन-संस्कार आदि होनेपर ही विधि-निषेध-शास्त्रमें अधिकार होता है, अन्यथा नहीं । अर्थात् उक्त जन्म-जाति आदि का उपग्रह वीतराग आत्मतत्त्वदर्शीको नहीं होनेसे उसका विधि-निषेधोंमें अधिकार नहीं होता ।

अतः शरीर-इन्द्रियादि अनात्मवस्तुमें आत्मत्वका ग्रहणरूप मिथ्या-ज्ञान ही संसारका हेतु है, और वह मिथ्याज्ञान तत्त्वज्ञानसे दूर होता है । तथा वह तत्त्वज्ञान भी श्रवण मनन-निदिध्यासनक्रमसे पैदा होता है । इसप्रकार आत्मतत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानरूप संसारहेतुकी निवृत्ति हो जानेसे संसाररूप कार्यकी भी निवृत्ति हो जाती है । अर्थात् मिथ्या-ज्ञानकी निवृत्तिसे रागद्वेषरूप दोषकी निवृत्ति होती है । दोषकी निवृत्ति से प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है । तथा प्रवृत्तिकी निवृत्तिसे जन्मकी निवृत्ति हो जाती है । जन्मकी निवृत्ति हो जानेसे पुनः दुःखोत्पत्ति नहीं होती है, यही अपवर्ग है ।[1]

एवं पूर्वोत्पन्न धर्माधर्मका समूह भोगद्वारा क्षीण हो जाता है । अतः उस कारणसे भी पुनः संसारकी संभावना नहीं रह जाती है । यही न्यायसिद्धान्तके रहस्यका संक्षेप है । वैदिकरहस्यका संक्षेप तो "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इत्यादि है । अर्थात् शरीर-इन्द्रिय आदि उपाधियोंका विगम होनेपर आत्मामें संसारकी निवृत्ति हो जाती है ॥

---

१. 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० द० १।१।२ ।)

तदप्रामाण्यं प्रपञ्चमिथ्यात्व-सिद्धान्तभेद-तत्त्वोपदेशपौनःपुन्येषु अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषेभ्य इति चेन्, न, सतात्पर्यत्वात्। निष्प्रपञ्च आत्मा ज्ञेयो मुमुक्षुभिरिति हि तात्पर्यं प्रपञ्चमिथ्यात्वश्रुतीनाम्। आत्मन एकस्य ज्ञानमपवर्गसाधनमित्यद्वैतश्रुतीनाम्। दुरूहोऽयमिति पौनःपुन्यश्रुतीनाम्। बहिःसंकल्पत्यागो निर्मनस्कश्रुतीनाम्। आत्मैवोपादेय इत्यानन्दश्रुतीनाम्। गारुडवदनुष्ठाने तात्पर्यं प्रकृत्यादिश्रुतीनाम्, तन्मूलानां साङ्ख्यादिश्रुतीनां चेति नेयम्। अन्यथा "जैमिनि-

---

आम्नायमें अप्रामाण्यका खण्डन

यदि कहो कि—आम्नाय (वेद) अप्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध प्रपञ्चको मिथ्या बतानेके कारण वह अनृतदोषसे ग्रस्त है। एवं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियोंमें अद्वैतका प्रतिपादन किया गया है और अन्यत्र श्रुतिमें द्वैतका प्रतिपादन किया गया है, इस प्रकार सिद्धान्तभेद मिलनेसे व्याघातदोषसे ग्रस्त है। तथा एक ही ब्रह्मका बारंबार उपदेश होनेके कारण पुनरुक्तदोषसे ग्रस्त है—तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उक्त कथनोंका अभिप्राय दूसरा है। जैसे, "मोक्षार्थियोंके लिये निष्प्रपञ्च आत्मा ज्ञेय है" इसमें प्रपञ्चको मिथ्या बतानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य है। "एकमात्र आत्माका ही ज्ञान मोक्ष-का साधन है" इसमें अद्वैत-श्रुतियोंका तात्पर्य है। आत्माको अमना बतानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य बाह्यसङ्कल्पोंका त्याग करनेमें है। आत्माको आनन्दस्वरूप बतानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य "आत्मा ही उपादेय है" इस अर्थमें है। प्रकृतिको चेतनसंसर्गसे सृष्टिकर्ता बतानेवाली श्रुतियों तथा तन्मूलक सांख्यादि-दर्शनोंका तात्पर्य गारुडविद्याके समान अनुष्ठानमें है। अर्थात् गरुडविद्या जाननेवाले जाङ्गलिक साँपके काटनेसे अचेतन हुए व्यक्तिमें परिश्रमद्वारा चैतन्य उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार अचेतन भी प्रकृतिमें चैतन्यका उपराग बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीरादिसे भिन्न अपने तत्त्वको नहीं जाननेवाले अचेतनतुल्य आत्माको तत्त्वज्ञानके लिये प्रणिधान (समाधि) का उपदेश देनेके लिये सांख्यमतका प्रतिपादन हुआ है। यदि इसप्रकारका तात्पर्य न हो तो

—यदि वेदज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
ताबुभौ यदि वेदज्ञौ व्याख्याभेदस्तु किं कृतः ?॥" इति।

प्रामाण्यं तु तस्य कुत इति चेत्, आप्तोक्तत्वात्। तदसिद्धमिति चेत्, न, विश्वस्य कर्तुरनुमानसिद्धत्वात्। विवादाध्यासितकर्तृकं सकर्तृकं कार्यत्वादिति।

विशेषविरुद्धोऽयं हेतुरिति चेत्, न, विरोधिविशेषाप्रतीतौ विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्, तत्प्रतीतौ वा सहोपलम्भनियमेन

इसमें क्या प्रमाण है कि जैमिनिमुनि वेदज्ञाता हैं और कपिलमुनि नहीं हैं। यदि दोनों ही महर्षि वेदज्ञाता हैं, तो दोनोंकी व्याख्या क्यों भिन्न-भिन्न हो जायगी ? अर्थात् तात्पर्यभेदसे दोनोंकी व्याख्या सङ्गत है ॥

वेदप्रमाण्यका स्थापन

यदि कहो कि—वेदमें अप्रामाण्य भले ही न हो, किन्तु उसमें प्रामाण्य की सिद्धि कैसे होगी ?—तो यही कहूँगा कि आप्तद्वारा उक्त होनेके कारण वेद प्रमाण हैं। यदि कहो कि वेदमें आप्तोक्तत्व असिद्ध है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि संसारका कर्ता (ईश्वर) अनुमानसे सिद्ध है। यहाँ अनुमानका स्वरूप यों है—विवादास्पद है कर्ता जिसका, ऐसा यह विश्व, कर्तासे उत्पन्न है, क्योंकि यह कार्य (उत्पत्तिमान्) है। जो जो कार्यवस्तु है, उसका अवश्य कोई कर्ता होता है, जैसे पटरूपकार्यका कर्ता कुम्भकार होता है, इत्यादि।

यदि कहो कि—ईश्वरको सिद्ध करनेवाला कार्यत्व-हेतु पक्षधर्मताबलसे सिद्ध होनेवाले अशरीरी कर्तारूप विशेषके विरुद्ध है। अर्थात् उक्त अनुमानद्वारा जो ईश्वर सिद्ध होता है, वह पक्षधर्मताबलसे नित्य सर्वज्ञ एवं अशरीरी सिद्ध होता है। किन्तु कार्यत्व-हेतु उसके विरुद्ध है। क्योंकि लोकमें जो भी कार्य देखा जाता है जैसे घटा-पटादि, वह सभी शरीरी कर्तासे उत्पन्न है। अतः कार्य होना अशरीरी कर्ताके विरुद्ध है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि पक्षधर्मताबलसे अशरीरी-कर्तारूप विरोधीभूत-विशेषकी प्रतीति है ? या नहीं

विरोधस्य बाधितत्वात् ।

सर्वथैवाप्रतीतस्याभिप्रायगोचरत्वमपि कथमिति चेत्, न, स्वार्थानुमानसिद्धत्वात् । ततोऽपि कथं सिध्यत्विति चेत्, अप्रतीतप्रत्यायकं प्रमाणम्, न त्वप्रतीतेन विरोधः शक्यनिश्चय इत्यतो विशेषात् ।

का पुनरनुमानस्यैवम्भूतप्रत्यायने शक्तिरस्तीति चेत्,

है ? यदि उसकी प्रतीति ही नहीं है तो विरोधीकी प्रतीतिके अभावमें विरोधकी प्रतीति ही नहीं हो सकेगी। यदि अशरीरी कर्ताकी प्रतीति है तो अशरीरिकर्तृकत्व और कार्यत्वकी साथ-साथ उपलब्धि होनेके कारण उनका विरोध बाधित है। अर्थात् जिसका साथ-साथ उपलम्भ होता है, उसमें विरोध बताना अग्निको शीत बतानेके बराबर है।

यदि कहो कि—क्षित्यादिके कर्ता ईश्वरके जो नित्यत्व-सर्वज्ञत्व-अशरीरित्व आदि विशेष हैं, वे सर्वथा ही अप्रतीत हैं, अतः वे तुम्हारे तात्पर्यके विषय भी कैसे हो सकते हैं ? तथा अशरीरिकर्तृकत्वकी सिद्धिके लिये न्यायप्रयोग भी कैसे हो सकेगा ?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि विशेषकी स्वार्थानुमानसे सिद्धि है। अर्थात् स्वार्थानुमानसे उसकी प्रथम प्रतीति करके पश्चात् दूसरेको बतानेके लिये परार्थानुमानका प्रयोग किया जाता है। यदि पूछो कि—स्वार्थानुमानसे भी उस विशेषकी कैसे सिद्धि हो सकती है, जो सर्वथा ही अप्रतीत है। क्योंकि पक्षधर्मता भी व्याप्तिबलसे आनीत अर्थको ही पक्षमें सिद्ध करती है, न कि जो सर्वथा ही अप्रतीत है उसको। अशरीरी कर्ता तो सर्वथा ही अप्रतीत है—तो यहाँ विशेषकी सिद्धि इसलिये हो सकेगी कि अप्रतीत वस्तुकी प्रतीति कराना ही तो प्रमाणका काम है। अर्थात् प्रमाणकी महिमासे उसकी प्रतीति हो जाती है। क्योंकि जबतक प्रतीति नहीं हुई रहती है तबतक उसका हेतुभूत प्रमाणके साथ विरोधका निश्चय भी कैसे हो सकता है ? प्रतीतिकी दशामें तो उस विशेष और प्रमाणकी साथ-साथ उपलब्धि होनेसे ही अविरोध सिद्ध हो जाता है।

अनुमानकी वह कौनसी शक्ति है, जो इस प्रकारकी अप्रतीत वस्तुकी प्रतीति करा देती है ?—तो इसका उत्तर यह होगा कि आकांक्षा (अन्वय-

आकाङ्क्षानुपपत्तिनियमभेदेन त्रिविधः सम्बन्धः। तत्रा-काङ्क्षानियमाभ्यामन्वयी, अनुपत्तिनियमाभ्यां व्यतिरेकीति विभागः।

अस्तु तर्हि सत्प्रतिपक्षत्वं शरीराजन्यत्वादिति चेत्, न, असमर्थविशेषणत्वेनासिद्धभेदस्यातुल्यबलत्वात्।

सहचार) और अनुपपत्ति (व्यतिरेक-सहचार) से ग्राह्य जो नियम विशेष अर्थात् अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेकव्याप्ति और अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति है, तत्स्वरूप जो हेतुमें रहनेवाला तीन प्रकारका सम्बन्ध होता है, वही अनुमानकी शक्ति है। इनमें अन्वयसहचार एवं अन्वय-व्याप्तिसे अन्वयी-हेतु है, तथा व्यतिरेकसहचार एवं व्यतिरेकव्याप्तिसे व्यतिरेकी हेतु होता है, तथा अन्वय-व्यतिरेक उभय सहचारसे प्रतीत होनेवाली व्याप्तिसे अन्वय-व्यतिरेकी हेतु होता है। यह त्रिविध हेतुओंका विभाग है। अर्थात् प्रतीतिका अपर्यवसानरूप आकांक्षा तथा प्रतीतवस्तुका अपर्यवसानरूप अनुपपत्ति इन दोनोंमेंसे कोई एक अनु-मितिमें अवश्य रहती है। अतः "क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात् घटवत्" यह अन्वयि अनुमान तबतक पर्यवसित नहीं हो सकता, जबतक कि कर्तामें सर्वज्ञत्वका भान उस अनुमितिमें न हो। क्योंकि उपादानभूत परमाण्वादिविषयक अपरोक्षज्ञानकी सत्ता ही कर्तृत्व है। तथा इसप्रकार-का कर्तृत्व होनेके लिये कर्ताको परमाणु आदिका प्रत्यक्षज्ञान करनेवाला सर्वज्ञ होना चाहिये। एवं, वह नित्य और अशरीरी भी इसीसे सिद्ध हो जाता है।

यदि कहो कि—पूर्वोक्त दोष न होनेपर भी जन्यत्व-हेतु शरीरा-जन्यत्व-हेतुके साथ सत्प्रतिपक्षित हो जाय। अर्थात् "क्षित्यादिकं सकर्तृकं जन्यत्वात्" इस अनुमानका प्रतिपक्षी अनुमान होगा "क्षित्या-दिकं न सकर्तृकं, शरीराजन्यत्वात्"। अतः शरीरसे उत्पन्न नहीं होनेके कारण पृथिवी आदिका कोई कर्ता नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त प्रतिपक्षी अनुमानके शरीराजन्यत्व-हेतुमें शरीरविशेषण असमर्थ है अर्थात् व्यभिचारका निवारक नहीं है। अतः शरीराजन्यत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। कारण, हेतुमें कोई भी विशेषण देनेका प्रयोजन

असिद्धिपरिहारे विशेषणं समर्थमिति चेत्, न, एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तेः। अन्यथा विवादाध्यासितं नादृष्टहेतुकं शरीराजन्यत्वादित्यनेनापि जन्यत्वस्य सत्प्रतिपक्षप्रसङ्गादिति।

तर्कापरिशुद्धिरस्तु दूषणम्, शरीरनिवृत्तौ बुद्धिनिवृत्तेः। बुद्धिनित्यत्वे शरीरानुपयोगवत्, प्रयत्ननित्यतायां ज्ञानेच्छानुपयोगादिति चेत्, न, प्रयत्नस्य द्विधर्मकत्वात्। स हि

है व्यभिचारका वारण। किन्तु यहाँका शरीर विशेषण व्यभिचारवारक नहीं होनेसे व्याप्यत्वासिद्धके अन्तर्गत आ जाता है। अतः यह असिद्धहेतु कर्तृसाधक पूर्वोक्त अनुमानके तुल्यबलवाला नहीं है। तुल्यबल होनेपर ही सत्प्रतिपक्ष होता है।

यदि कहो कि—केवल अजन्यत्वको हेतु बनानेमें यह हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा। क्योंकि क्षित्यादिक अजन्य नहीं है किन्तु जन्य है। अतः स्वरूपासिद्धिका वारण करनेके कारण शरीर-विशेषण समर्थ (सार्थक) है। क्योंकि क्षित्यादिक शरीरसे तो अजन्य है ही—तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि एक असिद्धिका परिहार करनेमें पुनः दूसरी असिद्धि (व्याप्यत्वासिद्धि) की आपत्ति हो जाती है। यदि असमर्थ विशेषणकी दशामें भी सत्प्रतिपक्ष हो तो "क्षित्यादिकम् अदृष्टहेतुकं, जन्यत्वात्" यह अनुमान भी "क्षित्यादिकं न अदृष्टहेतुकम्, शरीराजन्यत्वात्" इस प्रतिपक्षी अनुमानके द्वारा सत्प्रतिपक्षित होने लगेगा।

यदि कहो कि—ईश्वर-साधक अनुमानमें विरुद्धत्वदोष या सत्प्रतिपक्षत्वदोष भले न हो फिर भी तर्कापरिशुद्धिदोष होगा। अर्थात् उक्त अनुमान प्रतिकूल तर्कोंसे उपहत हो जायगा। जैसे—जगत्‌का कर्ता यदि अशरीरी होगा तो शरीरके बिना उसमें बुद्धि भी नहीं हो सकेगी। ईश्वरीयज्ञानके नित्य होनेसे उसके लिये यदि शरीरकी कोई उपयोगिता न हो तो उसी तरह ईश्वरीय-प्रयत्नके भी नित्य होनेसे उसके लिये ज्ञान और इच्छाकी भी उपयोगिता समाप्त हो जायगी और ईश्वर

ज्ञानकार्यो ज्ञानैकविषयश्च कर्तृत्वम्। तत्र कार्यत्वनिवृत्तौ कारणतया ज्ञानं मा पेक्षिष्ट, विषयार्थं तु तदपेक्षा केन वार्यते ? न चास्य स्वरूपेणैव विषयप्रवणत्वं, ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। अयमेव हि ज्ञानात् प्रयत्नस्य भेदो यदयमर्थाप्रवण इति।

न च निर्विषय एवास्त्विति वाच्यम्, अकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सोऽप्येकः कथं सिध्येत् ? मा सैत्सीदिति चेत्, न, तत्र साधनस्य निर्दोषत्वात्। दोषे वा स एव

ज्ञानरहित भी सिद्ध हो जायगा। अर्थात् जैसे शरीरके बिना भी ईश्वरीय ज्ञानकी सत्ता मानते हो उसी प्रकार ज्ञान और इच्छाके बिना भी ईश्वरीय प्रयत्न मानना पड़ेगा, जो कि "जानाति, इच्छति, यतते" इस नियमके विरुद्ध है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रयत्नके दो धर्म हैं—एक यह कि वह कर्तृत्वरूप प्रयत्न ज्ञानका कार्य है। दूसरा यह कि वह प्रयत्न ज्ञानसमानविषयक होता है, अर्थात् यद्विषयक ज्ञान होता है, तद्विषयक ही प्रयत्न भी होता है। अतः ईश्वरीय प्रयत्नमें कार्यत्व-धर्मका अभाव होनेसे कारणके रूपमें ज्ञानकी अपेक्षा भले ही न हो फिर भी विषयके लिये प्रयत्नको ज्ञानकी अपेक्षा होगी, इसे कौन रोक सकता है। अर्थात् ईश्वरके नित्य भी इच्छा और प्रयत्न विषयलाभके लिये ज्ञानकी अपेक्षा करते हैं। प्रयत्नको बिना ज्ञानकी अपेक्षा किये ही सीधे विषयोन्मुख नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह प्रयत्न न होकर ज्ञान हो जायगा। कारण, ज्ञानसे प्रयत्न का यही भेद है कि प्रयत्न सीधे विषयोन्मुख नहीं होता किन्तु ज्ञानके द्वारा ही होता है। अर्थात् ज्ञानीय-विषयमें ही प्रयत्न भी होता है।

यहाँ यह नहीं कह सकते कि—प्रयत्नको सविषयक माननेमें ही ज्ञानकी अपेक्षा होगी, अतः प्रयत्न निर्विषयक ही माना जाय—क्योंकि तब उसमें कारणता भी नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रयत्न कारण इसी लिये कहाता है कि वह विषयमें व्यापार उत्पन्न करता है। अतः निर्विषयक होनेके कारण प्रयत्न जब कारण ही नहीं हो सकेगा तो केवल प्रयत्नकी कैसे सिद्धि हो सकेगी ? अर्थात् कार्यत्वहेतुके बलसे

बाधः। सर्वविषयत्वात्तस्य किं विषयनियमार्थेन ज्ञानेनेति-चेत्, न, तस्य स्वरूपेणार्थप्रवणत्वाभावात्, भावे वा ज्ञानत्व-प्रसङ्गादित्युक्तम्।

जीवनयोनिप्रयत्नवद् विषयव्यवस्था भविष्यतीति चेत्, न, जात्यन्तरत्वात्। एकजातीयत्वे तस्यापीच्छापूर्वकत्वप्रस-ङ्गात्। इच्छाया वा तत्कारणत्वं न स्यात्, तामन्तरेणापि

ज्ञान-इच्छा आदि भले ही सिद्ध न हो किन्तु प्रयत्नके अकारण हो जानेसे कार्यत्व-हेतुसे प्रयत्न-पूर्वकत्व भी नहीं सिद्ध हो सकेगा। और ज्ञान-इच्छाके साथ साथ प्रयत्न भी जगत्के मूलरूपसे बहिष्कृत हो जायगा।

यदि कहो कि—प्रयत्न भी मत सिद्ध हो, क्या हानि है?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि सृष्टिमें प्रयत्न-पूर्वकत्व सिद्ध करनेवाला कार्यत्व-हेतु सर्वथा दोषरहित है। यदि उसे भी सदोष मानो तो फिर वही बाध-दोष आ जाता है! अर्थात् कार्यवस्तुका बिना प्रयत्नके होना प्रत्यक्षबाधित है। यदि कहो कि—ईश्वरीय प्रयत्नके सर्वविषयक होनेसे उसमें विषय-नियमार्थ ज्ञानकी सत्ता मानना व्यर्थ है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रयत्नमें स्वतः (सीधे) विषय-प्रवणता (विषयो-न्मुखता) नहीं होती है। यदि हो तो विषयसे सीधा सम्बन्ध होनेके कारण वह प्रयत्न न होकर ज्ञान हो जायगा। क्योंकि ज्ञानका ही विषयसे सीधा सम्बन्ध होता है। यह बात पूर्वमें कही जा चुकी है।

यदि कहो कि—जीवनयोनि-प्रयत्नके समान ही अन्य प्रयत्नमें भी विषयकी व्यवस्था हो जायगी। अर्थात् जीवनयोनि-प्रयत्न बिना ज्ञानके ही प्राणविषयक होता है और अचेतावस्थामें भी प्राणी उसीके कारण श्वास-प्रश्वास क्रिया करता रहता है, वैसे ही अन्य प्रयत्न भी बिना ज्ञान के ही सविषयक होगा—तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि जीवनयोनि-प्रयत्न एक दूसरी ही जातिका प्रयत्न है। यदि एक ही जातिका हो तो वह भी अन्य प्रयत्नोंके समान इच्छा पूर्वक होने लगेगा। अर्थात् इच्छा होनेपर ही श्वास-प्रश्वास हो सकेगा। अथवा जैसे जीवनयोनि-

तज्जातीयस्योत्पत्तेः। तस्मात् कृतिजातीयस्य ज्ञानेच्छाभ्यामेव सविषयव्यवस्था। स च साधयितुमिष्ट इति।

तार्किकगर्ववाहस्त्वाह—ननु सपक्षविपक्षयोर्दर्शनादर्शनमात्रस्य शतशः प्रवृत्तावपि व्यभिचारोपलम्भात्, तल्लक्षणस्यानुपलब्धव्यभिचारस्यापि तथाभावसम्भावनाक्रान्तत्वात् लक्षणान्तरं प्रतिबन्धस्य वक्तुमुचितम्। तच्चोपाधिविरहो वा स्यात्, तदुत्पत्तिर्वा, विपक्षे बाधकं वेति संक्षेपः। तत्र न प्रथमः, अदृश्योपाध्यभावनिश्चयोपायाभावात्। दृश्येनैवोपाधिना भवितव्यमिति च नियमानुपपत्तेः।

प्रयत्न बिना इच्छाके होता है, वैसे ही अन्य प्रयत्नमें भी इच्छाकी कारणता नहीं हो सकेगी। क्योंकि इच्छाके बिना भी उसी जातिका दूसरा प्रयत्न (जीवनयोनि-प्रयत्न) उत्पन्न होता है। इसलिये उस प्रयत्नमें, जो इच्छाके अधीन उत्पन्न होता है, ज्ञान और इच्छाके द्वारा ही सविषयत्वकी व्यवस्था होती है। और वही प्रयत्न यहाँ सिद्ध करनेके लिये मेरा अभीष्ट भी है। अर्थात् कार्यत्व हेतुसे क्षित्यादिके प्रति उक्त कृति (प्रयत्न) मान् कर्ता ही सिद्ध करना मेरा अभीष्ट है।

अपनी तार्किकताका अभिमान रखनेवाले बौद्धका पूर्वपक्ष—सपक्षमें हेतुसत्त्वज्ञान तथा विपक्षमें हेतुव्यावृत्तत्वज्ञानकी सैकड़ों बार प्रवृत्ति होनेपर भी व्यभिचार देखा जाता है। अतः सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वरूप व्याप्तिलक्षणमें तत्काल व्यभिचारकी उपलब्धि न होनेपर भी उसमें व्यभिचारकी संभावना बनी रहती है। इसलिये व्याप्तिका दूसरा लक्षण करना चाहिये। और वह लक्षण उपाधिका अभावरूप है, या तदुत्पत्तिरूप है अथवा विपक्षमें बाधकरूप है—यही संक्षेपसे कहा जाता है। इनमें प्रथम नहीं हो सकता। क्योंकि जो उपाधि प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है, उसके अभावके निश्चयका कोई उपाय नहीं है। तथा दृश्य ही उपाधि होगा, ऐसा नियम भी नहीं हो सकता।

नापि द्वितीयः, सा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते, तौ च दृश्यशरीरवच्चेतननिष्ठौ वा स्याताम् ? उपाधिविधुरदृश्यादृश्यसाधारणचेतनमात्रनिष्ठौ वा ? न प्रथमः, विटपादौ व्यभिचारात्, प्रकृतासिद्धेश्च।

न द्वितीयः, घटादिकार्यव्यतिरेकसमये तत्प्रयोजककुलालव्यतिरेकवद् दृश्य[1]चेतनमात्रव्यतिरेकस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्।

दूसरा तदुत्पत्तिपक्ष भी व्याप्तिके लक्षणके रूपमें नहीं माना जा सकता है। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका व्याप्य होता है—यही तदुत्पत्तिरूप व्याप्तिका अभिप्राय है। किन्तु तदुत्पत्तिका निश्चय अन्वयव्यतिरेकसे होगा। अर्थात् "तत्सत्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः" इसके अनुसार अग्निके रहनेपर धूम होता है और अग्निके अभावमें धूम नहीं होता है, इसलिये अग्निद्वारा धूमोत्पत्तिका निर्णय होता है तथा तदुत्पत्तिके कारण धूममें अग्निकी व्याप्तिका निश्चय होता है। किन्तु प्रकृतमें वे अन्वय और व्यतिरेक दृश्यशरीरसे युक्त चेतनमें स्थित होंगे? या उपाधिसे रहित दृश्यादृश्यसाधारण चेतनमात्रमें स्थित होंगे? इसमें प्रथमपक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि वृक्षादिमें इसका व्यभिचार पाया जाता है। अर्थात् शरीरी चेतनके विना भी अङ्कुरादिकी उत्पत्ति होती है। अतः अङ्कुरादिके साथ शरीरी चेतनमें अन्वय-व्यतिरेक नहीं होनेसे व्यभिचार स्पष्ट है। एवं अन्वय-व्यतिरेकको दृश्यशरीरगत माननेपर नैयायिकोंका अभीष्ट अशरीरी चेतन कर्ता भी सिद्ध नहीं हो पा रहा है।

शरीर आदि उपाधिसे रहित दृश्य-अदृश्य साधारण चेतनमात्रवृत्तिरूप द्वितीयपक्ष भी अन्वय-व्यतिरेकके लिये नहीं माना जा सकता है। क्योंकि जैसे घटादि-कार्यके अभावकालमें उसे उत्पन्न करनेवाले कुम्भकारका अभाव माना जाता है, वैसे चेतनमात्रके अभावका निश्चय नहीं किया जा सकता। किन्तु जो दृश्यादृश्य सभी चेतनके साथ घटादिकार्यका अन्वय-व्यतिरेक निश्चय मानता है, उसके मतानुसार कुम्भकारका अभावनिर्णय होनेपर चेतनमात्रका अभाव माना

---

१. दृश्यादृश्य इति पाठो युक्तो भाति।

न हि कुलालादिदृश्यव्यतिरेके तस्यावश्यं व्यतिरेको, विटपादावपि तथाभावप्रसङ्गात् ।

तर्हि सन्तानान्तरानुमानमपि कथम् ? कुम्भकारव्यतिरेके दृश्यादृश्यचिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धिवत् स्वचित्तव्यतिरेकेऽपि कम्पं प्रति चिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धेरिति चेत्, न, वादान्तरत्वात् । यदापि तत्प्रस्तावः, तदपि स्वदेहे स्वपरसन्तानसा-

जाना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। क्योंकि कुम्भकार आदि दृश्यकर्त्ता-का अभाव होनेपर अदृश्यकर्ताका भी अभाव नहीं होता। यदि वैसा हो तो वृक्षादिमें भी अदृश्यकर्ताका अभाव होने लगेगा। अर्थात् वृक्षादिकी उत्पत्तिकर्ताकेरूपमें कुम्भकारका अभाव होनेसे उसके अदृश्य-कर्त्ता (ईश्वर) का भी अभाव नैयायिकको मानना पड़ जायगा। यदि वैसा माने तो कार्यत्व-हेतु वहींपर सकर्तृकत्वका व्यभिचारी हो जायगा। अतः कार्यकारणभावका नियामक जो अन्वय-व्यतिरेक है, उसे दृश्या-दृश्यसाधारणचेतनमात्रमें वर्तमान नहीं मान सकते।

यहाँ यदि नैयायिक यह प्रश्न करे कि—परचित्तसन्तानोंका अनुमान बौद्ध कैसे कर सकेगा ? क्योंकि जैसे घटादिकार्यस्थलमें अन्वयके गृहीत होनेपर भी कुम्भकारका व्यतिरेक होनेपर दृश्यादृश्यचेतन कर्तामात्रका व्यतिरेक सिद्ध नहीं होनेसे व्यतिरेकसहचार नहीं सिद्ध हो पाता, वैसे ही परशरीरमें होनेवाली चेष्टाके प्रति परचित्तसन्तानकी कारणता कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि वहाँ अपने चित्तसन्तानका व्यतिरेक सिद्ध होनेपर भी चिन्मात्रसन्तानका व्यतिरेक नहीं सिद्ध होनेसे चेष्टा और चित्त-सन्तानमें अन्वय-सहचार होनेपर भी व्यतिरेक-सहचारकी सिद्धि नहीं हो सकेगी—तो ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता है। क्योंकि यह अर्थान्तर हो जायगा। अर्थात् इस प्रश्नके उठानेसे नैयायिकके कार्यत्व और सकर्तृकत्वके उभयविध सहचारमें कोई लाभ नहीं होता है। फिर भी यदि इस अर्थान्तरविषयक प्रश्नको नैयायिक उठावे, क्योंकि परचेष्टा-से परचित्तसन्तानकी अनुमिति करनेके लिये परचेष्टामें तदुत्पत्तिरूप व्याप्तिका ग्रहण अवश्य अपेक्षित होगा तथा उक्त व्याप्तिग्रहके लिये उन दोनोंका अन्वय-व्यतिरेकग्रह भी अपेक्षित होगा—तो भी अपने शरीरमें

धारणचिन्मात्राविनिर्भागवृत्तिदृश्यदेहमात्रस्यैव प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कम्पं प्रति कारणत्वप्रतीतेः परचित्तस्यापि कारणत्वं प्रतीयत इति ।

नापि तृतीयः, विपक्षेऽपि बाधकाभावात् । देशकालनियमादीनां स्वकारणायातसन्निधिना कादाचित्केन प्रतिनियतशक्तिना कारणेनाचेतनेनाप्युपपत्तेरिति ।

उत्तानोल्लपितमेतत्—विकल्पत्रयस्याप्युपपत्तेः । तथाहि,

ही चेष्टाके प्रति स्वपरसन्तानसाधारण चित्तमात्रसे नियमतः सम्बद्ध दृश्य-देहमात्रकी ही कारणताकी प्रतीति सामान्यतः अन्वय-व्यतिरेकग्रह द्वारा होकर तदनन्तर सामान्यान्तःपाती परचित्तसन्तानमें भी परचेष्टाके प्रति कारणताकी प्रतीति हो जाती है ।

एवं विपक्षमें बाधकरूप तृतीयपक्ष भी नहीं हो सकता । अर्थात् विपक्षमें बाधक भी व्याप्तिका लक्षण नहीं हो सकता है । क्योंकि विपक्ष में भी कोई बाधक नहीं हैं । अर्थात् क्षित्यादिके चेतनद्वारा निर्मित नहीं होनेपर भी कार्यत्वमें कोई बाधक नहीं है। क्योंकि "यदि चेतनकर्ता न हो तो यहाँ इस समय क्षिति-अङ्कुरआदि कार्य भी नहीं हो सकेगा" इस विपक्ष-बाधकके द्वारा ही चेतनपूर्वकत्व और कार्यत्वमें व्याप्य-व्यापकभावका ग्रहण करना होगा । अर्थात् कार्यमें देशका, कालका तथा कारणका नियम तबतक नहीं हो सकता जबतक कि कार्यका कोई स्वतन्त्र बुद्धिमान कर्ता न हो । किन्तु उक्त देश, काल और कारणका नियम चेतन कर्ताको माने विना ही अपने कारण-कलापके अधीन है उपस्थिति जिसकी, ऐसे कभी कभी होने वाले तथा कार्यके अनुरूप नियत शक्तिको धारण करनेवाले अचेतन कारणसे भी हो सकता है । अर्थात् चेतनकर्ताके अन्वयसे कार्यका अन्वय तथा उसके व्यतिरेक से कार्यका व्यतिरेक नहीं होता, किन्तु कारणान्तरके अन्वय-व्यतिरेकसे ही कार्यका अन्वय-व्यतिरेक होता है । अतः कार्यत्वहेतुसे चेतनकर्त्ता (ईश्वर) की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

(उत्तरपक्ष) पूर्वोक्त कथन गर्वोक्तिमात्र है । क्योंकि व्याप्तिग्रहके

चत्वारो जगति भावा भवन्ति—विरोधी, बहिर्वृत्तिः, सहवृत्ति-रन्तर्वृत्तिश्चेति। न च पञ्चमः, प्रकारः काङ्क्षितुमपि शक्यते, विरोधाविरोधयोः साहित्यासाहित्ययोः आधिक्यानाधिक्ययोः परस्परनिषेधरूपत्वात्। तत्र द्वयमत्र नोपाधित्वेन शङ्कनीयम्, अकार्यस्यैवाकार्यस्यापि वा सकर्तृकत्वप्रसङ्गात्। न चेद-मिष्टम्, अकार्यस्य कारणवत्तामात्रेण सहजविरोधे कारक-विशेषस्य कर्तुरनवकाशात्।

तीनों ही पक्ष युक्तियुक्त हैं। कारण, जगत्में चार प्रकारके भाव (धर्म) होते हैं। १—साधनविरोधी, २—साधनबहिर्वृत्ति (साधन-व्यापक), ३—साधनसहवृत्ति (साधनसमनियत) तथा ४—साधना-न्तर्वृत्ति (साधनव्याप्य)। इनसे अतिरिक्त पञ्चम प्रकारकी कामना भी नहीं की जा सकती है। क्योंकि विरोध-अविरोध, साहित्य-असाहित्य और आधिक्य-अनाधिक्य ये परस्परके निषेध स्वरूप हैं। इनमें आधिक्यानाधिक्यके परस्पर विरोधका प्रदर्शन बहिर्वृत्ति और अन्तर्वृत्ति पक्षके अभिप्रायसे है तथा शेष दो विरोधी और सहवृत्तिके अभिप्रायसे हैं।

इनमें साधनविरोधी और साधनबहिर्वृत्तिको उपाधिके रूपमें नहीं माना जा सकता है। क्योंकि साधनका विरोधी यदि उपाधि हो तो चूँकि प्रकृतमें कार्यत्व साधन (हेतु) है, इसलिये अकार्य ही सकर्तृक होने लगेगा और कार्यमें अकर्तृकत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि साधन-बहिर्वृत्ति अर्थात् साधनका व्यापक उपाधि हो तो कार्यके साथ-साथ अकार्य भी सकर्तृक होने लगेगा। अर्थात् उपाधि कार्यत्वसमानाधि-करण होते हुए कार्यत्वाभावसमानाधिकरण भी होगा, तभी वह साधन-व्यापक होगा। अतः उक्त उपाधिबलसे कार्य भी सकर्तृक होगा और अकार्य (गगनादि) भी सकर्तृक होने लगेगा। इसमें इष्टापत्ति नहीं कर सकते। क्योंकि जो अकार्य (नित्य) है, उसे तो कारणमात्रसे स्वाभाविक विरोध है, अतः कारणका ही एकभाग कर्ताका भी अवसर कैसे आ सकेगा? अर्थात् अकार्यका तो कोई भी कारण नहीं होता, तो कारणविशेषरूप कर्त्ता कैसे सिद्ध हो सकेगा? अतः अकार्यमें सकर्तृ-कत्वप्रसङ्गकी इष्टापत्ति नहीं कर सकते।

नापि तृतीयः, तुल्ययोगक्षेमयोरविशेषाद् व्यभिचार-शङ्कानापादकत्वाच्च ।

चतुर्थस्तु स्यात् । सोऽपि न शरीरान्तर्भूतवृत्तिः, चेष्टमान-शरीरहेतुकस्यापि कस्यचिदचेतनपूर्वकत्वप्रसङ्गात् । न चेद-मिष्टम् , चेष्टाचेतनयोरविनाभावभङ्गप्रसङ्गात् । नापि सहवृत्तिः,

---

साधनसहवृत्तिरूप तृतीयपक्ष भी नहीं हो सकता। क्योंकि उपाधि को साधनसमनियत माननेपर दोनोंके तुल्ययोगक्षेम होनेके कारण साधन और उपाधिमें कोई विशेषता नहीं होगी। ऐसी स्थितिमें कार्यत्व-हेतुसे सकर्तृकत्वका अनुमान किया जाय या तुम्हारेद्वारा उद्भावित साधनसमनियत उपाधिसे सकर्तृकत्वका अनुमान किया जाय, इसमें कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि दोनों ही दशाओंमें क्षित्यादिके प्रति कर्त्ता (ईश्वर) की सिद्धि हो जाती है। एवं, इस प्रकारके साधन-समनियत उपाधिकेद्वारा व्यभिचार-शङ्काकी उत्पत्ति नहीं होनेके कारण वह उपाधि ही नहीं हो सकता। क्योंकि जो साध्यका व्यापक और साधनका अव्यापक होता है, वही व्यभिचारशङ्काका उत्पादक होनेके कारण उपाधि कहाता है।

साधनान्तर्वृत्ति (साधनव्याप्य) रूप चतुर्थपक्ष तो होगा, किन्तु वह उपाधि भी शरीरिकर्तृकत्वकी अपेक्षा न्यूनवृत्ति कुलालकर्तृकत्व आदि हो तो उस कुलालकर्तृकत्व-उपाधिको चेतनकर्तृकत्वरूप साध्यका व्यापक होना होगा। ऐसी स्थितिमें व्यापकका अभाव होनेसे व्याप्यका भी अभाव हो जाता है, अतः जहाँ कुलालकर्तृकत्वरूप साध्यव्यापकका अभाव होगा, जैसे पटादिकार्यमें, वहाँ चेतनकर्तृकत्वरूप साध्यका भी अभाव होने लगेगा। यद्यपि वह पटादिकार्य कुलालकर्तृक न होते हुए भी चेष्टायुक्त शरीरसे ही उत्पन्न होता है, अतः वह वस्तुतः चेतनकर्ता से उत्पन्न होता ही है। यहाँ कुलालकर्तृकत्वका अभाव होनेके कारण पटादिमें जो अचेतनकर्तृकत्वका (चेतनकर्तृकत्वाभावका) प्रसङ्ग दिया गया है, उसमें इष्टापत्ति नहीं कह सकते। क्योंकि तब चेष्टा और चेतनमें परस्पर जो अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्यव्यापकभाव) है, वह समाप्त हो जायगा।

देहस्यानुपाधित्वे तस्याप्यनुपाधित्वात्, तयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। अतथाभावे वा सहवृत्तिनियमानुपपत्तेः।

शरीरस्य च नोपाधित्वम्, कर्त्रव्यापकत्वात्। तत्कार्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्। नाप्यायतनतया तथाभावो, भोगोपाधित्वात्। नाप्युपकरणप्रापकतया, साक्षात् प्रयत्नानधिष्ठेयतोपाधित्वात्। अन्यथापि तत्प्राप्तेरिति।

यदि वह उपाधि शरीरिकर्तृकत्वसे न्यूनवृत्ति न हो, किन्तु शरीरसहवृत्ति हो तो वह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि देहके उपाधि नहीं होनेके कारण उसका सहवृत्ति भी उपाधि नहीं हो सकेगा। कारण, देह और वह उपाधि दोनों ही तुल्ययोगक्षेम हैं। यदि वे तुल्ययोगक्षेम न हों तो उन दोनोंमें सहवृत्तिताका नियम नहीं रह जायगा।

उक्त आपत्तिके भयसे यदि कहो कि—शरीरघटित शरीरजन्यत्व ही उपाधि होगा—तो वैसा नहीं हो सकता है। क्योंकि शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्वरूप साध्यका व्यापक नहीं है। कारण, सभी सकर्तृक शरीरजन्य ही नहीं होता, जैसे वृक्षादिक ही। यदि कहो कि—कुलाल आदि कर्ता शरीरसापेक्ष ही घटादि-कार्य करता हुआ पाया जाता है, अतः अवश्य ही सभी सकर्तृक शरीरजन्य होंगे—तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि शरीरसापेक्षतामें भी शरीरकार्यत्वरूप उपाधि विद्यमान है। अर्थात् उसी कार्यके लिये कर्ताको शरीरकी अपेक्षा है, जो कार्य शरीरसे उत्पन्न होता है। वृक्ष अंकुर आदि कार्य तो शरीरसे उत्पन्न होता नहीं, अतः उसके कर्ता (ईश्वर) को शरीरकी अपेक्षा नहीं है।

एवं ईश्वर भोगायतनके रूपमें शरीरकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वैसा करनेमें भोग उपाधि है। अर्थात् ईश्वरमें भोग ही नहीं होता है कि भोगायतन (भोगका माध्यम) रूपमें वह शरीरकी अपेक्षा करेगा। उपकरणोंकी प्राप्ति करानेके लिये भी ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि वैसा वहीं होता है, जहाँका उपकरण साक्षात् कर्ताके प्रयत्नका विषय नहीं होता। जैसे, कुलाल शरीरके बिना दण्डचक्रादिका सञ्चालन नहीं कर सकता और घटकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु ईश्वर तो शरीररूपमाध्यमके बिना ही सीधे ही अपने प्रयत्नसे पर-

नाप्यधिकवृत्तिः, शरीरविनाकृतस्य कर्तुः स्वयमनभ्युपगमात्। अस्तु पाक्षिकोऽभ्युपगमः। तेन न तत्कार्यत्वमात्रात् कर्तृमत्त्वसिद्धिः, शङ्कितोपाधित्वात्। न चोपाधेरेव तत्सिद्धिः, तस्य स्वयं संदिग्धासिद्धत्वादिति चेत्, न, उभयथाऽप्यशरीरिकर्तृव्यवस्थितिनियमात्।

माणुओंमें गति उत्पन्न कर सकता है और तदनन्तर पृथिवी-जलादिकी उत्पत्ति कर सकता है।

शरीरकी अपेक्षा अधिक-सीमामें रहनेवाला भी उपाधि नहीं हो सकता। अर्थात् जो कार्य शरीरकर्तृक नहीं है, उसमें रहनेवाला धर्म भी उपाधि नहीं हो सकता। क्योंकि तब शरीरके बिना भी कर्तृत्व सिद्ध हो जायगा जो तुम्हारे लिए अपसिद्धान्त है। इसका यदि यह समाधान करो कि—शरीररहित-कर्तृकत्वरूप शरीराधिकवृत्ति उपाधिका निश्चयात्मक अभ्युपगम होनेपर ही निरीश्वरवादीके लिये अपसिद्धान्त होता, पर वैसा नहीं है, किन्तु उक्त उपाधिका पाक्षिक (सन्देहात्मक) अभ्युपगम है। अतः कार्यत्व-हेतुमात्रसे सकर्तृकत्वकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि वहाँ शङ्कितोपाधि है। अर्थात् सोपाधिकत्वकी आशङ्कासे हेतुमें व्यभिचारकी आशङ्का हो जाती है और व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्ध होकर अनुमिति भी रुक जाती है। अतः मेरे लिये अपसिद्धान्त नहीं होता है। यहाँ नैयायिक यह नहीं कह सकता कि–'शरीराधिकवृत्ति उस उपाधिके सकर्तृकत्वरूप साध्यका व्यापक होनेके साथ-साथ व्याप्य भी होनेके कारण उस उपाधिसे ही सकर्तृकत्वरूप साध्यकी सिद्धि हो जायगी' क्योंकि उक्त उपाधि स्वयं ही सन्दिग्धासिद्ध है। अर्थात् न्यायमतमें उसका उपाधित्व ही सन्दिग्ध है। अथवा उसमें सकर्तृकत्व-रूप साध्यका व्याप्यत्व ही असिद्ध है। अतः उपाधिबलसे न्यायमतमें सकर्तृकत्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती है—तो ऐसा समाधान नहीं कर सकते हो। क्योंकि शरीराधिकवृत्ति उपाधि हो या न हो, दोनों ही दशाओंमें अशरीरी कर्त्ताकी सिद्धि हो जायगी। अर्थात् यदि शरीरातिरिक्तवृत्ति उपाधि हो तो उस उपाधिके बलसे ही अशरीरी कर्ता (ईश्वर) की सिद्धि हो जाती है। यदि उक्त उपाधि न हो तो उपाधि-

किन्तु कथञ्चिदुपाधिमादाय स व्यवतिष्ठताम्। यद्वा कार्यत्वमेवेति सन्देहः परिशिष्यते, गत्यन्तराभावादिति सोऽपि निवार्यते। न तावद् देहव्यतिरेकेऽनित्यज्ञानसम्भवः, तयो कार्यकारणभावनियमात्। ततो नित्यं भवेत् ततः सर्वविषयं च। नियतविषयताया अनित्यत्वेन व्यापनात्। विषयनियमस्य सामग्रीशक्तिसमवधानाधीनतया नित्यात् तस्याः स्वव्याप्यमुपादाय निवर्तमानाया अनित्ये विश्रामात्।

रहित होनेके कारण कार्यत्व-हेतुसे ही क्षित्यादिके प्रति अशरीरी कर्ता सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँपर केवल यही सन्देह बच जाता है कि उक्त अशरीरिकर्तृकत्व कथञ्चित् अर्थात् शरीराधिकवृत्ति उपाधिके बलको लेकर सिद्ध होगा या कार्यत्व हेतुको लेकर सिद्ध होगा। इन दोके अलावे अशरीरिकर्तृकत्वसिद्धिके लिये कोई तीसरी गति नहीं है। अतः इस सन्देहका भी अब निवारण किया जा रहा है।

जैसे—यदि क्षित्यादिका कर्ता शरीररहित है तो उसका ज्ञान अनित्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अनित्यज्ञान और देहमें कार्यकारणभावका नियम होनेसे देहरूपकारणके अभावमें अनित्यज्ञानका भी अभाव हो जायगा। इसलिये उसका ज्ञान नित्य होगा और सर्वविषयक भी होगा। क्योंकि नियतविषयता अनित्यत्वसे व्याप्त है। अर्थात् अनित्य ज्ञान ही निर्धारित-(सीमित-) विषयक होता है। नित्यज्ञान तो अनियत-विषयक होनेसे सर्वविषयक ही होगा। कारण, ज्ञानमें विषयविशेषका नियमन ज्ञानसामग्रीशक्तिकी उपस्थितिके अधीन है। अतः नित्यज्ञानसे स्वयं निवृत्त होती हुई ज्ञानोत्पादक-सामग्रीशक्ति अपने व्याप्यभूत विषयनियमको भी निवृत्त करती हुई अनित्यज्ञानमें ही व्यवस्थित होती है। अर्थात् नित्यज्ञानमें सामग्रीकी अधीनता नहीं रहनेसे विषयका नियम भी नहीं रहता। प्रत्युत अनित्यज्ञान ही सामग्रीके अधीन उत्पन्न होता है और नियतविषयक होता है। अतः नित्यज्ञान सर्वविषयक ही होगा।०

सर्वगोचरे च ज्ञाने चिकीर्षाप्रयत्नयोरपि तथाभावः, तदेकविषयत्वात्तयोः। तथा च कञ्चिदुपाधिमादायाशरीरपूर्वकमपि किञ्चिदेव कार्यं कर्तृपूर्वकं भविष्यतीति शङ्कापिशाच्याः क्वावकाशः।

एवमन्यत्राप्यनया दिशा उपाधिशङ्का निराकरणीयेति निरुपाधिसम्बन्धसिद्धिः। विपक्षसम्भवे च साधनप्रयुक्तसाध्य-

---

एवं ज्ञानके सर्वविषयक होनेपर चिकीर्षा और प्रयत्न भी सर्वविषयक होंगे। क्योंकि ज्ञानका जो विषय होता है, वही चिकीर्षा और प्रयत्नका भी विषय होता है। अर्थात् यद्विषयक ज्ञान होता है, तद्विषयक ही चिकीर्षा और प्रयत्न भी होते हैं। अतः सर्वविषयक नित्यज्ञान-चिकीर्षा तथा प्रयत्नवाला ईश्वररूप अशरीरी कर्ता सिद्ध हो जाता है। इस तरह—"किसी शङ्कित उपाधिको लेकर शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाला कुछ ही कार्य कर्तृजन्य होगा न कि सभी कार्य" इस शङ्का पिशाचीको भी कहाँ मौका है? अर्थात् उपाधिकी आशङ्का "अशरीर पूर्वक भी कुछ ही कार्य सकर्तृक होगा" इस शङ्काका आपादन नहीं कर सकेगी। क्योंकि बिना शरीरके भी कर्त्ता सिद्ध हो जानेपर पूर्वोक्त युक्तिसे उस अशरीरी कर्ताके ज्ञान-इच्छा और प्रयत्न नित्य तथा सर्वविषयक मानने होंगे। ऐसी स्थितिमें जिस कार्यमें तुम अकर्तृकत्वकी आशङ्का करते हो, उसका भी उपादानकारण अवश्य ही उस नित्य तथा सर्वविषयक ज्ञान-इच्छा और प्रयत्नका विषय होगा। तथा उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमत्त्व ही तो कर्तृत्व है। अतः जिस कार्यमें तुम अकर्तृकत्वकी आशङ्का कर रहे हो उसमें भी अकर्तृकत्वकी आशङ्का कैसे हो सकेगी? तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य बिना कर्ताके नहीं हो सकेगा। अतः अशरीरिकर्तृक सभी क्षित्यादिकार्य सकर्तृक सिद्ध होते हुए ईश्वररूप सर्वज्ञ कर्ताको उपस्थित करते हैं।

इस प्रकार अन्य अनुमानोंमें भी इसी रीतिसे अर्थात् पूर्वोक्त चार विकल्पोंके द्वारा उपाधिशङ्काका निवारण करना चाहिये। इस तरह कार्यत्व और सकर्तृकत्वमें निरुपाधिसम्बन्धरूप व्याप्तिकी सिद्धि हो जाती है।

सद्भावसिद्धौ साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावलक्षणस्य व्यतिरेकस्यापि सिद्धेः न तदर्थं पृथगपेक्षेति।

द्वितीयेऽपि श्रवणसम्पुटमवधाय कलकलस्त्यज्यताम्। तथा हि दण्डादिषूदासीनेषु दृश्योऽदृश्यो वा (नाना) कारकव्यापाराविनिर्भागवृत्तिश्चेतनो निवृत्तो न वेति त्वमेव प्रष्टव्यः। न चेत्, कुतः कारणान्युदासते ? निवृत्तश्चेत्, कथमदृश्यव्यतिरेकसंशयः ?

तथापि यादृशस्यान्वयस्तादृशस्य व्यतिरेकोऽपि उपयुज्यत

एवं जहाँ साध्यका विपक्ष (निश्चितसाध्याभाववान्) सम्भव है, वहाँ, जैसे पक्षमें साधन (हेतु) के रहनेके कारण साध्यकी सत्ता सिद्ध होती है, वैसे ही विपक्षमें साध्यका अभाव होनेसे साधनाभावरूप व्यतिरेक भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसकेलिये पृथक् यत्नकी अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् आकाशादिमें सकर्तृकत्वका अभाव होनेसे कार्यत्वका भी अभाव होता है। आशय यह है कि पूर्वोक्त रीतिसे अन्वयव्याप्तिके निरुपाधिक सिद्ध होनेसे व्यतिरेकव्याप्ति भी स्वतः निरुपाधिक सिद्‌ध हो जाती है। अतः इसमें पृथक्से उपाधिनिवारणकी अपेक्षा नहीं पड़ती है।

द्वितीयपक्षके विषयमें भी कर्णपुटको सावधानकर कोलाहलको छोड़ो। अर्थात् तदुत्पत्तिरूप कार्यकारणभावात्मक व्याप्तिग्रहमें भी कोई बाधक नहीं है। क्योंकि कार्यके प्रति दण्डादि कारणोंकी विमुखताकी दशामें कारकव्यापारसे नियत दृश्य या अदृश्य चेतनकर्ताकी निवृत्ति रहती है या नहीं ? यह मैं तुमसे ही पूछता हूँ।

यदि कहो कि—निवृत्ति नहीं रहती है, अर्थात् कर्ता प्रयत्नशील ही रहता है—तो दण्डादिकारणोंके अपने कार्यसे उदासीन रहनेका क्या कारण है ? यदि कहो कि—चेतन कर्ता निवृत्त हो जाता है—तो उस अदृश्य चेतनके अभावमें संशय क्यों है ? अर्थात् दृश्यादृश्यसाधारण चेतनकर्त्ताका व्यतिरेक (अभाव) सुग्रह होनेसे अन्वय और व्यतिरेकग्रहके द्वारा कार्यकारणभावरूप व्याप्तिका ग्रह सुतरां सिद्‌ध हो गया।

यदि कहो कि—जिस ढङ्गके कर्ताका कार्यके साथ अन्वय होता है,

इति चेत्, कोऽत्र विप्रतिपद्यते ? कारकप्रयोक्तुरुभयत्रापि तुल्यत्वात्। देही तादृश इति चेत्, कोऽस्यार्थः ? किं देह-(देहव्यापारसम्पादन-) द्वारैव सर्वाणि कारकाणि प्रयुङ्क्ते चेतनः ? आहो देहं प्रयुञ्जान एवेति ? न पूर्वः, देहस्यापि कारकतया देहान्तरप्रयोज्यतायामनवस्थानात्। न द्वितीयः, बिषशकलचालनादौ व्यभिचारात्।

देहं धारयन्निति चेत्, सोऽयं देहो धार्यः किं कारकतया तत्कारकान्तरप्रयोगार्थम् ? अथ स्वकर्मोपात्ततामात्रेण ? प्रथमे

उसी ढङ्गके कर्ताका व्यतिरेकग्रह भी व्याप्तिज्ञानमें उपयोगी होता है—तो इसमें किसको विप्रतिपत्ति है ? क्योंकि कारकोंको कार्यमें प्रयुक्त करनेवाला कर्ता दोनों जगह (अन्वय-व्यतिरेक दोनोंमें) समान है।

यदि कहो कि—वह देही कर्ता है, जिसका कार्यके साथ अन्वय गृहीत है, अतः व्याप्तिज्ञानकेलिये उसीका व्यतिरेकग्रह भी उपयोगी होगा। इसलिये उक्त अन्वय-व्यतिरेकद्वारा शरीरी चेतन ही कर्त्ता सिद्ध होता है अशरीरी नहीं—तो शरीरीको कर्ता माननेका क्या अभिप्राय है ? क्या देहके द्वारा ही चेतन सभी कारकोंको प्रयुक्त करता है सीधे नहीं ? अथवा देहको प्रयुक्त करता हुआ ही वह कारकोंको प्रयुक्त करता है ? इसमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे, अन्य कारकों को प्रयुक्त करनेमें देह द्वारभूत है, वैसे देह भी कारक ही है, अतः उसे भी प्रयुक्त करनेके लिये प्रयोजकके रूपमें दूसरी देहकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादोष हो जायेगा।

"देहको प्रयुक्त (सञ्चालित) करता हुआ ही अन्यकारकों को प्रयुक्त करता है" यह द्वितीयपक्ष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि कमलनालके टुकड़ेको जादूगर अपनी देहको चालित किये बिना ही ध्यानमात्रसे सञ्चालित कर देता है। अतः इस द्वितीयपक्षमें व्यभिचार दोष आ जाता है।

यदि कहो कि—देहको धारण करता हुआ कर्ता फलोत्पादनमें सभी कारकोंको प्रयुक्त करता है, यही अभिप्राय है—तो इस देहका धारण क्या

न विरोधः। देहस्य क्वचित् कार्यकारकतयाऽधिष्ठाननियमात्। यत्र तु न तत् कारकं तत्रापि तदधिष्ठेयमिति कश्चेतनोऽभिदध्यात्?

द्वितीयेऽपि यः साक्षादधिष्ठातुमशक्तः स साक्षादधिष्ठेयमुपादाय तत् प्रयुञ्जीत, न त्वेकस्य साक्षादधिष्ठानायोग्यमन्यस्यापि तथेति नियमः, देह एव व्यभिचारात्। तृतीये त्वजागलस्तनकल्पः कायो नोपयुक्तांशविवेचने स्वं निवेशयति, यथा धूममात्रं प्रति तार्णदहनान्वयव्यतिरेकयोरालोकवत्त्वेति।

उसके कारक होनेके नाते करता है? या उससे अन्यकारकोंको प्रयुक्त करनेके लिये देह-धारण आवश्यक है? अथवा निजकर्माधीन प्राप्त होनेमात्रसे कर्ताकेलिये शरीर-धारण आवश्यक है? इनमें प्रथमपक्षमें मुझे कोई विरोध नहीं है। क्योंकि कहीं कार्यके प्रति देह भी कारक होता है, अतः वहाँ उसका कर्ताद्वारा अधिष्ठित होना अपेक्षित है। जहाँ तो वह (देह) कारक नहीं होता, वहाँ भी वह कर्ताद्वारा अधिष्ठेय होगा, इसे कौन चेतन व्यक्ति कह सकता है।

द्वितीयपक्षमें भी जो (मनुष्यादि) साक्षात् (सीधे) कारकोंको अधिष्ठित करनेमें असमर्थ है, वह सीधे अधिष्ठित किये जाने योग्य देहको लेकर उन कारकोंको फलोत्पादनके लिये प्रयुक्त करेगा। ऐसा नियम नहीं है कि जो (कारकसमूह) एक (मनुष्य) के द्वारा साक्षात् अधिष्ठानके योग्य नहीं है, वह दूसरे (सर्वशक्तिमान् ईश्वर) के द्वारा भी अधिष्ठेय नहीं है। क्योंकि देहमें ही व्यभिचार हो जाता है। जैसे चैत्रदेह मैत्रके द्वारा अधिष्ठेय नहीं है, फिर भी वह चैत्रके द्वारा अधिष्ठेय होता है।

तृतीयपक्षमें तो बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनके समान देह भी अपनेको उपयोगिताकोटिके विचारमें नहीं रख सकता है। अर्थात् कारकोंका व्यापार वैसे ही देहके विना निरुपयोगी होता है, जैसे धूममात्रके प्रति तृणजन्य अग्निके अन्वय-व्यतिरेकमें आलोककी सत्ता उपयोगिताके विचारमें अनपेक्षित है। अर्थात् कारक-व्यापारमात्रके प्रति देह और धूममात्रके प्रति आलोक समानरूपसे अन्यथासिद्ध है।

यदि चाकारकस्याप्यतत्प्रयोज (गद्वार) क[1]स्यापि अवश्यमपेक्षा स्यात्, य एव कुलालकायवान् घटस्य कर्ता स एव करभशरीरवानपि दण्डादीन् प्रयुञ्जीत। न खलु स्वकर्मोपात्ततामात्रेण करभकुम्भकारशरीरयोः कश्चिद् विशेषः। कार्यविशेषे कायविशेषोऽनुपयोग्यपेक्षणीय इति चेत, तत्र कार्येऽनुपयुक्तश्चावश्यापेक्षणीयश्चेति व्याघातः। अव्याघाते वा कुम्भे कर्तव्ये करभशरीरमप्यवश्यमपेक्षणीयमविशेषादिति।

तस्मात् सन्दंशवदयःपिण्डवत्[2] कारकतत्प्रयोजकतयैव[3] शरीराधिष्ठाननियमो न तु शरीरत्वेनैव। न च शरीरस्य सर्वत्र

यदि कारक न होते हुएकी भी या कारकोंका प्रवर्तक न होते हुएकी भी अवश्य अपेक्षा हो तो जो आत्मा कुलालशरीरधारी होकर घटका कर्ता होता है, वही करभ-(हस्तिशावक) शरीरधारी होकर भी दण्डचक्रादिका प्रयोजक होवे। क्योंकि स्वकर्मोपात्ततामात्रकी दृष्टिसे करभशरीर और कुम्भकारशरीरमें कोई अन्तर नहीं है।

यदि कहो कि—कार्यविशेषमें शरीरविशेष अनुपयोगी होते हुए भी अपेक्षणीय है—तो कार्यमें अनुपयुक्त भी है और अपेक्षणीय भी है, यह कथन वदतोव्याघात है। यदि व्याघातदोष न हो तो घट-निर्माण करनेमें करभ-शरीर भी अवश्य अपेक्षणीय होना चाहिये। क्योंकि अनुपयुक्तताकी दृष्टिसे कुम्भकारशरीर और करभशरीरमें कोई अन्तर नहीं है।

इसलिये सँड़सीके समान या लोह-पिण्डके समान कारकके रूपमें या कारकव्यापारके आश्रयके रूपमें ही शरीरका अधिष्ठान आवश्यक है, न कि शरीरके ही रूपमें। अर्थात् जिस कार्यमें जो शरीर कारक या प्रयोजक होता है, उसी कार्यमें शरीर आत्माद्वारा अधिष्ठित होगा। यही नियम है, न कि शरीर होनेमात्रसे आत्माद्वारा अधिष्ठित होना

---

१. कस्यापि देहस्येति २ पु० पा०   २. अयः पिण्डे इति १ पु० पा०
३. कारकप्रयोजकतयैव इति २ पु० पा०

कार्ये कारकत्वं तत्प्रयोजकत्वं वेति। एवं तर्हि न प्रतिनियत-देहाधिष्ठातृसिद्धिः, अङ्कुरादिकारकाधिष्ठात्राऽपि तत्सिद्धेरिति चेत्, न, वादान्तरत्वात्।

यदापि तत्प्रस्तावः, तदापि न कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठान-मात्रेण वा तदनुमानम्, ततः कर्तृमात्रसिद्धेः। किन्तु हर्षभय-शोकस्मितादिलिङ्गैस्तानुन्नीय तैर्भोक्तुरनुमानमिति न किञ्चिदेतत्।

तृतीयेऽपीर्ष्याकषाये चक्षुषी निमील्य न्यायानुसारः श्रूयताम्। इह जगति नास्त्येव तत् कार्यं नाम, यत् कारकचक्रमवधीर्यात्मा-

---

आवश्यक है। और यह भी नियम नहीं है कि सभी क्षित्यङ्कुरादि कार्यमें शरीर कारण या प्रयोजक होवे ही।

यदि कहो कि—ऐसा होनेपर अलग अलग देहोंके अधिष्ठाताकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि अङ्कुरादि कारकोंके अधिष्ठाता (ईश्वर) से घट आदिकी सिद्धि हो जायगी। अर्थात् कुम्भकार आदिकी क्या आवश्यकता है? ईश्वरसे ही घटादिकार्यका निर्वाह हो जायगा—तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि तब यह दूसरा विचार प्रस्तुत हो गया। अर्थात् मेरा ईश्वर तो सिद्ध ही हो गया और उसे ही सिद्ध करने के लिये मैं प्रवृत्त हूँ। अतः अभी कुम्भकारको कर्ता सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है?

फिर भी यदि कुलालको भी कर्ता सिद्ध करनेका विचार प्रस्तुत करो तो भी कार्यमात्रसे या कारकोंके अधिष्ठानमात्रसे कुलालनामधारीका अनुमान नहीं होता है। क्योंकि उससे तो कर्तामात्र सिद्ध होता है। किन्तु हर्ष, भय, शोक, स्मित आदिके सूचक लिङ्गोंसे हर्षादिका अनुमानकर पुनः उनके आधारके रूपमें पृथक् पृथक् कुलाल आदिके आत्माको सिद्धि होती है। अतः यह दूसरा प्रस्ताव भी कुछ नहीं है।

"विपक्षमें बाधकका होना ही व्याप्ति है" इस तृतीयपक्षमें भी ईर्ष्यासे कलुषित दृष्टिको हटाकर न्यायका अनुमोदन सुनो। इस संसार-में कोई भी वह कार्य नहीं है, जो कारकचक्रकी अवहेलना कर अपने

नमासादयेदित्यविवादम् । तच्च सर्वं चेतनोपहितमर्यादम् । अन्यथा तल्लक्षणव्यवस्थानुपपत्तेः ।

तथाहि, आधेयकारकोपहितमर्यादमधिकरणस्य रूपम्, आधारत्वात् । अपनेयापगन्तृकारकोपहितं च स्वरूपमपादानस्य, तदवधित्वात् । करणीभूतकर्मोपहितं च रूपं सम्प्रदानस्य, तदभिप्रेयत्वात् । करणोपहितं च रूपं कर्मणः, तद्व्याप्यत्वात् । कर्त्रुपहितं च रूपं करणस्य, साक्षात् तद्व्यापारविषयत्वात् । समस्तकारकोपहितं च रूपं कर्तुः, तत्प्रयोजकत्वात् ।

ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वव्यवस्थितेश्च न चक्रकेतरेतराश्रय-

स्वरूपको प्राप्त कर सके। यह निर्विवाद है। और उन सभी कार्योंकी मर्यादा अर्थात् स्वरूपव्यवस्था साक्षात् या परम्परया चेतनसे उपहित है। अन्यथा उनके लक्षणकी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। जैसे—कर्ता और कर्मरूप आधेयभूत-कारकोंसे उपहित है मर्यादा जिसकी, उसे अधिकरणकारक कहते हैं। क्योंकि वह आधारभूत है। अर्थात् "कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्। उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।" इस वचनके अनुसार कर्ता और कर्मके द्वारा वह क्रियाका आश्रय है। अपनेय-(त्याज्य) भूत वृक्षादि एवं अपगन्तृ-भूत (छोड़नेवाले) खगादिकारकोंसे उपहित अपादानकारकका स्वरूप है। क्योंकि त्यागघटकीभूत विभागका वह अवधि है। अर्थात् यहाँ भी खग कर्ता है और उसकी क्रियाका सम्बन्ध अवधिके रूपमें वर्तमान वृक्षरूप अपादान-कारकसे है। कारणरूपताको प्राप्त हुए कर्मसे उपहित सम्प्रदानकारकका स्वरूप है। क्योंकि दाताको गौ आदि कर्मभूत देय-द्रव्यके द्वारा ही साधु-ब्राह्मणादि अभिप्रेत हैं। अर्थात् करणीभूत कर्मसे उपहित सम्प्रदान होता है। कर्म करणसे उपहित होता है, क्योंकि वह करणव्यापारका विषय होता है। तथा करणका स्वरूप साक्षात् कर्तासे उपहित होता है। क्योंकि वह साक्षात् कर्ताके व्यापारका विषय होता है। एवं कर्ताका स्वरूप समस्त कारकोंसे उपहित (निरूपणीय) होता है। क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोजक होना ही कर्ताका लक्षण है।

दोषः । एवं सति कर्तृव्यावृत्तेस्तदुपहितसीमसमस्तकारककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः ।

भवेदेवं, यदि कर्त्रा कारकमात्रस्य व्याप्तिः स्यात्, सैव तु कुत इति चेत्, कुतः पुनरव्याप्तिः ? न हि षड्भ्योऽन्यत् कर्त्रनुपहितं कारकमस्ति, न चैषामेव कर्तृपधानशून्यं लक्षणमस्ति, एकैकमपोह्य शेषतः कार्यसम्भावनायां सर्वापोहसम्भावनाप्रसङ्गात् ।

यहाँ यह नहीं कह सकते कि—साक्षात् कर्तृव्यापारका विषय करण, करणव्यापारका विषय कर्म, तथा कर्मका प्रयोजक वही कर्ता होता है, अतः चक्रकदोष आ जाता है । एवं साक्षात् कर्तृव्यापारका विषय करण होता है और उस करणका प्रयोजक वही कर्ता होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है—क्योंकि उपादानविषयक ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्नका आधार होना ही कर्ताका स्वतन्त्र लक्षण होनेसे कर्तृलक्षणका निरूपण करणादिकोंके अधीन नहीं है । अतः चक्रक और अन्योन्याश्रयदोष नहीं होंगे ।

ऐसी स्थितिमें यदि कर्ता न हो तो कर्तासे उपहित मर्यादावाले सम्पूर्णकारकोंकी भी व्यावृत्ति हो जायगी और बिना कारकके ही कार्योंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग होने लगेगा । यही सकर्तृकत्व और कार्यत्वमें व्याप्तिका निश्चय करानेवाला विपक्ष-बाधक तर्क है । अतः कर्ताके बिना कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले पूर्वपक्षीका यह भारी प्रमाद है ।

यदि कहो कि—उक्त प्रसङ्ग तब होता जब कि कर्ताके साथ कारकमात्रकी व्याप्ति होती, किन्तु वह व्याप्ति ही कैसे है ?—तो फिर अव्याप्ति भी कैसे है ? क्योंकि कर्तासे उपहित स्वरूपवाले पूर्वोक्त छै कारकोंसे भिन्न कर्तासे अनुपहित स्वरूपवाला कोई दूसरा कारक है नहीं कि वहीं सकर्तृकत्व और कार्यत्वकी अव्याप्ति हो जायगी । यह भी नहीं हो सकता कि—इन्हीं छै कारकोंके अन्तर्गत कुछ कारक कर्तृव्यापारके अविषय होंगे और उन्हींसे क्षित्यङ्कुरादि-कार्यकी उत्पत्ति उपपन्न हो जायगी—क्योंकि एक एक कारकको छोड़कर भी यदि शेष कारकसे कार्यकी संभावना की जाय तो उस न्यायसे सभी कारकोंको छोड़ देनेकी सम्भावना होने लगेगी । एवं सम्पूर्ण कारकविशेषोंकी निवृत्ति हो जाने

न च समस्तविशेषापोहे सामान्यस्थितिः, यतः षट्कारकव्यावृत्तावपि कारकमात्रतः कार्यप्रत्याशा स्यात्। एकप्रवृत्तौ तु सर्वप्रवृत्तिरप्रत्यूहेति शृङ्खलाबन्धेन व्यवस्थितेः।

अथ मतं तवैवेयं प्रक्रिया, अस्माकं तु कार्येणानुविहितभावाभावं चेतनमचेतनं वा कारणमुच्यते। संहतौ तु सर्वं स्वप्रधानम्।

पर सामान्यरूपसे भी कारककी स्थिति नहीं रह पायगी, जिसके आधार पर प्रसिद्ध छः कारकोंकी व्यावृत्ति हो जानेपर भी सामान्यकारकसे कार्यकी आशा की जाय। यदि सामान्यतः कारकको स्थितिकेलिये किसी एक कारककी प्रवृत्तिका आश्रय लो तो सभी कारकोंकी प्रवृत्ति निर्विघ्न हो जायगी। क्योंकि कारकत्व-धर्म सभी कारकोंमें समान है। इस प्रकार कारकोंकी परस्पर बँधी हुई शृङ्खलासे विपक्षबाधककी व्यवस्था हो जाती है।

यदि मानो कि—उक्त सारी प्रक्रिया तुम्हारे (नैयायिकके) यहाँ ही है, हमारे (बौद्धके) यहाँ तो कार्यके साथ जिसका अन्वय-व्यतिरेक बँधा हुआ है, ऐसा चेतन या अचेतन ही कारण कहा जाता है। जहाँ तो चेतन-अचेतनका समुदाय कारण होता है, वहाँ सबकी अपनी अपनी प्रधानता होती है। ऐसा नहीं कि कोई कारक प्रधान (कर्ता) होता है और कोई अप्रधान (अकर्ता)। अर्थात् "स्वव्यापारे च कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके" इस वचनके अनुसार सभी कारक अपने अपने व्यापारमें स्वतन्त्र (कर्ता) हैं। उपादान (समवायि) और इतर (असमवायि तथा निमित्त) इन तीनोंकी अपेक्षा कथञ्चित् है, अर्थात् नियत नहीं है। अभिप्राय यह है कि कार्यकी उत्पत्तिमें सभी कारकोंके समवधानका कोई नियम नहीं है। जहाँ समवधानके बिना कार्य नहीं होता, वहीं कर्ता आदि कारकोंके समवधानका नियम होता है। तथा वहाँ भी सभी अपने अपने व्यापारमें प्रधान होते हैं। कोई प्रधान और कोई अप्रधान नहीं होता। तथा कर्मत्व, करणत्व आदिका लक्षण भी उक्त प्रकारका नहीं है। किन्तु व्यापारवान् होते हुए असाधारण कारणको करण कहते हैं और अन्यगत क्रियासे उत्पन्न फलशालीको कर्म कहते हैं, इत्यादि—तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि वैसा होनेपर बिना

उपादानेतरव्यवस्था तु कथञ्चिदिति चेत्, न, तथापि निरुपादानत्वप्रसङ्गात्।

जातिप्रतिनियतहेतुत्वेन तदवश्यमभ्युपेयम्, तस्य प्रमाणसिद्धतयाऽपह्नोतुमशक्यत्वादिति चेत्, न, उपादानमात्रस्य तद्धेतुत्वे निमित्तवैचित्र्येऽप्येकजातीयत्वप्रसङ्गात्। निर्निमित्तं वा प्रसज्येत, उपादानादेव तथाविधात्तदुपपत्तेः।

उपादान कारणके भी कार्य होने लगेगा। अर्थात् कर्तृविशेष और कार्यविशेषमें अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा सामान्यतः कर्ता और कार्यमें कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। यदि कर्ताके बिना भी कोई कार्य हो तो उपादानकारणके बिना भी कार्य होने लगेगा।

यदि कहो कि—पृथक् पृथक् जातिके कार्यके प्रति हेतुता नियत होनेके कारण अवश्य ही प्रत्येक कार्यका कोई उपादानकारण मानना होगा। क्योंकि प्रमाणद्वारा सिद्ध होनेके कारण उपादानकारणका अपलाप नहीं किया जा सकता है। अर्थात् कार्य यदि बिना उपादानके होता तो "पृथिवीजातिका कार्य पृथिवीजातिके समवायिकारण (उपादानकारण) से ही उत्पन्न होता है" यह व्यवस्था नहीं होती। अतः इस व्यवस्थासे ही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यका कोई उपादान अवश्य होता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि नियतजातिका कार्य उत्पन्न होनेमें यदि उपादानमात्र प्रयोजक होता तो उपादान एक रहनेपर निमित्तकारणके विचित्र होनेपर भी कार्यमें विचित्रता नहीं हो सकेगी, बल्कि उसी जातिका कार्य उत्पन्न होने लगेगा। अर्थात् उपादानमात्रको कार्यका प्रयोजक माननेपर निमित्तकारण अकिञ्चित्कर हो जायगा और दण्ड-वेमा आदि निमित्तकी विचित्रता होनेपर भी घटपटादि कार्यों में विचित्रता नहीं हो सकेगी और उनमें एक जातीयत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि निमित्तगत विचित्रताके होनेपर भी उपादानगत विचित्रताको ही कार्य-वैचित्र्यका प्रयोजक मानो तो कार्यमात्र बिना निमित्तका हो जायगा। क्योंकि उपादानगत वैजात्यसे ही विजातीय कार्यकी उपपत्ति हो जायगी।

न किञ्चिदेकमेकस्मात्, सामग्र्याः सर्वसंभव इति चेत्, कुत एतत्? निमित्तसहितस्यैवोपादानस्य प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणत्वावधारणादिति चेत्, न, दृश्यमात्रविषयत्वात्तयोः। दृश्यत्वं तस्य कथञ्चिदविवक्षितमिति चेत्, न, चेतनेऽपि तथा किं न स्यादिति। तस्मादुपादाननिमित्तयोर्यथा परस्परसहितयोरेव कार्यशक्तिस्तथा चेतनाचेतनयोरपीत्येकनिवृत्तावितरनिवृत्तिप्रसङ्गः।

यदि कहो कि—कोई भी कार्य किसी एक कारणसे नहीं होता, किन्तु सामग्रीसे ही सब कार्य होता है। तथा कारणसामग्रीमें निमित्त भी समाविष्ट है। अतः कार्यमें निर्निमित्तत्वका प्रसङ्ग न होगा—तो ऐसा क्यों है? यदि कहो कि—ऐसा इसलिये है कि अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा निमित्तसहित ही उपादानमें कारणत्वका निश्चय होता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अन्वयव्यतिरेकका विषय केवल दृश्य ही निमित्त होगा। अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकके बलसे दृश्यनिमित्तका ही उपादानके साथ साहित्य गृहीत होगा, न कि अदृश्य निमित्तका। अतः अदृश्य निमित्तकी दृष्टिसे कार्यमें निर्निमित्तत्वका प्रसङ्ग रह ही जाता है।

यदि कहो कि—दृश्यमात्रमें अन्वय-व्यतिरेक गृहीत होनेपर भी उसके द्वारा कारणत्वका निश्चय करनेमें दृश्यत्व अविवक्षित रहता है। अर्थात् दृश्यविषयक अन्वय-व्यतिरेकग्रहसे दृश्य-अदृश्य सभी निमित्तोंमें कारणताका निश्चय हो जायगा—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि तब चेतन कर्ताके विषयमें भी दृश्यत्वकी अविवक्षा क्यों न हो? अर्थात् सामान्यतः चेतनकर्ता और कार्यमें ही कार्यकारणभाव गृहीत होगा। यह अनिवार्य नहीं है कि कार्यका उत्पादक दृश्य ही कर्ता होगा। अतः क्षित्यङ्कुरादि कार्योंका दृश्य कर्ता नहीं होनेसे अदृश्य (ईश्वर) स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इसलिए जैसे परस्पर सहित होनेपर ही उपादान और निमित्तमें कार्य उत्पन्न करनेकी क्षमता होती है, वैसे ही चेतन और अचेतनके परस्पर सहित होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है, यह भी मानना पड़ेगा। अतः क्षित्यादिकार्यके प्रति एक (चेतनकर्ता) की निवृत्ति

अपि च मृत्पिण्डदण्डादिषु स्वव्यापारे पारतन्त्र्यं तावन्नियमेनोपलभ्यते। तदिदं दण्डादित्वमात्रानुबद्धं वा स्यात्, अदृष्टविशेषोपग्रहानुबद्धं वा, अचैतन्यमात्रानुबन्धं वेति निपुणं निरूपय।

तत्र न प्रथमः, वेमादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तेषां वेमादित्वमात्रानुबद्धमिति चेत्, न, दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। न चैतत् कार्यविशेषनियतम्, गवाभ्याजनादौ दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्।

माननेपर इतर (अचेतन परमाणु आदि) की निवृत्तिका भी प्रसङ्ग होने लगेगा।

परमाणु अदृष्ट आदिके अधिष्ठाताके रूपमें ईश्वरकी सिद्धि

एवं, मट्टीका पिण्ड तथा दण्ड आदि कारण अपने व्यापारमें नियमतः किसी अन्य (चेतन) के अधीन होते हैं, यह नियमपूर्वक देखा जाता है। अर्थात् वे दूसरेसे अधिष्ठित होकर ही अपना व्यापार करते हैं। तो क्या ऐसा दण्डत्वादि-जातिके कारण होता है? अथवा भोक्ताके अदृष्ट-विशेषसे उपगृहीत होनेके कारण दण्डादिका व्यापार पराधीन है? या उनकी अचेतनतामात्रके कारण ऐसा है? इसे भी अच्छी तरह विचारो।

इनमें प्रथमपक्ष नहीं हो सकता है! क्योंकि दण्डत्वरूपसे यदि पराधिष्ठेयता (पराधीनता) हो तो दण्डातिरिक्त वेमा आदिमें स्वातन्त्र्यका प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् वेमा आदिमें दण्डत्व-जातिके नहीं रहनेसे वेमा अपने व्यापारमें अधिष्ठाता चेतनकी अपेक्षा नहीं करेगा। यदि उपकरणोंका व्यापार वेमत्वमात्रप्रयुक्त है, ऐसा मानो तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि तब वेमत्वधर्मसे रहित होनेके कारण दण्डादि अपने व्यापारमें स्वतन्त्र होने लगेंगे। अर्थात् दण्डगत व्यापार चेतन अधिष्ठाताके बिना अपने आप होने लगेगा। यह भी नहीं हो सकता कि—दण्डादिकी परतन्त्रता घटादि कार्यविशेषसे ही नियत है। अर्थात् घटादि बनानेमें ही दण्डादि अपने व्यापारमें पराधीन है—क्योंकि तब गायके हाँकने आदिमें दण्ड स्वतन्त्र होने लगेगा।

न द्वितीयः, तस्य जातिविशेषनियतत्वे घटार्थमपि तेषां कदाचित् स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तन्नियतत्वे स एवोच्यताम्। न च घटपटशकटकटाहादिगतं दण्डवेमवासीसन्दंशादिगतं वा सामान्यविशेषमुपलभामहे। अस्त्यसौ यतः शरीरिकर्तृकत्वानुमानमिति चेत्, न, घटत्वादेरेव तथाभावात्।

अस्तु वा संस्थानविशेषः, न च स एवात्र निबन्धनम्,

दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता। अर्थात् यह कहना कि—दण्डादिमें अदृष्टविशेषका सम्बन्ध होनेके कारण घटादि उत्पन्न करनेमें दण्डादिक ही किसी चेतनसे अधिष्ठित होते हैं। क्षिति-जलादि उत्पन्न करनेमें तो उनके कारण परमाणु आदि स्वतन्त्र ही हैं। क्योंकि उनमें उस अदृष्टविशेषका सम्बन्ध नहीं रहता—ठीक नहीं है। क्योंकि वह अदृष्टविशेषका उपग्रह यदि जातिविशेषसे नियत न हो तो पृथिवी आदिके समान ही घटादिके लिये भी कभी दण्डादि स्वतन्त्र हो जायगा। अर्थात् वही कारण उसी कार्यमें कभी स्वतन्त्र रहेगा और कभी चेतनाधिष्ठित होगा। यदि अदृष्टविशेषोपग्रह जातिविशेषसे नियत हो तो उस जातिविशेषको ही बताओ। अर्थात् ऐसी कोई जाति नहीं है। क्योंकि दण्ड आदि एक-एकमें रहनेवाली जाति व्यभिचरित है तथा घट, पट, शकट (गाड़ी), कटाह (कड़ाही) आदि कार्योंमें एवं दण्ड, वेमा, वासी (बँसुला), सन्दंश (सँड़सी) आदि कारणोंमें समान रूपसे रहनेवाली किसी विशेषजातिकी उपलब्धि नहीं होती है।

यदि कहो कि—वह विशेष जाति वही है, जिससे शरीरिकर्तृकत्वका अनुमान होता है। अर्थात् शरीरिकर्तृकत्वका व्याप्यभूत जाति अवश्य है—तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि घटत्वादिक ही शरीरिकर्तृकत्वका अनुमापक (व्याप्य) जाति है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण कार्योंमें ऐसी कोई जाति नहीं है, जिससे सभी कार्य शरीरिकर्तृक सिद्ध हो सकें। अतः घटत्व-पटत्व आदि जातियोंके आधारपर घट-पटादिकार्य ही शरीरिकर्तृक होंगे और पृथिवी-जलादि कार्य तो अशरीरिकर्तृक ही होंगे।

अथवा, अवयवोंका सन्निवेशविशेष ही वह अनुगमक धर्म रहे, जो

तस्याभावेऽपि जलानलादीनां चेतनप्रेर्यत्वदर्शनात् । न च शरीर-प्रयोज्यं यत् तदेव चेतनप्रेर्यमिति नियमः, शरीरस्यैव स्वातन्त्र्य-प्रसङ्गादित्युक्तम् ।

तस्मादचैतन्यमात्रनिबन्धनमेतद् दण्डादिषु, तथा च पर-माण्वदृष्टादिष्वपि तस्य भावात् तथाभावो दुर्वारः । तदेतत् कार्यं कारणवत्तया व्याप्तम्, सा च विपक्षेऽसंभवन्ती स्वव्याप्यमुपादाय

अङ्कुरादिकोंसे व्यावृत्त तथा केवल घटपटादिमें ही रहने वाला हो और वही शरीरिकर्तृकत्वका अनुमापक हेतु होगा। किन्तु यह नहीं हो सकता कि—उक्त अवयव-सन्निवेशविशेष ही चेतन-कर्तृकत्वका भी प्रयोजक हो—क्योंकि जल अग्नि आदिमें घटपटादिके समान अवयव-संघटन के नहीं रहने पर भी जलादिका चेतनद्वारा सञ्चालित होना देखा जाता है। अतः उस दृष्टान्तसे घटपटादिके तुल्य अवयवसन्निवेश नहीं होनेपर भी क्षिति-अङ्कुरादिके चेतन (ईश्वर) द्वारा उत्पादित होनेमें कोई बाधा नहीं है।

यह भी नियम नहीं है कि—जिस वस्तुका प्रयोजक शरीर है, वही चेतनद्वारा सञ्चालित होती है—क्योंकि शरीरका भी प्रयोजक कोई दूसरा शरीर नहीं होता, इसलिये तब शरीर भी चेतनद्वारा सञ्चालित नहीं होगा और शरीरके सञ्चालनमें स्वयं शरीर ही स्वतन्त्र हो जायगा। ऐसी स्थितिमें मृतशरीर भी चेतनकी अपेक्षा नहीं रहनेसे अपने आप सञ्चालित होने लगेगा। यह बात पूर्वमें कही ही जा चुकी है।

इसलिये दण्डादिमें जो अपना व्यापार करनेमें पराधीनता है, वह केवल उसकी अचेतनताके कारण है, यह तृतीयपक्ष ही सुसङ्गत है। इसप्रकार परमाणु-अदृष्ट आदिमें भी अचेतनता-धर्मके होनेसे उनका भी व्यापार चेतनपरतन्त्र ही होगा, यह अनिवार्य है। अर्थात् पर-माणुओंका प्रेरक चेतन ईश्वर ही है, क्योंकि जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं है।

अतः यह सभी कार्य कारणवत्तासे व्याप्त है। अर्थात् जो जो कार्य है, वह कारणवाला है। तथा वह कारणवत्ता विपक्षभूत अकर्तृक (कर्तृहीन) वस्तुमें असंभव होती हुई अपने व्याप्यभूत कार्यत्वके साथ

व्यावर्त्तमाना सपक्षे विश्राम्यतीत्युभयमुखो प्रतिबन्धसिद्धिः ।

व्याप्तिस्वरूपनिरूपण

कः पुनरयं प्रतिबन्धः ? स्वाभाविकः सम्बन्धः । कः स्वाभाविकार्थः ? निरुपाधित्वम् । कः पुनरुपाधिः ? साध्यप्रयोजकं निमित्तान्तरम् । किमस्य लक्षणम् ? साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम् । कथं पुनरेवंलक्षणकोऽर्थः प्रत्येतव्यो निरा-

---

ही उस विपक्षसे व्यावृत्त होती है । अर्थात् वह कर्तृविहीन वस्तु कार्य नहीं होती किन्तु नित्य होती है, जिसका कोई कारण ही नहीं होता । इसलिये वह कारणवत्ता कर्तृविहीन नित्य वस्तुरूप विपक्षसे व्यावृत्त होती हुई सकर्तृक वस्तुमें विश्रान्त हो जाती है । इस प्रकार उभयमुखी (अन्वयमुखी और व्यतिरेकमुखी) व्याप्तिकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् जो जो कार्य होता है, वह वह सकर्तृक होता है तथा जो सकर्तृक नहीं होता वह कार्य भी नहीं होता, जैसे नित्य आकाशादि । इस तरह अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिकी सिद्धि हो जाती है ।

प्रश्न—ईश्वरकी सिद्धिमें व्याप्ति ही मूल है, अतः वह व्याप्ति क्या है ?

उत्तर—हेतुमें साध्यका स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है ।

प्रश्न—स्वाभाविकका क्या अर्थ है ?

उत्तर—निरुपाधिक अर्थात् उपाधि-रहित होना ।

प्रश्न—उपाधि क्या वस्तु है ?

उत्तर—साध्यका प्रयोजक कोई दूसरा निमित्त, जो साध्यका समव्याप्य हो, वही उपाधि है । जैसे, "धूमवान् वह्नेः" इस अनुमानमें आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है ।

प्रश्न—उपाधिका लक्षण क्या है ?

उत्तर—साधनका अव्यापक होते हुए साध्यका व्यापक होना उपाधि का लक्षण है । जैसे, आर्द्रेन्धनसंयोग वह्निरूप साधनका अव्यापक होते हुए धूमात्मक साध्यका व्यापक होनेसे उपाधि कहाता है ।

कर्तव्यो वा ? विपर्ययाविरोधबाधकाभ्याम्। किं बाधकम् ? अन्वयव्यतिरेकभूयोदर्शनसाहाय्यकमाचरन्ननुत्तरस्तर्कः।

स चाऽऽत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधोऽपि क्वचिद् व्यभिचारं निराकुर्वाणः क्वचित् तन्निबन्धनमुपाधिमवधुन्वन् सहायीभवतीति फलतो न कश्चिद् विशेषः। तदुदाहरणानि चात्रैव यथायथं परिचेयानीति।

प्रश्न—उक्त लक्षणवाले उपाधिका ज्ञान कैसे होगा ? अथवा उसका निराकरण (अभावज्ञान) कैसे होगा ?

उत्तर—विपर्यय (विपक्ष) में अविरोध (बाधकाभाव) होनेसे उपाधिका ज्ञान होता है तथा विपक्षमें बाधक होनेसे अनौपाधिकत्वका ज्ञान होता है।

प्रश्न—विपक्षमें जिसके होनेसे हेतुमें अनौपाधिकत्वका ज्ञान होता है, वह बाधक क्या है ?

उत्तर—अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिमें उपयोगीभूत साध्य-साधनके अन्वयसहचार और व्यतिरेकसहचारके भूयोदर्शन (बार-बारदर्शन) में सहायक होता हुआ ऐसा तर्क, जिसका उत्तरवर्ती कोई प्रतिकूल तर्क न हो, वह तर्क ही विपक्षमें बाधक होता है। वह तर्क आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और अनिष्टप्रसङ्गके भेदसे पाँच प्रकारका होता हुआ कहींपर व्यभिचार-शङ्काको हटाता हुआ तथा कहीं व्यभिचारशङ्कामें हेतुभूत उपाधिका निराकरण करता हुआ प्रकृत अनुमानमें सहायक होता है। इन सभी बाधकोंमें अवान्तर विशेषता होनेपर भी व्यभिचार-निरासरूप इनके फलमें कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि आत्माश्रयादि चार भी अनिष्टप्रसङ्गरूप ही हैं तथापि गोबलीवर्दन्याय-से अलग-अलग उल्लेख किया जाता हैं। इन पाँचोंके उदाहरण भी इसी ग्रन्थमें क्षणिकवाद, अपोहवाद तथा विज्ञानवादादिमें यथास्थान देखने चाहिये।

प्रतिबन्दीकरण

अथ न्यायदुर्बलस्य प्रतिबन्दीकरणम्, यदुतैवं शशविषाणस्यापि सिद्धिः स्यात, दृश्यमात्रनियतत्वात् प्रत्यक्षबाधस्य। न च दृश्यत्वनिवृत्तेरेव विषाणत्वनिवृत्तिः, अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगात्, विषाणगतकार्यत्वप्रयुक्तत्वाच्च दृश्यत्वव्याप्तेः। तेन तन्निवृत्तावपि नाकार्यस्य शृङ्गस्य निवृत्तिरिति।

तच्च महार्थसिद्ध्या कृतकृत्यस्य न परिभ्रंशाय, निष्प्रयोजनविषयत्वात्। तथापि सम्भावितस्याकीर्तिभिया नोपेक्षामर्हति

इसके बाद पूर्वोपस्थापित प्रमाणोंसे दुर्बल हुए (उत्तर दे सकनेमें असमर्थ हुए) प्रतिपक्षीकी तरफसे प्रतिबन्दी उपस्थित की जारही है। जैसे—

यदि इस प्रकार अदृश्य चेतन (ईश्वर) सिद्ध हो तो अदृश्य शशशृङ्गकी भी सिद्धि हो जाय। यदि कहो कि शशको शृङ्ग प्रत्यक्षबाधित है तो ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्षबाध दृश्यमात्रसे नियत है। अर्थात् जो दृश्य है वही प्रत्यक्षद्वारा बाधित हो सकता है। अतः अदृश्य होनेके कारण शशशृङ्गमें प्रत्यक्षबाध नहीं दिखाया जा सकता है। एवं शशशृङ्गमें दृश्यत्वकी निवृत्तिमात्रसे शृङ्गत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अव्यापककी निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् न दृश्यत्व शृङ्गत्वका व्यापक है और न शृङ्गत्व दृश्यत्वका व्याप्य है। अतः इन दोनोंमें व्याप्यव्यापकभाव नहीं होनेसे दृश्यत्वकी निवृत्तिसे शशशृङ्गमें शृङ्गत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। एवं, दृश्यत्वकी व्याप्ति शृङ्गगतकार्यत्वके कारण है। अर्थात् उसी शृङ्गमें दृश्यत्व होता है, जो कार्य (उत्पन्न) है। इसलिये दृश्यत्वकी निवृत्ति होनेपर कार्यभूतशृङ्गकी भले ही निवृत्ति हो जाय किन्तु अकार्यभूत शशशृङ्ग या नरशृङ्गकी निवृत्ति नहीं हो सकती है।

(प्रतिबन्दिका निराकरण) उक्त प्रतिबन्दि मेरी हानिके लिये नहीं हो सकती है। क्योंकि ईश्वररूप महान प्रयोजन के सिद्ध हो चुकने से मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। एवं प्रतिबन्दिका विषय निष्प्रयोजन भी

प्रतिबन्दिरिति चेत्, तर्हि मा भैषीरियमुन्मोच्यते। तथा ह्यर्थतः स्वशिरःशृङ्गसाधनप्रवृत्त इदं प्रष्टव्यः—किं ते विषाण-शब्देनान्यदेव किञ्चिदभिप्रेतं रोमादि ? विषाणजातीयं वा द्रव्यम् ? प्रथमे सिद्धसाधनं लोकविरोधश्च। लोके तद्विपरीतस्यै-वार्थस्य विषाणशब्देनाभिधानात्।

द्वितीये त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां संस्थानविशेषकार्यत्वात् व्यव-हारलक्षणायास्तदभिव्यक्तेः कथं तद्रहितेषु परमाण्वादिषु तत्सम्भवः ? सम्भवे वा कथं न तत्र घटत्वादिकमपि ? ओमिति

होता है, क्योंकि उससे न स्वपक्षका साधन होता है और न परपक्षका दूषण ही हो पाता है। फिर भी यदि कहो कि—प्रतिष्ठाको प्राप्त व्यक्ति अपनी अकीर्तिके भयसे प्रतिबन्दिकी उपेक्षा नहीं कर सकता है, किन्तु उसका भी समाधान उसे करना ही पड़ता है—तो भय न करो, प्रति-बन्दिसे इसे भी हटा ही रहा हूँ। जैसे—

वस्तुके रूपमें अपने शिरपर शृङ्ग सिद्ध करनेके लिये तैयार हुए तुमसे यह पूछना है कि—क्या तुझे विषाण (शृङ्ग) शब्दसे रोम आदि कुछ और ही वस्तु अभिप्रेत है ? अथवा विषाणजातिका प्रसिद्ध द्रव्य अभिप्रेत है ? यहाँ प्रथमपक्षमें सिद्धसाधनदोष है और लोकविरोध भी होता है। अर्थात् सिरके बालको ही यदि विषाण समझ कर सिद्ध करते हो तो सिरपर बाल तो सिद्ध ही है, अतः उसका साधन करना व्यर्थ है। इसके अलावे विषाणशब्दसे बाल समझना लोकविरुद्ध भी है। क्योंकि लोकमें रोम आदिसे विपरीत जो वस्तु है, उसीका विषाण-शब्दसे अभिधान होता है।

यदि द्वितीयपक्ष लो, अर्थात् विषाणशब्दसे विषाणत्वजातिसे युक्त द्रव्य अभिप्रेत हो तो अन्वय और व्यतिरेकद्वारा वह विषाणत्वजाति अवयव-सन्निवेशविशेषसे ही व्यङ्ग्य होती है तथा उसकी अभिव्यक्तिका ज्ञान व्यवहाररूप लक्षणसे होता है। ऐसी स्थितिमें जहाँ (शश या नरके सिरमें) विशेषप्रकारका अवयव-सन्निवेश (संघटन) नहीं है, वहाँ अलीक शशशृङ्गमें विषाणत्व या शृङ्गत्वजातिकी अभिव्यक्ति कैसे होगी ?

ब्रुवतः कथं न जातिसङ्करप्रसङ्गः ? कारणं विना कार्यसम्भव-प्रसङ्गो वा ? न वान्वयव्यतिरेकौ कार्यकारणभावे प्रमाणमिति सर्वं समाकुलमेवाकुलमतेः। तस्मादतीन्द्रियं नित्यं वा विषाण-मेव न भवति, यच्च विषाणं तत् प्रत्यक्षबाधितमेव, कुतस्तदनु-मानावकाशः।

एवं तर्हि नित्यं ज्ञानमित्यपि व्याहतम्, इन्द्रियादिविकार-मात्रव्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यत्वात् ज्ञानत्वसामान्यस्येति चेत्, न, अत-

---

और उसमें शृङ्गत्वका व्यवहार भी कैसे होगा? यदि उक्त प्रकारके अवयव-सन्निवेशके अभावमें भी शृङ्गत्वजातिकी अभिव्यक्ति हो तो घटो-चित अवयव-सन्निवेशसे रहित परमाणुओंमें भी घटत्वादि-जातिकी अभि-व्यक्ति हो तथा परमाणुओंमें भी घटव्यवहार होवे। यदि 'ओम्'शब्दसे उक्त प्रसङ्गके बारेमें अपनी स्वीकृति व्यक्त करो, अर्थात् विशेषप्रकारका अवयव-सन्निवेश नहीं रहनेपर भी जातिकी अभिव्यक्ति मानो तो परस्पर विरोधी जातियोंका भी एकत्र सङ्कर होने लगेगा। अथवा कारणके बिना भी कार्यकी उत्पत्ति होने लगेगी। इसके अलावे कार्यकारणभाव-का निश्चय करनेमें सर्वसम्मत अन्वय-व्यतिरेक भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। इसप्रकार तुम्हारे जैसे आकुलमति व्यक्तिका सब नियम छिन्न भिन्न हो जायगा।

इसलिये अतीन्द्रिय (अदृश्य) या नित्य कोई विषाण ही नहीं होता है। और जैसा विषाण लोकमें देखा जाता है, वह शश (खरहे) के या मानवके सिरमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। अतः शशशृङ्गके या नरशृङ्गके अनुमानका अवसर ही कहां है?

यदि कहो कि—इसप्रकार तो शशविषाणके समान नित्यज्ञान भी खण्डित हो गया। क्योंकि ज्ञानत्वजाति भी इन्द्रियादि विकारोंसे ही अभिव्यक्त होती हुई देखी जाती है। अर्थात् ईश्वरमें इन्द्रियादिके नहीं होनेसे ज्ञान ही नहीं होगा। यदि उसमें भी इन्द्रियादि विकार माने जाँय तो इन्द्रियादिसे जन्य होनेके कारण ईश्वरका ज्ञान नित्य नहीं हो सकेगा—तो यह नहीं कह सकते। कारण, ज्ञानत्व न तो नित्यत्वा-

भावत्वात् अतदाक्षेपकत्वाच्च । न हि मातृत्वस्य वन्ध्यात्ववत् नित्यत्वस्याभावो ज्ञानत्वम्, अचेतनानामपि चेतनत्वप्रसङ्गात् ।

नापि नित्यत्वं ज्ञानत्वाभावमाक्षिपेत्, ज्ञानत्वेनाविरोधात्, विरोधमूलस्य विपक्षे बाधकस्याभावात्, दर्शनादर्शनयोश्चार्थप्रव-

---

भावरूप है और न तो नित्यत्वाभावका आक्षेपक (उपस्थापक) है । ऐसे ही नित्यत्व भी न तो ज्ञानत्वाभावरूप है और न तो ज्ञानत्वाभावका आक्षेपक ही है । क्योंकि जिस प्रकार मातृत्व वन्ध्यात्वका अभावरूप है, उस प्रकार ज्ञानत्व नित्यत्वका अभावरूप नहीं है । क्योंकि यदि वैसा हो तो अचेतन वस्तु भी यदि अनित्य हो जैसे घटपटादि, तो उसमें चेतनत्व (ज्ञानाधिकरणत्व) का प्रसङ्ग हो जायगा । क्योंकि चेतन होनेके लिये अपेक्षित जो नित्यत्वाभाव, वह उसमें है ।

एवं, नित्यत्व ज्ञानत्वाभावको या ज्ञानत्व नित्यत्वाभावको आक्षिप्त भी नहीं कर सकता । क्योंकि न तो नित्यत्वको ज्ञानत्वके साथ विरोध है और न ज्ञानत्वको नित्यत्वके साथ । कारण, विरोधका मूल है विपक्षमें बाधक होना, जिसका यहाँ अभाव है । अर्थात् "ज्ञान अनित्य ही होता है, यह तुम्हारा पक्ष है । किन्तु "नित्य भी हो और ज्ञान भी हो" इस विपक्षमें कोई बाधक नहीं होनेसे ज्ञानत्व और नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं है ।

यह कहना कि—जो जो ज्ञान होता है, वह सब अनित्य ही देखा जाता है तथा जो नित्य आकाशादि है, वह ज्ञानात्मक भी नहीं देखा जाता, इसलिये ज्ञान होना और नित्य होना परस्पर विरोधी है—तो इसप्रकारका दर्शन और अदर्शन अर्थप्रवणत्व और अर्थाप्रवणत्वरूप उपाधिसे प्रयुक्त है । अर्थात् नित्य हो या अनित्य हो, जो सीधे अर्थ (विषय) से सम्बद्ध है वह ज्ञान है, और जो सीधे विषयसे सम्बद्ध नहीं है, वह ज्ञान नहीं है, जैसे इच्छा आदि । क्योंकि इच्छा सीधे विषयसे सम्बद्ध न होकर ज्ञानके माध्यमसे ही विषयसम्बद्ध होती है । इसीलिये यद्विषयक ज्ञान होता है, तद्विषयक ही इच्छा होती है ।

उक्त उपाधि उसी प्रकार है, जैसे रूपत्व और अनित्यत्वके सम्बन्ध-

णत्वाप्रवणत्वोपाधिग्रस्तत्वात्, रूपत्वानित्यत्वयोश्चक्षुर्मात्रग्राह्यव्यक्तित्ववत् ।

न चेन्द्रियादिविकारो ज्ञानत्वाभिव्यक्तिहेतुः, अर्थप्रवणव्यक्तिमात्रस्यैव तन्निरपेक्षस्य तथाभावात् । एतदनपेक्षस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वादिति ।

अथ क्षुद्रोपद्रवाः—केवलस्य कर्तृत्वे विश्वस्य वैश्वरूप्यव्याघातः, सततोत्पत्तिप्रसङ्गश्च । अदृष्टापेक्षायां कल्पनागौरवम्,

---

में चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व उपाधि है । अर्थात् अनित्य होनेके कारण रूपत्वका व्यवहार नहीं होता किन्तु चक्षुर्मात्रग्राह्य होनेके कारण ही रूपत्वका व्यवहार होता है । क्योंकि यदि अनित्य ही रूप हो तो नित्य होनेके कारण जलपरमाणुका रूप भी असिद्ध हो जायगा । अतः चक्षुर्मात्रग्राह्य जो रूपत्वजाति, उससे युक्त होनेके कारण ही जलीयपरमाणुका भी रूप सिद्ध होता है । उसीप्रकार ज्ञानके बारेमें जानना चाहिये ।

और यह कहना कि—इन्द्रियादिविकार ही ज्ञानत्वकी अभिव्यक्तिका हेतु है—ठीक नहीं है । क्योंकि इन्द्रियादिविकारोंसे निरपेक्ष अर्थप्रवणतामात्र (साक्षात् विषयसम्बन्धमात्र) ही ज्ञानत्वाभिव्यक्तिका हेतु है । इसके विपरीत यदि अर्थप्रवणतासे निरपेक्ष इन्द्रियादिविकारोंको ही ज्ञानत्वका अभिव्यञ्जक माना जाय तो सुखादिमें अतिव्याप्ति हो जायगी । अर्थात् सुख भी मनरूप इन्द्रियसे सम्बद्ध है, अतः वह भी ज्ञान कहलाने लगेगा । मेरे मतानुसार तो अर्थप्रवणताका अभाव होनेसे ही सुखादिमें ज्ञानत्वकी प्रसक्ति नहीं हो सकेगी ।

ईश्वरसम्बन्धी कुछ क्षुद्र शङ्काओंका समाधान

इसके बाद ईश्वरसम्बन्धी कुछ क्षुद्र उपद्रवोंका वर्णन एवं उनका समाधान किया जा रहा है । जैसे, केवल ईश्वरको कर्ता माननेपर सृष्टिमें विचित्रता नहीं हो सकेगी तथा ईश्वरके नित्य होनेसे प्रत्येक वस्तुकी सदा उत्पत्ति होने लगेगी । अर्थात् संसारकी सब वस्तु एक जातिकी हो जायगी तथा वस्तुओंकी उत्पत्तिमें कोई क्रम नहीं रह सकेगा । यदि उक्त दोषोंके परिहारके लिये कारणके रूपमें अदृष्टकी भी अपेक्षा

तत एव तदुत्पत्तेः । स्वार्थं प्रवृत्तावनीश्वरत्वप्रसङ्गः । परार्थ-प्रवृत्तावदुःखमयसर्गप्रसङ्गः । एवमेव प्रवृत्तावचैतन्यम् । एकत्वे प्रमाणाभावः । अनेकत्वे त्वसार्वज्ञ्यम्, प्रतिनियतसामग्रीविज्ञ-त्वादित्येवमादयः ।

तत्र कारणचक्रस्यैकमुपादाय शेषवैयर्थ्यप्रसञ्जने सर्ववैयर्थ्य-प्रसङ्गः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धकारणभावस्य न वैयर्थ्य-मिति चेत्, अनुमितकारणभावस्याप्येवम्, प्रमाणसिद्धत्वाविशेषात् ।

की जाय तो ईश्वरकी कल्पना करनेमें गौरव दोष है। क्योंकि उस अदृष्ट-से ही सृष्टिकी उत्पत्ति मान लेनेमें लाघव है। एवं सृष्टि करनेमें ईश्वर-का अपना कोई प्रयोजन हो तो अपूर्ण होनेके कारण उसका ईश्वरत्व ही नहीं रह जायगा। अर्थात् वह हम लोगोंके समान संसारी हो जायगा। यदि दूसरे दूसरोंकी प्रयोजनसिद्धिके लिये सृष्टिमें ईश्वरकी प्रवृत्ति हो तो उसे दुःखमय सृष्टि नहीं करनी चाहिये। किन्तु परहितकी दृष्टिसे सबको सुखी ही उत्पन्न करना चाहिये। यदि अपने या दूसरोंके किसी प्रयोजनके बिना ही सृष्टिमें उसकी प्रवृत्ति हो तो वह जड़ या उन्मत्त हो जायगा। एवं उस ईश्वरके एक होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् ईश्वरको सिद्ध करनेवाले प्रमाण उसके एकत्व को नहीं बताते हैं। अतः यदि ईश्वर अनेक हो तो सबके सब पृथक् पृथक् नियत सामग्रीके ज्ञाता होनेके कारण असर्वज्ञ हो जायँगे। अर्थात् पृथिवीका निर्माता ईश्वर केवल पृथिवीके ही उपादानोंका ज्ञाता होगा और अङ्कुरका निर्माता केवल अङ्कुरके ही उपादानोंका ज्ञाता होगा। इस प्रकार सभी ईश्वर अल्पज्ञ हो जायँगे।

यहाँ यदि कारणसमूहके अन्तर्गत किसी एक कारणको लेकर शेष-कारणको व्यर्थ कहा जाय तो उसी न्यायसे सभी कारणोंमें वैयर्थ्यका प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् अदृष्टको लेकर ईश्वरमें वैयर्थ्यका आपादन यदि उक्त प्रकारसे किया जाय तो कारणको लेकर कर्ममें और कर्मको लेकर करणमें तथा इसीप्रकारसे और और कारकोंमें भी वैयर्थ्यका प्रसङ्ग हो जायगा।

यच्च यदनुगुणत्वेन कल्पितं तस्य तेनैव विफलीकरणे सर्वत्राहष्ट-मुपादाय दृष्टवैफल्यप्रसङ्गः। तथा च तदपि न स्यात्, प्रमाणाभावात्। दृष्टेन ह्यदृष्टमुन्नीयते।

परार्थं च प्रवृत्तिः स्वार्थाभावात्। न च दुःखसृष्ट्या कारुण्यापवादः, जनकाध्यापकचिकित्सकादिषु व्यभिचारात्।

अथ दौर्जन्यादेव किं नैवमिति चेत्, न, दोषाभावात्,

यदि कहो कि—प्रत्यक्ष अन्वय और व्यतिरेकद्वारा जिसमें कारणत्व सिद्ध है, उसमें वैयर्थ्यका प्रसङ्ग नहीं होगा—तो अनुमानसे जिसमें (ईश्वरमें) कारणता सिद्ध है, उसमें भी इसीप्रकार वैयर्थ्य नहीं होगा। क्योंकि दोनोंमें समानरूपसे कारणता सिद्ध है। एवं, जो जिसके उपजीव्यके रूपमें कल्पित होता है, वह यदि उसीके द्वारा व्यर्थ कर दिया जाय तो सर्वत्र अदृष्टको लेकर दृष्टकारणोंमें वैफल्यका प्रसङ्ग हो जायगा। अन्ततः वह अदृष्ट भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। कारण, दृष्टसे ही तो अदृष्टकी कल्पना की जाती है। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट का अधिष्ठाता-रूपमें ही ईश्वर सिद्ध होता है। अतः उसीके द्वारा ईश्वरको अन्यथा-सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वैसा करनेपर उपजीव्य-विरोध होता है। अदृष्टका अधिष्ठाता होनेके कारण ईश्वर अदृष्टका उपजीव्य है।

एवं, सृष्टिमें ईश्वरकी प्रवृत्ति परार्थ होती है। क्योंकि पूर्णकाम होनेसे उसे अपना कोई स्वार्थ नहीं है। यहाँ यह नहीं कह सकते कि—दुःखमय सृष्टि करनेके कारण ईश्वरमें कारुण्यका अभाव हो गया—क्योंकि पिता, अध्यापक और चिकित्सकमें उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् पिता आदि अपने पुत्र, शिष्य और रोगीके हितके लिये उनमें ताडनादिद्वारा दुःख उत्पन्न करते ही हैं, फिर भी उनमें कारुण्यका अभाव कोई नहीं मानता है।

यदि कहो कि—कुटिलतावश ही ईश्वरद्वारा दुःखमय सृष्टिका किया जाना क्यों न माना जाय—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि कुटिलता का कारण रागद्वेषात्मक दोष है और ईश्वरमें उस दोषका अभाव है।

तदभावश्च मोहाभावात, तदभावोऽपि सर्वज्ञत्वादिति।

एकद्व्यणुककारी च[1] परमाणुमदृष्टमुपकार्यत्र्यणुकादिभोगपर्यन्तं द्रव्यादिषट्कं च जानाति नूनमित्यविवादम्, एषामुपादानादिरूपत्वात।

अवच्छेद्यावच्छेदकभावापरिज्ञानेन वोपादानादिपरिज्ञानानुपपत्तेः। यश्च यज्जातीयमेकं कर्तुं ज्ञातुं वा समर्थः स तज्जातीयं सर्वमेवेति नियमः, सामर्थ्यस्य जातिनियतत्वात्। केवलं समर्थो-

तथा दोषका अभाव भी उसमें इसलिए है कि उसमें मोह (अज्ञानता) का अभाव है। और मोहका अभाव भी उसके सर्वज्ञ होनेके कारण है। अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वरमें अज्ञानता आ कैसे सकती है?

एवं, एक द्व्यणुक बनानेवाला ईश्वर परमाणु, अदृष्ट तथा द्व्यणुकसे किये जानेवाले त्र्यणुकादि-वस्तुओंके भोगपर्यन्त द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छहों पदार्थोंको निश्चित ही जानता है, यह निर्विवाद है। जैसे, कुम्भकार कपाल-चक्रादिसे लेकर बनाये जानेवाले घटके उपभोगतककी सम्पूर्ण प्रक्रियासे अवगत रहता है। यहाँ द्व्यणुकरूप कार्यके प्रति परमाणु उपादानरूप हैं और अदृष्टादिक निमित्त रूप हैं। अर्थात् उपादान-निमित्तादिके ज्ञानके बिना कोई कर्ता हो ही नहीं सकता हैं।

षट् पदार्थान्तर्गत सामान्य (जाति) का भी ज्ञान इसलिये रहता है कि व्यक्ति और जातिके पारस्परिक अवच्छेद्यावच्छेदकभावका ज्ञान हुए बिना "अमुकका उपादान या निमित्त कारण अमुक है" इसका भी परिज्ञान असंभव है। अर्थात् किसी कार्यको करनेवालेके लिये अनुगतरूप (जाति) से अवच्छिन्न (युक्त) कार्य-कारणका ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कार्यतावच्छेदक और कारणतावच्छेदकरूपमें सामान्य (जाति) का भी ज्ञान रहता है। एवं, जो कर्ता जिस जातिके एक कार्यको करनेमें या जाननेमें समर्थ रहता है, वह उस जातिके समस्त कार्यको ही करने या जाननेमें समर्थ रहता है, यह नियम है। कर्तृगत सामर्थ्य भी

१. तु इति १ पु० पा०

ऽपि सहकार्यसन्निधेर्न कुर्यान्न जानीयात्। तत्र प्रथममिष्यते, कार्यस्य कालदेशनियमोपलम्भात्।

द्वितीयस्तु सम्भवेदपि यदि कार्यमस्य ज्ञानं स्यात्, न च तत्तथा। कथमिति चेत्, शरीरापाये तदाश्रितानामिन्द्रियादीना-मपायात्।

न चान्वयव्यतिरेकसिद्धहेतुभावस्याभावेऽपि हेत्वन्तरात् कार्यजन्म, निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चाहेतुकं कार्यं नाम।

जातिनियत होती है। इसलिये एक आत्मामें सब कार्यके करने या जाननेमें भले ही व्यभिचार हो, फिर भी लाघववश आत्मत्वरूपसे ही कार्यमात्रको करने या जाननेमें आत्माको योग्य माना जाता है। अकेले करने या जाननेमें समर्थ होता हुआ भी सहकारीका सन्निधान नहीं होने-के कारण ही नहीं करेगा और नहीं जानेगा। यहाँ ईश्वरके सम्बन्धमें पहली बात तो मानते हैं, क्योंकि किसी कार्यकी उत्पत्तिमें काल और देशका नियम देखा जाता है। अर्थात् कोई भी कार्य किसी नियत काल देश (स्थान) में ही उत्पन्न होता है। अतः जबतक वह समय और स्थान नहीं प्राप्त होगा तबतक समर्थ होता हुआ भी ईश्वर उस कार्यको नहीं करेगा।

द्वितीय बात तो संभव भी होती यदि ईश्वरीय ज्ञान कार्य (जन्य) होता। अर्थात् जन्यज्ञान ही सहकारीके असन्निधानमें नहीं हो सकेगा। ईश्वरीयज्ञान तो जन्य है नहीं किन्तु नित्य है। यदि पूछो कि—ईश्वर-का ज्ञान जन्य क्यों नहीं है ? तो इसलिये कि शरीरके नहीं होनेसे शरीराश्रित इन्द्रियोंका ईश्वरमें अभाव है और ज्ञान उत्पन्न होनेके हेतु इन्द्रियाँ ही हैं।

और यह भी नहीं हो सकता है कि—जिनकी (इन्द्रियोंकी) हेतुता अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है, उनके अभावमें भी अन्य हेतुसे कार्यकी (ज्ञानकी) उत्पत्ति हो जाय—क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध हेतुके अभावमें भी कार्यकी उत्पत्ति होनेपर वह ज्ञानादि कार्य निर्हेतुक हो जायगा। जब कि संसारमें कोई भी कार्य अहेतुक (बिना हेतुका)

ततः सिद्धैवास्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नशक्तिर्यद्‌गोचरा तज्जातीय-समस्तगोचरेति सार्वज्ञ्यसिद्धिः ।

शरीरापाय एव कथमिति चेत्, दृश्यस्य प्रत्यक्षबाधित-तत्वात्, अदृश्यस्यापि सावयवतया मूर्ततया च निबिडतर-पाषाणमध्यवर्तिनि भेकादौ[1] कार्ये कर्तव्ये नाभग्नस्य प्रवेशः। न च परमाणुरूपं तच्छरीरम्, अनन्तरालत्वेन निर्मनस्कतया इन्द्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः । न च बहिर्वृत्ति मनो ज्ञानजननोप-योगि, शरीरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

नहीं होता। इसलिये ईश्वरकी ज्ञानशक्ति, चिकीर्षाशक्ति और प्रयत्नशक्ति स्वतः सिद्ध अर्थात् नित्य ही है। तथा वह ज्ञानादिशक्ति यद्विषयक होती है, वह उस जातिकी समस्त वस्तुओंको विषय करती है। इस प्रकार ईश्वरमें सर्वज्ञताकी सिद्धि हो जाती है।

यदि पूछो कि—ईश्वरको शरीराभाव ही क्यों है?—तो इसलिये कि ईश्वरमें दृश्य शरीरका होना प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। यदि अदृश्य शरीर हो तो उस शरीरके सावयव और मूर्त होनेके कारण अत्यन्त सघन पत्थरके भीतर रहनेवाले मेढ़क आदिको पैदा करनेके ईश्वरका वह अदृश्य शरीर भङ्ग हुए बिना पत्थरमें प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। यह भी नहीं कह सकते कि—परमाणुरूप वह शरीर है, इसलिये पत्थरमें प्रवेशके लिये उसके भङ्गका प्रसङ्ग नहीं आता—क्योंकि परमाणुरूप शरीरके निश्छिद्र होनेके कारण उसमें मन नहीं रह सकेगा तथा शरीरका इन्द्रियाश्रयत्वरूप लक्षण उसमें नहीं मिल सकेगा। यह भी नहीं हो सकता कि—शरीरके अन्दर बिना रहे ही बाहर ही रहता हुआ मन ज्ञानादिकार्य करने में उपयोगी होगा—क्योंकि उस स्थितिमें शरीरका मानना ही व्यर्थ हो जायगा। अर्थात् शरीरकी यही उपयोगिता है कि मन आदि इन्द्रियां उसमें रहती हुईं कार्य उत्पन्न कर सकें। अतः शरीरके बाहर मनका रहना माना जाय तो शरीर मानना व्यर्थ होगा।

---

१. भेकशरीरादौ इति १ पु० पा०

न च दविष्ठ एव सूर्यादिस्तत् कुर्यादिति साम्प्रतम्, कारकानधिष्ठानात्, शरीरस्य तदायतनतया प्रयत्नस्याव्यापकत्वात्। तथापि व्यापकत्वे त्वसमवायिकारणानुरोधेनाकारणकतया तदेव नित्यत्वम्।

न चोद्देशमात्रसम्बन्धेन क्रियाहेतुत्वम्, अस्मदादिप्रयत्नस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्।

यह भी नहीं कह सकते कि—ईश्वरीय-शरीरको पाषाणाभ्यन्तर प्रवेशकी आवश्यकता नहीं है किन्तु अतिदूरवर्ती सूर्यादि शरीरसे ही वह पाषाण मध्यवर्ती मेढक आदिको उत्पन्न करेगा—क्योंकि तब वह मेढकको उत्पन्न करनेवाले कारकोंका अधिष्ठाता नहीं हो सकेगा। अर्थात् उनमें व्यापारका आधान नहीं कर सकेगा। क्योंकि उन कारकों का स्थान वह मेढक शरीर है, तथा ईश्वरीय प्रयत्नका स्थान दूरवर्ती सूर्यादिका शरीर होनेसे ईश्वरीय प्रयत्न अव्यापक है। अर्थात् मेढक-शरीरको उत्पन्न करनेवाले कारकों तक ईश्वरीय प्रयत्नके नहीं पहुँच सकनेके कारण सूर्यादिशरीरगत ईश्वरीय प्रयत्नसे पाषाणान्तर्गत कारकों में व्यापार नहीं हो सकेगा तथा व्यापारके अभावमें पाषाणके भीतर मेढकशरीरकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तथापि यदि ईश्वरीय-प्रयत्नको व्यापक मानो अर्थात् सूर्यपदसे नित्य एवं व्यापक प्रयत्नोंसे युक्त ईश्वर ही लो–तो व्यापक होनेके कारण उस ईश्वरीय प्रयत्नके प्रति कोई (द्रव्यसंयोग) असमवायिकारण अपेक्षित नहीं होगा। अतः असमवायिकारणके अभावमें सर्वथा कारण-रहित होनेके कारण ही ईश्वरका प्रयत्नादि नित्य सिद्ध हो जाता है।

ऐसा नहीं हो सकता कि—सूर्यादिरूप ईश्वरीय-शरीरके दूरवर्ती होनेपर भी केवल इच्छाका विषय होनेके कारण ही अव्यापक भी ईश्वरीय-प्रयत्न पाषाणान्तर्गत मेढकको उत्पन्न करनेवाले कारकोंमें क्रिया उत्पन्न कर देगा—क्योंकि यदि वैसा हो तो हमारा भी प्रयत्न इच्छामात्र से दूरवर्ती कारकोंमें क्रिया उत्पन्न करने लगेगा। अर्थात् इच्छामात्रसे दूरवर्ती कुम्भकार भी चक्रादि चलाकर घट उत्पन्न करने लग जायेगा, जो प्रत्यक्षबाधित है।

न च संयुक्तसंयोगादधिष्ठानम्, साक्षादधिष्ठानस्य विवक्षितत्वात्। विषापनोदादौ कथमिति[1] चेत्, न, तत्रास्मदादेर्ज्ञानमात्रं प्रति यत्नस्याविरोधात्। विषापनोदादौ तु तत्रत्यो यत्नः क्रियाहेतुरिति।

सर्गादौ तु न शरीरगन्धोऽपीति सर्वथा कलेवरविगमादकारणतया बुद्धेः सर्वज्ञत्वमनिवार्यं विश्वेषां कर्तुरेकस्येति।

"संयुक्त-संयोगसे भी ईश्वर पाषाणान्तर्गत भेकको उत्पन्न करनेवाले कारकोंका अधिष्ठाता नहीं हो सकता। अर्थात् सूर्यादिरूप ईश्वरीय-शरीरसे संयुक्त आकाश है तथा उस आकाशसे संयुक्त भेकजनक कारकचक्र होगा, इसप्रकार परम्परया ईश्वर उन कारकोंका अधिष्ठाता हो जायगा" यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि वस्तुको उत्पन्न करनेके लिये कारकोंका साक्षात् अधिष्ठाता होना ही अपेक्षित है न कि परम्परया। यदि पूछो कि—विषादिको हटानेमें गारुडिक दूरसे ही कैसे अधिष्ठाता हो जाता है ?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ गरुडदेवताके ज्ञानमात्रके प्रति दूरवर्ती हमारे प्रयत्नके कारण होनेमें कोई विरोध नहीं हैं। अर्थात् वहाँ गारुडिकद्वारा किये गये मन्त्र-पाठादिसे गरुडदेवताको सर्पद्वारा काटे गये व्यक्तिका ज्ञान हो जाता है और वह व्यक्ति जी जाता है। अतः दूरवर्ती प्रयत्नसे दूरवर्तीको ज्ञान होनेमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु विष उतरनेका जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तो मन्त्रादिपाठके सहकारी अथवा मन्त्रादिपाठसे अदृष्टके सहकारी किसी अन्यका अर्थात् ईश्वरका ही प्रयत्न, जो विषावतरणस्थलमें ही है, विषके उतरनेका हेतु है।

किन्तु सृष्टिके पूर्वमें तो सूर्यादिशरीरकी गन्ध भी नहीं है कि ईश्वर उसकेद्वारा भी अधिष्ठाता होकर सृष्टि कर सकेगा। इसलिये सर्वथा ही शरीररहित होनेके कारण ईश्वरीयज्ञान किसी हेतुसे उत्पन्न हुआ नहीं सिद्ध होता, अतः विश्वके कर्ता ईश्वरका सर्वज्ञ होना अनिवार्य है। अर्थात् ईश्वर बिना शरीरके ही अधिष्ठाता है, यह बात सिद्ध हो जाती है। तथा उसमें ज्ञानका कारण शरीर नहीं होनेसे शरीरके अधीन

---

१. 'तत्र शरीरस्य दूरस्थत्वादिति भावः' इति कलिकातामुद्रिते टिप्पणी।

अस्तु तावदसौ सर्वज्ञः कर्ता, वक्ता तु कथमिति चेत्, न, वचनशक्तौ सत्यां परार्थैकतानत्वात्। यो हिताहितविभागं विद्वान्, परार्थाभिप्रायः सन्(स)स्थानकरणपाटवे सत्यविदुषेऽवश्यमुपदिशेत्, यथा अन्धाय दक्षिणेन याहि वामेन मा गाः' इति पृथग्जनोऽपि, तथा भगवानिति।

स्थानकरणपाटवमसिद्धं देहाभावात्, तेषां ताल्वादिविवृतादिरूपत्वात्। न च तदन्तरेण वर्णनिष्पत्तिः, तदुत्पत्तेरवधारणात्।

न च तत्कारणान्यनधितिष्ठतः तत्कर्तृत्वमीश्वरस्यापीति

होनेवाला विषयविशेषका प्रतिबन्ध (नियम) भी हट जाता है। इसप्रकार ईश्वरकी सर्वज्ञता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

ईश्वरमें वेदवक्तृत्वसिद्धि

यदि कहो कि—जगत्का कर्ता सर्वज्ञ भले ही हो, किन्तु वेदका वक्ता वह कैसे है?—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ईश्वरमें वचनकी शक्ति है तथा वह परार्थमें ही सदा निरत है, इसीलिये वह वेदका उपदेश करता है। क्योंकि जो हित और अहितके विभागको जानता है, तथा जिसके कण्ठ-तालु आदि स्थान एवं संवृत-विवृत आदि प्रयत्न ठीक हैं, वह परोपकारके अभिप्रायसे अज्ञानी व्यक्तिको अवश्य ही उपदेश देगा। जैसे, किसी अन्धे व्यक्तिको "दाहिनेसे जावो बायेंसे मत जावो" ऐसा पामर जन भी उपदेश देता है। इसीप्रकार भगवान् भी अज्ञानी जनके लिये उपदेश करता है।

यदि कहो कि—ईश्वरको देह नहीं होनेसे उसमें स्थान और प्रयत्नकी पटुता असिद्ध है। क्योंकि तालु आदिक ही स्थान है और उसका विवृत आदि होना ही प्रयत्न है, जो ईश्वरमें नहीं है। एवं, स्थान-प्रयत्नके अभावमें ककारादिवर्णोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वर्णोत्पत्ति और तालु आदि स्थानोंमें कार्यकारणभावका निश्चय है।

वर्णोत्पत्तिके कारणभूत ताल्वादिका अधिष्ठाता हुए बिना वर्णोंका कर्ता

चेत्, न, यस्य कार्यस्य यत् कारणमन्वयव्यतिरेकसिद्धं तत्कारणाधिष्ठानयोः स्थूलसिद्ध्यर्थं तदवयवपरम्पराकारणाधिष्ठानवदवश्यम्भावनियमात्। न च सर्वत्र कार्ये कायः कारणमिति प्रागुपेक्षितः। पितृत्वाद् वोपदेशानुमानम्।

तथापि कतम आगमस्तेन प्रणीत इति चेत्, वेदायुर्वेदादिरित्यरिकरिकर्णज्वरः सिंहनादः। तथाहि, न तावदयमायुर्वेदोऽप्रमाणम्, संवादस्य प्रायिकत्वात्। विसंवादस्य काकतालीयतया कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यहेतुकत्वात्। पुनस्तत्साद्गुण्ये तत एव फलसिद्धेः। न च निर्मूलस्तथा भवितु-

---

भी ईश्वर नहीं हो सकता है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जिस कार्यका जो कारण अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सिद्ध है, उस कारणकी तथा उसके अधिष्ठाताकी सत्ता वैसे ही अनिवार्य है, जैसे स्थूल अवयवीकी सिद्धिके लिये उसके अवयवधारारूप कारण एवं उसके अधिष्ठाताकी सत्ता अनिवार्यरूपसे सिद्ध होती है। किन्तु सभी कार्यके प्रति शरीर कारण नहीं होता, इसीलिये पूर्वमें द्व्यणुकादि उत्पन्न करनेमें अथवा अङ्कुरादि उत्पन्न करनेमें ईश्वरको शरीरका होना अस्वीकार कर दिया गया है। अथवा जगत्का पिता होनेके कारण लौकिक पिताके समान जीवरूप पुत्रके प्रति ईश्वरीय उपदेशके रूपमें वेदका अनुमान करते हैं। क्योंकि जो पिता होता है, वह अपने पुत्रको हिताहितका उपदेश करता ही है, यह व्याप्ति है।

फिर यदि पूछो कि—ईश्वरने कौनसा आगम बनाया?—तो "वह वेद-आयुर्वेद आदिक ही आगम है, जिसका ईश्वरने प्रणयन किया" ऐसा शत्रुरूपी हाथीको कर्णज्वर उत्पन्न कर देनेवाला हमारा सिंहनाद है।

कारण, यह आयुर्वेद अप्रमाण नहीं है। क्योंकि आयुर्वेदकी सफल प्रवृत्तिजनकता प्रायः देखी जाती है। अर्थात् आयुर्वेदका प्रयोग प्रायः निष्फल नहीं होता। यदि कहीं उसकी निष्फलता देखी भी जाती है, तो वह काकतालीय है तथा कर्ता, कर्म एवं साधनके वैगुण्यके कारण है। पुनः जब ही कर्ता, कर्म एवं साधनमें साद्गुण्य (गुणवत्ता या

महंति, अतिप्रसङ्गात् ।

न चान्वयव्यतिरेकभावोऽस्य मूलम्, आवापोद्वापेन योगानामनन्तयाऽर्वाचीनेनाशक्यत्वात् । विषादौ तथाकरणे बहुतरानर्थप्रसङ्गात् । कः प्रेक्षावानना कलितवस्तुतत्त्वः पाटन-प्लोषणच्छेदनक्षारणशिरावेधनलङ्घनादि योग्यायै[1] कारयेत्, कुर्याद् वा ।

न चोपदेशस्योपदेशपारम्पर्यमात्रं मूलम्, अवश्यमुपदेशस्य क्वचित् प्रमाणे विश्रान्तेरिति हि व्याप्तिः । न च नित्यागम-

निर्दोषता) आ जाता है, तब ही उस आयुर्वैदिक प्रयोगसे ही आरोग्य-रूप फलकी सिद्धि हो जाती है । इसप्रकार सर्वविदित आयुर्वेदकी प्रमाणता निर्मूल नहीं हो सकती । क्योंकि तब निर्मूल अनाप्तवाक्य भी प्रमाण होने लगेंगे ।

अन्वय और व्यतिरेकको आयुर्वेदके प्रामाण्यका मूल नहीं कहा जा सकता । क्योंकि जड़ियोंके आवाप (प्रक्षेप) और उद्वाप (उत्क्षेप) के द्वारा आयुर्वैदिक योगोंके अनन्त प्रकारके हो जानेके कारण हम लोगोंके द्वारा रोगोंके प्रति उनके अन्वयव्यतिरेकका प्रत्यक्ष करना सर्वथा अशक्य है । साथ ही विषादिके सम्बन्धमें स्वयं प्रत्यक्ष करनेमें प्राणनाश आदि अनेक प्रकारके अनर्थोंकी भी आपत्ति हो जायगी । क्योंकि कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो वस्तुस्थितिको जाने बिना केवल परीक्षाके लिये अपने आपके ऊपर पाटन, प्लोषण, छेदन, क्षारण, शिरोवेधन तथा लङ्घन आदि प्रयोगोंको दूसरोंसे करायेगा या स्वयं करेगा ?

यह भी नहीं हो सकता कि—आयुर्वैदिक उपदेशका मूल अन्वय-व्यतिरेक नहीं है किन्तु उपदेशकी पूर्वपरम्परा ही उसका मूल है—क्योंकि अन्ततोगत्वा उस पूर्ववर्ती उपदेशको भी नियमतः किसी प्रमाणमें ही विश्रान्त मानना पड़ेगा । अर्थात् प्राथमिक उपदेशकर्ताके द्वारा किये गये साक्षात्कारको ही परवर्ती उपदेशके प्रामाण्यका मूल मानना पड़ेगा ।

१. योग्यायै = शिक्षायै इति दीधितिः ।

सम्भवो वाक्यत्वात् । तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शिपूर्वकोऽयमिति परिशेषः । तथा चानेन दृष्टान्तेन महाजनपरिगृहीतत्वाद् वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते ।

ननु महच्छब्दोऽत्र यदि प्रामाणिकवचनस्तदा सन्दिग्धासिद्धविशेषणो हेतुः । अथ बह्वर्थः ? तदा सुगताद्यागमैरनेकान्तः । तेषामपि वा सर्वज्ञपूर्वकत्व[1] मिति चेत्, न, बहुत्वातिशयस्य विवक्षितत्वात् ।

यह भी सम्भव नहीं है कि नित्य होनेके कारण आगम किसी मूलकी अपेक्षा किये बिना स्वयं ही प्रमाण होगा—क्योंकि वाक्य होनेके कारण अन्य वाक्योंकी तरह वह भी अनित्य ही है। इसलिये परिशेषात् यही सिद्ध होता है कि यह आयुर्वेदका योग किसी अतीन्द्रियार्थ दर्शीके द्वारा ही व्यक्त किया गया है। इसप्रकार इस आयुर्वेदके दृष्टान्तसे महाजनद्वारा परिगृहीत होनेके कारण ऋगादिवेद भी सर्वज्ञके ही बनाये हुए हैं, ऐसी कल्पना की जाती है। अर्थात् वेदोंका कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह विकल्प उठता है कि—'महाजन' इस पदमें महत्पद प्रामाणिक अर्थमें है ? अथवा बहुत्वरूप संख्याके अर्थमें है ? यदि यहाँ महत्पद प्रामाणिकवाचक है तो महाजनपरिगृहीतत्वरूप हेतु सन्दिग्धासिद्ध विशेषणवाला हो जाता है। अर्थात् उक्त हेतुका विशेषण जो महत्त्व है, वही सन्दिग्ध है। क्योंकि महाजनपदसे आप मनु आदिको लेते हैं, किन्तु उनमें प्रामाणिकत्वका सन्देह है। यदि महत्शब्दका दूसरा अर्थ बहुत्वरूप संख्या हो, तब बुद्धादिके आगमोंको लेकर व्यभिचारदोष हो जायगा। क्योंकि बहुत जनोंके द्वारा स्वीकृत होनेपर भी न्याय उन्हें सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं मानता है। अथवा बुद्धादिके आगमोंको भी सर्वज्ञ-प्रणीत मानना होगा—किन्तु उक्त विकल्प हमारे हेतुके सम्बन्धमें नहीं उठ सकता है। क्योंकि यहाँ महत्पदसे बहुत्वका अतिशय अभिप्रेत है। अर्थात् अतिशयको प्राप्त हुए बहुत जनोंके द्वारा परिगृहीत होनेके कारण वेद सर्वज्ञ-प्रणीत है।

१. 'सर्वदर्शनकर्तृभिः परिगृहीतत्वमित्यर्थः' इति कलिकातामुद्रिते टिप्पणी।

कोऽतिशयः ? सर्वदर्शनान्तःपातित्वम् । कस्तैः परिग्रहः ? तदर्थानुष्ठानं, स्वीकृतव्यवहारव्याकरणादिपालनीयत्वं, स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदादिस्वीकृतार्थत्वं च ।

(प्रश्न)—अतिशय क्या है ?

(उत्तर)—सभी दर्शनोंके अन्तःपाती होना अतिशय है। अर्थात् न्याय-मीमांसा प्रभृति जितने भी दर्शन हैं, उनमें प्रतिपादित स्वर्गापवर्गादि मुख्य विषयोंको स्वीकार करनेवाले जन ही अतिशय को प्राप्त हुए महाजन हैं। अथवा न्याय आदि दर्शनोंका ज्ञान ही अतिशय है। सौगतादि दर्शनाभास हैं न कि दर्शन हैं, अतः उनका ज्ञान अतिशय नहीं है।

(प्रश्न)—अतिशयको प्राप्त न्यायादिके ज्ञाता बहुत जनोंद्वारा किया जानेवाला परिग्रह क्या वस्तु है ?

(उत्तर)—निषेक प्रभृति वैदिक अर्थोंका उन सभीकेद्वारा अनुष्ठान किया जाता है, इसलिये वेद महाजन परिगृहीत हुए। बौद्धादि-आगमोंमें प्रतिपादित मण्डलीकरण-केशोल्लुञ्चन प्रभृति अर्थोंका अनुष्ठान उन महाजनोंद्वारा नहीं होता है, अतः वे आगम महाजन परिगृहीत नहीं हुए। इसीलिये महाजन-परिगृहीतत्वहेतुसे वेदको सर्वज्ञ-प्रणीत सिद्ध करनेमें बौद्ध आगमोंको लेकर व्यभिचारदोष नहीं आयगा। और न उन आगमोंका सर्वज्ञ-प्रणीत होना सिद्ध होगा। परिग्रहका यह एक अर्थ है।

परिग्रहका दूसरा अर्थ यह है कि जिन पाणिन्यादि-प्रणीत व्याकरणोंका प्रामाण्य सभी मानते हैं, उन व्याकरणोंद्वारा हमारे वेदके विशेष-विशेष पदोंका व्युत्पादन किया गया है। इसलिये भी हमारे वेद महाजनपरिगृहीत हुए। इसप्रकार पाणिन्यादि-व्याकरणद्वारा तुम्हारे आगमके विशेषपदोंका साधन नहीं किया गया है, इसलिये भी वे महाजन-परिगृहीत नहीं हैं।

एवं, जिस आयुर्वेदशास्त्रका प्रामाण्य सभीने स्वीकार किया है, उस

तथाहि, नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांवृतमित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां जनो नानुतिष्ठति, स्पृश्यास्पृश्यादिविभागं वा नानुमनुते, व्यतिक्रमे चाऽऽचमनादिप्रायश्चित्तं वा नानुतिष्ठति।

न सर्वत्र सर्वो जन एवमिति चेत्, मा भूत। न हि सर्वैं रोगिभिरायुर्वेदार्थो नानुष्ठीयत इति न तस्य महाजनपरिग्रहः, अपि तु सर्वदर्शनान्तःपातिभिरित्येव।

आयुर्वेदशास्त्रने भी वेदोक्त विषयोंका विधान किया है। जैसे, "शतकृत्वो गायत्रीमभ्यस्य नीरुग् भवति" ऐसा आयुर्वेदशास्त्रमें लिखा है। तथा वह गायत्री वेदका ही अंश है न कि बौद्ध आगमोंका। यह परिग्रहका तीसरा अर्थ है।

उक्त तीनों प्रकारके परिग्रहोंमें महाजनोंद्वारा वेदार्थानुष्ठानरूप प्रथम परिग्रह इस प्रकार है—जैसे, ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है, जिसको माननेवाला व्यक्ति वैदिक क्रियाका अनुष्ठान न करता हो। यहाँ तक कि ब्रह्मातिरिक्त सब विषयको अविद्याकल्पित कहनेवाले वेदान्ती जन भी गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि तक वैदिक क्रियाओंको नहीं करते हैं, ऐसी बात नहीं है। या कोई भी दार्शनिक जन वेदोक्त स्पृश्यास्पृश्यविभागको न स्वीकार करता हो अथवा अस्पृश्यस्पर्शरूप व्यतिक्रम हो जानेपर आचमन-स्नान आदि प्रायश्चित्त न करता हो, यह बात नहीं है।

यदि कहो कि—सभी दर्शनोंके सभी व्यक्ति तो वैदिक क्रियाओंका अनुष्ठान नहीं करते हैं—तो वैसा भले ही मत हो। क्योंकि सभी रोगी दवाका सेवन नहीं करते इससे वह शास्त्र महाजनपरिगृहीत नहीं है, ऐसा नहीं हो जाता। किन्तु महाजनपरिगृहीत इतने ही से हो जाता है कि सभी दर्शनोंके अधिकांश लोग वेदोक्त अर्थोंका अनुष्ठान करते हैं। "फिर भी सभी वैदिक विधानोंका अनुष्ठान तो वे लोग भी नहीं करते" यदि ऐसा कहो तो, भले ही वैसा न हो, उससे कोई क्षति नहीं

तथापि न सर्वो वेदार्थ एवमिति चेत्, मा भूत्। न हि सर्वो वैद्यकार्थ एवमपि तु कश्चित् केनापि।

एवं तर्हि सौगताद्यागमार्थोऽपि कश्चिदहिंसादिः सर्वदर्शनान्तःपातिभिरनुष्ठीयत एव कैश्चिदिति सोऽपि महाजनपरिगृहीतः स्यात्, न, सन्देहात्। किमयमहिंसादिर्वैदिक एवार्थो बिडालव्रतन्यायेन श्रद्धाऽऽपादनाय शौद्धोदनिप्रभृतिभिरुपनिबद्धः? आहो स्वयं दृष्ट एवेति? न तावत् स्वयं दृष्टः, श्रमणकाद्यागमसाधारणत्वात्। यस्त्वसाधारणो मण्डलीकरणादिः केशोलुञ्चनादिर्वा, नासौ सर्वैरनुष्ठीयते। वैदिकस्तु असाधारण एव निषेकादिस्तथेति।

है। क्योंकि आयुर्वेदोक्त सभी उपचारोंका अनुष्ठान सभी महाजन नहीं करते किन्तु कोई किसीका ही अनुष्ठान करता है। वैसे ही वैदिक विधानोंको भी समझना चाहिये।

यदि कहो कि—ऐसे तो बौद्ध-आगमोंके अहिंसा आदि कुछ विषय भी सभी दर्शनोंके कुछ जनोंके द्वारा अनुष्ठित होते ही हैं, इसलिये वे भी महाजनपरिगृहीत हों—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अहिंसा आदिके बौद्ध-आगमोक्त होनेमें सन्देह है। कारण, क्या अहिंसा आदि वेदोक्त विषय ही बिडालव्रतन्यायसे लोगोंमें अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये बुद्धदेवादिके द्वारा अपने ग्रन्थमें कहा गया है? अथवा स्वयं प्रत्यक्ष करके ही कहा गया है? यहाँ स्वयं प्रत्यक्ष करके बुद्धदेवने अहिंसाका प्रतिपादन किया है, यह पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि जिस क्षपणक आदिके आगमको स्वयं बुद्धदेवने भी अप्रामाणिक माना है, उसमें भी अहिंसाका प्रतिपादन हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि वेदोक्त अहिंसाका तत्त्व बुद्धदेवने स्वयं प्रत्यक्ष नहीं किया है। किन्तु बैडालव्रतके समान ही क्षपणक आदिकी तरह केवल दिखानेके लिये उसे अपनाया है। जो तो मण्डलीकरण या केशोल्लुञ्चन आदि बौद्धादि-आगमोंका अपना विशेष विषय है, उसका अनुष्ठान सभी नहीं करते। वेदमें कहे हुए निषेक (गर्भाधान) आदि तो वेदके

अपि च वाचकापभ्रंशविभागोऽस्तु न वा, तद्व्यवहार-स्तावत् सर्वैरेव तीर्थिकैरविगानेन स्वीकृतः। तथा शिक्षा-ज्योतिश्छन्दोनिगमनिरुक्ताद्यर्थश्च। तेषां च वेदरक्षैव परमं प्रयोजनमिति।

स्यादेतत्, व्याकरणादीनि तावत् सर्वैरभ्युपगतार्थानि, वेदा

अपने विशेष विषय हैं, जिनका सभी महाजन अनुष्ठान करते हैं। इसप्रकार महाजनद्वारा वैदिक विधानोंका अनुष्ठान होनेसे वेदोंका सर्वज्ञ-प्रणीत होना सिद्ध होता है।

एवं वाचकशब्द और अपभ्रंशात्मक शब्दका विभाग भले ही व्याकरण द्वारा न हो सकता हो, क्योंकि "गां गृहाण" इत्यादिमें वाचक-भूत गो-प्रकृति और अम्-प्रत्यय तथा ग्रह्-प्रकृति एवं सिप्-प्रत्यय इनमेंसे कोई भी नहीं है किन्तु विकार या आदेश बन गया है। लोप-स्थलमें तो मूलशब्दका पता भी नहीं रहता, फिर भी उन स्थलोंमें व्याकरणद्वारा परिकल्पित प्रकृति-प्रत्यय और आगमादिको व्याकरणद्वारा ही सभी जानते और "गां गृहाण" आदिका अर्थ समझते हैं। इस प्रकार व्याकरणका व्यवहार सभी दार्शनिकोंने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया है। तथा उस सर्व-स्वीकृत व्याकरणने "बहुलं छन्दसि" इत्यादि सूत्रोंके द्वारा "भद्रं कर्णेभिः" इत्यादि वेदोक्त पदोंका ही साधन किया है न कि बौद्धादि-आगमोक्त पदोंका। बल्कि व्याकरणके व्याख्याता महाभाष्य-कारादिने सौगत आगमोंको अप्रमाण ही प्रतिपादित किया है।

एवं, वेदाङ्गभूत शिक्षा, ज्योतिष, छन्द, निगम और निरुक्तादिद्वारा कथित अर्थको भी सभी तीर्थिकोंने स्वीकृत किया है। तथा प्रकृति-प्रत्ययके व्यवहारको बतानेवाले व्याकरण और वेदोक्त अर्थोंको स्फुट करनेवाले शिक्षादिका भी मुख्य प्रयोजन वेदोंकी रक्षा ही है। अर्थात् वेदार्थोंका निश्चय करना और उनका अनुष्ठान किया जाना इसी मुख्य प्रयोजनके उद्देश्यसे पाणिन्यादि मुनियोंने व्याकरण-शिक्षा आदिकी रचना की है। यदि वेद अप्रमाण होते तो उनके अर्थोंके निर्णयार्थ एवं अनुष्ठानार्थ उन उन शास्त्रोंकी रचना ही मुनिगण नहीं करते।

अस्तु, व्याकरणादिके विषय सभीके द्वारा स्वीकृत हों, तथा वेदोंका

अपि तैः पालनीया भवन्तु। त एवेति कुतः ? संसारमोचकागमोऽपि तत्पालनीयः किन्न स्यादिति चेत्, न, तत्कर्तृभिस्तथानभ्युपगमात्, अव्युत्पादनात्, असाधारणलिङ्गाभावात्, विरुद्धलिङ्गसद्भावाच्च। न हि वेदशब्दार्थाविव सुगताद्यागमासाधारणशब्दार्थावनुरुध्य तेषां प्रवृत्तिर्यत एवमुन्नीयेत, प्रत्युत विरोध एव, तैस्तदप्रामाण्यव्युत्पादनात्। तस्मात् सर्वाभ्युपेतव्यवहारव्याकरणादिपालनीयत्वमपि वेदानामेव नान्येषाम्।

पालन उन व्याकरणादि शास्त्रोंका मुख्य उद्देश्य भी हो, फिर भी वेद ही उनका पालनीय है, यह कैसे माना जाय ? संसारमोचकादि-आगम भी उनका पालनीय (उद्देश्य) क्यों न होगा ?—तो इस प्रकारकी शङ्का नहीं की जा सकती। क्योंकि व्याकरणादिके रचयिता पाणिनि आदिके द्वारा संसारमोचकागममें प्रतिपादित शब्द एवं अर्थका अभ्युपगम नहीं किया गया है। क्योंकि उनके द्वारा जैसे वैदिक पदोंका व्युत्पादन किया गया है, वैसे बौद्धादि आगमोंके पदोंका व्युत्पादन नहीं किया गया है। क्योंकि व्युत्पादित किये जानेका जो असाधारण लिङ्ग है, वह उनमें नहीं है। अर्थात् वैसे पद उन आगमोंमें प्रयुक्त होते जो भाषामें प्रयुक्त नहीं हैं, तब वे पद ही उनके असाधारण लिङ्ग होते और उनका भी व्युत्पादन व्याकरणादिका उद्देश्य माना जाता, किन्तु वैसा है नहीं। बल्कि व्युत्पादनके विरोधी लिङ्ग ही संसारमोचकागमोंमें विद्यमान है। क्योंकि जैसे वेदमें असाधारण शब्द एवं अर्थ हैं, वैसे सौगतादि आगमोंमें असाधारण शब्द एवं अर्थ नहीं हैं, जिनके अनुरोधसे मुनियोंकी प्रवृत्ति होती और उनके द्वारा व्युत्पादन किये जानेकी कल्पना की जाती। बल्कि अनुरोधकी जगह विरोध ही पाया जाता है। क्योंकि मुनियोंने उन आगमोंके अप्रामाण्यका ही व्युत्पादन किया है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सर्व-स्वीकृत है व्यवहार जिसका, ऐसे व्याकरणादिके द्वारा वेदका ही पालन लक्ष्य है न कि सौगतादि आगमोंका। यह द्वितीय प्रकारका महाजनपरिगृहीतत्व है।

सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यैरायुर्वेदादिभिः स्वीकृतश्चैषामर्थः, प्रतिपदं तदीयशान्तिकपौष्टिकप्रायश्चित्ततपोजपदानहोमाद्युपदेशात् ।

न चैष भागस्तत्राप्रमाणमेव, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । एतदेवासिद्धम्, प्रक्षेपस्यापि सम्भवादिति चेत्, न, अध्येत्रध्यापयितृसंप्रदायाविच्छेदात् ।

"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्"

इति न्यायात् ।

तस्मादेवंरूपोऽपि महाजनपरिग्रहो वेदानामिति । सोऽयमीदृशो महाजनपरिग्रहोऽसर्वज्ञपूर्वकत्वेऽसंभवन् सर्वज्ञपूर्वकत्वेन व्याप्यते ।

एवं, सभीने जिसका प्रामाण्य माना है, ऐसे आयुर्वेदादिके द्वारा भी वैदिक विषय स्वीकृत किया गया है। क्योंकि पद-पदपर वेदोक्त शान्तिक, पौष्टिक, प्रायश्चित्त तप, जप, दान और होम आदिका उपदेश पाया जाता है। यह नहीं हो सकता कि—आयुर्वेदका यह शान्तिक पौष्टिकादि भाग अप्रमाण ही है—क्योंकि आयुर्वेदके सम्पूर्ण भागों का समान योगक्षेम है। अर्थात् आयुर्वेदका जैसे औषधवाला भाग प्रमाण है, वैसे ही शान्तिकादि भाग भी प्रमाण होगा, क्योंकि वह भी उसीका भाग है। अन्यथा औषधवाला भाग भी प्रमाण नहीं हो सकेगा।

यदि कहो कि—आयुर्वेदमें शान्तिकादि भाग प्रक्षिप्त हो सकते हैं, अतः तुल्य योगक्षेमत्व ही असिद्ध है—तो यह नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके पढ़ने और पढ़ानेवालेका सम्प्रदाय कभी टूटा नहीं है, इसलिये प्रक्षेपकी संभावना ही नहीं है। क्योंकि "अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्" इस कुमारिलभट्टोक्त न्यायके अनुसार सर्वत्र प्रक्षेपकी आशङ्का होने लगेगी। और तुम्हारे आगममें भी तुम्हें प्रक्षेप मानना पड़ जायगा। इसलिये इस तृतीय प्रकारका महाजनपरिग्रह भी वेदोंमें है। अतः पूर्वोक्त तीनों ही प्रकारके महाजनपरिग्रह वेदोंके

यथा हि पूर्वविरुद्धापूर्वव्याकरणादिवैद्यकादिषु विगानाद-परिग्रहः, तथा तथाविधे धर्मशास्त्रेऽपि। व्यामोहाद् भवन्नपि कस्यचिदेव न तु सर्वेषाम्। अथ पूर्वाविरुद्धं चेत्, तथापि पूर्वस्य पूर्ववदपरिग्रहे केनचित् परिग्रहे वा कथं तन्मूलस्यान्यस्य सर्वैः परिग्रहः?

न च नासीदेव पूर्वं धर्मशास्त्रम्, मानान्तरस्यात्र वस्तुनि

असर्वज्ञ-प्रणीत होनेपर असंभव हैं, इसलिये वेदोंमें सर्वज्ञपूर्वकत्वका निश्चय होता है।

इसमें तर्क यह है कि जैसे पूर्ववर्ती व्याकरणादिसे विरुद्ध नवीन व्याकरणादि एवं वैद्यक आदिके निन्दित होनेके कारण वे महाजनद्वारा परिगृहीत नहीं होते, वैसे पूर्वसे विरुद्ध नवीन धर्मशास्त्र भी निन्दित होनेसे महाजनपरिगृहीत नहीं होता है। अर्थात् विवादका विषय वेदरूप धर्मशास्त्र यदि सर्वज्ञपूर्वक (ईश्वरप्रणीत) नहीं होता तो वह उक्त तीनों ही प्रकारके महाजनपरिग्रहका विषय नहीं होता। जैसे कि आधुनिक व्याकरण-वैद्यक आदि सर्वज्ञपूर्वक नहीं होनेके कारण महाजनपरिग्रहका विषय भी नहीं होता है।

यदि उस पूर्वविरुद्ध संसारमोचकादि धर्मशास्त्रके प्रति अज्ञानतावश परिग्रह होता भी है तो किसीको ही होता है न कि सबको। अर्थात् वेद सभी महाजनोंद्वारा परिगृहीत है, इसलिये वेदका परिग्रह अज्ञान-पूर्वक नहीं हो सकता है। यदि संसारमोचकादिकोंका या सुगतोंका धर्मशास्त्र (आगम) पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रसे अविरुद्ध हो तो भी उसका वह पूर्ववर्ती धर्मशास्त्र स्वयं यदि महाजन-परिगृहीत न हो या किसी एकके ही द्वारा परिगृहीत हो तो तन्मूलक सुगतादिका धर्मशास्त्र सबके द्वारा परि-गृहीत कैसे हो सकेगा? अर्थात् सौगतोंको भी उस पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रको अवश्य ही महाजनपरिगृहीत मानना होगा। इस प्रकार वह पूर्ववर्ती धर्मशास्त्र हमारा वेद ही है, जो महाजनपरिगृहीत होनेके कारण सर्वज्ञ-पूर्वक (सर्वज्ञप्रणीत) सिद्ध हो जाता है।

यह नहीं कह सकते कि—वेदरूप कोई पूर्ववर्ती धर्मशास्त्र था ही

कुण्ठतयाऽनुष्ठानाभावप्रसङ्गात् । तथा च धर्माभावे तत्कार्यस्य सुखस्याप्यभावे रागानुत्पत्तौ लोकसमीहोच्छेदे लोकोच्छेद-प्रसङ्गः ।

तस्मान्महाजनपरिगृहीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वात्, प्रवाहनित्य-त्वाद् वा, प्रलयविच्छेदे सर्गादौ सर्वानुविधेयपुरुषधौरेयपूर्वकत्वाद् वा महाजनपरिग्रहो न तु पूर्वागमानपेक्षार्वाचीनपुरुषपशुपूर्वकत्वात् पूर्वागमप्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयथाऽपि तस्य विप्रलम्भकत्वात् । प्रामाण्ये हि तद्विरुद्धाभिधानं विप्रलम्भ एव । अप्रामाण्येऽप्यु-

---

नहीं—क्योंकि यदि पूर्ववर्ती वेद न होता तो धर्मके विषयमें अर्थात् याग दानादिकी इष्टसाधनतामें अन्य प्रमाण कुण्ठित हैं, इसलिये धर्मानुष्ठानका अभाव हो जायगा। ऐसी स्थितिमें धर्मका अभाव होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाले सुखका भी अभाव हो जायगा और सुखके अभावमें उसकी अनुभूति नहीं होनेके कारण पुनः सुखप्राप्तिके प्रति राग नहीं उत्पन्न होगा तथा रागके अभावमें प्रवृत्ति नहीं होनेसे जगत् निश्चेष्ट हो जायगा और चेष्टाहीन हो जानेसे पुत्रादिकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। इस प्रकार जगत्का ही उच्छेद हो जायगा।

अतः महाजनपरिगृहीत जो पूर्व-पूर्व आगम, तत्पूर्वक होनेके कारण या तत्तद् आगमोंके अनित्य होनेपर भी आगमधाराके नित्य होनेके कारण अथवा प्रलयके द्वारा आगमधाराका विच्छेद हो जानेपर भी सृष्टि के आदिमें किसी पुरुषविशेषसे निर्मित होनेके कारण ही कोई आगम महाजनपरिगृहीत माना जाता है, न कि पूर्व आगमोंकी बिना अपेक्षा किये आधुनिक-जनद्वारा प्रणीत होनेके कारण कोई भी आगम महाजन-परिगृहीत कहा जाता है। इनमें प्रथम पक्षके अनुसार पूर्व आगम जो वेद, उसका प्रामाण्य मानकर या अप्रामाण्य मानकर, दोनों ही दशाओंमें संसारमोचकागमोंका प्रणेता आधुनिक पुरुष विप्रलम्भक (ठगनेवाला) ही सिद्ध होता है। क्योंकि पूर्ववर्ती आगम वेदको यदि प्रमाण मानता है तो उसके विरुद्ध कहना ठगना ही है। यदि उस पूर्ववर्ती आगम वेदको अप्रमाण मानता है तो "यागादिक स्वर्गप्राप्तिका उपाय है" इस

पायमविदुषोऽननुष्ठाने तदा (भाव) भासानुष्ठाने वाऽसर्वज्ञस्योपदेशो विप्रलम्भ एवेति ।

तत्र न प्रथमः, वेदपरम्परानुपलम्भात्, अर्वाचीनानां पाठपारतन्त्र्यमात्रेण प्रवाहोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। नापि द्वितीयः, वेदह्रासदर्शनात्। यत इदानीमश्रूयमाणस्यापि

बातको नहीं जाननेवाले उस असर्वज्ञ व्यक्तिद्वारा यागादिके अननुष्ठान का उपदेश देना अथवा मण्डलीकरण केशोल्लुञ्चन प्रभृति सुखके उपायाभासोंके अनुष्ठानका उपदेश देना संसारको ठगना ही है। क्योंकि अर्थनिर्णय किये बिना ही स्वकपोलकल्पित वैसा उपदेश दिया गया है। अर्थात् उक्तप्रकारका वञ्चनात्मक उपदेश महाजनपरिग्रहका विषय नहीं हो सकता है।

महाजनपरिग्रहके प्रति सम्भावित पूर्वोक्त तीन हेतुओंमें प्रथम हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वपूर्वागमपूर्वकत्व-हेतुमें "पूर्वपूर्वागम" पदसे विजातीय वेदपरम्परा विवक्षित हो तो वैसी वेदपरम्परा प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध नहीं है। यदि अनुमानद्वारा वर्तमान वेदके मूलके रूपमें विजातीय वेदपरम्पराकी कल्पना करो तो यह संभव नहीं है। क्योंकि जैसे अर्वाचीन (वर्तमान) वेदोंका प्रवाह गुरु-शिष्यके केवल क्रमिक पाठके द्वारा सजातीय प्रवाह ही चल रहा है, न कि शिष्यद्वारा पढ़े जानेवाले वेदका मूल गुरुद्वारा पढ़ा जानेवाला कोई विजातीय वेद होता है। वैसे ही परम्परागत पाठके द्वारा सजातीय वेद-परम्पराको वर्तमान वेदके मूलके रूपमें कल्पना करना अप्रामाणिक है।

प्रवाहनित्यत्वरूप द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता है। अर्थात् "प्रवाहरूपसे वेद नित्य है, इसलिये वह महाजनपरिगृहीत है" यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि वेदका ह्रास देखे जानेसे वेदप्रवाह नित्य नहीं हो सकता। कारण, जो वेदभाग इस समय उपलब्ध नहीं है, उसके विषयका भी अनुष्ठान देखा जाता है तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने उस विषयको भी अपनी स्मृतियोंमें निबद्ध किया है। अर्थात् होलाका (होली) करनी चाहिये—इसका सूचक वेदभाग यद्यपि अनुपलब्ध है, फिर भी उसका अनुष्ठान सर्वजन-प्रसिद्ध है। तथा अष्टकनामक याग

वेदस्यार्थोऽनुष्ठीयते निबध्यते च मन्वादिभिः।

पुरुषाणामपचीयमानशक्तिकत्वाच्च। यथा ह्यश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानशक्तेरपचयस्तथाऽध्ययनशक्तेरपि। न च पूर्वमपि नानुष्ठिता एव राजसूयादयः, तदर्थस्य वेदराशेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्।

न च नित्यानुमेयवेदसंभवः, वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्व्याः पाठाश्रयत्वात्। न चानुपूर्वीशून्यवर्णाः पदं नाम, न चाका-

---

वर्तमान वेदमें नहीं मिलता है, फिर भी मनु आदि ऋषियोंने अपनी स्मृतिमें उसका उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि वेदका वह भाग उच्छिन्न हो चुका है।

एवं पुरुषोंकी अध्ययनशक्ति क्रमशः क्षीण होती देखी जा रही है, इससे भी सिद्ध होता है कि वेदका ह्रास संभव है। अर्थात् एक व्यक्ति वेदकी समस्त शाखाओंका अध्ययन करनेमें असमर्थ है, अतः एकके समान दूसरेके द्वारा भी किसी शाखाका अध्ययन संभव है। इससे वैदिक शाखाके उच्छेदकी संभावना सिद्ध होती है। क्योंकि जैसे बहुद्रव्य-साध्य अश्वमेध-राजसूय आदि यज्ञोंकी अनुष्ठानशक्तिका ह्रास हो गया है। यह नहीं कह सकते कि—पूर्वकालमें भी राजसूय आदिका अनुष्ठान नहीं ही हुआ था—क्योंकि तब उस विषयका प्रतिपादक वेदसमुदाय व्यर्थ हो जायगा।

यह नहीं हो सकता कि—होलाकादि-विषयक वेद कभी भी पाठमें नहीं आये किन्तु पूर्वकालीन स्मृति और आचारके द्वारा उक्त वेदभाग का अनुमान करके ही तदनुसार मन्वादि-स्मृति या शिष्टाचार बने हैं। अर्थात् मन्वादिस्मृति या आचारका आधार सीधे वेद नहीं हैं किन्तु तद्विषयक वेदके अनुमापक पूर्वकालीन अन्य स्मृति या आचार ही हैं। अतः वेदः नित्यानुमेय हैं तथा शाखा-उच्छेदमें कोई प्रमाण नहीं है—क्योंकि वर्ण भले ही नित्य हों, किन्तु वर्णोंकी आनुपूर्वी (गकारोत्तर-अकारोत्तर-णकारोत्तर-अत्वादि) तो पुरुषाधीन पाठ (उच्चारण) के आश्रित होनेसे अनित्य ही है। क्योंकि आनुपूर्वीरहित वर्ण पद नहीं कहाता। एवं आकाङ्क्षा-योग्यता-और आसत्तिसे युक्त पदसमूहके अलावे

ङ्वाद्युपेतपदकदम्बादन्यद् वाक्यं नामेति गुरुरपि लघुरेव ।

तस्मात् उत्तरोत्तरमनुष्ठानशक्तिवत् अध्ययनशक्तिरपि युगक्रमेणापचीयते, ततो वेदानां शाखोच्छेदः, तदर्थानामनुष्ठानोच्छेदः, वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्चेति ।

अतएव भगवतो व्यासस्य पुरुषशक्त्यपचयमवेक्ष्य वचनानि "अल्पायुषो ऽल्पसत्त्वा" इत्यादीनि । वेदोच्छेदमवेक्ष्य "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यादीनि । अनुष्ठानोत्सादमवेक्ष्य "दानमेकं कलौ युगे" इत्यादीनि । आचारविप्लवमवेक्ष्य "प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः" इत्यादीनि ।

तथा च श्रूयमाणा अपि वेदा उच्छेदमुपयास्यन्ति, वेदत्वाद् वाक्यत्वाद् वा, उच्छिन्नशाखावदिति न्यायात् । यथा चैतत् तथा

वाक्य भी नहीं होता । अतः पूर्वोक्त रीतिसे वेदको नित्यानुमेय प्रतिपादित करनेवाले गुरु 'प्रभाकर' भी वस्तुतः लघु ही हैं ।

इसलिये पुरुषोंकी अनुष्ठान-शक्तिके समान अध्ययनशक्ति भी युग-क्रमके अनुसार क्षीण होती है और अध्ययन-शक्तिके क्षीण होनेके कारण वेदकी शाखाओंका उच्छेद, उसके विधियोंके अनुष्ठानका उच्छेद तथा वर्णाचार एवं आश्रमसम्बन्धी आचारोंकी व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाती है । इसीलिये पुरुष-शक्तिके ह्रासकी दृष्टिसे भगवान् व्यासके "अल्पायुषोऽल्पसत्त्वाः" इत्यादि वचन हैं । वेद-सम्प्रदायके ह्रासकी दृष्टिसे "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यादि वचन हैं । अनुष्ठान-ह्रासकी दृष्टिसे "दानमेकं कलौ युगे" इत्यादि वचन हैं । तथा आचारोंके ह्रासकी दृष्टिसे "प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदर-परायणाः" इत्यादि वचन हैं ।

इस प्रकार जो वेद आज श्रूयमाण (प्रत्यक्ष) हैं, वे भीउच्छिन्न हो जायेंगे, वेद होनेके कारण या वाक्य होनेके कारण, पूर्वमें उच्छिन्न वेदकी शाखाओंके समान–यह अनुमान उच्छेदमें प्रमाण है । एवं, जैसे भविष्यमें वेदोंका उच्छिन्न हो जाना अनुमान-प्रमाणसे सिद्ध है, वैसे

पर्वता अपि चूर्णीभविष्यन्ति, पार्थिवत्वात्, घटवत्। समुद्रा अपि शोषमेष्यन्ति, जलाशयत्वात्, स्थलीपल्वलवत्। सूर्योऽपि निर्वास्यति, तैजसत्वात् प्रदीपवत्। ब्रह्मापि प्रैष्यति, शरीरित्वात्, अस्मदादिवदित्यागमाविरोधेनानुमीयताम्।

स्यादेतत्, भविष्यन्नुच्छेदोऽनुमितः। स तु भूतोऽपीति कुत इति चेत्, यत एव[1] उच्छेदानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यम्। अन्यथा संसारिणां कृतहानप्रसङ्गात्। न हि विश्वनिर्माणमन्तरेण भोगज्ञानयोः संभवः। न च तेन विना कर्मप्रवाहसंरोहः। ततो

ही—पर्वत भी चूर्ण हो जायेंगे, पार्थिव अर्थात् पृथिवीसमवेत द्रव्य होनेके कारण, घटके समान। समुद्र भी सूख जायेंगे, जलाशय होनेके कारण, पोखरोंके समान। सूर्य भी बुझ जायगा, तैजस अर्थात् तेजःसमवेत द्रव्य होनेके कारण, प्रदीपके समान। तथा ब्रह्मा भी मरेंगे, शरीरधारी होनेके कारण, हम लोगोंके समान। इस प्रकार आगमानुसार अनुमान कर लें।

शङ्का—अस्तु, पूर्वोक्त हेतुओंसे कार्य-जगत्के भावी उच्छेदका अनुमान हुआ। किन्तु भूतकालमें भी उच्छेद था, यह कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् वेदप्रवाहके अनादि होनेसे ही वह महाजनपरिगृहीत क्यों न है? समाधान—इसलिये कि उच्छेदके बाद पुनः सृष्टि होनी चाहिये। अन्यथा संसारियोंके लिये कर्मोंकी हानि अर्थात् निष्फलता हो जायगी। तात्पर्य यह है कि वर्तमान सृष्टिमें जो कर्म प्राणियोंने किये हैं, वे निष्फल हो जायेंगे, यदि भविष्यमें सृष्टि न हो। अतः वर्तमान सृष्टिके बाद प्रलय होने पर पुनः सृष्टिका होना अनिवार्य है। इसी प्रकार यह वर्तमान सृष्टि भी पूर्वप्रलयके बाद हुई है तथा उस प्रलयके पूर्वकी सृष्टि भी उसके पूर्ववर्ती प्रलयके बाद हुई थी। इस प्रकार यह सृष्टि और प्रलयका प्रवाह अनादि ही सिद्ध है।

यदि प्रलयके बाद पुनः सृष्टि न हो तो कर्मोंके फलस्वरूप सुखदुःखसाक्षात्काररूप भोग तथा तत्त्वज्ञान नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार कृतहानदोषकी प्रसक्ति हो जायगी। एवं भोग और ज्ञान इन दोनोंके असंभव

१. अत एव यत इति क्वचित् पाठः।

यथा भविष्यन् विश्वसर्ग उच्छेदपूर्वकस्तथाऽयमपीति । समय-नियमस्तु प्राणिनां कर्मवैषम्येऽपि वर्षादिनियमवदुदयास्तनियमवद् वा द्रष्टव्यः, कर्मणामेवैवंस्वभावत्वात् । एतदर्थमेव हि पुराणेषु सृष्टिप्रलययोर्दिवसरात्रिव्यवहारः ।

तथापि सर्वप्राणिनाशयौगपद्ये किं प्रमाणमिति चेत्, द्विः-सप्तभौमभुवनप्रासादभङ्गेऽपि निर्भया एव ग्रामकुटीहट्टविहारिणः[1]

हो जानेसे कर्मप्रवाहका निरोध भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् मुक्ति भी असंभव हो जायगी। क्योंकि प्रारब्धकर्मोंका भोगद्वारा ही नाश होगा तथा अन्य कर्मोंका तत्त्वज्ञानसे। अतः मोक्षोपयोगी भोग और तत्त्वज्ञानके साधनके लिये प्रलयोत्तर पुनः सृष्टि अनिवार्य है।

यहाँ प्राणियोंके कर्मोंके विपाकका समय यद्यपि भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष काल बीतनेपर प्रलय होनेका जो नियम है, वह तो वर्षाकाल आदिके नियमके समान अथवा सूर्योदय-सूर्यास्त-काल (दिन-रात) के नियमके समान है, ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् जैसे, वर्षा आदि ऋतुओंके जनक कर्म एक नियत अवधिके बाद ही वर्षादिकालको उत्पन्न करते हैं, न कि कभी घण्टा-प्रहर आदिके बाद और कभी वर्ष दो वर्ष आदिके बाद। एवं जैसे, दिन और रात नियमतः होती है, वैसे ही सृष्टि और प्रलयके जनक कर्म भी ब्रह्माकी आयुके हिसाबसे सौ सौ वर्ष बीतने पर ही सृष्टि और प्रलयको नियमतः उत्पन्न करते रहते हैं। क्योंकि कर्मोंका ही ऐसा स्वभाव है कि सुषुप्ति अवस्था के समान उन सबोंकी वृत्ति एक साथ निरुद्ध हो जाती है। इसीलिये पुराणोंमें सृष्टि और प्रलयका दिन और रातके रूपमें व्यवहार किया गया है।

यदि कहो कि—कुछ प्राणियोंके कर्मका एकसाथ निरोध और प्राकट्य भले ही हो किन्तु सभी प्राणियोंका एकसाथ नाश होनेमें क्या प्रमाण है ? तो चौदह कोठों वाले भुवनरूपी महलके ध्वस्त हो जानेपर भी गाँवकी कुटिया एवं हट्ट (झोंपड़ो) में विहार करनेवाले शरीरधारी

---

१. ग्रामटीहट्टकुटीविहारिण इति २ पु० पा०।

शरीरिण इति महती प्रेक्षा। तस्मात् सर्गादिमहाजनमन्वादिपरिग्रहपूर्वकोऽयमद्ययावदनुवर्तत इति नानवसरदोषावकाशोऽपीति युक्तमुत्पश्यामः।

तदेवं कथं मन्वादिभिः परिगृह्यन्तां वेदा इति चेत्, आयुर्वेदवदाप्तोक्तत्वनिश्चयात्। स एव कुत इति चेत्, अध्यक्षतः, तेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वात्। तादृशां तेषां तत्परिग्रहेण किं प्रयोजनमिति चेत्, अस्मद्व्यवहारेणास्मदपत्यादि व्युत्पद्यताम्, तथा च धर्मसंप्रदायः प्रवर्ततामिति भूतदया स्वाधिकारसम्पादनं च।

जीव निर्भय ही हैं—यह आपकी अच्छी सूझ है। इसलिये सृष्टिके आदिमें वेदोंके प्रणयनकालमें ही ईश्वरके द्वारा मनु आदि मानस महाजन भी उत्पन्न किये गये और उन्हींके द्वारा पहले वेदोंका परिग्रह हुआ, जो आजतक चला आ रहा है। अतः "महाजनके अभावमें महाजनद्वारा परिग्रहका अवसर ही कहाँ है!" इस दोषका भी अवकाश नहीं है। अतः हमारा यह विचार युक्त है।

यदि कहो कि—सृष्टिके आदिकालमें मनुप्रभृति महाजन भले ही हों, फिर भी उस समय उनके द्वारा परिग्रह कैसे हुआ?—तो इसलिये कि जैसे आप्तोक्तत्वके निश्चयसे आजकल हम लोग आयुर्वेदका परिग्रह करते हैं, वैसे ही उस समय मनु आदिने वेदोंमें आप्तोक्तत्वका निश्चय होनेसे उनका परिग्रह किया। यदि कहो कि—उन्हें वेदोंमें आप्तोक्तत्वका निश्चय ही कैसे हुआ?—तो यही उत्तर है कि "प्रत्यक्षसे"। क्योंकि वे भी अतीन्द्रिय विषयोंके द्रष्टा थे। यदि पूछो कि—वेदोंके परिग्रहसे उनका क्या प्रयोजन था?—तो यही कि हमारे वेदार्थानुष्ठानरूप व्यवहारसे हमारे पुत्रादि भी परिचित होकर वैसा अनुष्ठान करें और उनकी देखादेखी अन्य लोग भी वैसा अनुष्ठान करें। इस प्रकार लोकमें धार्मिक सम्प्रदाय चालू हो-ऐसी भूतानुकम्पा तथा अपने अधिकारका पालन ही उनका प्रयोजन था। अर्थात् सर्गादिकालमें मन्वादिकने लोककल्याणकी भावनासे वेदार्थानुष्ठान (वेदपरिग्रह) किया। तथा इसलिये भी वैसा किया कि ईश्वरने ही वेदोंका निर्माण कर उनके परिग्रहार्थ मनु आदिको अधिकारी बनाया था।

अथवा सर्गान्तरगृहीतव्याप्तिप्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पितृत्वे-नाविप्रलम्भकत्वमुच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमायाऽऽ-प्तत्वनिश्चयस्तस्य तेषाम् ।

यद्वा भगवानेव संप्रदायप्रवर्तनव्यसनव्यग्रः कायसहस्राणि व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावव्यवस्थितानि निर्माय तदातनं महाजनं परिग्राहितवान् नटनोपाध्याय इव स्वयं नटित्वेति सर्वं सुस्थम् । पक्षत्रयेऽप्यत्र पुराणादिसंकथाऽप्यस्तीति ।

स्यादेतत्, परमेश्वरप्रवर्तितोऽयमेव वेदसंप्रदायः सर्गान्तर-

अथवा सोकर उठे हुए व्यक्तिके समान मन्वादि भी पूर्वसृष्टिमें गृहीत व्याप्तिका स्मरण कर पितृत्वहेतुसे ईश्वरमें अविप्रलम्भकत्व (अवञ्चकत्व) का अनुमान करते हैं। तथा अनेक प्रकारके प्राणियोंकी रचना देखकर उसमें सर्वज्ञत्वका भी अनुमान करते हैं। क्योंकि जो जिसका पिता होता है, वह उसके प्रति वञ्चक नहीं होता है। अतः ईश्वर भी सबका पिता होनेके कारण वञ्चक नहीं है। एवं सर्वज्ञ ही विविध रचनामें समर्थ हो सकता है, इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ भी है। इस प्रकार अवि-प्रलम्भकत्व और सर्वज्ञत्वका अनुमान होनेके बाद मन्वादिकों को ईश्वर-में आप्तत्वका निश्चय होता है और वे ईश्वर-प्रणीत वेदोंका परिग्रह करते हैं।

अथवा स्वयं ईश्वर ही धर्मसम्प्रदायके सञ्चालनरूप व्यसनमें व्यस्त होकर हजारों शरीरको व्युत्पाद्य और व्युत्पादक (शिष्य-शिक्षक) के रूपमें बनाकर (धारणकर) सर्गादिकालीन मन्वादि महाजनोंको वेदोंका परिग्रह कराया। जैसे, कोई नाट्यविद्या का आचार्य स्वयं नाट्य कर अन्योंको नाट्यकी शिक्षा देता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषय सुस्थिर है। इन तीनों ही पक्षोंमें पुराणादिकोंका संवाद भी है। अर्थात् पुराणोंद्वारा भी इन तीनों पक्षोंको पुष्टि होती है।

यदि कहो कि—उक्त रीतियोंसे महाजनद्वारा वेदोंका परिग्रह भले ही हो, फिर भी परमेश्वरद्वारा, सञ्चालित वर्तमान वेद-सम्प्रदाय पूर्वसृष्टिगत

वेदापेक्ष एवेति सेश्वरमीमांसापक्षः कपिलपक्षो वा स्यादिति चेत्, किमर्थं पुनरियमपेक्षा पूर्ववेदे जगन्नाथस्य ? न तावद् वेदार्थोपलम्भाय, नित्यसर्वज्ञत्वात् ।

नापि रचनार्थम्, स्वभावतः सर्वकर्तृकतया आदर्शानपेक्षणात् । नापि विरोधपरिहारार्थम्, प्रतिपाद्यानां तदनुसन्धान-

---

वेदके अनुसार ही सञ्चालित हो तो यह एक नया ही सेश्वर मीमांसापक्ष हो गया, जो ईश्वरको वेदका कर्ता माननेसे सेश्वर हुआ और पूर्व-पूर्व वेदोंकी अपेक्षा करनेसे मीमांसा भी हुआ। अथवा कपिलपक्ष हो गया, जिसके अनुसार धर्म, विज्ञान, और ऐश्वर्यसे सम्पन्न कपिलमुनिने ही सुप्त-प्रबुद्धके समान पूर्वसृष्टिगत वेदोंका स्मरणकर वर्तमान सृष्टिके प्रारम्भ में वेदोंको प्रकाशित किया—तो बताओ कि परमेश्वरको वर्तमान वेद-सम्प्रदायको सञ्चालित करनेके लिये पूर्ववेदकी क्यों अपेक्षा होगी ? यदि कहो कि—वैदिक विषयोंके ज्ञानके लिये पूर्ववेदकी अपेक्षा है। अर्थात् जिन विषयोंका प्रतिपादन वर्तमान वेदद्वारा परमेश्वरको करना है, उन विषयोंको वह पूर्ववेदसे ही जानता है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि नित्य-सर्वज्ञ होनेके कारण वह स्वयं सम्पूर्ण वेदार्थका ज्ञान रखता है।

यदि कहो कि—वर्तमान वेदकी रचनाके लिये आदर्श (नमूना) के रूपमें पूर्ववेदकी अपेक्षा है—तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि स्वाभाविकरूपसे ही वह सम्पूर्ण वस्तुओंका कर्ता होनेके कारण किसी आदर्शकी अपेक्षा नहीं करता है। यदि कहो कि—पूर्ववेदसे वर्तमान वेदमें विरोध-परिहारके लिये पूर्ववेदकी अपेक्षा है। कारण, पूर्ववेदसे आजके वेदमें विरोध होनेपर मन्वादिद्वारा परिग्रह होनेमें शिथिलता आ जायगी—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मनु आदिको पूर्ववेदका अनुसन्धान ही नहीं होता है, जिसके विरोध-परिहारार्थ परमेश्वरको पूर्ववेदकी अपेक्षा हो। यदि सर्वज्ञ होनेके कारण मन्वादिको पूर्ववेदका अनुसन्धान संभव है, इसलिये उसके साथ विरोध-निवारणार्थ पूर्ववेदके अनुसार ही परमेश्वरको वर्तमान वेद बनाना पड़ता है—ऐसा मानो, तो भी सर्वज्ञ होनेसे मनु आदि परमेश्वरकी सर्वज्ञताको भी जानते ही

विधुरत्वात् । अवैधुर्ये वा कर्तुः सार्वज्ञ्यविज्ञानादेव समस्तविरोध-विधूननात् ।

तथापि पूर्वसर्गान्तरवेदव्यवहारोऽपि परमेश्वरस्य गोचर इति चेत् , कः सन्देहः ? यदि चैतदेव वेदस्य प्रवाहनित्यत्वम् , न केवलमेतस्य, किंतु घटादेरपीति न्याय एव दर्शनम् । अन्यथा मीमांसेति क्व सेश्वरमीमांसेति । तस्मादुक्तरूपः परिग्रहो नान्यथा संभवतीति प्रतिबन्धसिद्धिः । तथा चाप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यसिद्धिः ।

हैं, उससे ही मनु आदिको समस्त विरोधोंका विधूनन हो जाता है । अर्थात् परमेश्वरकी सर्वज्ञताके ज्ञानसे ही मनु आदिको परमेश्वरकृत वेद में विरोध-बुद्धिका उदय नहीं होता है ।

फिर भी यदि कहो कि—वर्तमान वेदके रचयिता परमेश्वरको पूर्व-सृष्टिगत वेद-व्यवहारका भी ज्ञान रहता ही है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है । अत एव यहाँ सेश्वर मीमांसापक्ष ही आता है—तो इसमें क्या सन्देह है ? क्योंकि यदि इसे ही (वेदनिर्माता ईश्वरको पूर्ववेदका ज्ञान रहनेको ही) वेदकी प्रवाह-नित्यता कहो तो इस प्रकारका प्रवाह-नित्यत्व न केवल वेदका ही है किन्तु घटादि वस्तुओंका भी है । अतः यह न्याय-दर्शन ही हुआ । किन्तु यदि इससे भिन्न प्रवाह-नित्यत्व कहो, अर्थात् जो वेद पूर्वसृष्टिमें था वही इस समयमें भी है, यही प्रवाह-नित्यत्व है—तो यह शुद्ध मीमांसापक्ष होगा, जिसका खण्डन किया जा चुका है । इसलिये सेश्वमीमांसानामक अतिरिक्त पक्षका प्रसङ्ग कहाँ आता है ?

इसलिये मन्वादिकोंद्वारा वेदोंका पूर्वोक्त परिग्रह वेदोंमें आप्तोक्तत्व-निश्चयके बिना नहीं हो सकता । अतः महाजनपरिग्रह और आप्तोक्तत्व में परस्पर व्याप्तिसम्बन्धकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् जो जो महाजन-परिगृहीत होता है, वह आप्तोक्त होता है । वेद भी मन्वादि-महाजनद्वारा परिगृहीत है, इसलिये वह आप्तोक्त (ईश्वरोक्त) है । तथा आप्तोक्त होनेके कारण ही वेदोंका प्रामाण्य भी सिद्ध होता है ।

कथं पुनः सुगताद्यागमेषु नादरश्छान्दसानाम् ? वेदविद्वेषि-दर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वादिति मा शङ्किष्टाः, जिनेन्द्रजगदिन्द्रप्रभृतिप्रणीतेष्वप्यादरात् । तत्कस्य हेतोः ? महाजन-परिगृहीतपूर्वागमाविरुद्धतया तदनुसारित्वात् । कुतस्तर्हि ? सिद्धप्रामाण्यवेदविरोधात् । कथं तर्हि कतिपयैरपि तत्परिग्रहः ? अलसभीरुभिर्दुःखमयजात्यकर्मविद्वेषात्, उदुम्बरगर्तीयतन्तुवाय-

---

प्रश्न—तो फिर बुद्धादिके आगमोंके प्रति वैदिकोंके अन्दर आदरकी भावना क्यों नहीं है ?

उत्तर—यहाँ ऐसी आशङ्का मत करो कि—वेदोंके प्रति द्वेषभाव रखनेवाले नास्तिक-दर्शनोंकी सीमामें आये हुए पुरुषों (बुद्धादि) के द्वारा निर्मित होनेके कारण सुगतादि-प्रणीत आगमोंके प्रति वैदिकोंमें आदरभाव नहीं है—क्योंकि जिनेन्द्र-जगदिन्द्र प्रभृति नास्तिकोंद्वारा प्रणीत आगमोंमें भी वैदिकोंका आदर देखा जाता है ।

प्रश्न—वैसा किस कारण से है ?

उत्तर—वैसा इसलिये है कि महाजनद्वारा परिगृहीत वेदरूप पूर्ववर्ती आगमसे अविरुद्ध होनेके कारण जिनेन्द्र-जगदिन्द्र प्रभृतिका आगम वेदानुसारी है । अर्थात् वेदानुकूल होनेके कारण ही उक्त आगमोंमें वैदिकोंका आदर है, न कि नास्तिक या आस्तिक नामधारी किसी पुरुषद्वारा प्रणीत होनेके कारण ।

प्रश्न—तो फिर क्यों बुद्धादिकोंके आगमोंमें भी वैदिकोंके अन्दर आदरभाव नहीं है ?

उत्तर—उक्त आगमोंमें आदरभाव इसलिये नहीं है कि—जिनका प्रामाण्य सिद्ध हो चुका है, ऐसे वेदोंसे बुद्धादिके आगम विरुद्ध हैं ।

प्रश्न—तो फिर क्यों कुछ लोगोंके द्वारा भी बुद्धादिके आगमोंका परिग्रह किया गया है ?

वत्। न त्वेवं वेदे, कर्मण्येव निर्भरत्वात्। त्रैवर्णिकबहिष्कृतैरनधिकारिभिरनन्यगतिकत्वात् कीर्तिप्रज्ञाकरवत्। न त्वेवं श्रुतौ, परैः पूज्यानामप्यत्राप्रवेशात्, इतः पतितानामपि परैरुपादानात्।

भक्ष्यपेयाद्यद्वैतरुचिभिश्च रागात् सरमादिवत्। नत्वेवमाम्नाये, तद्विभागव्यवस्थापरत्वात् कुतर्काभ्यासिभिश्च मोहात् काणाचार्यादिवत्। न त्वेवं ब्रह्मणि, आबालभावं प्रवृत्तेः।

उत्तर—बौद्धादि-आगमोंका ग्रहण वे आलसी और भीरु ही करते हैं, जिन्हें कष्टमय आश्रमीय भद्रकर्मोंसे द्वेष है। जैसे, उदुम्बरगर्तनामक देशके निवासी कुविन्दों (जुलाहों) ने आलस्यवश वैदिककर्मको छोड़कर संसारमोचकागमोंमें बताये कर्मको गृहीत कर लिया। किन्तु वेदोंके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है कि आलसी और भीरु ही उनका ग्रहण किये हों। क्योंकि कष्टमय कर्ममें ही वेदोंका निर्भर है। अर्थात् कष्टमय कर्मके ही वे प्रतिपादक हैं।

अथवा त्रैवर्णिकोंसे बहिर्भूत होनेके कारण वैदिककर्मके लिये अनधिकारी होनेसे अनन्यगत्या कुछ लोगोंने सुगतागमोंका परिग्रह किया। जैसे, कीर्ति-प्रज्ञाकरप्रभृति बौद्धोंने किया था। ऐसी अनन्यगति वेदोंके सम्बन्धमें नहीं है। क्योंकि जो दूसरोंके पूज्य हैं, उनका भी वेदोंमें प्रवेश वर्जित कर दिया गया है। तथा वैदिक-सम्प्रदाय की दृष्टिसे जो पतित हो गये हैं, उन्हें भी बौद्धादि-आगमवाले ग्रहण कर लेते हैं।

अथवा भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय आदि वस्तुओंके सम्बन्धमें कोई भेदभाव नहीं चाहनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा रागवशात् सौगतादि-आगमों का ग्रहण किया गया है। जैसे, सरभप्रभृति बौद्धोंने किया है। किन्तु ऐसी बात वेदोंके सम्बन्धमें नहीं है। क्योंकि भक्ष्य-पेय आदिके विभाग की व्यवस्था वेदको अभिप्रेत है।

अथवा सत्तर्कको छोड़कर जो केवल कुतर्कोंके ही अभ्यस्त हैं, उन्हींके द्वारा मोहवश सौगतादि-आगमोंका परिग्रह हुआ है। जैसे, काणा-

अविवेकिभिश्च पाषण्डिसंसर्गात् शौण्डिकादिवत् । न त्वेवं प्रकृते, पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात् । योगाभ्यासाभिमानिभिश्चाव्यग्रताभिसन्धेः सुभूत्यादिवत् । न त्वेवं प्रस्तुते, प्रथमस्य कर्मकाण्ड एव नियोगात् ।

अयोग्यैराजीवनात् सामान्यश्रमणकवत् । न त्वेवं प्रक्रान्ते, आगन्तुकानामनधिकारात् । कुहकवञ्चितैः समीचीनप्रत्ययात् दीपङ्करसुषिरदर्शिबालिशवत् । न त्वेवं प्रकृते, तदभावात् ।

चार्यप्रभृति बौद्धोंके द्वारा हुआ था। ऐसी बात वेदके सम्बन्धमें नहीं है। क्योंकि कुतर्काभ्याससे पहले ही बालभाव अर्थात् मोहावस्थासे उन्मुक्त होते ही वेदपरिग्रहमें प्रवृत्ति होती है।

एवं, अज्ञानियोंके द्वारा ही पाखण्डियोंका संसर्ग पाकर सौगतादि-आगमोंका परिग्रह किया गया है। जैसे, शौण्डिकप्रभृतिने किया था। वेदके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। क्योंकि पित्रादि-परम्परासे ही वेदमें प्रवृत्ति होती है न कि पाखण्डियोंके संसर्गवशसे।

एवं, योगाभ्यासका मिथ्या-अभिमान रखनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा कर्मकाण्डके लिये व्यग्र न होनेके अभिप्रायसे बौद्ध-आगमोंका परिग्रह किया गया है। जैसे सुभूतिप्रभृति बौद्धोंने किया था। किन्तु वेदके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। वैदिक-आगमके अनुसार गार्हस्थ्यके बाद ही योगविधि एवं उपासनाओंका उपदेश किया गया है। इसलिये प्रथम प्रथम अत्यन्त कष्टमय गृहस्थ-कर्मों में ही नियुक्त किया जाता है।

अथवा अपनी जीविकाके सम्पादनमें स्वयं असमर्थ व्यक्तियोंद्वारा जीविकाके रूपमें बौद्धागमोंका परिग्रह किया गया है। जैसे, सामान्य-नामक भिक्षुको बौद्धोंने बहुत धन देकर अपने धर्ममें प्रवृत्त करा लिया था। ऐसी बात वेदके सम्बन्धमें नहीं है। क्योंकि आगन्तुकोंका अर्थात् पाखण्डियोंका इसमें अधिकार ही नहीं है।

अथवा ऐन्द्रजालिकोंसे ठगे गये व्यक्तियोंने भ्रमसे समीचीन (यथार्थ) समझ कर सुगतादिकोंके आगमोंको ग्रहण कर लिया। जैसे, काठके बने बहुत छिद्रवाले यन्त्रविशेषमें एक ही दीप रखा हुआ रहता है, किन्तु

किन्तु महाजनपरिग्रहात् वक्तृप्रामाण्यमनुमाय, आयुर्वेदे नैरुज्यकामवदिति ।

किं पुनरमीषां मूलम् ? न ह्येतावन्तो ग्रन्थराशयः परविप्रलम्भनार्थं प्रणीयन्ते, न च विश्वमेव विप्रलभ्यमिति चेत्, भवतु किञ्चिन्मूलं किमनेन चिन्तितेन ? अतिनिर्बन्धे तु क्षणिकनैरात्म्यादिप्रतिपादकानां तर्काभ्यासः। प्रतिपादितं च तथा।

मूर्खोंको उसके अनेक छिद्रोंसे निकलती हुई प्रभाओंमें अनेक दीपोंका भ्रम हो जाता है। किन्तु वेदके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वेदका मूलभूत कोई वञ्चक पुरुष नहीं है। अतः सौगतागमोंमें प्रवृत्तिके यही सब कारण हैं। किन्तु वैदिक यागादिकोंमें प्रवृत्ति तो—महाजन-परिगृहीत होनेके कारण वेद प्रामाणिक वक्ताद्वारा निर्मित है—ऐसा अनुमान करके ही होती है। जैसे, नीरोगताकी कामना करने वाला व्यक्ति आयुर्वेदमें उसकी प्रामाणिकताका अनुमान करके प्रवृत्त होता है।

अस्तु, आलस्यादि कारणवश कुछ व्यक्तियोंद्वारा गृहीत किये गये इन बौद्ध-आगमोंका फिर मूल क्या है ? अर्थात् कोई वस्तु निर्मूल नहीं हुआ करती। अतः इनका भी कोई मूल होना चाहिये और समूल होनेसे ही उन्हें प्रमाण भी मानना उचित है। क्योंकि अत्यन्त कष्ट उठाकर रची गयी इतनी ग्रन्थराशियाँ केवल दूसरोंको ठगनेके लिए नहीं बनायी गयी हैं। यदि ठगना ही लक्ष्य हो, तो भी सम्पूर्ण विश्व नहीं ठगा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि संसारको ठगनेके लिये बौद्ध-आगमोंकी रचना हुई है, ऐसी बात नहीं कही जा सकती—तो इन आगमोंका भले ही कुछ मूल हो, उस चिन्तासे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि हमारी इष्टसिद्धि तो हमारे वेदागमोंकी प्रामाण्यसिद्धिसे ही हो चुकी है। फिर भी बौद्धागमोंके मूलज्ञानार्थ हठ करो तो सुनो—

जो आगम क्षणिकवाद और नैरात्म्य (आत्माका अभाव) वादके प्रतिपादक हैं, उनका मूल है कुतर्कोंका अभ्यास। अर्थात् वस्तु यदि स्थिर होती तो अर्थक्रियामें क्रमयौगपद्यकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, एवं आत्मा यदि हो तो आत्मदर्शी व्यक्ति उस आत्मामें अनुरागवान

शून्यसाकारादिप्रतिपादकानां तु दुरभ्यासः, योगशास्त्रेष्वभ्य-स्यतः स्वरूपशून्यमिव भाव्यमेकमेवेति प्रतिपादनात् ।

चैत्यचीवरादिप्रतिपादकानां तु स्वस्थितिमभिसन्धाय दर्शनान्तरस्थितिद्वेषः, स्वस्थितौ प्रमाणमनपेक्ष्य परस्थितौ विगानात् । ब्रह्मचर्यप्रतिपादकानां तु वेदा एव, न्यायादि रुद्धं परतन्त्रोक्तमप्यानुकूल्यप्रसिद्धेर्गृह्यत इति विमर्षात् । मन्त्र-कोषप्रतिपादकानां तु प्रणवबीजजातयः सर्वसाधारण्यः, श्रद्धेय-

---

होनेके कारण कभी मुक्त नहीं हो सकेगा—इत्यादि कथन कुतर्काभ्यास ही है । इनका कुतर्कत्व पूर्व प्रकरणमें सिद्ध किया जा चुका है ।

जो आगम 'शून्यवाद' एवं 'बाह्यपदार्थ ज्ञानके ही आकारविशेष हैं' इत्यादि वादके प्रतिपादक हैं, उनका मूल तो दुरभ्यास (दूषित भावना) है । क्योंकि योगशास्त्रका अभ्यास करते हुए चित्तको बाह्यवस्तुओंसे पृथक्कर जगत्-शून्यताको ही एकमात्र अपनी भावनाका विषय बनाते हुए किसीने शून्यवादका सिद्धान्त बना डाला ।

जो आगम चैत्य-(बौद्धोंका देवताविशेष) वन्दना एवं चीवर-(वस्त्र) परित्यागके प्रतिपादक हैं, उनका तो मूल दिगम्बरोंका अपने सिद्धान्तके मोहमें अन्यदर्शनके साथ द्वेष ही है । क्योंकि चैत्यवन्दन एवं चीवरपरित्यागके सिवाय अन्य कुछ भी मानने योग्य नहीं है—अपने इस सिद्धान्तमें विना कुछ प्रमाण दिये ही दूसरोंके सिद्धान्तका केवल निन्दा करते हैं ।

जो आगम ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदिके प्रतिपादक हैं, उनका मूल तो वेद ही है । क्योंकि अपने न्यायसे जो विरुद्ध न हो, ऐसा परकीय आगममें कहा हुआ भी अपने अनुकूल होनेसे ग्राह्य होता है—ऐसा विचार कर ब्रह्मचर्य आदिका प्रतिपादन किया गया है । अथवा ब्रह्मचर्यके प्रतिपादनसे एक भागमें विश्वास उत्पन्न कर उसी दृष्टान्तसे बौद्धागमोंके सभी भागोंके प्रति विश्वास पैदा करनेके लिये सुगतोंने ब्रह्मचर्य आदिका प्रतिपादन कर दिया ।

बौद्धोंके जो आगम मन्त्र-समुदायके प्रतिपादक हैं, उनका मूल तो

देवतानामाङ्कस्त्वधिकः। श्रद्धापरिगृहीतश्चाकारो देवतेति हस्तसमालोचः।

सत्यतपःशालिनां वचनं मन्त्रो, विषयवत्यां चिन्तायां चित्तस्थैर्यं प्रयोजनम्। कथमन्यथा महर्षीणां शापानुग्रहक्षमता; कथं वा चतुर्भुजाष्टभुजाद्यवस्थेति[1] दुरूहादिति।

हमारे वैदिक-मन्त्रगत प्रणवजातियाँ और उन उन देवताओंके बीज-मन्त्राक्षर ही हैं, जो सर्वत्र एक रूपसे प्रयुक्त हैं। अर्थात् उन्हें ही देखकर तदनुसार रूप कल्पनाकर या कहीं साक्षात् उन बीजाक्षरोंको ही बौद्धोंने अपने मन्त्रोंमें प्रक्षिप्त कर लिया है तथा उन्हींके प्रभावसे बौधों में आदित्यस्तम्भन या प्रतिमाका बोलना आदि शक्ति देखी जाती है। श्रद्धेय देवताओंके सूर्य आदि नामकी जगह चैत्य आदि भिन्न नामोंका निर्देश ही उनकी अपनी विशेषता है। चैत्य आदि जिस आकारका श्रद्धासे ध्यान किया जाय, वही देवता है—यह तो उनकी अपने हाथ की कल्पनामात्र है। अर्थात् सूर्य आदि देवताओंका अपना अपना रूप निश्चित होता है। यह नहीं की ध्याताके ध्यानके अनुसार परिवर्तित होने वाला हो।

यह कहना कि—सत्य और तपस्यासे युक्त व्यक्तियोंका वचन ही मन्त्र है न कि आस्तिकोंका वेदभाग मन्त्र है। तथा किसी भी आकार-का चिन्तन करनेपर जो चित्तमें स्थिरता आती है, वही उन देवताओंके ध्यानका प्रयोजन है। यदि सत्य और तपस्याशील व्यक्तियोंका वचन मन्त्र नहीं होता तो महर्षियोंमें शाप और वरदानकी क्षमता कैसे आती। एवं ध्यानानुसार यदि देवताका आकार नहीं होता तो चतुर्भुज, अष्टभुज आदि अवस्थायें देवताकी कैसे होतीं—तो दुरूह (कल्पनातीत) होनेके कारण यह पक्ष ठीक नहीं है। अर्थात् यदि तपस्वियोंका वचन ही मन्त्र होता तो अनेक तपस्वियोंके अनेक वचन होनेसे किस तपस्वीका कौन सा वचन मन्त्र है, यह कल्पना कठिन है। एवं यदि चित्तका स्थैर्यमात्र ही चतुर्भुज आदि अवस्थाओंका उपयोग होता तो

---

१. दुरूहत्वात् इति शङ्करमिश्रसम्मतः पाठः।

एकविप्रलम्भार्थं वा केनचित् कियदेव प्रणीतं तेनानुष्ठित-मपैरस्तदनुयायिभिर्गृहीतमनुष्ठितं व्याख्यातं विवर्धितं चेति किमनुपपन्नम् ? तस्माद् विरुद्धागमव्युदासेन वेदा एवार्वाचीनपुरुषपूर्वकत्वशङ्काव्युदासेन परमेश्वरप्रणीतत्वादेव भूतार्थ-भागस्याप्रामाण्यशङ्काव्युदासेन प्रमाणमेवेति नियमः ।

कथं चरम इति चेत् ? महाजनपरिग्रहस्य तत्साध्यस्य वा सर्वज्ञपूर्वकत्वस्य पुरुषदोषाभावस्य वा प्रामाण्यहेतोर्भूतभा-

---

जिस किसी वस्तुकी चिन्तासे ही चित्त स्थिर हो जा सकता है, फिर मूर्तिविशेषको देवताके रूपमें कैसे कल्पित कर सकते हैं ?

अथवा यों कहनेमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं है कि किसी एकको ठगनेके लिए किसीने कुछ बना दिया तथा उस वञ्चित व्यक्तिने तदनुसार अनुष्ठान किया और उसीकी देखादेखी और अनुयायियोंने भी उसे ग्रहण कर लिया, तदनुसार अनुष्ठान किया, उसकी व्याख्यायें कीं तथा लोकमें उसे फैला दिया।

इसलिये वेदविरुद्ध आगमोंके परवञ्चनार्थ बनाये होनेके कारण अप्रामाणिक होनेसे उनके खण्डितकर दिये जानेसे ही, एवं वेदोंके आधुनिक पुरुषद्वारा निर्मित होनेकी शङ्काके खण्डित हो जानेसे परमेश्वरप्रणीत होनेसे ही, तथा वेदके भव्यार्थभाग (साध्यार्थभाग अर्थात् क्रियाभाग) के समान भूतार्थभाग (सिद्धार्थभाग) में भी अप्रामाण्यशङ्काके खण्डित हो जानेसे प्रमाण ही है, ऐसा नियम सिद्ध हो जाता है। अर्थात् वेद ही प्रमाण है, अन्य नहीं--ऐसा उद्देश्यगत नियम, तथा ईश्वरप्रणीत होनेसे ही प्रमाण है, अन्य कारणसे नहीं—ऐसा हेतुगत नियम, तथा वेद प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं—ऐसा विधेयगत नियम होकर त्रिविध नियम सिद्ध होते हैं।

यदि पूछो कि – पूर्वके दो नियम भले ही हों, किन्तु अयोगव्यवच्छे-दार्थक एवकारका प्रयोग कर, वेद प्रमाण ही है—यह अन्तिम नियम कैसे है ?—तो इसका यही उत्तर है कि महाजनद्वारा परिगृहीत होना अथवा महाजनपरिग्रहसे सिद्ध सर्वज्ञपूर्वक (सर्वज्ञप्रणीत) होना या पुरुषगत दोषसे रहित होना ही वेदकी प्रामाणिकताका कारण है, जो

व्यार्थभागयोः साधारणत्वात्। किं तस्य फलमिति चेत्? स्वार्थप्रतिपादनम्। किं तेन प्रयोजनम्? यथायथमुपादानं हानं मोक्षश्च। तत्रानर्थहेतूनां तत्त्वज्ञानाद्धानमर्थहेतूनामुपादानमात्मनो मोक्ष इति।

कः पुनरयं मोक्षः? आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरात्मनः। किमात्यन्तिकत्वम्? तज्जातीयात्यन्ताभावविशिष्टत्वम्। तेषा-

वेदके भूतार्थभाग और भव्यार्थभाग दोनों में समानरूपसे है। अतः भव्यार्थभागके समान ही अर्थवादादिरूप भूतार्थभाग भी प्रमाण ही है।

यदि पूछो कि—भव्यार्थभागका तो प्रवृत्ति या निवृत्ति फल है, किन्तु भूतार्थभाग (अर्थवादादि भाग) का क्या फल है?—तो यही उत्तर है कि स्वार्थका प्रतिपादन करना भूतार्थभागका साक्षात् फल है। पुनः पूछो कि—स्वार्थप्रतिपादनका प्रयोजन क्या है?—तो यही कि यथायोग्य कहीं उपादान (ग्रहण) करना, कहीं परित्याग करना और कहीं मोक्षप्राप्ति। उनमें जो अनर्थके हेतु हैं, उनके तत्त्वज्ञानसे उनका परित्याग करना होगा। जो इष्टके साधन हैं, उनके तत्त्वज्ञानसे उनका ग्रहण होगा तथा आत्माके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होगा। अर्थात् अर्थवाद-भागके भी परम्परया प्रवृत्ति, निवृत्ति और मोक्ष ही यथायोग्य फल हैं। जैसे, "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत" इत्यादिका वायुयागादिमें प्रवृत्ति प्रयोजन है। "अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः" इत्यादिका आत्महत्यासे निवृत्ति फल है। तथा उपनिषद्भागका मोक्ष फल है।

मोक्षका स्वरूप

प्रश्न—यह मोक्ष क्या वस्तु है?

उत्तर—आत्मामें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

प्रश्न—आत्यन्तिक किसे कहते हैं?

उत्तर—दुःखमात्रका अत्यन्ताभाव होना दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति है।

प्रश्न—दुःखोंका अत्यन्ताभाव कैसे होता है?

मभावः कथम् ? कारणमात्रोच्छेदात् । अपुरुषार्थोऽयमिति चेत्, न, असत्यस्याकाम्यस्याशक्यस्य दुरन्तस्य तथाभावात् । न त्वयं तथा । सत्योऽयम्, प्रमाणसिद्धत्वात् सर्वैरभ्युपगमात् । काम्यश्च, दुःखस्य स्वभावहेयत्वात् । सुखार्थं तद्धानमिति चेत्, न, अतद्धेतुत्वात् ।

व्याप्तेरिति चेत्, न असिद्धेः । न हि दुःखाभावः सुखेन व्याप्यत इति । सुखं तावत्तेन व्याप्यत इति चेत्, तर्हि सुखे सत्यवश्यं दुःखाभावो भवेदिति सुखप्रार्थनेति विपरीतापत्तिः ।

नावेद्यत्वादसौ काम्य इति चेत्, न, दुःखार्तानां तद-

उत्तर—दुःखके जितने भी कारण हैं, उनका उच्छेद हो जानेसे दुःखोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है और वही मोक्ष है ।

यदि कहो कि—दुःखकी निवृत्ति तो पुरुषार्थ नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि जो असत्य है, अकाम्य है, असाध्य है या जिसका अन्त (परिणाम) दोषमय है, वही अपुरुषार्थ होता है । यह तो वैसा है नहीं । बल्कि यह प्रमाणसिद्ध होनेसे सत्य है । सभीके द्वारा अभीष्ट होनेसे काम्य भी है । क्योंकि दुःख स्वभावसे ही सबके लिये त्याज्य है । यदि कहो कि—दुःख स्वरूपतः त्याज्य नहीं है किन्तु सुखके लिये उसका त्याग होता है । अर्थात् मुख्यरूपसे सुख ही काम्य है, दुःखाभाव तो उसका साधन है, इसलिये वह गौणरूपसे काम्य है—तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि दुःखका त्याग सुखके प्रति हेतु नहीं है ।

यदि कहो कि—दुःखाभाव और सुखमें परस्पर व्याप्ति होनेसे हेतु है—तो यह नहीं कह सकते । क्योंकि उनकी परस्पर व्याप्ति ही असिद्ध है । कारण, दुःखाभाव सुखसे व्याप्त नहीं है । क्योंकि सुषुप्त-अवस्था में दुःखाभाव रहनेपर भी सुख नहीं रहता है । यदि कहो—दुःखाभाव सुखसे व्याप्त भले ही न हो किन्तु सुख तो दुःखाभावसे व्याप्त है, क्योंकि सुख होनेपर दुःखाभाव अवश्य रहता है—तब तो सुख होनेपर अवश्य ही दुःखाभाव हो जायगा, इसी अभिप्रायसे सुखकी प्रार्थना होगी ।

भाववेदनमनभिसन्धायैव तज्जिहासादर्शनात् । कथमन्यथा देहमपि जह्युः । अविवेकिनस्त इति चेत्, किमत्र विवेकेन ? इष्यमाणतामात्रानुबन्धित्वात् पुरुषार्थत्वस्य, गम्यागम्ययोः कामवत्[१] । बहुतरानर्थप्रसक्तिशङ्कया शास्त्रमनुकूलयन्तस्त इतरेभ्यो भिद्यन्ते ?

अपि चैवं कण्टकादिजन्यदुःखनिवृत्तिरपि पुरुषार्थो न स्यात्, अवेद्यत्वात् । प्रथमं विद्यते तावदसाविति चेत्,

ऐसी स्थितिमें सुख गौण काम्य हो गया और दुःखाभाव ही मुख्यरूपसे अभीष्ट (काम्य) सिद्ध हो गया। इस प्रकार "सुखके लिये दुःखका अभाव होता है" इस तुम्हारे पूर्ववचनके विपरीत ही सिद्ध हो गया।

यदि कहो, दुःखाभावका अनुभव नहीं होता है, इसलिये वह काम्य नहीं होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि दुःखसे पीड़ित व्यक्ति दुःखाभाव-प्रतीतिका बिना खयाल किये ही दुःखसे छुटकारा पानेकी इच्छा करता है, ऐसा देखा जाता है। यदि उसे दुःखाभावकी अनुभूतिकी भी कामना रहती तो विषादिका भक्षण कर क्यों देहको भी छोड़ देना चाहता है ? जब कि अनुभूतिके लिये देह अपेक्षित है। यदि कहो—वे अविवेकी हैं—तो इसमें विवेकका क्या प्रयोजन है ? इष्यमाणतामात्रसे ही पुरुषार्थका सम्बन्ध है। अर्थात् जो अभीष्ट है, वही पुरुषार्थ है। जैसे, कामनामक पुरुषार्थ गम्या या अगम्याके विवेककी अपेक्षा नहीं करता। अर्थात् गम्याकी कामना भी काम है और अगम्याकी कामना भी। हाँ, विवेकियोंमें अविवेकियोंसे इतना अन्तर है कि विवेकी लोग अत्यधिक अनर्थोंकी प्रसक्तिकी आशङ्कासे शास्त्रानुकूल ही आचरण करते हैं। अर्थात् दुःखसे छुटकारा पानेकी इच्छासे विषभक्षणादिद्वारा आत्महत्या या कामशान्तिके लिये अगम्यागमन नहीं करते हैं।

एवं अनुभूयमानताकी दशामें ही यदि दुःखाभाव पुरुषार्थ माना जाय तो कण्टकादिसे होनेवाले दुःखकी निवृत्ति भी पुरुषार्थ नहीं होगा। क्योंकि उस दुःखनिवृत्तिका सदा अनुभव नहीं होता रहता है।

१. काम्यत्ववत् इति ? पु० पा०

तुल्यं मोक्षेऽपि। नाध्यक्षेणेति चेत्, तर्हि दुरितक्षयकामस्य कर्मानुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गः, तदभावतत्फलाभावयोरप्यनध्यक्षत्वात्। उपलब्धियोग्यतापन्नानिष्टनिवृत्तिरूपत्वादयमदोष इति चेत्, तुल्यम्।

दुःखवत् सुखस्याप्युच्छेदादकाम्योऽयमिति चेत्, न, तृष्णया दोषतिरस्कारेण प्रवृत्तिवदलंप्रत्ययेन गुणतिरस्काराभि-

---

यदि कहो कि—कण्टक निकल जानेपर प्रथम कालमें दुःखनिवृत्तिका अनुभव होता है, इसलिये उसके पुरुषार्थ होनेमें कोई बाधा नहीं है। अर्थात् कदाचित् अनुभूयमान होना ही पुरुषार्थका लक्षण है—तो यह बात आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरूप मोक्षमें भी तुल्य है। अर्थात् शब्द, अनुमान आदि द्वारा मोक्षकालिक दुःखनिवृत्ति भी अनुभूयमान हो है। यदि कहो कि—उस दुःखनिवृत्तिका शाब्दबोध या अनुमिति होनेपर भी साक्षात्कार नहीं होता है, अतः वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता है—तब तो पापनाशकी इच्छासे प्रायश्चित्तादि कर्मोंका अनुष्ठान ही अनर्थक हो जायगा। क्योंकि पापाभाव और पापके फलस्वरूप दुःखके अभावका भी साक्षात्कार नहीं होता।

यदि कहो कि—प्रायश्चित्त-जन्य दुःखनिवृत्तिके प्रत्यक्षसे उपलभ्यमान न होनेपर भी उपलब्धिकी योग्यतासे युक्त दुःखनिवृत्तिरूप होनेसे यहाँ कोई दोष नहीं हैं। अर्थात् पुरुषार्थ होनेके लिये उपलब्धि अपेक्षित नहीं है, किन्तु उपलब्धिकी योग्यता अपेक्षित है। तथा वह योग्यता प्रायश्चित-जन्य दुःखप्रागभावमें भी है, क्योंकि उसका प्रतियोगीभूत दुःख उपलब्धिके योग्य है—तो ऐसी उपलब्धि-योग्यता आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्षमें भी तुल्य है।

यदि कहो—दुःखके समान सुखका भी इस पक्षमें उच्छेद हो जाने से दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष किसीका काम्य नहीं हो सकता—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जैसे, अत्युत्कट रागवश अगम्यागमनादिमें दोष की उपेक्षा कर उसमें अविवेकियोंकी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही सुखसाधनों में विवेकियोंको अलंबुद्धि (अनपेक्षाबुद्धि) होनेसे उनके गुणोंकी उपेक्षा कर सुख-साधनोंसे निवृत्ति भी देखी जाती है। इसमें मधु

वृत्तेरपि दर्शनात् । मधुविषसंपृक्तमन्नमत्रोदाहरणम् । सन्ति च केचनालंप्रत्ययवन्तः । न च समत्वम्, दुःखस्यैव प्राचुर्यात्, दुःखे सुखहेत्वननुषङ्गेऽपि सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गनियमात् ।

तथाहि न्यायोपार्जितेष्वेव विषयेषु कियती सुखखद्योतिका कियन्ति चार्जनरक्षणादिभिर्दुःखदुर्दिनानि । अन्यायोपार्जितेषु यद् भविष्यति तन्मनसापि चिन्तयितुमशक्यम् । विदाङ्कुर्वन्तु च सन्तो यदि कण्टकादिजन्येषु दुःखेषु लेशतोऽपि सुखानुषङ्गः । अस्ति च स्वर्गादिसुखेष्वपि बहुलो दुःख-

---

एवं विषसे सम्पृक्त अन्न उदाहरण है । अर्थात् मधुका लोभी व्यक्ति विषसे होने वाले अनिष्टकी उपेक्षा कर उस अन्नको खा लेता है, तथा मधुका जो लोभी नहीं है, ऐसा व्यक्ति मधुकी मधुरतागुणकी उपेक्षा कर विषमिश्रित अन्नका परित्याग कर देता है । दुःखरूपी दुर्दिनसे डरे हुए बहुतसे व्यक्ति हैं, जो उस सुखके प्रति भी विरक्त हैं । तात्पर्य यह है कि सुखका भी उच्छेद हो जायगा, इस कारण दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थमें अकाम्यत्वका प्रसङ्ग नहीं आयगा ।

साथ ही दुःख और सुखमें कोई समता भी नहीं है । क्योंकि संसारमें दुःख ही अधिकमात्रामें है । अतः अधिक दुःखोंकी निवृत्तिरूप लाभकी मात्रा विशेष है तथा उसके समक्ष स्वल्प सुखका उच्छेदरूप हानिकी मात्रा बहुत थोड़ी है, इसलिये दुःख-निवृत्ति अवश्य काम्य होगी । क्योंकि दुःखमें सुखहेतुकी अनुवृत्ति नहीं भी रहती है, किन्तु प्रत्येक सुखमें दुःखका हेतु अवश्य ही अनुवर्तमान रहता है । जैसे कि न्यायपूर्वक उपार्जित विषयोंमें ही कितनी सुखरूपी जुगनू भासित होती हैं ? और अर्जन एवं रक्षा आदिको लेकर कितने दुःखरूपी दुर्दिनोंका सामना करना पड़ता है ? अर्थात् न्यायोपार्जित विषयोंमें भी सुखसे अधिक दुःख ही भोगना पड़ता है । किन्तु जो विषय अन्यायसे उपार्जित होंगे, उनमें जो भोगना पड़ेगा, उसकी तो मनसे भी कल्पना नहीं की जा सकती है । सज्जन ही अनुभव करें, यदि कण्टकादिसे होनेवाले दुःखोंमें लेशमात्र भी सुखका संसर्ग हो । और स्वर्गादि सुखोंमें भी बहुल-

शल्यसम्भेदः। अत एव विविच्य भुज्यतां तुषतण्डुलवदित्य-
शक्यमिति।

शक्यश्चायं, निवर्त्यत्वात्। स्वन्तश्च, अपरावृत्तेरनर्थवा-
सनानुकूलाभिसन्धित्वाच्चेति।

नित्यं तु सुखं न सत्यम्, योग्यानुपलम्भबाधितत्वात्।

मात्रामें दुःखरूपी कांटोंका ही सम्मिश्रण है। इसीलिये भूसी और चावलके न्यायसे दुःखरूपी काँटोंको बिलगा बिलगा कर सुखका भोग किया जाय, यह भी असंभव है।

एवं, दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष साध्य भी है, अर्थात् असाध्य नहीं है। क्योंकि उपायद्वारा उसे किया जा सकता है। अर्थात् दुःखात्यन्ताभाव-रूप मुक्तिके पक्षमें यद्यपि अत्यन्ताभावके नित्य होनेसे वह उत्पाद्य नहीं हो सकता है, तथापि सम्पूर्ण दुःखसाधनोंका ध्वंस उत्पाद्य है, अतः उसके साथ दुःखात्यन्ताभावका सम्बन्ध भी उत्पाद्य होनेसे वह भी साध्य-कोटि में आ जाता है। यदि विशिष्ट दुःखका ध्वंसरूप मुक्ति हो तो वह स्वतः ही साध्य है। यदि दुःखका प्रागभाव ही मुक्ति हो तो वह भी दुःख-कारणोंके विघटनके द्वारा साध्य ही है।

साथ ही यह दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष परिणाममें भी अच्छा है। अर्थात् तक्षकसर्पके शिरका मणि लेनेके समान दुष्परिणामवाला भी नहीं है। क्योंकि निवृत्त हुआ दुःख फिर नहीं पैदा होता है। तथा किसी अन्य अनर्थकामनाकी प्रयोजिका भी वह दुःखकी आत्य-न्तिक निवृत्तिकी कामना नहीं है। अर्थात् जैसे, सुखाभिलाषी व्यक्ति सुखका भोग होनेपर बारबार सुख और उसके साधनकी कामना करता रहता है। तथा सुखका उचित साधन नहीं मिलनेपर अनुचित साधनकी भी कामना करता है। जैसे, कामी व्यक्ति अपनी स्त्रीके नहीं मिलनेपर परस्त्रीकी कामना करने लगता है, किन्तु वह कामना परिणाममें महान् अनर्थका हेतु है। इस प्रकार सुखकी कामना उत्तरो-त्तर अनर्थकामनाको ही उद्बुद्ध करनेवाली होती है। किन्तु यह दुःख-निवृत्तिरूप मोक्षकी कामना वैसी नहीं है।

नित्य सुख तो कोई सत्य वस्तु है ही नहीं। इसलिये नित्य सुख

श्रुतिस्तत्र मानमिति चेत्, न, योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात् अवकाशे[1]वा ग्रावप्लवनश्रुतेरपि तथाभावप्रसङ्गात्।

नापि काम्यं, सदातनत्वात्। न हि यद् यस्यास्ति स तत्कामयते। भ्रान्तेरेवम्, कण्ठस्थचामीकरवदिति चेत्, न स्वसंवेद्ये तदभावात्।

मोक्ष है—यह पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि सुख और दुःख नियमतः प्रत्यक्षयोग्य ही होते हैं। अतः यदि नित्य सुख होता तो उसका प्रत्यक्ष होता। इसलिये प्रत्यक्षयोग्यता होनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होनेसे नित्य सुखका होना बाधित है। यदि कहा जाय कि—नित्य सुखका सत्तामें श्रुति प्रमाण है—तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि जो योग्य होता हुआ भी अनुपलब्धिके कारण बाधित है, उसका बोधक श्रुति भी नहीं हो सकती है। यदि हो तो ग्रावप्लवन (पत्थरका तैरना) की प्रतिपादिका श्रुति भी वस्तुगत्या ग्रावप्लवनकी प्रतिपादिका हो जायगी। अर्थात् "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इत्यादि श्रुतियाँ मोक्षावस्थामें नित्य सुखको नहीं बताती हैं, किन्तु दुःखात्यन्ताभावपरक हैं।

एवं, नित्य सुख काम्य भी नहीं हो सकता है। क्योंकि नित्य होने से वह सदा है ही, फिर कामना क्यों ? ऐसा नहीं होता कि जो वस्तु जिसके पास है, उसकी वह कामना करता हो। यदि कहें कि—नित्य सुखके विद्यमान होनेपर भी उसके अविद्यमान होनेकी भ्रान्तिसे उसकी कामना होती है। जैसे कण्ठमें ही स्थित स्वर्णाभरणको नहीं देखनेसे भ्रमवशात् उसकी कामना होती है—तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि स्वकण्ठस्थित स्वर्णाभरण दूसरेके द्वारा संवेद्य होनेके कारण भ्रमवशात् भले ही काम्य हो, किन्तु सुख तो सदा स्वसंवेद्य है, अर्थात् रहनेपर स्वयं ही विदित होता रहता है। इसलिये स्वयंप्रकाश सुखमें भ्रम हो ही नहीं सकता। अतः नित्य सुखरूप मोक्ष सदा प्राप्त और सदा प्रत्यक्ष होनेके कारण काम्य नहीं हो सकता है।

---

१. संभवे वा इति क्वचित् पाठः

नापि शक्यम् , न हि तन्निर्वर्त्यं नित्यत्वात् । नापि विकार्यम्, अपरिणामित्वात् । नापि संस्कार्यम्, अनाधेयातिशयत्वात् । न प्राप्यम्, नित्यसम्बन्धवत्त्वात् ।

न ज्ञेयम्, ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् । अनित्यत्वे वा शरीरादिकारणापाये तदनुत्पत्तेः । उत्पत्तौ वा तेषामकारणत्वप्रसङ्गात् । तथा च सर्वः सर्वदर्शी स्यात्, आत्ममनःसंयोगादेः सर्वत्राविशेषात् ।

एवं, नित्यसुखरूप मोक्ष शक्य (साध्य) भी नहीं है । क्योंकि शक्यका क्या अर्थ है ? उत्पाद्य या विकार्य या संस्कार्य या प्राप्य अथवा ज्ञेय । यदि शक्यका अर्थ उत्पाद्य लें तो वह उत्पाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य है । नित्य सुख विकार्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपरिणामी है । संस्कार्य (संस्कारद्वारा कुछ अतिशय लानेयोग्य) भी वह नहीं है, जैसा कि "व्रीहीन् प्रोक्षति" यहाँ प्रोक्षणद्वारा व्रीहिका संस्कार होता है—क्योंकि नित्य सुख अनाधेयातिशयरूप है । अतः उसमें संस्कारद्वारा किसी प्रकारके अतिशयका आधान नहीं किया जा सकता है । नित्यसुखको प्राप्य भी नहीं कह सकते, जैसा कि नित्य भी वेद अध्ययनद्वारा प्राप्त किया जाता है—क्योंकि नित्य होनेसे सदा प्राप्त ही है ।

ऐसे ही नित्य सुखवादी वेदान्तियोंके यहाँ ज्ञान भी नित्य ही होता है । अतः ज्ञान और सुख दोनोंके नित्य होनेसे उपासनादि-विधियोंसे नित्य सुखको ज्ञेय कहना भी ठीक नहीं है ।

यदि कहो कि—ज्ञान अनित्य है—तो मुक्तिदशामें शरीरादि ज्ञानसाधनोंके अभावमें नित्यसुखका ज्ञान ही नहीं उत्पन्न हो सकता है । यदि उस कालमें शरीरादि कारणोंके अभावमें भी सुखज्ञानकी उत्पत्ति मानो तो ज्ञानोत्पत्तिके प्रति शरीरादि अहेतु हो जायगा । अर्थात् बिना शरीरेन्द्रियादिके भी ज्ञान पैदा होने लगेगा । ऐसी स्थितिमें सब सर्वज्ञ हो जायेंगे । क्योंकि ज्ञानका कारण जो आत्मा और मनका संयोग है, वह सबमें समानरूपसे है ।

ज्ञानज्ञेययोर्नित्यत्वेऽपि तत्सम्बन्धो जन्यते, स च षट्-पदार्थव्यतिरेकादुत्पन्नोऽपि न निवर्तते ध्वंसवदिति चेत्, न, भावाभावयोः प्रकारान्तराभावात्।

तत्र स नाभावः, प्रतियोग्यनुपपत्तेः। भावत्वे त्ववश्यमुत्पन्नो निवर्तेत, उपाध्यन्तराभावात्। अविद्याविध्वंसनमेव तत्प्राप्तिरिति चेत्, अत्र न नो विवादः। न ह्येकविंशतिप्रभेदभिन्न-दुःखव्यतिरिक्ता अविद्या नाम। तद्विध्वंसनञ्च पुरुषार्थ इति प्रतिपादनादिति।

दुरन्तं च तत्, तदभिसन्धेः सुखसंस्कारसहकारितया तदुद्भवे विशिष्टसुखाभिलाषिणो वैषयिकेऽपि प्रवृत्तिसंभवात्।

यदि कहो कि—ज्ञान और सुखरूप ज्ञेय इन दोनोंके नित्य होनेपर भी उनका सम्बन्ध उत्पन्न होता है। अतः वह उपासनादि विधियोंके द्वारा साध्य है। तथा वह सम्बन्ध उत्पत्तिशाली होनेपर भी द्रव्यादि षट् पदार्थोंसे भिन्न होनेके कारण विनष्ट नहीं होता है। जैसे, ध्वंस उत्पत्तिमान् होनेपर भी विनष्ट नहीं होता—तो ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि भाव और अभावके अतिरिक्त पदार्थोंका कोई दूसरा प्रकार ही नहीं होता है। उसमें वह सम्बन्ध अभावरूप नहीं है। कारण, निष्प्रतियोगिक अभाव होता ही नहीं है। यदि वह सम्बन्ध भावरूप हो तो उत्पन्न होनेके कारण वह अवश्य विनष्ट हो जायगा। क्योंकि उत्पन्न वस्तुके विनाशी होनेमें भावत्व ही उपाधि है, अन्य नहीं। यदि कहो कि—अविद्याका ध्वंस होना ही नित्यज्ञान और नित्यसुखका सम्बन्ध है—तो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है। क्योंकि इक्कीस प्रकारोंमें विभक्त दुःखके अलावे कोई अविद्या नहीं है तथा इन दुःखोंका विध्वंस ही पुरुषार्थ (मोक्ष) है, यह न्यायमें प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् न्यायसम्मत दुःखध्वंस ही अन्ततोगत्वा मोक्षका स्वरूप सिद्ध होता है।

एवं, नित्यसुखरूप मोक्ष दुरन्त अर्थात् परिणाममें दोषपूर्ण भी है। क्योंकि सुखकी कामनासे पूर्वमें प्राप्त-सुखोंके संस्कारोंकी सहायता पाकर

"अलाभे मत्तकाशिन्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता" इत्युदाहरणादिति।

स्यादेतत्, आत्मा तु किं स्वप्रकाशसुखस्वभावोऽन्यथा वेति पृच्छामः। श्राद्धोऽसि चेदुपनिषदः पृच्छ। मध्यस्थोऽसि चेत्, अनुभवं पृच्छ।

नैयायिकोऽसि चेत्, न वैषयिकसुखज्ञानस्वभाव इति

सुखसंस्कारके उद्बुद्ध होनेपर पूर्वकी अपेक्षा उत्कृष्ट सुखकी अभिलाषा करनेवाले व्यक्तिका उस उत्कृष्ट सुखके नहीं मिलनेपर निम्नकोटिके वैषयिक सुखमें ही प्रवृत्ति होने लगेगी, जो कि मोक्षका विरोधी है। क्योंकि "मत्तकाशिनी (सुन्दरी स्त्री) की अप्राप्तिमें तिर्यग्योनियों के प्रति भी कामवासना देखी जाती है" ऐसा उदाहरण है। अर्थात् मोक्षको सुखस्वरूप माननेमें उत्तरोत्तर बन्धन ही बढ़ता जायगा तथा मुक्ति असंभव हो जायगी।

आत्माका स्वरूप

"अस्तु, आत्मा क्या स्वप्रकाश-सुखस्वभाव है ? यह हम पूछते हैं। आशय यह है कि आत्मा यदि स्वप्रकाश-सुखस्वभाववाला हो तो उसमें दुःखकी संभावना ही कहाँ है कि आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति मोक्षका स्वरूप हो"। इसका उत्तर यह है कि यदि श्रद्धालुरूपमें पूछते हो तो उपनिषदोंको पूछो। अर्थात् उपनिषदोंमें आत्माका प्रतिपादन ज्ञान और सुखसे भिन्नरूपमें ही किया गया है। जहाँ कहीं सुखज्ञानस्वभावत्वका प्रतिपादन है, उसका दूसरा तात्पर्य बताया जा चुका है। यदि मध्यस्थके रूपमें अर्थात् न्याय और आगमका अपक्षपाती होकर पूछते हो तो अपने अनुभवको पूछो। अर्थात् "अहं सुखी, अहं ज्ञाने" इत्यादि अनुभवसे आत्मा सुख और ज्ञानसे युक्त प्रतीत होता है न कि सुख और ज्ञानरूप। यदि वैसा होता तो "अहं ज्ञानम् अहं सुखम्" ऐसा अनुभव होता।

यदि नैयायिकके रूपमें अर्थात् आत्माका स्वरूप न्यायद्वारा जाननेकी रुचिसे पूछते हो तो यही निर्णय करो कि आत्मा वैषयिक-सुख और

निश्चिनुयाः। तदतिरिक्ते तु सुखज्ञानव्यवहारे बीजाभावात् तद्व्यवहाराभावः। अनुग्रहाभिष्वङ्गेन्द्रियप्रसादादिलक्षणं हि कार्यं तद्व्यवहारबीजम्, अर्थप्रवणत्वं स्मृतिसंस्कारादिकार्यं ज्ञानव्यवहारादिबीजं लोके, तयोश्चाभाव आत्मनीति। तस्मात्—

श्रुतेः श्रुत्वाऽऽत्मानं तदनु समनुक्रान्तवपुषो
विनिश्चित्य न्यायादथ विहतहेयव्यतिकरम्।

ज्ञानस्वरूप नहीं है। एवं वैषयिक-सुख और ज्ञानसे अतिरिक्त आत्मामें तो सुख और ज्ञानके व्यवहारमें, जैसा कि वेदान्ती मानते हैं, कोई बीज नहीं है। इसलिये वेदान्तादि-सम्मत किसी भिन्न प्रकारके सुख और ज्ञानका व्यवहार आत्मामें नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुग्रह, अभिष्वङ्ग (संश्लेष) तथा इन्द्रियोंकी प्रफुल्लता आदि कार्य ही सुख-व्यवहारका बीज है। अर्थात् जिससे अनुग्रह आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, वही सुख है। वेदान्तादिसम्मत सुखसे तो अनुग्रहादिकार्य होता ही नहीं है, इसलिये उसे सुख नहीं कह सकते। एवं अर्थप्रवणता (विषयकी ओर प्रवृत्ति), स्मृति तथा संस्कार आदि कार्य ज्ञानव्यवहारका बीज है। अर्थात् जो अर्थाभिमुखी प्रवृत्ति तथा स्मृति संस्कार आदिका जनक है, वही ज्ञान है। आपका अभिमत ज्ञान ज्ञान नहीं है। एवं मुक्तावस्थामें आत्मामें उन दोनों (सुख और ज्ञान) का अभाव है। अर्थात् आगम, अनुभव और न्यायके बलसे यही सिद्ध होता है कि आत्मा स्वप्रकाश-सुख-ज्ञानस्वरूप नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुख और ज्ञानके अतिरिक्त अन्य प्रकारका सुख और ज्ञान न्यायविरुद्ध होनेसे है ही नहीं। और मुक्तावस्थ आत्मामें वैषयिक सुख और ज्ञानका सर्वथा अभाव है। अतः दुःखका आत्यन्तिक नाश ही मुक्ति है—यह सिद्धान्त है। इसलिये—

अयि मानवो! यदि चाहते संसार-बन्धन-भञ्जना,
तो वेदसे होगा प्रथम "आत्मा कीदृश है" जानना।
वेदानुगामी न्यायसे फिर साधु निश्चित कर उसे,
संसर्ग दसविध-हेयका, विध्वस्त हो, फिर नहि फँसे।

उपासीत श्रद्धाशमदमविरामैकविभवो
भवोच्छित्त्यै चित्तप्रणिधिविहितैर्योगविधिभिः ॥

उपास्यमाने च तस्मिन् प्रथमं बहिरर्था एव भासन्ते, यानाश्रित्य कर्ममीमांसोपसंहारः चार्वाकसमुत्थानश्च । तत्प्रति-

---

तब शमन दम-वैराग्य-श्रद्धामात्र धन ले, चित्तकी
स्थिति-हेतु यौगिक-रीतियोंसे कर उपासा आत्मकी।

अर्थात् श्रुतिद्वारा आत्मतत्त्वका श्रवण कर वेदाविरुद्ध युक्तियोंसे "आत्मा शरीरेन्द्रियादिसे भिन्न, ज्ञानसुखादि गुणवाला तथा नित्य एवं विभु है" ऐसा सम्यक् निश्चयात्मक मनन करे। तदनन्तर जिसमें शरीर-इन्द्रिय-विषय बुद्धि-मन-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल और दुःखरूप दस प्रकारके हेयोंका तादात्म्यादि सम्बन्ध विध्वस्त हो चुका है, ऐसे आत्मामें श्रद्धा-शम-दम तथा वैराग्यसे युक्त होकर आसन-प्राणायाम आदि पातञ्जल-शास्त्रोक्त योगविधियोंसे चित्तको स्थिर करते हुए संसार (आवागमन) के आत्यन्तिक नाशरूप मोक्षके लिये उसकी उपासना (निदिध्यासन) करे।

उस आत्माकी उपासना किये जानेकी दशामें प्रथम प्रथम बाह्य पदार्थ ही भासित होते हैं, जिनका आश्रयण कर जैमिनि-प्रणीत कर्म-मीमांसादर्शनका उपसंहार हो जाता है। अर्थात् उद्देश्यपूर्ण हो जानेसे उसका विराम हो जाता है। आशय यह है कि जब तक भोगकी कामना वर्तमान है, तब तक ग्राम, पशु तथा हिरण्य आदि पदार्थ ही मानवोंको अभिलषित होते हैं और उत्कट वासनावश वे ही पहले भासित होते हैं, आत्मा नहीं भासित होता है। इसलिये उन अभि-लाषाओंकी सिद्धिके लिये "ग्रामकामो यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः, पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार यागादि कर्मोंके प्रतिपादनके उद्देश्यसे जैमिनिने कर्ममीमांसाका प्रणयन किया। तथा अपना उक्त उद्देश्य पूर्ण कर कर्ममीमांसा कृतकृत्य हो गयी। यद्यपि मुमुक्षुओंके लिये अन्य श्रुतियोंमें उक्त पदार्थ हेय कहे गये हैं, फिर भी पुरुषेच्छाके अनुरोधसे उन श्रुतियोंका कर्ममीमांसादर्शनमें विचार नहीं किया गया। ऐसा नहीं है कि ब्रह्मकाण्डके प्रति जैमिनि महर्षि

पादनार्थञ्च "पराञ्चि खानि" इत्यादि। "तद्धानाय रंप कर्मभ्य" इत्यादि।

अथार्थाकारः, यमाश्रित्य त्रैदण्डिकमतोपसंहारो योगाचारसमुत्थानञ्च। तत्प्रतिपादनार्थम् "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि। तद्धानार्थम् 'अगन्धमरसम्, इत्यादि।

उदासीन थे। यहाँ उपसंहारशब्दसे कर्मकाण्डके विषयमें कर्ममीमांसाका प्रामाण्य सूचित होता है।

यहीं से चार्वाकमतका उत्थान भी होता है। अर्थात् बाह्यपदार्थोंको ही लेकर बृहस्पतिने भी चार्वाकदर्शनका निर्माण किया और प्रत्यक्षातिरिक्त वस्तुको अप्रमाण कह दिया। बृहस्पतिके वैसा प्रतिपादन करनेमें "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इत्यादि श्रुति मूल है। यहाँ उत्थानशब्दसे चार्वाकमतका उत्थान ही भर होता है, उसका उपसंहार नहीं हुआ है। अतः इसके प्रतिपादक आचार्य बृहस्पतिका भी इसमें अन्तिम तात्पर्य नहीं था। इसलिये चार्वाकशास्त्र अप्रमाण होनेसे शास्त्राभास है—यह बात सूचित होती है। इसीलिये इस मतके निषेधके लिये "कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः। अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः" इत्यादि श्रुतियाँ हैं।

इसके बाद ध्यानक्रमसे अर्थाकार आत्मा भासित होता है और योगाचारमतका समुत्थान होता है। इसके प्रतिपादनमें "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादिश्रुति मूल है। अर्थात् संज्ञा-रूपादि पञ्चस्कन्धात्मक यह विश्व आत्मा ही है। यहाँ आत्माशब्दसे 'विज्ञान' अर्थ लेकर विज्ञानवादी योगाचार व्यामोहमें पड़ गया। तथा भास्करमतानुयायी त्रिदण्डियोंके मतका—सब पदार्थ आत्माका ही आकार है, अतः आत्मा ही वस्तुतः ध्येय है—ऐसा मानते हुए उपसंहार हुआ है। योगाचारमतके निषेधके लिये "अगन्धमरसम्" इत्यादिश्रुति वाक्य है। अर्थात् आत्मा या विज्ञान गन्धरसादि विषयोंसे भिन्न वस्तु है। त्रिदण्डिमतका तो मुख्य अभिप्राय आत्माको वास्तविक ध्येय बतलानेमें है, न कि उसे अर्थाकार बतलानेमें।

अथार्थाभावः, यमाश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः शून्य-नैरात्म्यसमुत्थानं च। तत्प्रतिपादनार्थम् "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि। तद्घातार्थम् "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः" इत्यादि।

ततो विवेको यमाश्रित्य साङ्ख्यमतोपसंहारः शक्तिसत्त्व-समुत्थानश्च। तत्प्रतिपादनार्थम् "प्रकृतेः परस्तात्" इत्यादि।

इसके बाद अर्थका भी अभाव भासित होता है, जिसका आश्रयण कर वेदान्तके द्वारमात्रका ही उपसंहार हुआ। अर्थात् अर्थाभाव सिद्ध होनेपर ही उसके द्वारा अद्वैतकी सिद्धि होगी, इसलिये वह वेदान्तका द्वार हुआ। एवं अर्थाभावका आश्रयण कर ही शून्यवाद या नैरात्म्य-वादका समुत्थान हुआ। अर्थात् जगत्प्रपञ्चके मिथ्यात्वज्ञानसे ही आत्माको भी प्रपञ्चान्तर्गत होनेसे मिथ्या मानते हुए शून्यवादियोंने शून्य-नैरात्म्यवादका सिद्धान्त बना लिया। इन दोनोंका मूल "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिवाक्य है। किन्तु उक्त श्रुति-वाक्यका गलत अभिप्राय लगानेवाले नैरात्म्यवादियोंके निषेधके लिये "अन्धं तमः प्रवि-शन्ति ये के चात्महनो जनाः" इत्यादि श्रुतिवाक्य है। यहाँ "आत्म-हनः" का अर्थ है "आत्माको अस्वीकार करने वाले"। यहाँ भी बृहस्पतिका अभिप्राय पाखण्डियोंका प्रतारणमात्र है, न कि उन्हें वस्तुतः नैरात्म्यवाद अभिप्रेत है।

उसके बाद ध्यानक्रमसे बाह्य अर्थसे (अनात्मासे) आत्माका विवेक भासित होता है। अर्थात् सर्वथा आत्मातिरिक्त वस्तुके अभावकी अवस्था अभी तक नहीं आनेसे बाह्यवस्तुका बिना विरोध किये उससे आत्माका विवेक (भेद) भासित होता है। जिसका आश्रयण कर सांख्य-मतका उपसंहार हुआ। अर्थात् प्रकृति-पुरुषके विवेकके अभिप्रायसे ही कपिलमुनिने सांख्यसूत्रोंका प्रणयन किया। एवं उक्त विवेकका आश्र-यण कर ही शक्ति (प्रकृति) और सत्त्व (महान् या बुद्धि) का समुत्थान हुआ। अर्थात् सांख्यमतानुयायियोंने आत्माकी निर्लेपता सिद्ध करनेके लिये सुखादिके आश्रयके रूपमें महत् या बुद्धितत्त्वको तथा जगत्के मूल-कारणके रूपमें प्रकृतिको स्वीकार किया। इनका मूल "सभी वस्तुओंको

तद्धानाय "नान्यत् सत्" इत्यादि ।

ततः केवल आत्मा प्रकाशते, यमाश्रित्याद्वैतमतोपसंहारः। तत्प्रतिपादनार्थम् "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति । तद्धनार्थम् "नाद्वैतं नापि द्वैतम्" इत्यादि । ततः समस्तसंस्काराभिभवात् केवलोऽपि न विकल्प्यते, यमाश्रित्य चरमवेदान्तोपसंहारः । तत्प्रतिपादनार्थम् "न पश्यतीत्याहु-

---

उत्पन्न करनेवाली प्रकृति है तथा पुरुष उस प्रकृतिसे परे निर्लेप एवं कूटस्थ नित्य है" इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाली "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि श्रुति है। यहाँ 'तमसः' का अर्थ है 'प्रकृतिसे'। उक्त मतके निषेधके लिये "नान्यत् सत्" इत्यादि श्रुति-वाक्य है। अर्थात् प्रकृति-पुरुषविवेकावस्था भी हेय ही है। क्योंकि "प्रकृति से भिन्न पुरुष है" इस भेदज्ञानमें प्रतियोगि-रूपमें प्रकृति आदि भी भासित होती है, जब कि "नान्यत् सत्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार आत्माकी उपासनावस्थामें किसी अन्यकी सत्ताका भान अभिप्रेत नहीं है।

उसके बाद प्रकृति-विविक्तत्वरूप विशेषणका भी परित्याग कर केवल आत्मा ही स्वरूपतः भासित होता है। जिसका आश्रयण कर "एकमेवा-द्वितीयम् ब्रह्म" इस अद्वैतमतका उपसंहार होता है। इस केवल आत्माके प्रतिपादनका मूल "न पश्यतीत्याहुः एकी भवति, न जिघ्रती-त्याहुः एकीभवति" इत्यादि श्रुतिवाक्य है। इस अवस्थाके भी त्यागके लिए "नाद्वैतं भवति नापि द्वैतम्" इत्यादि श्रुतिवचन है। क्योंकि इसमें भी आत्माको अद्रष्टा आदि कहा है, जो न्यायविरुद्ध है। तथा इसमें भी उपासनाकालमें द्वैताद्वैतका विचार वर्तमान रहता है, जब कि "नाद्वैतं नापि द्वैतम्" इत्यादि श्रुतिको द्वैताद्वैत-विचारसे रहित मनसे केवल आत्माका साक्षात्कार अभिप्रेत है।

इसके बाद ध्यान-प्रकर्षकी चरम सीमा पर पहुँचे हुए युञ्जान योगीको सम्पूर्ण संस्कारोंका अभिभव हो जानेके कारण अर्थात् वासना-सहित मिथ्याज्ञानका उन्मूलन हो जानेसे केवल आत्माका भी सविकल्पक भान नहीं होता है। अर्थात् सभी विशेषणोंसे रहित केवल आत्माका

रेकी भवति" इत्यादि। सा चावस्था न हेया, मोक्षनगर-गोपुरायमाणत्वात्।

निर्वाणं तु तस्याः स्वयमेव, यमाश्रित्य न्यायदर्शनो-पसंहारः।

तत्प्रतिपादनार्थम् 'अथ यो निष्काम आत्मकामः स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, तत्रैव

निर्विकल्पकमात्र ही भान होता है। जिसका आश्रयण कर चरम वेदान्तका उपसंहार होता है। क्योंकि उसमें "स्वप्रकाश चिद्रूप आत्मा ही मुक्ति है" ऐसा प्रतिपादन किया गया है। उस अवस्थाके प्रतिपादनके लिए "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" यह श्रुति-वाक्य है। अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति तभी तक है, जब तक ध्यानपरिपाक काष्ठापर नहीं पहुंचा रहता है तथा सधर्मक वस्तुमें ही मनकी भी प्रवृत्ति होनेसे निर्धर्मक आत्माका बोध करानेमें मन भी असमर्थ हो जाता है। वह अवस्था पूर्व अवस्थाओंकी तरह हेय नहीं है। क्योंकि वह अवस्था मोक्षरूप नगरमें प्रवेश पानेके लिए द्वारभूत है। अर्थात् वह मोक्षके अत्यन्त निकटकी अवस्था है।

उस निर्विकल्पक भानकी भी अवस्थासे छुटकारा तो अपने आप ही हो जाता है। जैसे इन्धनको नष्ट कर अग्नि भी अपने आप ही नष्ट हो जाती है। अर्थात् आत्मगत सम्पूर्ण वैशेषिक गुणोंका उच्छेद ही मोक्ष है। इसलिए मुक्तिदशामें निर्विकल्पक भान भी नहीं रहता तथा उसके नाशके लिए किसी अन्य विरोधी गुणकी अपेक्षा नहीं होती है। बल्कि अदृष्टनाशविशिष्ट कालसे ही उस निर्विकल्पक भानका नाश हो जाता है। इसी अवस्थाका आश्रयण कर न्यायदर्शनका उपसंहार होता है। अर्थात् मुक्तिकी इसी अवस्थामें न्यायदर्शनका तात्पर्य है।

उसके प्रतिपादनके लिये "अथ यो निष्काम आत्मकाम आप्तकामः, स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, तत्रैव समवलीयन्ते" इत्यादि वेदवाक्य मूलभूत हैं। यहाँ निष्कामका अर्थ है "विषयोंके प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाला"। आत्मकामशब्दका अर्थ है "आत्म

समवलीयन्ते" इत्यादीनि ।

तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय द्वारैरेव प्रविशेत्, यतो मार्गविमार्गसंमोहमाशङ्कमानैरुच्यते "लक्ष्येण धनुषां योग" इति ।

> बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीत-
> स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात् ।
> तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
> व्यतिहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः ॥१॥

विषयक मनन एवं साक्षात्कारमें संलग्न" । आप्तकाम वह है, जिसने आत्मविषयक साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है । ऐसा व्यक्ति "ब्रह्मैव सन्" अर्थात् ब्रह्मके समान निरञ्जन होकर "ब्रह्मैव समभ्येति" अर्थात् केवलात्मा बन जाता है या कैवल्य प्राप्त कर जाता है । उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते किन्तु उस आत्मामें ही लीन हो जाते हैं । अर्थात् वह व्यक्ति जीवन-मरणसे रहित हो जाता है ।

इसलिये मोक्षनगरमें प्रवेश पानेके लिए अभ्यासकी कामना करनेवाला व्यक्ति भी चार्वाकादि-मतरूप अपद्वारोंका परित्यागकर कर्म-मीमांसाप्रभृति द्वारोंसे ही प्रवेश करे । क्योंकि मार्ग और विमार्गके सम्बन्धमें लोगोंको भ्रम हो जानेकी आशङ्का करते हुए आचार्योंने उससे बचनेके लिए कहा है कि लक्ष्यके साथ धनुषका (धनुर्बाणका) संयोग कदाचित् ही होता है । यदि होता भी है, तो तभी, जबकि लक्ष्य तक पहुँचा सकनेवाला धनुषका मार्ग ठीक हो ॥

> परवादरूप अनेक सूने मार्गगत अज्ञानके—
> अतिघोर तमसे भीत निष्क्रिय पान्थजनके प्राणके—
> रक्षार्थ, उदयन-मार्गदर्शकने, हटा व्याघातको—
> श्रुति-न्याय लोकोंके, सुझाया मुक्तिके शुभ पन्थको ॥१॥

नास्य श्लाघामकलितगुणः पोषयन् प्रीतये नः,
कोऽन्धैश्चित्रस्तुतिशतविधौ शिल्पिनः स्यात् प्रकर्षः ?
निन्दामेव प्रथयतु जनः, किन्तु दोषान्निरूप्य,
प्रेक्षांस्तथ्यस्खलितकथनं प्रीणयेदेव भूयः ॥२॥

इति श्रीमदाचार्योदयनकृत आत्मतत्वविवेकः सम्पूर्णः ॥

गुणरहित जनोंसे की गयी भी बड़ाई,
नहिं कथमपि होगी प्रीतिदा लेशतोऽपि।
शतविध बहुअन्धोंसे स्तुता भी, गुणोकी,
सुभग छवि, बढ़ाती कीर्ति क्या स्वल्पतोऽपि ? ॥२॥
मनुजगण बढ़ावे मात्र निन्दा, परन्तु,
त्रुटि यदि इसमें हो तो उसे, ही दिखाकर।
यदि अवगुण सच है, तो बताना बुधोंको—
अतिशय वह होगा सर्वदा ही सुखाकर ॥३॥

इति न्यायवेदान्तसाङ्ख्ययोगाचार्य-श्रीकेदारनाथत्रिपाठिप्रणीतः
आत्मतत्त्वविवेकस्य सविवेचनानुवादः
सम्पूर्णः।

---

* श्रीकृष्णार्पणमस्तु *

परिशिष्टम्

आत्मतत्त्वविवेकस्थपूर्वपक्षसन्दर्भस्थलानि

आत्मतत्त्वविवेक पृ० ४

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः,
सन्तश्च भावा इमे,
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः,
सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधाऽन्यदापि परकृन्—
नैव क्रिया वा भवेत्,
द्वधाऽपि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः
साध्ये च विश्राम्यति ॥

ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली क्षणभङ्गाध्यायः पृ० १ श्लोक २

सामर्थ्यं हि करणत्वं वा योग्यता वा'''व्यावृत्तिभेदादयमदोषः ।

आ०त०वि० पृ० ६

समर्थव्यवहारयोग्यताजननयोर्भिन्नव्यावृत्तिकतया साध्याविशिष्टत्वं हेतोरिति दूषणमनवकाशम्''''

ज्ञा० मि० नि० पृ० १२

आ० त० वि० पृ० ११—स्थं करणाकरणे ?·······

कार्याणि हि विलम्बन्ते कारणासन्निधानतः ।
समर्थहेतुसद्भावे क्षेपस्तेषां तु किं कृतः ॥

ज्ञा० मि० नि० पृ० १७ तथा तत्त्वसंग्रहः पृ० ३९५

आ० त० वि० पृ० १२—तथापि योऽयं सहकारि''''

तस्य च भावस्य यादृशश्चरमक्षणेऽक्षेपक्रियाधर्मा स्वभावः, तादृश एव चेत् प्रथमक्षणेऽपि, तदैव गीर्वाणशापशतेनापि नापहस्तयितुं शक्तः ।

ज्ञा० मि० नि० पृ० १९

आ० त० वि० पृ० १३

सर्वो हि प्रसङ्गो विपर्ययपर्यवसानः ।
ततो यदि नित्यता....न वा कदाचिदपीति ।

ज्ञा० मि० नि० पृ० २१

आ० त० वि० पृ० ७९

नाभावो नाम किञ्चिद् यत्र कारणव्यापारः ।

ज्ञा० मि० नि० पृ० १५३

आ० त० वि० पृ० ८२

भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्तीति धर्मकीर्तिः । तदुक्तम्—
निवृत्तेर्निःस्वभावत्वान्न स्थानास्थानकल्पना ।

प्रमाणवार्तिक-स्वार्थानुमानपरिच्छेदः श्लोकः १६९

आ० त० वि० पृ० १०५—१०६

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २०२

आ० त० वि० पृ० १०९—११०

शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थस्तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्यः ।

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २०३

आ० त० वि० पृ० ११०—११२

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २०३

आ० त० वि० पृ० ११३

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २२०

आ० त० वि० पृ० १४३—नापि चतुर्थः....

असत्यरूपमादर्शयन् विकल्पः कथं बाह्यसदृशमर्थमादर्शयेत् तयोरत्यन्तवैधर्म्यात् । (धर्मोत्तरः)

आ० त० वि० पृ० १४७—१४८ स्वभावादेव....

नियतश्च क्रमो हि भावाः....

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २२६

आ० त० वि० पृ० १५०

प्रत्यासत्तिचिन्तया च....

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २२६

आ० त० वि० पृ० १५७—मिथः सम्भिन्नाकारा······
परस्परं स्वरूपेण·······
प्र० वा० स्वा० अ० प० श्लो० ६८

आ० त० वि० पृ० १५८
एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता॥
प्र० वा० स्वा० अ० परि० श्लो० १०९

आ० त० वि० पृ० १६७
न याति न च तत्रासीत्····
प्र० वा० स्वा० अ० परि० श्लो० १५२

आ० त० वि० पृ० १७०—नापि ज्ञानतो बाधकम्····
न तस्माज्जातिसिद्धिरध्यक्षात्····
नाप्यनुमानात्····
शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थः····
ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २२१–२०३

आ० त० वि० पृ० १७४
धर्मस्य कस्यचिदपि वस्तुनि मानसिद्धा····।
ज्ञा० मि० नि० पृ० ८९
रत्नकीर्तिनि० पृ० ८८

आ० त० वि० पृ० १७६—तस्माच्छब्दैः किं वाच्यम्····
यदा तु शब्दैः किं वाच्यमित्यनुयोगः तदा····।
ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २३२

आ० त० वि० पृ० १७८—सहोपलम्भनियमः····
दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात् तद्ग्रहे ग्रहात्।
दर्शनं नीलनिर्भासं नार्थो बाह्योऽस्ति केवलम्॥
प्र० वा० प्र० परि० श्लो० ३३५
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः····
ज्ञा० मि० नि० पृ० ५६९

आ० त० वि० पृ० १७९–१८०—बाह्यस्यैवं विरुद्धधर्माध्यासाद्भयम्····
र० की० नि० चित्राद्वैतप्रकाशवादः पृ० १३६

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १८६

चित्रैकव्यवहारोऽपि भेदापोहपरो मतः ।
एकानेकवियुक्तो हि प्रकाशः केवलोऽत्र सन् ॥

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् पृ॰ ३६३

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १९१—चित्राकारमिति चेत्····

र॰ की॰ नि॰ चित्राद्वैतप्रकाशवादः पृ॰ १३६

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १९२—१९३

यदि स्वरूपमाकाराः····
मिथस्तथापि····
अलीकमन्यत्वेऽपीदम्····

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ अद्वैतबिन्दुप्रकरणम्

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १९५—स्वस्य वेदनमिति न्यायं व्यापारनिबन्धनः····
उत्पादमात्रेऽतिशयान्तरे वा····।

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् पृ॰ ३५९

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १९६—न तत् कस्यचित्, किन्तु वेदनमात्रम्····
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडता····

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ (साकारसिद्धिशास्त्रम्) पृ॰ ४७१

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ १९९—बहिरन्तरुभयथाऽपि···
प्रकाशमानं नीलादि जडं वा अजडं वा····

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ पृ॰ ३५०

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ २०३—अस्तु तर्हि तृतीया····

वेद्यवेदकयो रूपं नियतं यदि लक्षितम् ।
तदुपादानपर्येष्टेः सामग्रीशक्तिरुच्यताम् ॥

ज्ञा॰ मि॰ नि॰ अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् पृ॰ ३५२

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ २०७–२०८—न दुःखमपि वि[illegible]हमित्यहेयमेव····
हेयहीनस्य का मुक्तिः,
केन वाप्युपदिश्यते । (बौद्धकारिका)

आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ २०९—एवं ज्ञातु निर्वक्तुं वा न शक्यते····
बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते । (बौद्धकारिका)

आ० त० वि० पृ० २१५—प्रकाशस्य सतः····

ज्ञायते ऽनेनेति ज्ञानं जानातीति वेति विकल्पजातस्य निरासः कृतः।

ज्ञा० मि० नि० अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् पृ० ३४६

आ० त० वि पृ० २१५—सामग्रीशक्तिरेवोत्तरम्····

सामग्रीशक्तिरुत्तरमिति।

ज्ञा० मि० नि० अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् पृ० ३५२

आ० त० वि० पृ० २१९—वासनावशाद् विशेषाः स्फुरन्ति···

तस्मात् वासना····

ज्ञा० मि० नि० अपोहप्रकरणम् पृ० २२०

आ० त० वि० पृ० २२०—न ग्राह्यभेदमवधूय····

नाकारभेदमवधूय····

ज्ञा० मि० नि० साकारसिद्धिशास्त्रम् पृ० ३८६

आ० त० वि० पृ० २३४—नेदं स्थूलम् (अवयविनिषेधः)

अणव एव हि विशिष्टोत्पन्नाः द्रव्यद्वयं वा संयोगशून्यं तत्तद्बुद्धिसाधनम् इति किमवयव्यादिना। तस्मादवयवी संयोगादयश्च संवृतिसन्त इति।

ज्ञा० मि० नि० क्षणभङ्गाध्यायः पृ० ७

आ० त० वि० पृ० २६२—न हि तदेकं रूपम्····

ज्ञा० मि० नि० साकारसिद्धिशास्त्रम् पृ० ४५५

आ० त० वि० पृ० २६९—अस्तु तर्हि परमाणुनिवृत्तेः सर्वविलोपः····

न परीक्षाक्षमश्चाणुः कुतः कस्य कदा भिदा।

ज्ञा० मि० नि० साकारसंग्रहसूत्रम् पृ० ५७१

आ० त० वि० पृ० २७०—षट्केन युगपद्योगात्····

षट्केन युगपद्योगात्,
परमाणोः षडंशता।
दिग्देशभेदतश्छाया—
वृतिभ्यां चापि चांशता॥

(बौद्धकारिका)